जायसी साहित्य की अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

डॉ. नरेन्द्रदेव पाण्डेय

समर्पण

पूजनीया पितामही

की

पुण्य स्मृति

को

प्रकाशकीय

साहित्य के अनुशीलन की अनेक दिशाएँ हैं जिन्हें उत्तरोत्तर समृद्धि मिली है, पर कुछ ऐसी भी दिशाएँ हैं जो इधर उपेक्षित हो रही हैं। अर्थ-चिंतन एक ऐसी ही दिशा है जिसमें संस्कृत-साहित्य एवं दर्शन में तो प्रभूत सामग्री मिलती है, परन्तु हिन्दी में, शोध और समीक्षा दोनों में अर्थ की चिन्ता और चिन्तन सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता। भाषा तथा भाषाविज्ञान ने अवश्य असाधारण प्रगति की है और उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा है। व्याकरण और साहित्य का अलगाव अब भाषाविज्ञान और साहित्य में व्याप्त हो रहा है। साहित्य-सम्बन्धी नयी दृष्टि पर पाश्चात्य प्रभाव विशेष मुखर लगता है। प्राचीन परम्परा से प्रेरित शब्दार्थ का सह-चिन्तन एवं युगपत् तत्त्वान्वेषण पहले से ही कठिन कार्य रहा है, इधर वह और भी दुष्कर हो रहा है। संतुलन की दृष्टि से ऐसे शोध-कार्यों का प्रकाशन आवश्यक है जिनमें शब्द और अर्थ का तात्त्विक अनुशीलन करते हुए सही अर्थ की समस्या उठायी गयी हो।

कबिहि अरथ आखर बलु साँचा।
अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा।।

तुलसी का यह कथन उस कवि-सत्य को उजागर करता है जिसका अनुभव प्रत्येक संवेदनशील कवि को भिन्न-भिन्न स्तरों पर होता है। **'तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ'** जैसे विषय पर कार्य करने का संकल्प एक साहसपूर्ण संकल्प था, क्योंकि तुलसीदास के साहित्य का इतना विशद अनुशीलन हो चुका है और अब भी हो रहा है कि उसकी समस्याओं का निदान करना निश्चय ही एक असाधारण कार्य कहा जा सकता है। डॉ० नरेन्द्रदेव पाण्डेय ने मेरे निर्देशन में ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से ही यह शोधकार्य किया है, अतः मैं पूरे संदर्भ से व्यक्तिगत रूप से संबद्ध रहा हूँ। यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि डॉ० पाण्डेय ने शब्द और अर्थ की आत्मा में प्रवेश करके साहित्य में अर्थ-निर्धारण की समस्याओं को बड़ी गहराई से देखा-परखा है। उन्होंने तुलसी को शब्द-साधक और वाक्य-सिद्ध कवि मानते हुए उनके साहित्य में अर्थ-गौरव की सही दिशा में खोज की है। शोध एवं समीक्षा साहित्य के साथ उन्होंने विपुल टीका-साहित्य का भी ध्यानपूर्वक मंथन किया है।

जैसे कवि सही शब्द की खोज करता है, वैसे ही सहृदय समीक्षक सही अर्थ की चिंता करता है और यह संबंध पारस्परिकता से संवर्धित होकर दोनों को परितोष देता है। अर्थ की कठिनाई या संदिग्धता, कूटोन्मुखी दुरूहता, अस्पष्टता, असाधारणता तथा अपरिचय ऐसे मार्गावरोधक होते हैं जिनको पार करके ही सिद्धि का बोध होता है।

अपने अनुशीलन में डॉ० पाण्डेय ने यह पाया है कि एक समस्या का अन्तर्भाव किसी दूसरी समस्या में हो जाता है और अनेक समस्याओं का किसी एक दिशा में इस अनुभव के बाद भी उन्होंने शील का मार्ग अपनाया है और निदान के लिए आगे का मार्ग अवरुद्ध नहीं माना है। नये प्रमाण सुलभ होने पर पुनर्विचार की संभावना उन्होंने सविनय स्वीकार की है। **"सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे"** से लेकर **"गहि न जाइ असि अद्भुत बानी"** का अनुभव उन्हें तुलसी-साहित्य के अनुशीलन से हुआ, इसमें कोई संदेह नहीं। वस्तुतः तुलसी के माध्यम से साहित्य मात्र की अर्थ-समस्याओं पर यह पुस्तक ध्यान आकृष्ट करती है। कितनी ही समस्याएँ अपनी जटिलता से उनकी सूझ-बूझ की परीक्षा लेती रहीं जिसका साक्षी मैं स्वयं हूँ। उन्होंने अनेक प्राचीन एवं नवीन संदर्भ-ग्रंथों तथा मूल पाठों के अंतर पर विचार करके समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का उपक्रम किया। पहले केवल रामचरितमानस की समस्याओं तक अपने को सीमित रखना पर्याप्त माना गया था, पर मैंने यह सलाह दी कि समग्र ग्रंथों पर दृष्टि रखने से ही समस्या का सही निदान हो सकेगा। अतः तुलसी-रचित पूरे साहित्य तक समस्याओं का विस्तार अनिवार्य हो गया। इतनी समस्याएँ सामने आ गयीं कि सबका निदान असंभव हो गया। एक मध्य मार्ग निकालकर प्रमुख समस्याओं के सूक्ष्म अनुशीलन को हितकर माना गया और शोध-प्रबंध का जो अंतिम रूप सामने आया, वह प्रकाशित होकर आप सुधी जनों के सामने है।

"अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन" जैसे ग्रंथ **हिन्दुस्तानी एकेडेमी** ने प्रकाशित किये हैं जो इसका आधार बने हैं। मुझे विश्वास है कि तुलसी-साहित्य ही नहीं, साहित्य मात्र की दृष्टि से देखने वाले साहित्यान्वेषी इसे प्रेरणाप्रद पायेंगे।

जगदीश गुप्त

सचिव तथा कोषाध्यक्ष

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है 'तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान'। साहित्य के आन्तरिक रूप को अर्थ और बाह्य रूप को शब्द कहते हैं। अर्थ को शब्दों में सम्बद्ध करना ही साहित्य है। तुलसी-साहित्य का तात्पर्य है तुलसी के मौलिक प्रामाणिक ग्रन्थ, जिनमें द्वादश ग्रन्थों को मान्यता प्राप्त है। सामान्यतया 'समस्या' के साथ 'समाधान' शब्द जोड़ दिया जाता है, परन्तु वस्तुतः 'समाधान' शंकाओं का होता है। समस्याओं का तो निराकरण ही किया जा सकता है अथवा निदान। 'निदान' का तात्पर्य कारणों की व्याख्या तथा अन्तिम परिणाम से लिया जाता है जिसमें निराकरण एवं समाधान का भाव भी अंशतः आ जाता है। अतएव मैंने समाधान एवं निराकरणों की तुलना में 'निदान' शब्द को वरीयता दी। यह इसलिए भी किया कि बहुत से स्थलों पर 'समाधान' संभव ही नहीं हो पाता है, केवल निराकरण अथवा कारणों का स्पष्टीकरण ही संभव होता है। कभी-कभी ऐसा करना ही पर्याप्त प्रतीत होता है।

तुलसी-साहित्य एक सजीव चिन्तन, अनुशीलन, साहित्यिक मूल्यांकन लोकसम्पृक्तिपरक रामकथा के आदर्श एवं भक्तिमूलक पाठ और पारायण की जीवंत एवं प्रवहमान परम्परा से जुड़ा हुआ है। रामचरितमानस एक ऐसी कालजयी, देशजयी रचना है जिसकी विश्व के प्रमुख देशों के अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। मानस का इन दृष्टियों से विशेष महत्त्व होते हुए भी पंडितों द्वारा तुलसी से इतर ग्रन्थों से भाव-साम्य, अर्थ-साम्य तथा विचार-साम्य के प्रभूत प्रमाण प्रस्तुत करते हुए अपने मत को संपुष्ट करने की प्रवृत्ति भी पर्याप्त सक्रिय मिलती है। फलतः तुलसी-साहित्य का अर्थ-अनुशीलन ऐसा कार्य नहीं हो सकता जिसे सर्वथा अन्तिम कहा जा सके। किन्तु इतना अवश्य है कि बहुत काल से चली आती हुई अर्थ-समस्याओं को व्यवस्थित रूप से वर्गीकृत एवं विश्लेषित करने की आवश्यकता बनी हुई थी जिसकी पूर्ति प्रस्तुत अध्ययन के रूप में करने का प्रयास किया गया है। शोध

की दृष्टि से समस्त साहित्य का मंथन करने पर अनेक अर्थ-समस्याएँ सामने आयीं, किन्तु प्रबन्ध की सीमा को देखते हुए सबका एकसाथ निदान करना असंभव है। अतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में तुलसी-साहित्य के प्रमुख स्थलों की अर्थ-समस्याओं के निदान को ही प्रस्तुत किया गया है। पंडिताऊ ढंग के शंका-समाधान से अलग हटकर प्राचीन संस्कृत की टीका-परम्परा तथा आधुनिक काव्यभाषात्मक विश्लेषण-विवेचन की पद्धति को ध्यान में रखकर इस कार्य को साहित्यिक गरिमा के साथ वास्तविक रूप में पूरा करने का सम्यक् उपक्रम किया गया है। संभव है कुछ और समानान्तर अर्थ-समस्याएँ आगामी अनुशीलकों द्वारा की जायँ, परन्तु ऐसा विश्वास है कि वे किसी न किसी रूप में प्रस्तुत अध्ययन के वर्गीकरण से सर्वथा असम्बद्ध सिद्ध न होंगी।

तुलसी-साहित्य का महत्त्व शाश्वत एवं स्थायी है। एक ओर कवि छंदात्मक अनुशासन को स्वीकार करते हुए लिखता है--कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाँचा ॥[1] दूसरी ओर वह शब्दार्थमयी भाषा की असीम संभावनाओं के प्रति एक तत्त्वद्रष्टा की तरह संकेत करते हुए यह भी लिखता है कि—ज्यों मुख मुकुर मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी ॥[2] इस प्रकार तुलसी का कविकर्म शब्दार्थ के ग्राह्य-अग्राह्य अथवा मूर्त और अमूर्त या अभिधेय एवं व्यंग्य, दोनों ही प्रकार के रूपों तक व्याप्त रहा है।

उनके काव्य की अर्थ-समस्याओं का कोई भी गम्भीर अनुशीलन तब तक उपादेय नहीं हो सकता जब तक वह कवि की निजी काव्य-दृष्टि के प्रति निरंतर उन्मुख न रहे। कवि का अभीष्ट अर्थ क्या था, इसका उद्घाटन करना मेरे जैसे अंकिचन व्यक्ति द्वारा नितांत असंभव है। किन्तु विद्वानों, संतों और साहित्याचार्यों द्वारा बताये हुए मार्ग का अनुसरण करके कवि के यथार्थ को स्पर्श करने का प्रयास किया गया है। मैंने आद्यंत प्रायः सभी अर्थ-समस्याओं को कवि-व्यक्तित्व एवं काव्य-वैशिष्ट्य के ठोस आधार पर प्रतिष्ठित किया है। वायवी ऊहापोह, अनपेक्षित विस्तार, अनर्गल भावुकता तथा साम्प्रदायिक जड़ता, कृत्रिम मौलिकता तथा छद्म पांडित्य से बचने की पर्याप्त चेष्टा की है। अधिकतर वस्तुगत आधार पर सतर्क समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। जहाँ कहीं व्यक्तिगत मत दिया गया है, वहाँ भी अपनी सीमा स्वीकार करते हुए

१. मानस २।२४०।४

२. वही २।२६३।३

एक सुझाव के रूप में अपनी बात की गयी है। तुलसी-साहित्य इतना विशद, गहन एवं प्रेरक है कि उसके सम्पर्क में आकर बहुत-सी अर्थगत कठिनाइयों का निदान मुझे उसी की प्रेरणा से स्वतः उपलब्ध हुआ। केवल शब्दों को पहचानने और उनके बिखरे हुए व्यक्तित्व को सूत्रबद्ध करने की चेष्टा सजग रूप से अवश्य करनी पड़ी। बहुत से पूर्वस्थापित मतों का खंडन भी मैंने यथास्थान किया है, किन्तु वह भी किसी प्रमुख आधार के उपलब्ध हो जाने के कारण ही किया गया है अथवा जहाँ भ्रम या त्रुटिवश कोई अर्थ प्रचलित रहा, उसका निराकरण ही पर्याप्त माना गया है। अन्य टीकाकारों की टीकाओं का दोष-प्रदर्शन का अप्रिय कार्य मैंने उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने हेतु नहीं किया है। मेरा तात्पर्य मात्र यह है कि विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो कि तुलसी-साहित्य के सही अर्थ-निर्धारण हेतु अभी और प्रयत्न एवं श्रम की आवश्यकता है। वास्तव में यदि तुलसी-साहित्य का इतना विपुल टीका-साहित्य सेतु रूप में न उपलब्ध होता, तो मेरे जैसा क्षुद्र व्यक्ति कभी भी तुलसी-साहित्य-समुद्र से पार न होता—

> अति अपार जे सरितबर जो नृप सेतु कराहिं।
> चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं॥[1]

साहित्य अनेक स्तरीय रचना-प्रक्रिया से उत्पन्न होता है और उसका प्रभाव भी अनेक स्तरीय मानव-मन पर निरंतर पड़ता रहता है। अतः किसी एक स्तर तक सीमित होकर मैंने अपना कार्य नहीं किया है। तुलसी जैसे संवेदनशील कवि के साहित्य के साथ मैं कहाँ तक न्याय कर सका हूँ, यह तुलसी-विशेषज्ञों के द्वारा ही निर्णीत हो सकेगा। अपनी ओर से मैंने इस बात की चेष्टा अवश्य की है कि हिन्दी साहित्य के अनुशीलन में अर्थगत समस्याओं के महत्त्व को इस प्रकार रेखांकित कर दूँ कि अन्य साहित्यकारों के साहित्य के विषय में भी अर्थ को लेकर समस्यामूलक चिन्तन आरम्भ हो जाय। मेरा विश्वास है कि इससे हिन्दी में साहित्यानुशीलन की एक नई दिशा प्रारम्भ होगी और कवियों तथा काव्यों के मूल्यांकन में सहायता भी मिलेगी।

तुलसी-साहित्य के अर्थ-विषयक सर्वांगीण अध्ययन का एक भी वैज्ञानिक प्रयास अभी तक नहीं हो सका। थोड़ा-बहुत यदि हुआ भी है तो पूर्ण नहीं, तुलसी की किसी कृति-विशेष तक ही सीमित रहा। हाँ, उसकी उपयोगिता को

---

१. मानस १।१३

अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछ ग्रन्थों की जो विशद टीकाएँ प्राप्त होती हैं, उनके अनावश्यक अर्थ-विस्तार के कारण स्वाभाविक और वैज्ञानिक अर्थ की चारुता प्राय क्षीण हो गयी है। प्रस्तुत प्रबन्ध में तुलसी-साहित्य के सही अर्थ-अन्वेषण का प्रयास किया गया है। अन्वेषण की इस प्रक्रिया को तर्कपूर्ण और सही दिशा देने के लिए इसे ११ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में शब्द और अर्थ को व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। शब्द की महत्ता, शब्द-शक्ति, अर्थ की महत्ता, अर्थबोध के साधन, शब्द और अर्थ का स्वरूप और उसका परस्पर सम्बन्ध एवं अर्थ-विनिश्चय के साधनों का उल्लेख प्राचीन साहित्य के आधार पर किया गया है। साथ ही पाश्चात्य साहित्य के उपादेय तथ्यों का भी यथावश्यक उपयोग किया गया है।

अध्याय २ के अन्तर्गत टीकाकारों और समीक्षकों के द्वारा तुलसी-साहित्य के तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय के प्रयास को प्रस्तुत किया गया है। अर्थगत पूर्ववर्ती कार्य की अपर्याप्तता और प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की आवश्यकता एवं तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ और उनका वर्गीकरण भी प्रस्तुत अध्याय में ही किया गया है। साथ ही भारतीय आचार्यों के अर्थ-विनिश्चय के साधनों के आधार पर तुलसी-साहित्य के अर्थ-विनिश्चय की प्रक्रिया को संकेत रूप में उपस्थित करने की चेष्टा की गयी है।

ठेठ और तद्भव शब्दों के कहीं तो पाठ ही परिवर्तित कर दिये गये हैं और कहीं भावार्थ देकर ही विराम ले लिया गया है। ऐसे शब्दों के अर्थ करने में टीकाकारों ने अनुमान का भी आश्रय लिया है। कुछ विदेशी शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत से मानकर अर्थ परिवर्तित कर दिये गये हैं। कतिपय विदेशी शब्दों को कवि ने भिन्नार्थ में ग्रहण किया था। अतः उनको उसी अर्थ में ग्रहण करने के कारण भी गड़बड़ी हुई है। अध्याय ३ में ऐसे ही अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है।

अध्याय ४ में पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान की चेष्टा की गयी है। पाठभेद के कारण भी अर्थ में अनेक भ्रान्तियाँ उपलब्ध होती हैं। अर्थ न समझने के कारण पाठ-परिवर्तन प्राचीन टीकाकारों के लिए साधारण बात थी। भ्रष्ट पाठ को ही प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए टीकाकारों ने दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया है। पाठ-चयन के सिद्धान्तों के आधार पर ही पाठ का समर्थन और उनके अर्थ-विनिश्चय का प्रयत्न किया गया है।

टीकाकारों ने कहीं शाब्दिक, तो कहीं वाक्यों के और कहीं पूरे पद के अर्थ

में भावभेद, प्रसंगान्तर और विपर्यास कर दिया है। कहीं सामान्य एवं प्रचलित अर्थ को छोड़कर असामान्य और अप्रचलित अर्थ को ग्रहण करने में व्यर्थ की खींचतान की है। अतः अध्याय ५ में अर्थ-विपर्यय के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है।

अध्याय ६ के अन्तर्गत अनेकार्थी शब्दों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान की चेष्टा की गयी है। एक ही शब्द के कई अर्थ सम्भव होने के कारण अनेक अर्थों की कल्पना साहित्य में स्वाभाविक है।

मुहावरों एवं लोकोक्तियों के अर्थ-विनिश्चय में खूब खींचतान की गयी है। मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्राण लक्षणा और व्यंजना का सर्वस्वीकृत रूढ़ रूप होता है, किन्तु टीकाकारों ने इनके अधिभेयार्थ की अभिव्यक्ति में पूरी शक्ति लगा दी है। अध्याय ७ में ऐसे ही मुहावरों एवं लोकोक्तियों की अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयत्न किया गया है।

अध्याय ८ के अन्तर्गत आरोपित अर्थों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है। आरोपित अर्थों की समस्याएँ मानस में ही प्राप्त हुई हैं। कथावाचकीय शैली के टीकाकारों ने मनमाना अर्थ निकालने के लिए व्याख्येय पंक्तियों के पदों को तोड़-मरोड़कर विचित्र-विचित्र कल्पनाएँ की हैं। विभिन्न पदों के चार-चार, पाँच-पाँच और आठ-आठ अर्थों से लेकर लाखों अर्थ तक किये हैं।[1]

कूट एवं कूटोन्मखी शब्दों के अर्थ बड़े ही पेंचदार होते हैं। अतः अध्याय ९ में कूटोन्मुखी शब्द एवं कूट-प्रयोगों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान की चेष्टा की गयी है।

अध्याय १० के अन्तर्गत अन्वय-भेद एवं गूढ़ार्थ से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है। पूर्वापर प्रसंगों पर ध्यान न देने के कारण तुलसी-साहित्य के टीकाकारों ने यत्र-तत्र असंगत अन्वय करके अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। साथ ही गूढ़ स्थलों की व्याख्या न करके सामान्य पाठकों को बड़ी उलझन में डाल दिया है।

छंदानुरोध के कारण कहीं कवि को मात्राएँ घटानी-बढ़ानी पड़ी हैं, कहीं शब्दों और मात्राओं का लोप करना पड़ा है तथा कहीं-कहीं उसने नवीन शब्दों का भी निर्माण कर लिया है। ऐसे कुछ स्थलों पर टीकाकारों ने अर्थ ठीक न

---

१. द्रष्टव्य बाबूराम शुक्ल कृत 'तुलसी सूक्ति सुधाकर भाष्य'।

लगा पाने के कारण पाठ-परिवर्तन करके छंदोभंग कर दिया है। अतः अन्तिम और ११वें अध्याय में छंदानुरोध के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयत्न किया गया है।

'उपसंहार' में प्रस्तुत प्रबन्ध के उद्देश्य या परिणाम को संक्षेप में बतलाया गया है। साथ ही लेखक ने अपने निष्कर्षों का सारांश प्रस्तुत किया है और इस कोटि के शोध की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

परिशिष्ट 'क' में तुलसी-साहित्य की कतिपय अतिरिक्त अर्थ-समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। 'ख' में सहायक ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान का यथा-संभव एक सर्वांगीण अध्ययन उक्त अध्यायों के सहारे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरणों के पाठ के लिए मानस का काशिराज संस्करण और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड' का आधार ग्रहण किया गया है। जहाँ पर मतभेद हुआ है, उसका भी उल्लेख कर दिया गया है। विनयपत्रिका के उदाहरणों के पाठ के लिए विनयपीयूष का आधार लिया गया है, क्योंकि इसका पाठ प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है। काशिराज संस्करण में ह्रस्व 'ए' और 'ओ' के उच्चारण उनकी प्रचलित मात्राओं को किंचित् वक्र बनाकर निर्दिष्ट किये गये हैं। मुद्रण में में ऐसे चिह्नों की व्यवस्था सुकर न होने के कारण उन्हें सामान्य मात्राओं की तरह दिया गया है। अतः सुधीजन ऐसे स्थलों पर तदनुरूप पाठ एवं अक्षर की परिकल्पना कर लें। काशिराज संस्करण के पाठ पर 'मानसपीयूष' का प्रभाव लक्षित होता है।

तुलसी-साहित्य तथा विशेषतः मानस के प्रति में शैशव-काल से आकृष्ट रहा हूँ। यह आकर्षण मुझे परम पूज्य पिता जी के अत्यधिक सान्निध्य और स्नेह से प्राप्त हुआ जिनका जीवन लगभग दो दशकों से तुलसी-साहित्य के विशेषतः मानस और विनयपत्रिका के अध्ययन, मनन, प्रवचन और सत्संग में व्यतीत हो रहा है। एम० ए० में विशेष कवि के रूप में गोस्वामी तुलसीदास पर अध्ययन करने के उपरांत भी जब तुलसी-साहित्य के अध्ययन की अतृप्ति बार-बार मन को कुरेदती रही, तो पुनः इस पर अध्ययन की इच्छा बलवती हुई। फलतः श्रद्धेय गुरुवर डॉ० जगदीश गुप्त ने 'मुझे तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान' विषय पर शोध करने की प्रेरणा दी।

विद्वता, सौजन्य और सरलता की समन्वित मूर्ति डॉ० गुप्त के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता विज्ञापित करना परम पुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने अत्यन्त व्यस्तमय जीवन में भी सदैव योग्यतम पथ-प्रदर्शन, निर्देशन एवं प्रोत्साहन दिया। उनके स्नेह और अनुग्रह का प्रतिफल ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध है।

मानस तत्त्वान्वेषी पं० रामकुमारदास जी का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने न केवल श्रीरामग्रन्थागार से अलभ्य सामग्री प्रदान की, वरन् विविध सुझावों से प्रस्तुत प्रबन्ध को अधिकाधिक सारगर्भित बनाने में हाथ बँटाया। तुलसी-साहित्य-विशेषज्ञ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का आभारी हूँ जिन्होंने प्रबन्ध की रूपरेखा देखकर उपयोगी सम्मति प्रदान की। मानस-मर्मज्ञ पं० रामेश्वरप्रसाद त्रिपाठी, डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे और डॉ० किशोरीलाल प्रभृति विद्वानों के प्रति लेखक उनके अमूल्य सुझावों के लिए हृदय से आभार प्रकट करता है। डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने मुझे हतोत्साह करने का प्रयास किया, किन्तु इससे भी मुझे प्रेरणा ही मिली। अतः मैं उनका भी आभारी हूँ। श्री स्वामी श्यामनारायणाचार्य वेदान्तकेशरी, प्रयाग का आभारी हूँ जिनका आशीर्वाद मेरा संबल बना।

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के 'हिन्दी-संग्रहालय' के कर्मचारियों के प्रति साधुवाद विज्ञापित कर देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। इन कर्मचारियों से उदारतापूर्वक जो सहायता प्राप्त हुई, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। हिन्दी-संग्रहालय से हिन्दी की अपूर्व सेवा हो रही है। साथ ही केन्द्रीय राज्य पुस्तकालय, इलाहाबाद और राजकीय पब्लिक लाइब्रेरी, इलाहाबाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय आदि पुस्तकालयों से शोध-विषयान्तर्गत सामग्री का अवलोकन और निरीक्षण करने का अवसर मिला है। अतः उक्त संस्थाओं के अधिकारियों के प्रति भी लेखक आभार प्रकट करता है। मानस-संघ, रामवन, सतना के कर्मचारियों के अकारण अनुग्रह के हम चिर आभारी हैं। डॉ० कपिलदेव द्विवेदी की पुस्तक 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' से अत्यन्त सहायता मिली। अतः मैं डॉ० द्विवेदी का भी आभार स्वीकार करता हूँ। तुलसी-साहित्य के व्याख्याकारों, मर्मज्ञ आलोचकों और मनीषी अनुसंधाताओं की कृतियों से मैंने यथेष्ट लाभ उठाया है। अतः मैं उन सबका आभारी हूँ। अन्त में आभार स्वीकार करने हेतु मैं समवेत रूप से उन सभी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी रचनाओं से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मुझे सहायता मिली है। अपने अभिन्न मित्रों के बारे में मौन रहना

अपराध ही होगा। अनुसंधित्सु मित्र हरिशंकर द्विवेदी, विद्याधर द्विवेदी और हरिशंकर मिश्र, कैलाशनाथ मिश्र और डॉ० गोविन्दस्वरूप गुप्त के सान्निध्य से सहायता प्राप्त हुई, अतः ये सब धन्यवाद के पात्र हैं। साहित्यानुरागी सुहृदवर डॉ० जनार्दन उपाध्याय ने समय-समय पर जो प्रोत्साहन प्रदान किया, उनके प्रति धन्यवादार्पण में अंतरंग आत्मीयता के कारण मुझे संकोच होता है।

श्री खीम सिंह रौतेला ने प्रबन्ध-लेखन हेतु निजी कक्ष प्रदान करके अत्यधिक सहायता की। अतः मैं रौतेला जी का विनम्र आभार स्वीकार करता हूँ।

अर्थ-निदान की टीका-परम्परा से भिन्न साहित्यिक दिशाबोध में चार वर्षों का यह कठिन श्रम यदि सहायक हुआ, तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा। संस्कृत में ऐसे कार्य हुए हैं, हिन्दी में हों तो बहुत प्रसन्नता होगी।

हिन्दुस्तानी एकेडमी के अध्यक्ष डॉ० रामकुमार वर्मा, सचिव डॉ० जगदीश गुप्त एवं सहायक सचिव डॉ० रामजी पाण्डेय के प्रति भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिनके अनुग्रह से प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन संभव हो सका।

—नरेन्द्रदेव पाण्डेय

महाकुम्भ पर्व
सोमवती अमावस्या
सं० २०४५, १९८९ ई०

संकेताक्षर-सूची

अयो०	अयोध्याकाण्ड	बरवै०	बरवै रामायण
अष्टा०	अष्टाध्यायी	बाल०	बालकाण्ड
अ० भा० वि० परि०	अखिल भारतीय विक्रम परिषद्	बाहुक	हनुमान बाहुक
अ० रा०	अध्यात्म रामायण	श्री भा०	श्रीमद्भागवत
अरण्य०	अरण्य काण्ड	मानस	रामचरितमानस
उत्तर०	उत्तर काण्ड	मा० पी०	मानसपीयूष
ऋग्०	ऋग्वेद	मा० भा०	मानस-भावप्रकाश
कविता०	कवितावली	मा०हि०को०	मानक हिन्दी कोश
कवित्त०	कवित्तरामायण	मा० म०	मानस-मयंक
का० प्र०	काव्यप्रकाश	रामा०	रामायण
किष्कि०	किष्किन्धाकाण्ड	रा०परि०परि-शिष्ट प्र०	रामायण परिचर्य्या परिशिष्ट प्रकाश
केन०	केनोपनिषद्		
कौ० ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मण	रामाज्ञा०	रामाज्ञा-प्रश्न
खं०	खंड	लंका०	लंकाकाण्ड
गीता०	गीतावली	वाक्य०	वाक्यपदीयम्
जा० मं०	जानकीमंगल	वि० टी०	विजया टीका
ती० खं०	तीसरा खंड		विनायकी टीका
तु० शब्द०	तुलसी-शब्दसागर	वि० पी०	विनयपीयूष
तृ० खं०	तृतीय खण्ड	विनय०	विनयपत्रिका
दे०	देखिए	वै० सं०	वैराग्य-संदीपनी
दोहा०	दोहावली	व्या०महा०	व्याकरण महाभाष्य
द्वि० खं०	द्वितीय खण्ड	आ०	आह्निक
नहछू	रामलला-नहछू	श्रीकृष्ण०	श्रीकृष्णगीतावली
पं० भा०	पंचम भाग	सं०हिन्दी शब्द०	संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर
पाँ० भा०	पाँचवाँ भाग		
पा० मं०	पार्वती-मंगल	सं० टी०	संजीवनी टीका
प्र० भा०	प्रथम भाग	सा० द०	साहित्य-दर्पण
प्र० सं०	प्रथम संस्करण	सि० ति०	सिद्धान्त-तिलक
प्रका०	प्रकाशक	सुन्दर०	सुन्दरकाण्ड
पृ०	पृष्ठ	हि० श०	हिन्दी शब्दसागर

विशेष—बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका और उत्तर काण्डों के लिए क्रमशः १, २, ३, ४, ५; ६ और ७ सूचक अंक दिये गये हैं।

विषयानुक्रमणिका

१

विषय-प्रवेश : शब्द और अर्थ

शब्द क्या है ?

विभिन्न भाषाओं में शब्द के अनेक पर्याय और अर्थ मिलते हैं। 'शब्द' मूलतः संस्कृत का शब्द है। अमरकोष में इसके पर्याय हैं—शब्द, निनाद, निनद, ध्वनि, ध्वान, रव, स्वन, स्वान, निर्घोष, निर्ह्राद, नाद, निस्वान, निस्वन, आरव, आराव, संराव, विराव।[१] 'संरव' और 'राव' 'शब्दचन्द्रिका' में प्राप्त और घोष' जटाधर' में उपलब्ध पर्याय हैं। 'त्रिकांडशेष' में शब्द के जो आठ पर्याय माने गये हैं, वे मूलतः ध्वनि-पर्याय भी हैं, वे हैं—शब्द, अभिलाप, अभिधा, अभिधान, वाचक, ध्वनि, ह्रास और कुहरति।[२] 'अभिधान-चिंतामणि' में शब्द के सत्ताइस पर्याय माने गये हैं—शब्द, निनाद, निर्घोष, स्वान, ध्वान, स्वर, ध्वनि, निर्ह्राद, निनद, ह्राद, निःस्वान, निःस्वन, स्वन, रव, नाद, स्वनि, घोष, संराव, विराव, आराव, आरव, क्वणन, निक्वण, क्वाण, निक्वाण, क्वण, रण।[३]

यदि 'वाणी' को भी 'शब्द'-पर्याय में स्वीकार किया जाय तो तेरह शब्द और इस सूची में जुड़ जायेंगे—ब्राह्मी, भारती, भाषा, गी (गिरगिरा), वाक् (वाच्), वाणी (वाणि), सरस्वती, व्याहार, उक्ति, लपित, भाषित, वचन, वच।[४]

---

१. शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वान रवस्वनाः।
स्वाननिर्घोषनिर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वनाः।
आरवारावसंरावविरावा (अथ) मर्मरः॥ —अमरकोष १/६/७

२ शब्दाभिलापौत्वभिधाऽभिधानं वाचको ध्वनिः ह्रासः कुहरितश्च।
—त्रिकांडशेष १/६/१

३. शब्दौ निनादौ निर्घोषः स्वानो ध्वानः स्वरोध्वनिः।
निर्ह्रादौनिनदो ह्रादो निःस्वानो निःस्वनः स्वनः।
रवो नादः स्वनिर्घोषः संव्याऽभ्योः राव आरवः।
क्वणनं निक्वणं क्वाणो निक्वाणश्चक्वणो रणः।—हेमचन्द्राचार्य ६/३५-३६

४. ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती।
व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः॥ —अमरकोष १/६/१

कुल मिलाकर विभिन्न कोश-ग्रन्थों से उपलब्ध शब्द के जो संस्कृत पर्याय मिलते हैं, उनकी सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

शब्द, निनाद, निनद, ध्वनि, ध्वान, रव, स्वन, स्वान, निर्घोष, निर्ह्राद, नाद, निस्वान, निस्वन, आरव, आराव, संराव, विराव, संरव, राव, घोष, अभिलाप, अभिधा, अभिधान, वाचक, ह्रास, कुहरति, स्वर, ह्राद, निःस्वान, निःस्वन, स्वनि, क्वणन, निक्वण, क्वाण, निक्वाण, क्वण, रण, ब्राह्मी, भारती, भाषा, गी, वाक्, वाणी, सरस्वती, व्याहार, उक्ति, लपित, भाषित, वचन, वच और पद (५१ पर्याय)।

'शब्द' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद नहीं है, फिर भी सामान्यतः इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है—

१. शब्द (शब्द करणे) + घञ् = शब्दः।

२. शप् (आक्रोशे) + दन् = शब्दः।
(शाशपिभ्यां ददनौ। पकारस्यवकारः)।

'शब्द' का धातुगत अर्थ है—(क) शब्द या ध्वनि करना।
(ख) आविष्कार करना।

यथा—शब्दः करणे। शब्द आविष्कारे—सिद्धांतकौमुदी।

शब्द के अनेक अर्थ विभिन्न शास्त्रों में मिलते हैं। इन अर्थों में प्रमुख हैं— ध्वनि, श्रोत्रग्राह्यगुण पदार्थ विशेष, कलरव (मनुष्य और मनुष्येतर जीवोत्पन्न) वचन, नाम, संज्ञा, प्रातिपादिक, उपाधि, विशेषण इत्यादि। वाङ्मयार्णवकार ने शब्द को अक्षर, यशोगीति, वाक्य, आकाश, श्रवण और ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[1]

शब्द चुरादिगण की धातु है जिसका परस्मैपद (शब्दयति) और आत्मनेपद (शब्द्यते) दोनों में प्रयोग होता है। अतः यह उभयपदी धातु के रूप में स्वीकृत है। 'शब्दकल्पद्रुम' ने 'शब्द' को केवल परस्मैपदी माना है। क्रिया रूप में शब्द का अर्थ है ध्वनि करना, बोलना, बुलाना, इत्यादि। अंग्रेजी शब्द word, डच–woord, जर्मन–wort, गोथिक–waurd, आइसलैंडिक–orth, लैटिन–verbum और ग्रीक–liso आदि का सम्बन्ध भी 'बोलना' या 'ध्वनि करना' से है। अरबी 'लफ़्ज़' भी मूलतः 'मुँह से फेंका हुआ' या 'ध्वनि किया हुआ' या 'बोला हुआ' है। इस प्रकार 'शब्द' के विभिन्न भाषाओं में प्राप्त पर्याय भी मूलतः परस्पर सन्निकट हैं।

---

१. शब्दोऽक्षरे यशोगीत्योर्वाक्ये रवे श्रवणे ध्वनौ। वाङ्मयार्णव—५८८४

विश्व की समस्त भाषाओं को दृष्टि में रखते हुए शब्द की सम्यक् दृष्टि से परिपूर्ण परिभाषा देना प्रायः असम्भव-सा है। इस विषय पर विचार करते हुए अनेक पश्चिमी विद्वान् येस्पर्सन, वेन्द्रिय, डैनियल जोन्स, उल्डल आदि ने अपनी कठिनाई को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। असंभावना के होते हुए भी 'शब्द' की अनेकानेक परिभाषाएँ दी गयी हैं।

महाभाष्यकार ने शब्द क्या है, इसको स्पष्ट करने के लिए 'गो' शब्द को उदाहरण रूप में लिया है। लोक में शब्द और अर्थ में अभेद रूप से व्यवहार देखा जाता है, यथा—'अयं गोः', 'अयं शुक्लः'—यह गौ है, यह शुक्ल है, इन प्रयोगों में 'गो' शब्द और 'गो' वस्तु को पृथक् रूप से नहीं समझते। शब्द द्रव्य आदि से भिन्न है। इसी को प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट करते हुए पतंजलि कहते हैं कि "क्या शब्द सास्ना, लाङ्गूल, कुकुद, खुर आदि से युक्त वस्तु है? नहीं, वह तो द्रव्य है।" यदि शब्द और द्रव्य में अन्तर न होता तो शब्दानुशासन के स्थान पर द्रव्यानुशासन कहा जाता। 'क्या इंगित, चेष्टित आदि शब्द हैं' नहीं, वह क्रिया है। 'क्या शुक्ल, नील आदि शब्द हैं' नहीं, वह गुण है। क्या भिन्न वस्तुओं में अभिन्न रूप से और छिन्नों में भी अछिन्न रूप से रहने वाली जाति शब्द है, नहीं वह जाति है। इन उत्तरों द्वारा पतंजलि ने स्पष्ट किया है कि शब्द द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति से भिन्न कोई पृथक् सत्ता है। वह क्या है, इसका उत्तर देते हैं कि "जो उच्चरित ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर गलकम्बल, पूँछ, कुहान, खुर, सींग वाले गो व्यक्तियों का बोध कराता है, वह शब्द है।"[१]

पतंजलि के मत से स्फोट के अतिरिक्त लोक-व्यवहार में जिस ध्वनि से अर्थ का बोध होता है, वह शब्द है। जैसा कि ध्वनि करते हुए एक बालक को उद्देश करके कहा जाता है—(और अधिक) शब्द करो, शब्द मत करो, यह बालक शब्दकारी (शोर करने वाला) है। अतः ध्वनि शब्द है। अथवा 'प्रतीत-पदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः'। अर्थात् लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि को शब्द कहते हैं।

ऋलृक सूत्र के प्रसंग में पतंजलि ने शब्द का एक लक्षण और दिया है—शब्द कान से प्राप्य, बुद्धि से ग्राह्य तथा प्रयोग से स्फुटित होने वाली आकाश-व्यापी ध्वनि है।[२]

---

१. येनोंच्चारितेन सास्नालाङ्गूलकुकुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।
—व्याक० महा०, अ० १, पृ० ४

२. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः।
—महा०, आ० २

पतंजलि ने शब्द पर बहुत विस्तार से विचार किया है। निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में उच्चरित, श्रव्य, बुद्धिग्राह्य और अर्थबोधक ये चार विशेषण शब्द की विशिष्टता की ओर संकेत करते हैं। दूसरे शब्दों में, शब्द वह है जो उच्चरित, श्रव्य, बुद्धिग्राह्य तथा अर्थबोधक हो।

'श्रृंगार-प्रकाश' में आता है कि जिसके बोलने से अर्थ की प्रतीति हो, वह (ध्वनि) शब्द है—'येनोच्चारितेन अर्थः प्रतीयते स शब्दः।'[१]

शब्द की परिभाषा के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों में भी पर्याप्त मतभेद रहा है। अरस्तू ने अपने De-Interpretation में जोर दिया है कि शब्द प्रधानतः मानसिक प्रभावों के संकेत हैं और गौणतः उन वस्तुओं के संकेत हैं जिनमें उनकी समानताएँ हैं।[२] कतिपय पश्चिमी विचारक शब्दों में 'अर्थ की एकता' देखना चाहते हैं, दूसरे ब्लूमफील्ड जैसे चिंतक 'शब्द' को 'कम से कम स्वच्छन्द रूप' अर्थात् भाषा की वह लघुतम इकाई घोषित करते हैं जो एक 'स्वतः पूर्णकथन' के रूप में कार्य करने की क्षमता रखती है। एल० आर० एम० पामर का यही मत है। तीसरे विद्वान् वे हैं जिनमें जे० आर० फ़र्थ जैसे आलोचक आते हैं जो शब्दों को वैकल्पिक मुद्राएँ या सिक्के मानते हैं।[३]

उल्मैन के शब्दों में—'भाषण या भाषा की सार्थक लघुतम इकाई ही शब्द है'—'द स्मालेस्ट सिग्नीफिकेंट यूनिट ऑव् स्पीच ऐंड लैंग्वेज।' मेये के अनुसार—'किसी निश्चित व्याकरणिक प्रयोग के लिए निश्चित ध्वनियों का संयोजन ही शब्द है जिससे निश्चित अर्थ की प्राप्ति होती है'—'ए वर्ड इज द रिजल्ट ऑव् द एसोसियेशन ऑव् ए गिविन मीनिंग विद ए गिविन काम्बीनेशन ऑव् साउंड्ज, कैपेबिल ऑव् ए गिविन ग्रामेटिकल यूज।'[४] ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार—'एक ध्वनि या ध्वनियों का संयोजन ही शब्द है जिससे एक विचार या अनेक विचार व्यक्त होते हैं।'

आचार्य कुमारिल ने महाभाष्यकार पतंजलि की परिभाषा में अतिव्याप्ति

---

१. दे० डॉ० भोलानाथ तिवारी—शब्दों का अध्ययन, पृ० ११

२. "He (Aristotle) there (in de interpretation) insists that words are signs primarily of mental affections and secondarily of the things of which these are likenesses."—C. K. Ogden and J. A. Richards, The Meaning of Meaning, p. 35

३. Stephen Ullmann, The Words and Their Use, p. 23

४. दे० डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान कोश, पृ० ६३४-३५

का दोष दिखाते हुए इसे त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया है। उदाहरणस्वरूप उठता हुआ धुआँ 'आग' के अस्तित्व की सूचना देता है, तथापि उसे कोई शब्द नहीं कहता। उनके अनुसार 'जो कर्णेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह शब्द है।' हिन्दी शब्दसागर[1] में शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—"वह स्वतंत्र व्यक्त और सार्थक ध्वनि जो एक या अधिक वर्णों के संयोग से कंठ और तालु आदि के द्वारा उत्पन्न हो और जिससे सुनने वाले को किसी पदार्थ, कार्य या भाव का बोध हो। जैसे—मैं, क्या, सोना, घोड़ा, मोटाई, काला।" लगभग यही परिभाषा मानक हिन्दी कोष[2] में दी गयी है।

आचार्य कुमारिल की परिभाषा के अनुसार ही कविपुंगव चिन्तामणि ने भी एक स्थान पर कहा—"जो सुनि परे सो शब्द है, समुझि परे सो अर्थ।"

प्राचीन भारतीय वैयाकरणों की परिभाषाएँ अतिव्याप्ति दोष से दूषित होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक उचित प्रतीत होती हैं। अधिकांश पश्चिमी विद्वानों ने ध्वनि-साम्य को ही ध्यान में रखा है क्योंकि ध्वनियों को बदलने, जमा करने और हटाने से नए शब्दों का निर्माण किया जा सकता है। स्मरणीय है कि 'शब्द' अर्थ के ही स्तर पर भाषा की लघुतम इकाई है, ध्वनि के स्तर पर नहीं, क्योंकि ध्वनि सर्वत्र सार्थक नहीं होती। उदाहरणार्थ—'आ' (आ जा) सार्थक है, किन्तु 'क' नहीं। अतः उक्त 'शृंगार-प्रकाश' का यह अर्थ कि जिसके बोलने से अर्थ की प्रतीति हो, वह (ध्वनि) शब्द है, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती। हिन्दी शब्दसागर की परिभाषा संगत है, किन्तु डॉ० भोलानाथ तिवारी की निम्नलिखित परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसंगत लगती है। उनके अनुसार—

'अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम इकाई शब्द है।'[3] व्यापकतम रूप में 'उपसर्ग, प्रत्यय, रूढ़ शब्द, यौगिक शब्द, सार्थक शब्द, सभी शब्द माने जा सकते हैं।'[4] गोस्वामी जी ने 'शब्द' का प्रयोग न करके अपने साहित्य में वर्ण या 'आखर' का प्रयोग किया है। यथा—'आखर अरथ अलंकृति नाना।'[5] शब्द के इस सूक्ष्म रूप को महत्तम स्थान प्रदान कर अक्षरब्रह्म से परब्रह्म राम की लीला का समुचित आख्यान किया है। 'अक्षर' शब्द का अर्थ होता है—

१. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ४६६१
२. पं० भा०, पृ० १४४
३. भाषाविज्ञान कोश, पृ० ६३४-३५
४. शब्दों का अध्ययन, पृ० ११
५. मानस १/८/६

'अक्षर न क्षरं विद्यात् । न क्षीयते न क्षरतीतिवाऽक्षरम् ।—अक्षर को न क्षर समझे । अथवा क्षीण नहीं होता अथवा जो अपने स्वरूप से प्रच्युत नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं ।'[१]

वेद का कथन है कि अक्षरतत्त्व ही अक्षरता अक्षयता, अमरत्व का साधन है, उसी में समस्त तत्त्व, समस्त दिव्य विभूतियाँ समाहित हैं, वह अक्षरतत्त्व वेद के प्रत्येक अक्षर में व्याप्त है, वह ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक अक्षर में व्याप्त है । जो उस अक्षरतत्त्व का ज्ञाता नहीं है, उसके लिए समस्त वेद, ज्ञान और विज्ञान निरर्थक है । जो उसको जानता है, वही उसका उपयोग और उपभोग करता है एवं अमरत्व को प्राप्त करता है ।[२]

यास्क ने 'निरुक्त' में इसकी व्याख्या करते हुए यह प्रश्न किया है कि अक्षर कौन और क्या है ? इसके प्रत्युत्तर में आचार्य शाक्पूणि का मत दिया है कि 'ओम' यह वाक्तत्त्व ही अक्षरतत्त्व है, अर्थात् ब्रह्मतत्त्व, परमात्मतत्त्व ही अक्षरतत्त्व है । कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि यही अक्षरतत्त्व है जो वेदत्रयी के प्रत्येक अक्षर में अनुस्यूत है ।[३]

केनोपनिषद् का कथन है कि मनुष्य इस संसार में इसी जीवन में यदि अक्षरतत्त्व का ठीक-ठीक ज्ञान कर लेता है तो उसके जीवन की सफलता है । यदि वह नहीं जान पाता और जानने का प्रयत्न भी नहीं करता तो महान् अनर्थ है, जीवन की निरर्थकता है । जीवन का साफल्य अर्थतत्त्व-ज्ञान से ही संभव है । आत्मतत्त्व-ज्ञान के द्वारा मनुष्य प्रत्येक भूतों में, प्रत्येक पदार्थ में उसी एक तत्त्व का दर्शन करता है तथा मृत्योपरांत अमरत्व प्राप्त करता है ।[४] डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में—"मैंने तुलसी-साहित्य का जो थोड़ा-बहुत अवलोकन किया है, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि शब्द ही नहीं, अक्षर-अक्षर और वर्ण-वर्ण के प्रति जितनी सजगता उसमें मिलती है, वैसी अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आई···'वर्णानामर्थसंघानां' तथा 'कबिहिं अरथ

---

१. व्याक० महा० आ० २, पृ० ११८

२. ऋचो अक्षरे पर्मे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ।।
—ऋग्वेद १।१६४।३९

३. ओमित्येषा वागिति शाक्पूणिः । —निरुक्त० १३।१०
एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिप्रति । —कौ० ब्रा० ६।१२

४. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महतीविनष्टिः ।
भतेषु भूतेषु विचिन्त्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।—केन० २।५

आखर बलु साँचा । अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा' लिखते हुए शब्द से आगे बढ़कर 'वर्ण और आखर' की जो सैद्धान्तिक महत्ता प्रदान की है, वह कुन्तक की 'वर्णविन्यास-वक्रता' द्वारा परिसीमित नहीं की जा सकती, क्योंकि तुलसी ने उसे केवल वक्रोक्ति का ही अंग नहीं माना है।"[1] अतः स्पष्ट है कि गोस्वामी जी के 'आखर' (अक्षर) में शब्द से अधिक सजगता है। शब्द के स्थान पर अक्षर (आखर) का ग्रहण उनकी काव्यात्मा की सूक्ष्म परख का प्रमाण है। इसी अक्षर ने उनके काव्य को उदात्त स्थान प्रदान किया है।

सामान्यतः शब्द के दो भेद माने गये हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। पतंजलि ने भी शब्द के दो स्वरूप माने हैं—स्फोट और ध्वनि। ध्वन्यात्मक का सम्बन्ध उच्चारण से और वर्णात्मक का सम्बन्ध लेखन से है। पशु-पक्षी आदि में केवल ध्वनि का ग्रहण होता है, परन्तु मनुष्यों में शब्दवर्णात्मक होने के कारण ध्वनि के साथ ही स्फोट का भी बोध कराते हैं।

शब्द की महत्ता

शब्दों का एक अपना ही संसार है। शब्द भी उत्पन्न होते, विकसित होते और मरते हैं। मानव की तरह उनका भी जीवन एवं स्वरूप विविधात्मक होता है। शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ और तात्पर्य समझना अपना और अपने देश तथा साहित्य को गौरवान्वित करना है। पर एतदर्थ विपुल साधना और तपस्या होनी चाहिए। शब्दों का श्रवण सभी करते हैं, किन्तु उनके मर्म को विरले ही समझ पाते हैं। अर्थ ही शब्द को ज्योति प्रदान करता है। शब्द यदि सरोज का पद्मनाल है तो अर्थ उसका अन्तःसंचारी जीवनरस।

यास्क ने वेदों के शब्दों को समझा और उस महान् शब्दमर्मज्ञ ने दूसरों को वेदों के शब्द समझाने के लिए 'निरुक्त' तैयार किया जिसमें वैदिक साहित्य में आने वाले शब्दों की धातुओं को, उनकी व्युत्पत्ति तथा अर्थों को समझाया गया है। फिर पाणिनि, पतंजलि, कैयट, नागेश, भर्तृहरि, अमरचन्द आदि विद्वानों ने संस्कृत शब्दों के सम्बन्ध में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में भी शब्दों के अध्ययन, चिंतन और मनन पर अधिक बल दिया जाता था।

ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के महोपाध्याय प्रो० सईस ने 'साइन्स ऑव लैंग्वेज', भाग १, पृष्ठ १ पर ऋग्वेद के एक सूक्त पर भाषा-विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट किया है। सईस का कथन है कि इन मंत्रों में

---

१. सं० डॉ० केशवप्रसाद सिंह—तुलसी : संदर्भ और दृष्टि, डॉ० जगदीश गुप्त का लेख, पृ० ४०

वैदिक ऋषि का वाक्तत्त्व के विषय में जो वक्तव्य है, वह बहुत ही गंभीर, वचारपूर्ण, भाषाविज्ञान की दृष्टि से सत्य तथा बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण है। ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त १२५, मंत्र १ से ८, जिसका सईस ने उल्लेख किया है, वाक्तत्त्व का आत्मविवेचन है। इसका ऋषि 'वाक् अम्भृणी' है और देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय वाक् (वाक्तत्त्व) है। वाक्तत्त्व ने अपने स्वरूप को उत्तम पुरुष में आत्मविवेचन के रूप में प्रस्तुत किया है।[1]

वाक्तत्त्व का कथन है कि—

वाक्तत्त्व समस्त तत्त्वों का धारक है—मैं रुद्रों (एकादश रुद्र), वसुओं (आठ वसुओं), आदित्यों (द्वादश आदित्य) तथा विश्वदेवों (समस्त देवों) के साथ विचरण करता हूँ। मैं मित्र और वरुण दोनों को धारण करता हूँ। मैं इन्द्र और अग्नि दोनों को धारण करता हूँ।[2]

सोमतत्त्व आदि का पोषक वाक्तत्त्व—मैं सोमतत्त्व का पालन और रक्षण करता हूँ। मैं त्वष्टा (विवेचक एवं विश्लेषक तत्त्व), पूषन (पोषक तत्त्व) तथा भग (रयितत्त्व, ऐश्चर्य का पालक) हूँ, मैं यज्ञीय पुरुषों (वाक्तत्त्वज्ञों, अर्थ-तत्त्वज्ञों) को ऐश्चर्य से समृद्ध करता हूँ।[3]

ऋग्वेद के दशम मण्डल का सुविख्यात सूक्त (१२५ सूक्त) इसी वाग् की प्रशस्त स्तुति का उन्मीलन करता है। वह कहता है कि जगत् मेरी ही विभूतियों का प्रकाश है, मेरी लीला का ललित निकेतन है। जगत् में शक्तिसम्पन्न देवताओं की मैं ही शक्ति हूँ। जिसके ऊपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसे मैं शक्तियों से उग्र बना देता हूँ, उसे मैं तत्त्वों का साक्षात्कर्ता ऋषि बना देता हूँ, उसे नितान्त मेधावी बना देता हूँ।[4] वाक् की यह सारगर्भित उक्ति नितान्त तथ्यपूर्ण है।

---

१. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ० २५

२. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमदित्यैरूत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥
—ऋग्वेद १०।१२५।१

३. अहंसोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥
—ऋग्वेद १०।१२५।२

स्वयमि दं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमितं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधताम् ॥
—ऋग्वेद

अक्षरतत्त्व की सिद्धि का फल बताते हुए उक्त ऋग्वेद में ही कहा गया है कि इन्द्र वाक्शक्ति से सहस्रों असंस्कृत वाणी बोलने वाले, अपशब्दों का प्रगोग करने वाले अपवित्र आत्माओं का संहार करता है। यही उसका पुरुषत्व, पुरुषार्थ है। अतएव उसकी उपासना की जाती है।[1]

एक स्थान पर कहा गया है कि परमपिता परमात्मा ने सृष्टिरूपी नौका को खेने के लिए शब्दरूपी पतवार का उच्चारणरूपी व्यवहार अनिवार्य जानकर सृष्टि-रचना की। इच्छा करते ही शब्दों का उस ही भाँति उच्चारण किया जिस भाँति नाव चलाने वाला नाव चलाने की इच्छा करते ही पतवार चलाता है।[2] शब्दतत्त्व को हरि बताते हुए कहा गया है कि वह सहस्रों धाराओं वाला है और उन सहस्रों धाराओं (भाषा-उपभाषाओं) से वह सिक्त होता रहता है, अर्थात् समृद्ध किया जाता है। वह वाक्तत्त्व को पवित्र करता है।[3] इसी प्रकार श्रुति का कथन है कि वाक्शक्ति ही अर्थ को देखती है, अर्थात् वाक्तत्त्व ही जब बुद्धिरूप विवर्त को प्राप्त होता है, तब अर्थ का ज्ञान करता है। वाक्शक्ति ही शक्तिरूप से विद्यमान अर्थ को विस्तृत करती है।

यजुर्वेद में वाक्तत्त्व के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार वाक्तत्त्व समुद्र है, अर्थात् समुद्रवत् अक्षय भंडार, अगाध और दुर्बोध है। वह सर्वव्यापक है, वह अनादि और अक्षर है, वह एक तत्त्व है, वह ऐन्द्र अर्थात् इन्द्र-शक्ति से सम्पन्न है। वह सदस् आधारभूत है और उसके कारण मनुष्य में सदस्यता, सभ्यता, शिष्टता आदि की स्थिति है। वह देवयान मार्ग, राजयोग मार्ग एवं सन्मार्ग पर चलने वालों के मार्ग का रक्षक तथा विघ्न-निवारक है।[4] वह वाक्तत्त्व ही है जिसके आश्रय से सारा संसार मनन करता है और जिसकी सत्ता से मननशक्ति की सत्ता है।[5] मीमांसाकारों का कथन

---

१. यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरु सहस्राशिवा जघान।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधेश्वः॥
—ऋग्वेद १०।२३।५

२. हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम्।
देवो देवानां गुह्यानि नामविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे॥ —ऋग्वेद ९।९५।२

३. सहस्रधारः परिषिच्यते हरिः पुनानो वाचं जनयन्नु पावसुः।
—ऋग्वेद ९।८६।३३

४. समुद्रोऽसि विश्वव्याचाऽजोऽस्येक पादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोस्यृतस्य द्वारौ। मा मा सन्ताप्तमध्वनाम ध्वपते प्रमा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्।
—यजुर्वेद ५।३३

५. वाग्वैमतिः। वाचा हीदं सर्वं मनुते।
—शतपथ ८।१।२७

है कि जिस बात को कोई नहीं जानता, वह बात उसे जना देने या समझा देने का काम शब्द करता है। छान्दोग्य उपनिषद् का कहना है कि "यदि सृष्टि में वाक्तत्त्व न होता तो न धर्म-अधर्म की व्याख्या होती, न सत्य-असत्य की, न साधु-असाधु की, न सहृदय-असहृदय की, न चिन्तज्ञ-अचिन्तज्ञ की ही और न उनका विवेचन होता।"[१] इसी में इसके पूर्व कहा गया है कि वाणी ही नाम से बड़ी है। वाणी ही ऋग्वेद को जतलाती है। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पाँचवें इतिहास-पुराण वेदों के वेद, पितृशुश्रुषा, गणित, उत्पात-विद्या, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, ईश्वर-प्राप्तिविज्ञान, प्राणी-शास्त्र, धनुर्विद्या, ज्योतिष, विषैले जन्तुओं की विद्या, नृत्य-गीत, वाद्यशास्त्र वाणी ही हैं। पुरुष का सार वाणी है। ऋग्वेद का कथन है कि जो वाक्त्त्व के साथ सत्यभाव को प्राप्त होता है, वह स्थिर आनन्द को प्राप्त होता है। उसकी कोई भी बड़े से बड़े तत्त्वज्ञान के विषय में स्पर्धा नहीं कर सकता है। परन्तु जो इसके विपरीत वाक्तत्त्व की माया में ही लिप्त रहता है, वाक्तत्त्व के प्रतिरूप मायाजाल में ही विचरण करता है, उसका समस्त अध्ययन और श्रवण निष्फल होता है। अर्थतत्त्व (प्रतिभा) वाक्तत्त्व का फल और फूल है अर्थात् उपादेय सारांश है। वह व्यक्ति जो **अर्थज्ञान** से वंचित है, समस्त ज्ञान के बाद भी निष्फल रहता है।[२]

अर्थतत्त्वों का विकास वाक्तत्त्व से ही होता है, वही अर्थों को प्रकाशित करता है।[३] अर्थतत्त्व के दर्शन से ऋषित्व की प्राप्ति होती है और आनन्द का लाभ होता है।[४]

हमारे प्राचीन ऋषियों का मत है कि शब्द ही ब्रह्म है और यदि हम ब्रह्म-रूप में उसकी उपासना करें तो हमें अलौकिक शक्ति प्राप्त हो सकती है। इस शब्दब्रह्म की कृपा से आज तक संसार ने जो उन्नति की है, वह हमारे सामने है। आचार्य यास्क ने निरुक्त में (निरुक्त दे० १३।७) और महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य के प्रथम आन्हिक में 'महान् देव' की व्याख्या की है। यास्क ने उसे 'यज्ञ' और पतंजलि ने 'शब्द' की संज्ञा से अभिहित किया है। इसी शब्दतत्त्व

---

१. यद्वै वाङ नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधुनासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैवत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपवियेति।

—छान्दोग्योपनिषद् ७।२।१

२. उत त्वं सख्ये स्थिरपति माहुर्नैनंहिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरित माययैष वाचं शुश्रुवां अफलाम् पुष्पाम्॥—ऋग्वेद १०।७१।५

३. वाक्पुनः प्रकाशयत्यर्थान्। —निरुक्त ८।१६

४. ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ता। —वही १०।१०

को ब्रह्म-प्रतिभा एवं मेधा कहकर पुकारा गया है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् एवं निरुक्त में शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व के सूक्ष्म तत्त्वों का जो वर्णन मिलता है, उसमें शब्द को ब्रह्म माना गया है। ऋग्वेद ने कहा है कि 'यावद् ब्रह्म तिष्ठितं तावती वाक्', अर्थात् जितना ब्रह्म व्यापक है, उतनी ही वाग्देवी भी व्यापक है। ऐतरेय, शतपथ, जैमिनीय, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ उसी वाक्शक्ति को साक्षात् ब्रह्म मानते हुए कहते हैं—वाग्ब्रह्म, वाग्वैब्रह्म[1], वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्म च[2]। कालचक्र के कर्ता विष्णु की भाँति शब्द भी अखंड शक्तिसम्पन्न है। इसी क्षमता के कारण 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में भी शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है, 'वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म।' वही जगत् का परम अधिष्ठान रूप है। मण्डूक श्रुति भी प्रतिपादित करती है कि ब्रह्म दो हैं—एक शब्दब्रह्म तथा दूसरा परब्रह्म। शब्दब्रह्म का निष्णात ही परब्रह्म को प्राप्त करता है। भर्तृहरि के ही शब्दों में शब्दों का संस्कार करना परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है। शब्दों के वास्तविक प्रवृत्ति-तत्त्व को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त करता है।[3] शब्दब्रह्म अनादि, अनन्त और अक्षर है, वह अर्थ रूप में अवतरित होता है तथा उसी से दुनिया का काम चलता है।[4] यह 'शब्दब्रह्म' पद बतलाता है कि किसी समय हम भारतीय लोग शब्दों और उनके अर्थों को कितना अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे। इसी शब्दब्रह्म की उपासना से मानवता धन्य हुई है और महान् भी। शब्दब्रह्म की उपासना ही सरस्वती की सच्ची उपासना, सच्ची पूजा और सच्ची सेवा है। जायसी ने 'पद्मावत' में कहा है कि शब्द द्वारा ही सृष्टि का सृजन हुआ—'बचन हुते उपजेउ संसारा'। गोस्वामी जी ने भी 'शब्दब्रह्म'[5] का उल्लेख किया है, यद्यपि वहाँ इसका अर्थ 'वेद-श्रुति' है।

पतंजलि ने श्रुतिवचन उद्धृत करते हुए कहा है कि एक शब्द का ही ठीक-ठीक ज्ञान करने और शास्त्रों के विधि-विधान के अनुसार शुद्ध प्रयोग करने पर समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है,[6] अर्थात् समस्त अर्थतत्त्व की प्राप्ति होती

---

१. जैमिनीय उपनिषद् २।६।६

२. ऐतरेय ब्राह्मण ६।३

३. तस्माद्यः शब्द संस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ।। —वाक्य० १।१३२

४. अनादिनिधनं ब्रह्म ब्रह्मतत्त्वं यक्षरम् ।
विवततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः । —वाक्य० १।१

५. शांत निरपेक्ष निमर्म निरामय अगुन शब्दब्रह्मैक पर ब्रह्मज्ञानी ।—विनय० ५७

६. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति ।
—महा० ६।१।८४

है। यहाँ पर एक शब्द से अभिप्राय स्फोटरूप शब्द है, उसी के ज्ञान और प्रयोग से अर्थज्ञान और अर्थसिद्धि होती है। 'स्फोट' शब्द का अर्थ होता है—'स्फुटत्यर्थं अस्मात्, इति स्फोटः'। यह सिद्ध करती है कि जिससे (शब्द से) अर्थ स्फुटित हो, उसी का नाम स्फोट है।

दुर्ग शब्द की अनंत स्थिति का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि भाष्यकार और मैं दोनों ही तीक्ष्ण बुद्धिवाले हैं, किन्तु शब्दरूपी सागर के पार न पहुँच पाए, फिर औरों की क्या बात! इतना ही नहीं, इन्द्रादि भी शब्दसागर का अन्त नहीं पाये—'इन्द्रादयोपि यस्यान्तं न ययुः शब्द-वारिधेः। शब्द अनन्त है, इसका पार कोई नहीं पा सका। महाभाष्य में पतंजलि बताते हैं कि देवताओं के गुरु वृहस्पति ने एक हजार दिव्य वर्षों (मानुष वर्ष—३६५ दिन; दिव्य (देवताओं) का एक दिन रात के बराबर है) तक इन्द्र को प्रतिपदोक्त शब्द-पारायण पढ़ाया, पर समाप्ति तक न पहुँचे। वृहस्पति-जैसा पढ़ाने वाला (आचार्य) हो और इन्द्र-जैसा पढ़ने वाला शिष्य हो, जिस पर भी एक हजार दिव्य वर्ष (लम्बा) पढ़ने का समय, तो भी समाप्ति न हो सकी, आजकल तो कहना ही क्या! जो बहुत चिर तक जीता है, वह सौ वर्ष तक जाता है।[1]

महाभाष्यकार के अनुसार संसार में कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो वाणी (शब्दों) को देखते हुए भी नहीं देखते। कुछ ऐसे हैं जो सुनते हुए भी व्याकरण के ज्ञान के बिना नहीं सुनते, अर्थात् नहीं समझ पाते। परन्तु कुछ व्याकरण के विद्वान् ऐसे भी हैं कि जिनकी शुद्ध सुसंस्कृत वाणी पर लालायित होकर सरस्वती उनको उसी प्रकार आत्मसमर्पण कर देती हैं जिस प्रकार कि ऋतु-स्नाता स्त्री अपने समग्र तन-मन को अपने पति को समर्पण कर दिया करती है। इसके विपरीत असंस्कृत शब्द असंस्कृत, अर्थात् दूषित, कलुषित एवं अपवित्र संस्कारों को जन्म देते हैं, उनसे असंस्कृत भावनाओं की उत्पत्ति होती है जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने लक्ष्य अर्थतत्त्व से वंचित रहकर अनर्थतत्त्व अर्थात् माया-प्रपंच में ही लिप्त रह जाता है। पतंजलि ने श्रुति-वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि स्वर और वर्ण की दृष्टि से अशुद्ध उच्चारण किया हुआ दोषयुक्त शब्द अपने विवक्षित अर्थ को नहीं कहता। वह वाणी-रूप वज्र हो यजमान को मार देता है, जैसे इन्द्रशत्रु (वृत्र) स्वर-दोष के कारण

१. 'एवं ह श्रूयते। वृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। वृहस्पतिश्चप्रवक्ता इन्द्राश्चाध्येता दिव्यं वर्षं सहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति वर्ष शतं जीवति।' —व्याक० महा०, आ० १, पृ० २०

मारा गया।[1] जो शब्दों के प्रयोग-विशेष में कुशल व्यवहार के समय उन्हें ठीक-ठीक प्रयोग करता है, वह शब्दार्थ-सम्बन्ध जानने वाला परलोक में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता है और अपशब्दों से पाप का भागी होता है।[2] पतंजलि ने शब्द को बैल की उपमा प्रदान की है। शब्दब्रह्मरूपी (व्याकरणशास्त्र) जो वृषभ (बैल) है, उसके नाम, आख्यान, उपसर्ग तथा निपात ये चार सींग हैं। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान ये तीन काल इसके तीन पैर हैं। नित्य वा कार्य ये दो इसके शिर हैं। इस व्याकरणरूपी बैल के सात हाथ, अर्थात् सात विभक्तियाँ हैं। यह शब्दरूपी बैल छाती, कंठ और शिर इन स्थानों पर बँधा रहता है, अर्थात् ये तीन स्थान इसकी तीन खूँटियाँ हैं। इस शब्द को बैल की उपमा इसलिए दी गई कि इसकी उपासना से अभीष्ट की वर्षा होती है। यह अन्तर्यामी महादेव (शब्दब्रह्म) करणशील मनुष्यों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गया है।[3]

---

१. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तौ न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः[1] स्वरतो पराधात्॥ इति॥

—व्या० महा०, प्र० अनु० चारुदेव शास्त्री, पृ० ७-८

(१) ऐसी कथा है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार डाला। अब त्वष्टा इन्द्र को मारने के लिए एक अभिचार-याग करता है। उसमें वह 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' ऐसा मंत्र पढ़ता है। यहाँ 'शत्रु' क्रिया शब्द है, संज्ञा शब्द नहीं। शत्रु=शातयिता=नाशक। अब त्वष्टा यह कहना चाहता था कि हे अग्नि! तू ऐसे बढ़ कि तेरी ज्वालाओं में उत्पन्न हुआ असुर (वृत्र) इन्द्रशत्रु, अर्थात् इन्द्र का नाशक हो। यह अभिप्रेत अर्थ तब सिद्ध होता यदि वह 'इन्द्रशत्रु' शब्द को तत्पुरुष समास बनाकर इसके अंत में उदात्त पढ़ता। पर उसने प्रमाद से पूर्व पद को प्रकृत स्वर से युक्त पढ़ दिया जिससे वह बहुब्रीहि समास हो गया-जो अन्य पदार्थप्रधान होता है जिससे वह यह कह बैठा कि हे अग्नि! तू इन्द्र है नाशक जिसका। ऐसे रूप वाला होता हुआ बढ़। इस पर वृत्र उत्पन्न होता हुआ ही इन्द्र से मारा गया। यह कथा तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड के पंचम प्रपाठक में दी गई है।

२. यस्तु प्रयेङ्क्ते। यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलोविशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहार-काले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परस वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।

—व्या० महा०, आ० १, पृ० ८

३. च त्वापि शृंगाः त्रयोऽस्यपादाः द्वे शीर्षे।
सप्तहस्ताऽसो त्रिधा बद्धो वृषभोरोरवीति,
महादेवो मर्त्यानाविवेश—॥इति॥ —महा०

वाक्पदीय के रचयिता भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द में ऐसी शक्ति है जो सारे विश्व को जकड़े हुए है। बिना वाणी के कुछ भी नहीं सोचा जा सकता। इस मानुषी शब्द का प्रतीक है अर्थ अथवा ज्ञान। यह भीतर रहता है। यही अपने रूप को व्यक्त करने के लिए शब्द में परिणत होता है। शब्द ही नेत्र है, अर्थात् समस्त वस्तुओं का ज्ञापक है। समस्त अर्थ प्रतिभा-रूप है। शब्द ही वाच्य और वाचक-रूप से भिन्न प्रतीत होता है। उसी एक वाक्शक्ति का विभाजन करके समस्त संसार का व्यवहार चलता है। भर्तृहरि शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते। समस्त संसार को शब्द का ही विवर्त या परिणाम मानते हैं। शब्द के ही द्वारा समस्त भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। असमाख्येय और समाख्येय सब प्रकार के अर्थों के बोध का साधन शब्द ही है। शब्दों के द्वारा ही असमाख्येय षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों का यथार्थ रूप से विवेचन किया जाता है और समाख्येय गौ आदि का भी शब्दों से ही निरूपण किया जाता है। अतएव समस्त अर्थों का आधार शब्द ही है।[1] संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दज्ञान के बिना हो। समस्त ज्ञान शब्द के साथ संसृष्ट-सा प्रतीत होता है।[2] यदि ज्ञान में नित्य रूप से रहने वाली वाक्शक्ति निकल जाए, तो ज्ञान किसी भी वस्तु का बोध नहीं करा सकता। उस दशा में ज्ञान की स्थिति चैतन्यहीन आत्मा या तेजोहीन अग्नि जैसी होगी, क्योंकि वाक्शक्ति ही प्रकाशों की भी प्रकाशिका है।[3] संसार का समस्त ज्ञान शब्दमूलक है। अतएव भर्तृहरि कहते हैं कि समस्त विद्याएँ और समस्त शिल्पशास्त्र और समस्त कलाएँ (६४ कलाएँ गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य आदि) शब्द से सम्बद्ध हैं। शब्द ही वह शक्ति है जिसके द्वारा उत्पन्न हुई समस्त वस्तुओं का विवेचन और विभाजन किया जाता है।[4] जो कुछ भी लौकिक व्यवहार है, वह वाक् द्वारा ही चल रहा है। वाक् ही प्राणियों को प्रत्येक कार्य में प्रेरित करता है। यदि वाक् न रहे तो यह समस्त संसार

---

१. षड्जातिभेद शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः।
तस्मादर्थ विद्याः सर्वाः शब्दमामासुनिश्रिताः॥ —वाक्य० १।११९

२. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ —वाक्य० १।१२३

३. वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत साहि प्रत्यवमर्शिनी॥ —वाक्य० १।१२४

४. सा सर्व विद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद् वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तुविभज्यते॥ —वाक्य० १।१२५

काष्ठ और भित्ति के तुल्य निश्चेतन ही दिखाई पड़ेगा।[१] शब्द यदि न हो तो अर्थ प्रकाशित कैसे हो ? व्यवहार के क्षेत्र में शब्द के बिना काम नहीं चलता।[२] इसी प्रकार महान् साहित्यशास्त्री आचार्य दंडी ने भी कहा है कि यदि शब्द-रूपी ज्योति इस संसार में प्रदीप्त न होती तो आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक जगत्त्रयी अज्ञानरूपी अंधकार के गह्वर गर्त में विलीन रहती।[३]

बाइबिल में कहा गया है कि आरम्भ में शब्द था और शब्द परमात्मा के साथ था और वह शब्द परमात्मा था। बाइबिल की ही प्रारम्भिक कहानियों में एक कहानी 'बेबिल का मीनार' नाम से है। सृष्टि के आरम्भ में आदि मनुष्यों ने ईश्वर को चुनौती देने के लिए मानव-शक्ति के प्रतीक रूप में एक इतना ऊँचा मीनार बनाने का निर्णय किया जो आकाश तक पहुँच सके। मीनार बनते समय ईश्वर ने उनकी भाषाओं को बदल दिया। फलतः मनुष्य विचार-विनिमय करने में असमर्थ हो गये। ईश्वर ने उनकी सामान्य (कॉमन) भाषा छीनकर यह सिद्ध कर दिया कि वह मानव से अधिक शक्तिशाली है। तदनन्तर मनुष्य अधूरे मीनार को पूरा करने के लिए एकत्र भी हुए, परन्तु विचार-विमर्श न कर सकने के कारण असफल रहे।[४] इस कथा की वास्त-विकता में संदेह हो सकता है, परन्तु इससे भाषा की जो उपयोगिता सिद्ध होती है, उसमें कोई अविश्वास नहीं कर सकता।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि शब्द हाइड्रोजन बम से भी अधिक संहारक है। इन्द्रशत्रु (वृत्र) स्वरदोष के कारण मारा गया। शब्द के द्वारा ही चारों वेद, इतिहास-पुराण, विज्ञानादि का ज्ञान संभव है। हमारा सारा ज्ञान, सारी विधाएँ, कलाएँ, सारी शिक्षाएँ, सारी संस्कृति और सारी सभ्यता शब्दों पर ही आश्रित है। शब्द का ठीक-ठीक ज्ञान करने और शास्त्रों के विधि-विधान के अनुसार शुद्ध प्रयोग करने पर समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है। दुर्ग और महाभाष्यकार पंतजलि और यहाँ तक कि इन्द्र आदि देवता भी शब्दरूपी सागर के पार न पहुँच पाये। शब्द शक्ति है। शब्द ही मन

---

१. अर्थक्रियासु वाक् सर्वान समीहयतिदेहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥ —वाक्य० १।१२७

२. आत्मरूपं यथाज्ञाने ज्ञेयरूपं च विद्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रतीयते। —वाक्य० १।५०

३. इदमन्धतमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ —काव्यादर्श, १।४

४. ऑल एबाउट लैंग्वेज, मारिओपेइ, ह्वाई लैंग्वेज, पृ० ६

के घाव पूर सकता है। शब्द तीर से अधिक मर्मवेधी है। किसी ने ठीक ही कहा है—'सबद की चोट लगी मेरे मन में बेधि गयो तन सारा।' यदि शब्द-रूपी ज्योति समस्त संसार में न प्रदीप्त रहे तो तीनों लोकों में अन्धकार ही अन्धकार हो जाय। यदि शब्द न होते तो हमारा सारा जीवन पशुओं का-सा होता। सारा संसार अन्धकार में ही पड़ा रहता। शब्द की इसी अनंत महिमा और अपार शक्ति को ध्यान में रखकर हमारे महर्षियों ने इसे ब्रह्म कहा है। 'शब्द मोहिनी है। शब्द ही फूट डालते हैं। शब्द अमृत से भी अधिक जीवन-दायक हैं। कौन-सा रस है जो शब्दों में नहीं है। जिसने शब्द को साध लिया, उसने सब कुछ साध लिया। शब्द फूल हैं जिनसे रंग-बिरंगी फूलमालाएँ बनती हैं। शब्द मोती हैं जिनसे कण्ठहार बनते हैं। शब्द रुपये हैं जिनसे कोश बनते हैं। शब्द ईंटें हैं जिनसे भाषा-भवन तैयार होते हैं।'[१]

शब्द-शक्ति

गोस्वामी जी की भाषा में प्रयुक्त शब्दावली के अन्तर्गत तीनों शब्द-शक्तियों का यथेष्ट विकास दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि यह कहना उचित नहीं है कि स्वयं गोस्वामी जी इस विषय में विशेष सचेत रहे हैं। संभावना इसी बात की है कि शब्द-शक्तियाँ स्वयं ही उनकी सहज भाषाशक्ति एवं भाषा-कौशल का बल पाकर प्रस्फुटित हो गई हैं। मात्र 'बरवै रामायण' जैसे ग्रन्थों को छोड़-कर कहीं भी उनमें शास्त्रीय कलापक्ष के प्रदर्शन की अभिरुचि बिलकुल नहीं दृष्टिगोचर होती। वैसे 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि' (मा०, मं० श्लो० १) में प्रयुक्त 'अर्थसंघानां' से यह स्पष्ट है कि 'अर्थ' को उन्होंने केवल वाच्यार्थ के लिए ही प्रयुक्त नहीं किया है, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ पर भी उनकी उतनी ही दृष्टि रही है। इसके अतिरिक्त भरत के वचन के लिए गोस्वामी जी कहते हैं—

> सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे।
> ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी।।[२]

यहाँ 'सुगम' अर्थ से वाच्यार्थ का बोध होता है जिसका सम्बन्ध अभिधा शब्द-शक्ति से है। 'अगम' अर्थ से लक्ष्यार्थ का बोध होता है जिसका सम्बन्ध लक्षणा शक्ति से है जिसमें मुख्य शब्दार्थ आश्रित होता है—इसी के द्वारा गूढ़ार्थ, प्रतीकार्थ आदि प्रकट होते हैं। मृदु, मंजु, कठोर अर्थ से व्यंग्यार्थ का बोध होता है

---

१. भाईदयाल जैन—हिन्दी शब्द-रचना, पृ० १-२

२. मानसर २६३।२-३

जिसका सम्बन्ध व्यंजना से है। जिस प्रकार हमारे हाथ में दर्पण रहता है और दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित है, पर उस प्रतिबिम्बित मुख को पकड़ा नहीं जा सकता, उसी प्रकार काव्य की वाणी भी ऐसी होती है जिसकी समस्त अर्थ-व्यंजनाओं और भाव-तरंगों को पकड़कर पूर्णतः निश्चित नहीं किया जा सकता। 'साहित्यिक शैली में कहना चाहें, तो यों कहेंगे कि इनका अभिधेयार्थ सुगम है, मृदु और मंजु है, उसके लिए शब्द थोड़े प्रयुक्त किये गये हैं। अभिधेयार्थ के साथ लक्ष्यार्थ को भी समेट लेना चाहिए, क्योंकि लक्ष्यार्थ भी परिमिति होता है, वक्ता के द्वारा आरोपित होता है, किन्तु व्यंग्यार्थ अमित हो सकते हैं, अनेक, असंख्य और यहाँ तक कि अनंत हो सकते हैं।'[1] प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी स्पष्ट नहीं तो दबे स्वर से लक्षणा और व्यंजना का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

शब्दार्थ के स्वरूप का निर्णय करते हुए मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' के द्वितीय उल्लास में बताया है कि वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन प्रकार के शब्द होते हैं और इन्हीं तीन प्रकार के शब्दों से वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थों का बोध होता है। इस प्रकार शब्द-शक्ति के तीन भेद होते हैं—(१) अभिधा, (२) लक्षणा, (३) व्यंजना।

इसके अतिरिक्त आचार्य कुमारिल भट्ट तात्पर्यार्थ का बोध करने वाली 'तात्पर्या' नामक एक चौथी शक्ति को भी स्वीकार करते हैं।[2] कुछ शब्दतत्त्व किंवा अर्थतत्त्व वेत्ता लोगों (जैसे कि अभिहितान्वयवादी भट्टमतानुयायी मीमांसकों) के अनुसार भी पदार्थ के अतिरिक्त एक अर्थ हुआ करता है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहना उचित है।

अभिधा—साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं।[3] अथवा मुख्य अर्थ के बोधक शब्द की प्रथमा शक्ति का नाम अभिधा है।[4] शब्द के कहे जाने पर बिना विलम्ब ही जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसी अर्थ को लोग मुख्य कहते हैं और जिस व्यापार द्वारा इसका ज्ञान होता है, उसे अभिधा कहते हैं। जो साक्षात् संकेतित अर्थ, कोशार्थ अथवा मुख्य अर्थ का बोधक हो,

---

१. सरस्वती विशेषांक, अगस्त, १९७४, डॉ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का लेख, पृ० १२३

२. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्—काव्यादर्श २/७

३. सा मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। —काव्यप्रकाश २/८

४. तत्र संकेतितार्थस्य बोधनाग्रिमाभिधा। —साहित्य-दर्पण २/४

इसे वाचक शब्द कहते हैं। वाचक शब्द के अर्थबोध का व्यापार 'अभिधा' शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। मुकुल भट्ट ने 'अभिधानवृत्ति मातृका' में लिखा है कि जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों में सर्वप्रथम मुख दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार सभी प्रकार के अर्थों से पहले इसी का बोध होता है। मुख की भाँति मुख्य होने के कारण इसे अन्य सभी प्रतीत अर्थों का मुख कहते हैं। वाच्यार्थ को जान लेने के बाद ही लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो गोस्वामी जी द्वारा अभिधा शक्ति का ही सबसे अधिक उपयोग किया गया है। अभिधा से बोध होने वाले रूढ़, यौगिक रूढ़ और योगरूढ़ तीनों के उदाहरण तुलसी-साहित्य में विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

लक्षणा—विश्वनाथ के अनुसार मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा शब्दशक्ति कहते हैं।[1] मम्मट के अनुसार मुख्य अर्थ का बाध होने पर और उस मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध (योग) होने पर प्रसिद्धि (रूढ़ि) से या प्रयोजन से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह (शब्द में) कल्पित, आरोपित या व्यापार (क्रिया) लक्षणा है।[2] तात्पर्य यह है कि जब किसी पद (शब्द) या पदसमूह का साक्षात् संकेतित अर्थ अभिधा नामक शब्दशक्ति के द्वारा नहीं खुल पाता है तो वहाँ एक दूसरा अर्थ भी होता है जो मुख्यार्थ से सम्बन्धित होता है। अभिप्रेत अर्थ 'रूढ़ि' (रूढ़ मान्यता या प्रसिद्धि) या 'प्रयोजन' (उद्देश्य-विशेष) के कारण अंतर्निहित होता है और जिस शब्दशक्ति के द्वारा यह लक्षित हो जाता है, उसे ही लक्षणा कहते हैं। उपर्युक्त विश्लेषण के अनुसार विचार करने पर लक्षणा के लक्षण में तीन विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

(क) अभिधा से प्राप्य मुख्य अर्थ का बाधित होना,
(ख) मुख्य अर्थ एवं अभिप्रेत अर्थ का सम्बन्ध, एवं
(ग) उक्त सम्बन्ध का कारण किसी 'रूढ़ि' या 'प्रयोजन' का होना।

लक्षणा के अनेक भेद हैं। यहाँ कतिपय प्रमुख भेदों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है—

रूढ़ि लक्षणा—रूढ़ि लक्षणा वहाँ होगी है जहाँ मुख्य अर्थ के बाधित होने पर अमुख्य या अभिप्रेत अर्थ किसी 'रूढ़ि' के कारण लक्षित किया जाता है।

---

१. मुख्यार्थे बाधे तद्युक्तो यथान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद् वासौ लक्षणा शक्तिरार्पिता ॥ —सा० द० २।९

२. मुख्यार्थे बाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ —का० प्र० २।९

गोस्वामी जी के साहित्य में इसके उदाहरण विविध मुहावरों एवं कहावतों के अन्तर्गत विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ—

आजु की कालिह् परौं किनरों जड़ जाहिं गे चाटि दीवारी लो दीयो।[१]
यहाँ 'दीवाली का दिया चाटकर जाने' का अर्थ है 'विरोधी लोगों को समाप्त कर देना'।

इसी प्रकार प्रयोजनवती गौणी लक्षणा, प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा, उपादान लक्षणा, लक्षण लक्षणा आदि के भी अनेक उदाहरण तुलसी-साहित्य में विद्यमान हैं।

व्यंजना—अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर 'अभिधा' एवं 'लक्षणा' नामक शब्दशक्तियों के विरत हो जाने पर जिस शब्दशक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं।[२] अनेक अर्थ वाले शब्द का जब संयोगादि के द्वारा वाचकत्व (अभिधा शक्ति द्वारा बोध्य, सांकेतिक अर्थ) नियत हो जाता है, तब उस शब्द को किसी और अर्थ का, जो कि सांकेतिक नहीं है और फिर भी उसकी ज्ञानधारा उत्पन्न होती है, वैसे ज्ञान के उत्पन्न करने वाले व्यापार का (जो अभिधा से भिन्न है) नाम व्यंजन (व्यंजना) है।[३] घण्टा बजाने के बाद जो आवाज सुनाई पड़ती है, वह अभिधेयार्थ है; जो अनुरणन सुनाई पड़ता है, वह लक्ष्यार्थ है एवं सबसे अंत में जो गूँज छायी रहती है, वह व्यंग्यार्थ है।[४]

व्यंजना दो प्रकार की होती है—

(१) शाब्दी व्यंजना। इसके भी दो भेद—अभिधामूला और लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना।

(२) आर्थी व्यंजना।

जो व्यंजना शब्दों पर आधारित होती है, उसे शाब्दी व्यंजना कहते हैं। संयोगादि के द्वारा अनेक अर्थ वाले शब्द के प्रस्तुत एक अर्थ के निश्चित हो जाने पर जो शक्ति अन्य (विशेष) अर्थ का बोध कराती है, उसी को अभिधा-

---

१. कविता० ७।१७६

२. विरतास्वामिधाद्यासु यथार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जनानाम शब्दस्यार्थादिकस्य च। —साहित्य दर्पण २।१६

३. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृति रञ्जनम्॥ —काव्यप्रकाश २।१६

४. काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १८

मूला शाब्दी व्यंजना माना गया है ।[१] संयोगादि साधनों का विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अर्थ-विनिश्चय के साधनों के विवेचन में किया जायगा ।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना के अनेक उदाहरण तुलसी-साहित्य में देखे जा सकते हैं ।

ध्वनितत्त्व और वक्रोक्ति के भी अनेक उदाहरण तुलसी-साहित्य में विद्यमान हैं । कवि ने स्वयं इन काव्यांगों को स्वीकार किया है—

धुनि अवरेब कबित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥[२]

यहाँ 'धुनि' से ध्वनितत्त्व और 'अवरेब' से वक्रोक्ति सूचित होता है ।

अर्थ का लक्षण

शब्द की तरह अर्थ के भी अनेक अर्थ और पर्याय मिलते हैं। अर्थ के प्रयोजन, आशय, अभिप्राय, अभिधेय, विषय, शब्दप्रतिपाद्य, लक्ष्य, उद्देश्य, अभिलाष, तात्पर्य, प्रतिपाद्य आदि पर्याय हैं ।

भिन्न-भिन्न भाषाओं में अर्थ का प्रतिशब्द इस प्रकार प्राप्त होता है—

संस्कृत-हिन्दी—अर्थ **English—Meaning**

अरबी-उर्दू—मानी **French—Sens**

अर्थ की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अर्थ+घञ्—अर्थः । ऋ+घन्—अर्थः । अर्थ—याचने—अर्थयते । आत्मनेपदी इस धातु को चुरादिगणीय माना जाता है । यह एक द्विकर्मक धातु है । स्वभावतः पाणिनि इसकी मूल धातु के अन्वेषण में असमर्थ रहे हैं, तथापि उन्होंने इसकी मूलभावना खोज निकाली है । धातुपाठ में इसका अर्थ 'उपयाच्ञायाम्' दिया गया है । अर्थात् 'अर्थ' धातु का प्रयोग माँगना या माँगने की प्रवृत्ति दिखाना के अर्थ में होता है । इसी से 'प्रार्थना' आदि शब्दों का निर्माण होता है । कह सकते हैं कि 'अर्थ' का मूल अर्थ 'उपयाच्ञा' रहा होगा । वस्तुतः इस अर्थ के कारण ही प्रयोक्ता और ग्रहीता, दोनों ही के लिए 'शब्द' माध्यम बनता है । अर्थात्, दोनों की शब्द तक 'पहुँच' इसी अर्थ के द्वारा होती है । 'अर्थ' का मौलिक 'अर्थ' है 'माँग' या 'उपस्तुति' । 'वाङ्मयार्णव' में 'अर्थ' के फल, धन, शास्त्र, वस्तुमात्र, प्रयोजन, हृदय, साधन, मोक्ष, कार्य, ऐश्वर्य,[क] निवृत्ति, वाच्य, हेतु, अभिप्राय, याचन और विषय—ये सोलह अर्थ किये गये हैं।

१. साहित्य दर्पण २।२१

२. मानस २।११६।१-२

क. अर्थः फले धने शास्त्रे वस्तुमात्रे प्रयोजने ।
हृदये साधने मोक्षे कार्यैश्वर्ये निवृत्तिषु ।
वाच्ये हेताभिप्राये याचने विषय तथा ।
—वाङ्मयार्णव—महामहोपा० रामावतार शर्मा, ३४५-४६

'शब्दरत्नाकर' में भी इन्हीं अर्थों को दोहराया गया है।[१] 'अमरकोष' में अर्थ के पाँच अर्थ हैं—अभिधेय, धन, वस्तु, प्रयोजन और निवृत्ति।[२] इन सभी अर्थों में दो सर्वप्रमुख माने गये हैं, अर्थ (मीनिंग), अर्थ (वेल्थ)। 'हितोपदेश' में इस स्थापना की पुष्टि मिलती है—अर्थेन बलवान सर्वः अर्थात् भवति पण्डितः।[३] अर्थ का मानी (मीनिंग) के अभिप्राय में जो अर्थ है, उसमें भी अर्थान्तर है। यह अभिधेय, अभिप्राय और प्रयोजन जैसे शब्दों से प्रकट होता है। उक्त तीनों शब्द के प्रयोग अर्थ के पर्याय और अर्थ दोनों में होते हैं। इनमें जो सूक्ष्म अर्थभेद है, वह अंग्रेजी प्रतिशब्दों से स्पष्ट है—अभिधेय (मीनिंग), अभिप्राय (परपज), प्रयोजन (मोटिव)। अर्थ के नानार्थत्व में इन शब्दों का प्रयोग मिलता है।[४]

स्फोट सिद्धान्त के अनुसार शब्दों का अर्थ जो प्रकट होता है, वह न तो वर्णों से होता है और न इन वर्णों से बने हुए शब्दों से होता है, प्रत्युत इन वर्णों से बने हुए शब्दों में सन्निहित शक्ति के कारण अभिव्यक्त होता है। इस शक्ति को स्फोट की संज्ञा दी गयी है।

कात्यायन और पतंजलि 'अर्थ' का लक्षण करते हुए कहते हैं कि समस्त शब्द अपने-अपने अर्थ का बोध कराने के लिए होते हैं, परन्तु जिस-जिस अर्थ-बोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है, वही उसका अर्थ होता है।[५] कात्यायन ने अर्थ के लक्षण में 'भाव' शब्द का तीन बार प्रयोग किया है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए पतंजलि कहते हैं कि प्रथम भाव शब्द का अर्थ है शब्द, और दोनों का अर्थ है अर्थ। कैयट और नागेश उपर्युक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए अर्थ का लक्षण करते हैं कि समस्त शब्द जिस प्रवृत्ति-निमित्त से अर्थात् जिस वाच्य अर्थ के बोधन के लिए प्रयोग को प्राप्त होते हैं, वही प्रवृत्ति-निमित्त

---

१. अर्थो धने शब्दवाच्ये शास्त्रे हेतौ प्रयोजने।
   निवृत्तौ याचने मोक्षे विषय व्यवहारयोः॥
   —शब्दरत्नाकर (बाणभट्ट), ३७२६-२७

२. अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजन विवृत्तिषु। —अमरकोष ३।१।८६

३. हितोपदेश—८६

४. अभिधेयाभिप्राय प्रयोजन द्रव्यवाचकेष्वर्थः।
   —अभिधानरत्नमाला—हलायुध कोश ५/८६७

५. सर्वेभावाः स्वेन भवन्ति स तेषां भावः। किमेभिस्त्रिभिर्भावग्रहणैः क्रियते? एकेन शब्दः प्रतिनिर्दिश्यते द्वाभ्यामर्थः। यद् वा सर्वे शब्दाः स्वनोर्थेन भवन्ति स तेषमर्थः। —महा० ५/१/११६

रूप अर्थ (वाच्य अर्थ) उन शब्दों का अर्थ है ।[१] पतंजलि के अनुसार अर्थ के निमित्त ही शब्द का निर्माण होता है ।[२] एक स्थान पर वे कहते हैं कि शब्द के उच्चारण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है ।[३] जयन्त के अनुसार, कोई मानते हैं कि यह इस पद का अर्थ है, अर्थात् सांकेतिक अर्थ है; जिस शब्द से जिस अर्थ का संकेत किया जाता है, वह उसका अर्थ है । दूसरा लक्षण यह है कि जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है ।[४] कुमारिल भट्ट ने 'श्लोकवार्तिक' के वाक्याधिकरण में अर्थ का लक्षण करते हुए लिखा है—जो अर्थ जिस शब्द के साथ सम्बद्ध रहता है, वही उसका अर्थ है, अर्थात् शब्द का वह अर्थ होता है जो उसके साथ सदा विद्यमान रहता है, उस अर्थ को छोड़ता नहीं है ।[५] प्राचीन आचार्यों ने शब्द के साथ-साथ 'वर्ण' को भी अर्थयुक्त सिद्ध करने की चेष्टा की है (महा० १।१।२) । पतंजलि कूप, सूप और यूप शब्दों का उदाहरण देकर यह प्रतिपादित करते हैं कि वर्ण-व्यत्यय के कारण भी अर्थों में परिवर्तन होते हैं । किन्तु आधुनिक आचार्य एवं भाषाशास्त्री केवल 'शब्द' को ही अर्थसंपन्न मानते हैं, 'वर्ण' को नहीं ।

जब हम किसी शब्द को बोलते या सुनते हैं तो उसके द्वारा जो विचार या भाव हमारे मन-मस्तिष्क में जागृत होता है, वही उसका अर्थ है । भर्तृहरि ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है ।[६] यह विचार या भाव संस्कारजन्य है और एक ही शब्द का अर्थ प्रत्येक मनुष्य के संस्कार के अनुसार अलग-अलग होता है । शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं होता, अपितु उसका अर्थ केवल प्रतीकात्मक या माना हुआ होता है । अर्थ की प्रतीति वाक्य पर निर्भर करती है ।[७] प्रतीति दो प्रकार की होती है—एक तो

१. प्रदीप और उद्योत, महा० ५।१।११९

२. युक्तं पुनर्यच्छब्दनिमित्तको नामार्थ स्यात्, नार्थनिमित्त केन नामा शब्देन भवितव्यम् । अथ निमित्तक एव शब्दः । —महा० १।४।५

३. शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते । —वही १।१।६८

४. अयमस्य पदस्यार्थ इति केचित् स तेन वा ।
योऽर्थः प्रतीयते यस्मात् स तस्यार्थ इति स्मृतिः ।।—न्याय-मंजरी, पृ० २९९

५. तत्रयोऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ । —श्लोकवार्तिक १६०

६. यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ।। —वाक्य० २।३३०

७. वाक्य भावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः ।
संपद्यते शाब्दाबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः ।।—शब्दशक्तिप्रकाशिका—१२

आत्मप्रत्यक्ष द्वारा और दूसरे, परप्रत्यक्ष द्वारा। आत्मप्रत्यक्ष का तात्पर्य है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हम स्वयं करें। उदाहरण के लिए वृक्ष, नदी, रेल, पत्थर, ऊँट, घोड़ा, गाय आदि वस्तुओं के प्रत्यक्ष के लिए हमें दूसरों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती, इनका प्रत्यक्ष हम स्वयं करते हैं। किंतु विश्व में प्रत्येक वस्तु का सदैव स्वयं प्रत्यक्षीकरण असंभव हाता है। मनुष्य के ज्ञान, आयु आदि सीमित हैं। इसलिए अनेकानेक ज्ञान के लिए हमें दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। उदाहरण के लिए आत्मा, ब्रह्म और ईश्वर विषयक ज्ञान के लिए हमें अपने ऋषियों का आश्रय लेना पड़ता है जो इनका प्रत्यक्ष कर चुके हैं। इसी को परप्रत्यक्ष कहते हैं। आत्मप्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न प्रतीति अधिक स्पष्ट एवं स्थायी होती है। परप्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न प्रतीति अपेक्षाकृत अस्पष्ट होती है। इसीलिए कहा गया है कि 'शास्त्र सुचिंतित पुनि-पुनि देखिअ।'[१] अर्थ के लक्षण को हमारे आधुनिक विद्वानों ने और अधिक स्पष्ट किया है—"क्रिया के वे रूप जिनसे कहने वाले के मानसिक भाव का बोध होता है, अर्थ कहलाते हैं। मनोवैज्ञानिक स्तर पर अर्थ वह बिंब है जो पाठक के मस्तिष्क में शब्द आदि पढ़कर या श्रोता के मस्तिष्क में शब्द आदि सुनकर बनता है।"[२] शब्दों के उच्चरित होने के पश्चात् शब्दशक्तियों के ज्ञान से जिस संकेतित, लक्षित या व्यंग्यभूत 'व्यक्ति' की उपस्थिति होती है, उसे ही 'अर्थ' कहते हैं। 'हिन्दी शब्दसागर' में अर्थ का अर्थ इस प्रकार बताया गया है—'शब्द का अभिप्राय। मनुष्य के हृदय का आशय जो शब्द से प्रकट हो।'[३] 'मानक हिन्दी कोश' के अनुसार—'वह अभिप्राय, भाव या वस्तु जिसका बोध पाठक या स्रोता को कोई शब्द या वाक्य पढ़ने या सुनने पर अथवा कोई भावभंगी या संकेत देखने पर होता है।'[४] अधिक स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि किसी शब्द या वाक्य को सुनकर उससे कुछ समझ लिया जाय या पूरी पुस्तक पढ़कर या किसी की विस्तृत बात सुनकर कोई भावना, विचार या धारणा मन में बैठ जाय तो उस समझी हुई बात को ही अर्थ कहते हैं। चिंतामणि ने भी कहा है कि 'समुझि परे सो अर्थ।'

पश्चिम में प्लेटो ने भी अर्थ पर नामकरण-सम्बन्धी विचार 'क्रेटिलस' में दिये हैं। आधुनिक मनोविज्ञान से यह स्पष्ट है कि बाह्य वस्तुएँ ज्ञान-संवाहिका (आफरेंट) नाड़ियों (स्नायुओं) के द्वारा अपनी उर्मियों को मन तक पहुँचाती

१ मानस ३/३६/८

२. डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान कोश, पृ० ३५

३. हिन्दी शब्दसागर, पृ० १६३

४. मानक हिन्दी कोश, पृ० १८०

हैं और मन अपने संचित ज्ञान में उस उर्मि को स्थान देता है। अंग्रेजी में 'अर्थ' का पर्याय 'मीनिंग' है जो सार्थक है क्योंकि 'मीन' का अर्थ है 'मध्य'। अतएव जो निर्विकल्प (प्रत्यक्ष) अथवा संसेशन पूर्वसंचित ज्ञान के मध्य उसी प्रकार स्थान प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार सभा में अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सभासद। जिस प्रकार स्वागताध्यक्ष आगन्तुकों को उनके अनुरूप मंच पर अथवा आसपास अथवा दूरी पर स्थान का निर्देश करता है, उसी प्रकार मन भी वस्तु की नवीनोद्भूतियों को यथावत् अपनाता है। कवि भी शब्द की अभिधा शक्ति के द्वारा अपने 'अर्थ' को अर्थात् अपने विचार-भाव एवं रचनात्मक आह्लाद को सहृदय तक पहुँचा देता है।[1] डॉ० जे० एस० सूर का विचार है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अर्थ वस्तुतः संदर्भ या प्रकरण होता है। किन्तु तात्त्विक या तार्किक रूप में अर्थ को संदर्भ या प्रकरण की अपेक्षा कुछ और भी माना जा सकता है।[2] एक ही शब्द के अनेक अर्थ संभव हैं, होते हैं, जान भी पड़ते हैं। कौन-सा अर्थ वास्तविक है? एक पश्चिमी विचारक ए० गार्डिनर का मत है कि वाक्य का वही अर्थ है जिसको श्रोता को बोध कराने के लिए वक्ता ने अपने मन ने रखा है।[3]

सी० के० औग्डेन और आई० ए० रिचर्ड्स ने 'अर्थ' का अर्थ समझाते हुए कहा है कि जिन बहुत-सी परिस्थितियों में किसी उक्ति या क्रिया का प्रयोग करने पर सदा समान लक्षण प्रकट हो और जिन परिस्थितियों में उस क्रिया या उक्ति का प्रयोग न हो, उसमें वे लक्षण न दिखाई पड़ें, तब उन लक्षणों का योग ही अर्थ कहलाता है। एक स्थल पर वे कहते हैं कि शब्द का अपना कोई अर्थ नहीं होता। इसका कोई अर्थ तब होता है जब कोई सुधी इसका प्रयोग (किसी वस्तु के लिए) करता है, अथवा इसे यों कहें कि तब यह अर्थ ग्रहण करता है। इस प्रकार शब्द मात्र साधन है।[4] प्रस्तुत विवेचन

१. डॉ० रामदत्त भारद्वाज, काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १६

२. "Pscyhologically meening is context, but logically and metaphysically meening is much more than psychological context, or to put in the other way round, whatever meaning may be, psychology is concerned with is only so far as it can be represented in terms of contextual imagery."
—The Foundations of Psychology, p. 103

३. उद्धृत डॉ० बाबूराम सक्सेना, अर्थविज्ञान, पृ० १७

४. "Words, as every one now knows, 'mean' nothing by themselves...It is only when a thinker makes use of them that they stand for anything, or in one sense, have 'meaning.' They are instruments."—C. K. Ogden and J. A. Richards, The Meaning of Meaning, pp. 9-10

'शब्द-प्रकाशिका' से किंचित् साम्य रखता है। औग्डेन तथा रिचर्ड्स के मत से 'अर्थ' वह मानसिक तत्त्व है जो एक ओर घटनाओं तथा विषयों के बीच तथा दूसरी ओर उनके लिए प्रयोग में लाये जाने वाले प्रतीकों तथा शब्दों के बीच सम्बद्ध होता है।

औग्डेन और रिचर्ड्स ने अपनी पुस्तक 'मीनिंग ऑव मीनिंग' (अध्याय ९, पृ० १८५ से २०८) में आधुनिक विद्वानों के बताए हुए अर्थ के सोलह लक्षणों का उल्लेख किया है तथा उनका विवेचन भी किया है। ये सोलह लक्षण ये हैं—

(क) (१) तात्त्विक भाग अर्थ है। (२) अन्य वस्तुओं के साथ एक अनुपम अनिर्वचनीय सम्बन्ध अर्थ है।

(ख) (३) शब्दकोश में एक शब्द के साथ जोड़े गये अन्य शब्द अर्थ हैं। (४) शब्द का लक्ष्य अर्थ है। (५) सारांश अर्थ है। (६) वस्तुओं में निरूपित क्रियात्मकता अर्थ है। (७) (क) अभिमत तथ्य अर्थ है। (ख) संकल्प अर्थ है। (८) शास्त्रीय प्रक्रिया में निर्दिष्ट भाव अर्थ है। (९) हमारे भावी अनुभवों से सिद्ध किसी वस्तु के क्रियात्मक परिणाम अर्थ हैं। (१०) किसी वक्तव्य में वाच्य या लक्ष्य रूप से निहित विचारात्मक परिणाम अर्थ है। (११) किसी वस्तु के द्वारा उद्बोधित मनोभाव अर्थ हैं।

(ग) (१२) किसी निर्धारित सम्बन्ध के द्वारा किसी संकेत से वस्तुतः सम्बद्ध पदार्थ अर्थ है। (१३) (क) किसी प्रेरणा के स्मरणोद्बोधक परिणाम अर्थ हैं। सम्प्राप्त सम्बन्ध अर्थ हैं। (ख) कोई अन्य घटना जिससे किसी अन्य घटना के स्मरणोद्बोधक परिणाम सम्बद्ध हैं, अर्थ हैं। (ग) किसी संकेत का अभिमत पदार्थ अर्थ है। (घ) जिस अर्थ को कोई बात अभिव्यक्त करती है, वह अर्थ है (संकेतों के विषय में), (ङ) वह वस्तु, जिसको संकेत का प्रयोक्ता वस्तुतः संकेतित करता है, अर्थ है।

(१४) संकेतों के प्रयोक्ता को जिसका निर्देश करना चाहिए, वह अर्थ है।

(१५) संकेतों के प्रयोक्ता का जो स्वयं अभिमत भाव है, वह अर्थ है।

(१६) (क) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस अर्थ को समझता है, वह अर्थ है। (ख) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस अर्थ की अपने हृदय में भावना करता है, वह अर्थ है। (ग) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस भाव को वक्ता का अभिप्रेत भाव समझता है, वह अर्थ है।[1]

---

१. उद्धृत आचार्य कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ० ९६-९७

अर्थ के इन सोलह लक्षणों की तुलना उपर्युक्त अर्थ के लक्षणों से करने पर भारतीय वैयाकरणों के विवेचन-गांभीर्य एवं पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के आश्चर्यजनक विवेचन-साम्य का परिचय मिलेगा। भारतीय विद्वान् 'प्रतीति' को अर्थ कहते हैं और पाश्चात्य विद्वान् 'संदर्भ या प्रकरण एवं सम्बन्ध' को अर्थ मानते हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के अर्थ-विषयक लक्षणों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि अर्थ शब्द की ऐसी आन्तरिक शक्ति है जो शब्द के उच्चारण करते ही उस वस्तु की प्रतीति कराया करती है जिसके संदर्भ या प्रकरण में कोई शब्द बोला या लिखा जाता है।

अर्थ की महत्ता

लोकप्रवाह से विच्छिन्न होकर शब्दकोशों में उपेक्षित तथा विस्मृत पड़े प्राणहीन शब्दों पर जब प्रतिभाशाली कवि की सजीव दृष्टि पड़ती है तो वे पुनर्जीवित हो उठते हैं। उचित शब्द का उचित स्थल पर उसकी पूर्ण अर्थवत्ता के साथ प्रयोग प्रतिभाशाली कवियों का ही काम है। प्रतिभावान् कवि ही अर्थतत्त्व का यथार्थतः ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अर्थ की उर्मियों को सूक्ष्म दृष्टि ही पकड़ पाती है।

अर्थ की महत्ता को स्पष्ट करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि अर्थज्ञान से रहित शब्दज्ञान प्रतिभा की व्युत्पत्ति का साधन नहीं है। जिस प्रकार अग्नि के अभाव में शुष्क ईंधन अग्नि को प्रज्वलित नहीं सकता है, उसी प्रकार अर्थ-तत्त्व की उपेक्षा करके समस्त शब्दतत्त्व का अध्ययन प्रतिभा को कभी भी प्रदीप्त नहीं कर सकता है।[1] जो मनुष्य समस्त वेद एवं समस्त ज्ञान और विज्ञान का अध्ययन करने के पश्चात् भी अर्थतत्त्व अर्थात् प्रतिभा की सिद्धि नहीं करता है, उसका समस्त अध्ययन उसी प्रकार निरर्थक है जैसे वेद-शास्त्रों के भार को ढोने वाले गर्दभ का। जो व्यक्ति अर्थतत्त्व का ज्ञान कर लेता है, प्रतिभा की सिद्धि कर लेता है, वह समस्त सुखों का उपभोग करता है और ज्ञान-अग्नि के द्वारा समस्त ध्वनि-दोषों, संस्कार-दोषों और अज्ञानजन्य दोषों

---

१. यद गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते,
अनग्नाविव शुष्कैंधो न तज्ज्वलित कर्हिचित्। —निरुक्त १।१८
इसी प्रकार विशेष द्रष्टव्य—व्याक० महा०; अ० १; ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ एवं मंत्र ब्राह्मण की भूमिका में—सायण।

का नाश करके परमतत्त्व परमार्थ और अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है।[१] ऋग्वेद में कहा गया है कि अज्ञानी व्यक्ति वाक्तत्त्व, अर्थतत्त्व को देखता हुआ भी नहीं देखता है, सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, वह प्रतिभा का प्रतिक्षण दर्शन करते हुए भी दर्शन नहीं करता है, उसकी अनुभूति करते हुए भी साक्षात् अनुभूति नहीं करता है। इसके सर्वथा विपरीत ज्ञानी व्यक्ति प्रतिक्षण प्रतिभा का साक्षात्कार करता है और उसकी अनुभूति करता है; अर्थतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रतिभा पतिव्रता स्त्री के तुल्य—जैसे पत्नी अपने पति के समक्ष अपने अंगों को उन्मुक्त भाव से आवरणरहित कर देती है, उस आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति को अपना स्वरूप प्रकट करती है।[२] नागेश ने इस मंत्र की व्याख्या की है—वाक्तत्त्व की सफलता यही है कि अर्थतत्त्व का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय। अर्थतत्त्व वाक् का शरीर है; वाक्तत्त्व आत्मा है।[३] आचार्य आनन्दवर्द्धन ने सहृदय-श्लाघ्य अर्थ को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।[४] दुर्ग ने कहा है कि अर्थ प्रधान है और शब्द गौण। शब्द और अर्थ की एकात्मकता होने पर भी अर्थ अंश की ही प्रधानता होती है, क्योंकि उसका ही उपयोग होता है।[५] भर्तृहरि विषय-भेद से शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता स्वीकार करते हैं।[६] उनके विचारानुसार लोक में चूँकि शब्द अर्थ-संयुक्त होकर ही प्रयुक्त किया जाता है, इसीलिए वही मुख्य रूप से प्रतीत होता है। अतः हम कहते हैं कि लोक-व्यवहार की दृष्टि से 'अर्थ' ही प्रमुख है। शास्त्रों में विवक्ष, प्रकरण और वक्ता की इच्छा के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों की ही प्रधानता सिद्ध की गयी है। 'निरुक्त' के एक अंश पर विचार करते हुए दुर्गाचार्य ने 'अर्थ' को ही प्रधान कहा है—

---

१. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्,
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।।—निरुक्त १।१८

२. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृणवन्न शृणोत्येनाम,
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।
—ऋग्० १०।७१।४

३. अर्थपरिज्ञान फला हि वाक् । सम्यक् ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य ।
अर्थो हि वाचः शरीरम् उद्योत् । —केनोपनिषद् २।५

४. ध्वन्यालोक १।२

५. शब्दार्थयोरेकात्मत्वेऽप्यर्थांशस्यैव प्राधान्यमुपयोगवशात् ।
—पुष्पराज वाक्य० २।१३०

अर्थम् वाचः पुष्पम् फलमाह । —लक्षणस्वरूप, निरुक्त १।२०

६. वाक्य० २,१३१,१३१

अर्थोहि प्रधानं तदगुणभूत: शब्द: ।—निरुक्तम् २-१

सच तो यह है कि भावों एवं विचारों का प्रादुर्भाव प्रथम होता है, भाषा तो पीछे बनती है। ये भाव एवं विचार ही वस्तुत: 'अर्थ' हैं जिनके अभाव में शब्द की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। अभिप्राय यह है कि प्रथम अर्थ होता है और तत्पश्चात् शब्द। 'निरुक्त' में अर्थ को वाणी (शब्द) का पुष्प और फूल कहा गया है।

जिस प्रकार सौगंधिक का तत्त्व सुगंध एवं बादल का जल है, उसी प्रकार शब्द की आत्मा अर्थ है और शब्द शरीर। गोस्वामी जी ने अर्थ को उपमा-रहित और पराग तथा भाव एवं भाषा को मकरंद और सुगंध कहा है—अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।[1] शब्द के भीतर अर्थ होता है, वैसे ही पराग फूल की पंखुड़ी से मिला हुआ भीतर की ओर पहले ही दिखाई देता है। मकरंद पराग के नीचे रहता है जो साधारणत: दिखायी नहीं देता, इसी तरह शब्दों के भीतर अर्थ के अभ्यन्तर सुन्दर भाव भरे होते हैं। किसी ने अर्थ की महत्ता को बताते हुए कहा है कि 'जो वक्ता या कथा-वाचक किसी ग्रन्थ के ठीक एवं सीधे अर्थ को छोड़कर अंड-बंड (ऊटपटांग) अर्थ करता है, वह तो नरक में जाता ही है और अपने साथ श्रोताओं को भी नरक में घसीट ले जाता है।'[2] इसी प्रकार संभवत: काष्ठजिह्वा स्वामी के निम्न शब्द कतिपय रामायणियों से सुने जाते हैं—

ऐंचि तानि खैंचि-खाँच श्रुति को न गींजिए।
जामे रस बनो रहे सोई अर्थ कीजिए॥

पश्चिमी विद्वानों में ब्लूमफील्ड ने भावना के स्थान पर अर्थ (मीनिंग) को महत्त्व दिया है।[3] औग्डेन ने कहा है कि गलतफ़हमी या शब्दों का ठीक अर्थ न समझना ही विश्व-व्यापक युद्धों का कारण रहा है।[4] राजेट ने भी शब्दों का उचित भाव, अर्थप्रयोग व रूप न समझने का यही भयंकर दुष्परिणाम बताया है।[5]

---

१. मानस० १।३७।६

२. य: साध्वर्थं परित्यज्य करोत्यर्थं विपर्यय: ।
स वक्ता निरयं याति श्रोतृश्च निरयं नयेत् ॥
—उद्धृत, तुलसी-परिशीलन, पृ० ११६

३. लैंग्वेज, पृ० १४४

४. ऑग्डेन और रिचार्ड्स, द मीनिंग ऑव मीनिंग, भूमिका।

५. डॉ० पी० एम० राजेट, पाकेट थेसारस (१६५२ ई०), पृ० ६

संक्षेप में, जैसे अग्नि के बिना शुष्क ईंधन प्रज्वलित नहीं हो सकता, उसी प्रकार अर्थ के बिना शब्द का अध्ययन प्रतिभा को प्रदीप्त नहीं कर सकता। मूर्ख जो अर्थज्ञान नहीं रखता, केवल कंठाग्र कर लेता है, वह वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता और सुनते हुए भी नहीं सुनता। अर्थग्राही के लिए वाणी अपने शरीर को उसी प्रकार खोलकर रख देती है कि जिस प्रकार ऋतुस्नान के उपरांत सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत पतिव्रता पत्नी। अर्थ के बिना वेद का ज्ञान वेदादि का भार ढोने वाले गर्दभ के समान है। शब्द शरीर है और अर्थ आत्मा। अर्थ प्रधान है और शब्द गौण। अर्थ पराग है और भाव मकरंद। असाधु अर्थ करने और सुनने वाले वक्ता-श्रोता दोनों नरकगामी होते हैं। अर्थ के अज्ञान के कारण ही विश्व-व्यापक युद्ध हुए हैं।

अर्थबोध के साधन

अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। शब्दार्थ-ज्ञान के बिना वाणी के गूढ़ार्थ का उद्घाटन नहीं होता। शब्द की संगतिजन्य अर्थच्छवियों को आत्मसात् करने के लिए अभ्यस्त, शिक्षित एवं हृदय-संवेदनक्षम, प्रतिभाशाली कुशल पाठक की आवश्यकता होती है। भर्तृहरि ने अर्थ-ज्ञान में प्रतिभा का स्थान सबसे उत्तम बताया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिभा के अनुसार शब्द का अर्थ समझता है और ग्रहण करता है।[१] बालक, युवा और वृद्ध, शिक्षित और अशिक्षित सभी अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार शब्दों के अर्थों को समझते हैं और तदनुसार प्रयोग करते हैं। नागेश ने वृत्तिज्ञान को अर्थज्ञान का मुख्य साधन बताया है।[२]

जगदीश जी ने 'शब्दशक्ति-प्रकाशिका' में एक श्लोक उद्धृत किया है। उनके अनुसार अर्थबोध या शक्तिग्रह के आठ साधन हैं[३]—

१. **लोकव्यवहार**—पाणिनि का कथन है कि लोकव्यवहार से अर्थज्ञान होता है।[४] मनुष्य की प्रारम्भिक शिक्षा व्यवहार के द्वारा ही सम्पन्न होती है। प्रारम्भ में माता-पिता के संकेतों से बच्चा विविध प्रकार की वस्तुओं, प्राणियों

---

१. अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वोऽपरैः स्मृतः।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थ प्रतिपादने ॥ —वाक्य० २।११६

२. तत्राग्रहीत वृत्तिकस्य शब्दबोधादर्शनात्। —मंजूषा, पृ० १२

३. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तिर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥
—शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लो० २०

४. अष्टा० १।२।५६

आदि का ज्ञान प्राप्त करता है। शब्द से अर्थबोध का व्यापक और मुख्य साधन लोकव्यवहार है। लोक-प्रचलित अर्थ पर ही ध्यान रखकर उसका प्रयोग वांछनीय है। उसकी व्युत्पत्ति पर दृष्टि रखकर उसके व्युत्पतिमूलक अर्थ करने से अनर्थ, अप-अर्थ की प्राप्ति होगी।

२. **व्याकरण**—अर्थबोध में व्याकरण का स्थान बहुत महत्त्व का है। मान लीजिए कोई 'उठना' या 'बैठना' शब्द का अर्थ जानता है, किन्तु उसे कहीं 'गाना' या 'रोना' शब्द मिल गया। कोश से इन शब्दों का अर्थज्ञान असंभव है, क्योंकि कोश में प्रत्येक शब्द के प्रत्येक विभक्ति या काल के रूप नहीं लिखे होते, वहाँ शब्द के मूल रूप का अर्थ दिया रहता है। मूल शब्द से बने हुए शब्दों का ज्ञान व्याकरण से ही संभव है। व्याकरण अन्वय, व्यतिरेक की पद्धति का प्रयोग करके बताता है कि यह प्रकृति अर्थात् धातु या संज्ञा शब्द का अर्थ है और यह प्रत्यय का। व्याकरण शब्द के प्रयोग-पक्ष को स्पष्ट करता है।

३. **उपमान**—उपमान का अर्थ है सादृश्य। जिन शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं है, उनके अर्थ का ज्ञान सादृश्य के द्वारा कराया जाता है। उदाहरणार्थ, किसी ने 'गाय' देखी हो और वह यह सुन भी चुका हो कि 'गाय' और नीलगाय में कुछ समानता है। वह वन में जाता है और वह एक जानवर जिसकी समता गाय से है, देखता है तो उसकी समझ में तुरन्त आ जायगा कि 'नीलगाय' और 'गाय' में अधिक साम्य है। इस सादृश्यमूलक कथन से वह मान जायगा कि यह विशेष गाय 'नीलगाय' ही है।

४. **कोश**—कोश शब्द के अर्थ-पक्ष को स्पष्ट करता है। कोश शब्दों के पर्यायवाची शब्द देकर उनके अर्थ स्पष्ट करते हैं। औग्डेन और रिचर्ड्स के अनुसार कोश यह बताता है कि 'ऐसी-ऐसी अवस्था में इस शब्द का इस शब्द के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है।'[१] वैसे कोश अर्थों का संग्रह मात्र है। कौन अर्थ किस स्थान पर लिया जायगा, इसका निर्णय लोकव्यवहार और प्रकरण आदि द्वारा होता है।

५. **आप्तवाक्य**—आप्त का अर्थ है विश्वास-योग्य व्यक्ति। आत्मा, मन, काल आदि का अर्थ आप्तों के उपदेश से ही ज्ञात हो सकता है। जो ऋषि लोक-इन्द्रियों से अग्राह्य और सामान्य अनुभूति की भी पकड़ में न आ सकने वाले भावों को अपनी पारदर्शी चक्षु से देख लेते हैं, उनके वचनों या उपदेशों को सामान्य 'अनुमान' के द्वारा बाधित या असत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

---

१. द मीनिंग ऑव मीनिंग, पृ० २०७

औग्डेन और रिचर्ड्स के अनुसार ऐसे शब्दों (पाप, आत्मा) के अर्थ, जो भिन्न-भिन्न शास्त्रों में जिस रूप में दिए गये हैं, वही समझे जाते हैं।[1]

६. **वाक्यशेष (प्रकरण)**—जहाँ शब्द अनेकार्थक होने के कारण संदिग्ध होता है, वहाँ पर वाक्यशेष अर्थात् वाक्यगत चिह्न या प्रकरण द्वारा अर्थ का ज्ञान किया जाता है। 'हरि' शब्द के विष्णु, सिंह, वानर, किरण, अश्व, सूर्य आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ पर सन्देह होता है कि कौन-सा अर्थ लिया जायगा। जहाँ पर इस शब्द का प्रयोग है, वहाँ का प्रकरण देखने से ज्ञात होता है कि कौन-सा अर्थ कहाँ होगा।

७. **विवरण**—अधिकांश शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ एक शब्द से नहीं बताया जा सकता, उनके विवरण या उनकी व्याख्या करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ 'रीति' शब्द के लिए इतनी व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है : 'विशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं।' इतने से भी यदि स्पष्ट नहीं होता तो विशिष्ट पदरचना की व्याख्या करनी पड़ती है। इसी प्रकार अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, विवर्तवाद, परिणामवाद, अलंकारवाद और वक्रोक्तिवाद आदि शब्दों का अर्थ विवरण की सहायता से ही जाना जा सकता है।

८. **ज्ञात पद का साहचर्य**—ज्ञात पद के साहचर्य से भी अर्थ का ज्ञान हो जाता है। कोई पुस्तक या पत्र-पत्रिकाएँ आदि पढ़ते समय बहुत बार ऐसा होता है कि कोई अज्ञात शब्द मिल जाता है। उसके अर्थ के ज्ञान के लिए पुनः-पुनः कोश देखने की आवश्यकता नहीं होती, उसका अर्थ आगे-पीछे के शब्दों की सहायता से समझ में आ जाता है। उदाहरणार्थ, उद्यान में गुलाब, बेला, चमेली जूही, गुलशब्बो, नरगिस आदि की छटा है। इस वाक्य को देखने पर जिसे 'गुलशब्बो' या 'नरगिस' का अर्थ नहीं ज्ञात है, वह भी गुलाब, बेला आदि के साहचर्य से सुगमता से समझ लेता है कि ये भी फूल हैं।

इसके अतिरिक्त अनुवाद को अर्थबोध का एक साधन बताया जाता है। इसका प्रयोग अर्थबोधार्थ तब आवश्यक होता है जब वक्ता कम से कम एक भाषा ठीक से जानता हो और दूसरी जानना चाहता हो। 'गाय' का अर्थ किसी अंग्रेज को 'काऊ' कहकर सारल्य से बताया जा सकता है।

अर्थज्ञान में विघ्न

शब्दशक्ति का ज्ञापन—जब तक प्रचलित शब्द की शक्ति का ज्ञान नहीं होता है, तब तक उन शब्दों का बहुधा श्रवण करने पर भी अर्थज्ञान नहीं होता।

---

१. द मीनिंग ऑव मीनिंग, पृ० १६७

उदाहरणार्थ, नारद ने विष्णु भगवान् से कहा कि हे नाथ ! जिस प्रकार मेरा 'हित' हो, वही आप करें। भगवान् ने कहा कि जिस प्रकार आपका 'परमहित' होगा, वही करूँगा।[१] यहाँ पर नारद भगवान् की वाक्य-विशिष्टता, अर्थात् शब्दशक्ति पर ध्यान न देने के कारण 'परमहित' का अर्थ नहीं जान सके। अतः शब्दशक्ति का अज्ञान अर्थज्ञान में सबसे मुख्य विघ्न है।

अतिप्रमाद—चित्त के विषयान्तर में आसक्त होने से भी अर्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती।[२] इसके अतिरिक्त पतंजलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने अर्थ की अनुपलब्धि के कई कारण बताये हैं जिनका यहाँ विवेचन बहुत आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

शब्द और अर्थ का स्वरूप

शब्द के अस्तित्व से ही अर्थ का अस्तित्व है। शब्दार्थ-ज्ञान से ही काव्यानन्द की प्राप्ति हो सकती है। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि आदि शब्दार्थ-मर्मज्ञों ने शब्दार्थ-स्वरूप का विवेचन जो सूत्र रूप में किया है, वह अर्थगांभीर्य के कारण अत्यन्त गम्भीर, दुर्बोध और अज्ञेय है। अर्थ का विषय बाहर रहता है, किन्तु अर्थ रहता है भीतर। अतः यह कहना कि शब्दार्थ का कोई एक ही रूप है, नितांत असंभव है। भाषा और साहित्य का सारा स्वरूप शब्दों के आधार पर ही खड़ा होता है और शब्दों का आधार शब्दों के अर्थ होते हैं। अर्थरहित शब्द या शब्दरहित अर्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने कहा है कि शब्द शरीर है और अर्थ आत्मा। शरीर निरर्थक और निष्क्रिय है यदि आत्मा न हो और यदि शरीर न हो तो आत्मा की अवस्थिति कहाँ हो। वेद में शब्द का प्राधान्य है, अर्थ गौण। पुराणेतिहास में अर्थ की प्रधानता होती है, शब्द गौण रहता है। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता है, यहाँ तक कि कवियों की शक्ति शब्द और अर्थ ही है—'कबिहिं अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाँचा।'[३] शब्द एक ओर जहाँ अर्थ का जनक है, वहीं दूसरी ओर वह भाव का जन्य भी। ऋग्वेद में अर्थरहित वाणी को 'अफलाम् पुष्पाम्' अर्थात् फल और पुष्प रहित कहा है। यास्क ने 'अर्थ' को वाणी अथवा शब्द का पुष्प और फल कहा है।[४] वस्तुतः शब्द का स्वरूप ही प्रथम प्रकाशित होता

१. मानस १।१३२।७

२. महा० ४।१।३

३. मानस २/२४०/४

४. अर्थम् वाचः पुष्पम् फलमाह।—निरुक्तम्, लक्षणस्वरूप १।२०

है। आचार्यों ने शब्द की तुलना दीपक से की है। जिस प्रकार दीपक पहले स्वयं को प्रकाशित करता है, तदनन्तर अन्य पदार्थों को भी प्रकाशमान करता है। ठीक उसी प्रकार 'शब्द' भी ग्राह्य एवं ग्राहक, दोनों होते हैं। वे बोध्य और बोधक गुणों का समवेत रूप कहे जा सकते हैं।[1]

अर्थ निराकार है। जिस प्रकार धर्म, अधर्म, देवता, स्वर्ग आदि शब्दों से आकारहीन अर्थतत्त्व की प्रतीति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द आकारहीन अर्थतत्त्व का बोध कराता है। गो आदि शब्दों के उच्चारण से जो आकार-विशेषयुक्त पदार्थ की प्रतीति होती है, वह अविनाभाव (समवाय) सम्बन्ध के कारण होती है। स्थूल पदार्थ को अर्थ से पृथक् नहीं कर सकते, अतएव गो आदि शब्द का निराकार अर्थ होते हुए भी तत्तद् व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध के कारण तत्तदाकार अर्थ की आकार आदि से युक्त प्रतीति होने लगती है। अन्यथा यदि अर्थ साकार होते, तो धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, बुद्धि आदि शब्दों से भी साकार अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए।[2]

पुण्यराज कहते हैं कि शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह समस्त विशेषताओं से युक्त अर्थ का बोध कराये। अतएव अर्थ को अपूर्ण और अनिश्चित कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी नियत वासना (संस्कार) के अनुसार ही अर्थ का बोध होता है। वस्तुतः अर्थ का कोई भी निश्चित स्वरूप नहीं होता।[3] भर्तृहरि कहते हैं कि अर्थ का कोई रूप नहीं होता। वक्ता जिस प्रकार शब्द के अर्थ का निरूपण करता है, वही उसका अर्थ हो जाता है। एक ही शब्द को एक वक्ता एक रूप से प्रयोग करके एक भाव को व्यक्त करता है और दूसरा वक्ता उसी शब्द को दूसरे रूप में प्रयोग करके दूसरा अर्थ बोधित कराता है।[4] जिस प्रकार एक ही वस्तु को वासना या दृष्टिदोष के कारण इन्द्रिय नाना रूपों से युक्त प्रदर्शित करती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी वासना के अनुसार शब्द का अर्थ विभिन्न रूप में ग्रहण करते हैं। अतएव शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं है।[5]

भर्तृहरि और हेलाराज का कथन है कि अर्थ की जो व्यवस्था की जाती है, वह वक्ता के अभिप्राय पर ही निर्भर रहती है या शब्दशक्ति भी उसमें कुछ

१. वाक्य० १।५५
२. वही २।१२१
३. वही २।१३६
४. वही २।४४४
५. वही २।१३६

कार्य करती है। इसका उत्तर भर्तृहरि देते हैं कि जहाँ तक अर्थज्ञान का सम्बन्ध है, वह शब्द अर्थ है। स्रोता वक्ता की विवक्षा का अपने अनुमान द्वारा अर्थ समझता है। स्रोता वक्ता के द्वारा उच्चारित शब्द को सुनकर यह अनुमान करता है कि वक्ता अमुक अर्थ का बोध कराना चाहता है। श्रोता अनुमान के द्वारा स्वज्ञान के अनुरूप वक्ता का अर्थ ग्रहण करता है।[1]

भर्तृहरि जानते हैं कि अर्थभावना के द्योतन या प्रत्यायन में समर्थ हुए बिना शब्द के बाह्याकार का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता; शब्द का जीवन ही है अर्थ की द्योतकता पर। जब तक शब्द उस अर्थभावना से सम्बद्ध नहीं हो जाता, तब तक वह सत्ताहीन-सा ही रहता है। सुना-अनसुना तब तक एक-सा ही रहता है।[2] वक्ता अपनी बुद्धि के अनुरूप अर्थ में शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु भिन्न-भिन्न श्रोता अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उस शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ समझते हैं।[3]

अर्थ में पृथक् शक्ति नहीं है, अपितु वह शब्दों के अधीन है। शब्दों के द्वारा जिस प्रकार अर्थ का बोध कराया जाता है, उसी प्रकार उनसे बोध होता है। वाच्य अर्थ कभी क्रिया रूप से कहा जाता है और कभी द्रव्य रूप से। इस प्रकार नियम से शब्दार्थ के रूप में क्रिया या द्रव का प्रतिपादन किया जाता है।[4] भर्तृहरि और हेलाराज ने यह भी कहा है कि 'शब्द से ही अर्थ का प्रसार और उसके अर्थ का ज्ञान होता है, यहाँ तक कि अक्षिनिकोचन (आँख मारने) से भी जो अर्थ बताया जाता है, वह भी शब्द के आश्रय से ही बताया जाता है।' भर्तृहरि ने यह भी कहा है कि 'अर्थ तो काल्पनिक होते हैं, इसलिए वे सत्य नहीं होते और इसीलिए शब्द का अर्थ असत्य होता है।'

शिशुओं अथवा बालकों की भाषा पर अधिक ज़ोर देकर भाषाशास्त्र पर विचार करने वाले अंग्रेज विद्वान् जेस्पर्सन ने अर्थ के रूप के सम्बन्ध में जो विचार किया है, वह प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्रियों के विचारों से बहुत अधिक साम्य रखता है।[5] उक्त विद्वान् ने अर्थ का रूप शब्दाश्रित माना है। कतिपय पश्चिमी विचारकों ने अर्थ की विवेचना करते समय शब्द और वस्तु, दोनों पर अधिक बल दिया है। काफ्का के अनुसार, अर्थ अपनी

---

१. वाक्य ३।५५०

२. वही १।५६

३. वही २।१३७

४. वही २।१३३

५. आटो जेस्पर्सन, लैंग्वेज, पृ० ११३

शक्ति से हमारी इन्द्रियों को प्रेरित कर वस्तुबोध कराता है। काफ्का-जैसे विद्वानों ने अर्थ को वस्तु-आश्रित माना है, शब्दाश्रित नहीं।[1] तार्किकों एवं दार्शनिकों के अनुसार पाश्चात्य शब्दार्थ-विचार पूर्णतः सीमित और वैशिष्ट्य-परक हो गया है। उन्होंने वक्ता की उक्ति, बोध्य वस्तु या भाव के साथ ग्राहक की ज्ञप्ति को कई रूपों में देकर समस्यापूर्ण बना दिया है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में उनकी विचारधाराएँ अस्पष्ट हैं। इस विषय में भारतीय विद्वानों की धारणाएँ स्पष्ट तथा गम्भीरतापूर्ण हैं। श्री निशांतकेतु के शब्दों में—"समस्त सृष्टि वागर्थमय वाङ्मय है। शब्द शरीर और अर्थ प्राण है। शब्द आधार और अर्थ आधेय है। शब्द प्रथित पृथ्वी है, ठोस और ससीम, अर्थ विस्तृत व्योम है, सूक्ष्म और असीम। शब्द दिक् और अर्थ अंबर है, इसी लिए शब्दार्थ दिगम्बर है। दिगम्बर अर्धनारीश्वर है। अर्धनारीश्वर पार्वती-परमेश्वर है। वागर्थाविवसस्पृक्तौ···पार्वती परमेश्वरौ। शब्द साकार ब्रह्म है, अर्थ निराकार ब्रह्म। शब्द में आकृति होती है, अर्थ में लावण्य। शब्द पंडितों के लिए अभिधीयमान होता है, अर्थ योगियों के द्वारा प्रतीयमान। शब्द की प्रवृत्ति बहिर्मुख होती है, अर्थ की अन्तर्मुख। शब्द मूर्त है, अर्थ अमूर्त। शब्द वर्णों से प्रकट होता है; वर्ण रंग है; अर्थात् शब्द वर्णों से वर्णन अथवा रंगों की रंगीली है; अर्थ ध्यान से प्रकट होता है, ध्यान अध्यात्मक है, अर्थात् अर्थ ध्यान से ध्वन्यमान अथवा संबोध की संप्राप्ति है। शब्द निर्वचनीय है, अर्थ अनिर्वचनीय। शब्द वीणा है, अर्थ झंकृति। शब्द काष्ठ और अर्थ अग्नि है। शब्द अलंकार है, अर्थ कांति। शब्द पुष्प है और अर्थ सुरभि। शब्द दृश्य होता है, अर्थ आवाद्य। शब्द प्रकृति है, अर्थ पुरुष। शब्द कर्मयोग है, अर्थ ज्ञान-योग। शब्द सवाक् होता है, अर्थ संवेद्य। शब्द सभ्यता है, अर्थ संस्कृति। शब्द कलश है, अर्थ कलशामृत। शब्दार्थ पदार्थ है। पदार्थ जगत् है। जगत् गमन-शील है। गति ही जीवन है। शब्द और अर्थ दोनों ही दिक्काल-सापेक्षता में चरैवेति-चरैवेति के गतिधर्मा हैं। सृष्टि की उत्पत्ति शब्द के लिए हुई है, शब्द में ही सृष्टि का प्रविलयन होता है। अर्थ ईश्वर की तरह अदृश्य रूप से उप-स्थित रहता है। शब्द भूगोल है, अर्थ इतिहास। सृष्टि का पदार्थ-विज्ञान वागर्थ है।"[2] इस प्रकार श्री निशांतकेतु ने शब्दार्थ-स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'विश्वभारती' पत्रिका में शब्दार्थ की महत्ता बतायी गयी है और जिस अध्येता ने अर्थबोध नहीं किया, उसे सोचनीय कहा गया है। यथा—

---

१. डब्लू० एम० अर्वान, लैंग्वेज एण्ड रिअलिटी, पृ० १०५

२. शब्दांतर, भूमिपीठ, पृ० २

''शब्द वाक् है और अर्थ मन है। शब्द और अर्थ के बीच जब प्राण का मेरुदण्ड जुड़ता है, तभी जीवन में कर्म के द्वारा अर्थ की तहें खुलने लगती हैं। शब्द के अध्ययन का फल अर्थ का ज्ञान है। अध्ययन का व्रत लेकर जिसने अर्थ को नहीं जाना, या जानने की सच्चाई से कभी प्रयत्न नहीं किया, या करता हुआ भी जो अपने संकल्प को विजयी नहीं बना सका, उस अधीती के लिए शोक है। अर्थ का साक्षात्कार ज्ञान का सार और साहित्य का अन्तिम फल है। हे मनीषियो ! मन से इस अर्थ को पूछो और रस के दिव्य स्वाद को प्राप्त करो।''[1]

स्वर्गीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने शब्दों को महत्ता प्रदान करते हुए अर्थ को गौरवपूर्ण सिंहासन पर विराजमान किया है—

''शब्द कमल की भाँति उमंगते हुए सौन्दर्य से सुहावना लगता है, पर अर्थ उस पद्मनाल के भीतर का संचारी जीवनरस है। पद्मनाल के शतदलों पर जो श्री विहार करती है, उस इन्दिरा का निवास तो वस्तुतः वहाँ है जहाँ इन्दीवर के गुह्य सप्त स्रोतों में रस का अजस्र प्रवाह है। शब्द का माधुर्य आनन्द होता है, पर काव्य में रस का मधुमय सोता तो उस अर्थ में है जिसके साथ शब्द हमारा परिचय करा देता है।''[2]

वास्तव में शब्दार्थ का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है, किन्तु विद्वानों ने उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अर्थ निराकार, अनिश्चित, असर्वशक्तिमान, शब्दाश्रित, श्रोता की बुद्धि के अनुरूप, अनुमेय और संकेत से बोध्य है। शब्द शरीर और अर्थ प्राण है। शब्द ठोस, ससीम है और अर्थ सूक्ष्म, असीम। शब्द सगुण ब्रह्म और अर्थ निर्गुण ब्रह्म है। शब्द वीणा है और अर्थ झंकृति। शब्द पुष्प है और अर्थ उसकी सुगन्धि। शब्द कमल है और अर्थ उस कमलनाल के भीतर का संचारी जीवन-रस। जिसने शब्दार्थ के इस स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त किया, उस अधीती के लिए शोक है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कात्यायन, पतंजलि, व्याडि, व्यास प्रभृत्ति भारतीय आचार्यों ने गूढ़ चिंतन किया है। पाणिनि ने शब्दार्थ-सम्बन्ध को सिद्ध माना है—सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे लोकतोऽर्थ प्रयुक्ते।[3]

१. विचारों का मधुमय उत्स—शब्द और अर्थ, 'विश्वभारती' पत्रिका।
२. उद्धृत, डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', रामचरितमानस का वाग्वैभव, प्रारंभिक पृष्ठ।
३. अष्टा० १।१।१

वार्तिककार कात्यायन में 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे'[1] स्पष्ट रूप से कहकर लोक-व्यवहार को ही इसका मूल माना था, क्योंकि यह नित्य-सम्बन्ध लोकव्यवहार में ही सम्पुष्ट और परिवर्द्धित होता है। पतंजलि ने 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' की व्याख्या करके यह स्पष्ट किया है कि पाणिनि और कात्यायन शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को मानते हैं और वह सम्बन्ध नित्य है।[2] पतंजलि के अनुसार यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न हो तो लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता। 'घट' शब्द कहने पर यदि शब्द का वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता, तो घड़ा वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।[3] महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि अर्थ शब्द की अंतरंग शक्ति का नाम है क्योंकि शब्द तो शब्द से बहिर्भूत होता है, जबकि अर्थ अबहिर्भूत अर्थात् अपृथक् होता है।[4] शब्द के द्वारा जो अर्थ का बोध होता है, उसमें सम्बन्ध ही कारण है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न हो, तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक वस्तु की प्रतीति होने लगेगी। महर्षियों एवं सव्याख्यान सूत्रों अथवा उनके भाष्य के प्रणेताओं ने शब्दार्थ-सम्बन्धों को नित्य ही माना है।[5] भर्तृहरि ने कहा है कि जैसे (नेत्र आदि) इन्द्रियों की अपने (रूप आदि) विषयों के प्रति अनादि योग्यता है, उसी तरह शब्दों का अर्थों के साथ अनादि सम्बन्ध और योग्यता है। अर्थ-प्रवृत्तियों का समस्त तत्त्व शब्दों में उसी प्रकार बँधा रहता है जिस प्रकार समस्त वृक्ष का प्रसार उसके मूल में निबद्ध होता है।[6] भर्तृहरि आगे कहते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं, बल्कि नितांत अविच्छिन्न है। शब्द और अर्थ की तुलना क्रमशः शरीर और आत्मा से की है। वे एक ही आत्मा (स्फोट) के दो रूप हैं। दोनों की पृथक्-पृथक् स्थिति नहीं है, अर्थात् शब्द और अर्थ अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। इनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है।[7] बाह्य जगत् में जो भेद ज्ञात होता है, वह तात्त्विक नहीं है। 'ज्ञेय' और 'ज्ञान' का जिस प्रकार परस्पर अविच्छेद्य

---

१. वा० १, महा० १।१।१

२. सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः।—महा० आ० १

३. कथं ज्ञायते सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति 'लोकतः'।—महा० आ० १

४. शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतः। अर्थोऽबहिर्भूतः।—महा० १।१।६६

५. नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतंत्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥—वाक्य० १।२३

६. अर्थ प्रवृत्तितत्त्वानां शब्द एवं निबन्धनम्।—वाक्य० १।१३

७. एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थाव पृथक्स्थितौ॥—वाक्य २।३१

सम्बन्ध है—एक के बिना दूसरा निरर्थक व निस्सार है, उसी प्रकार परस्पर 'अर्थ' और 'शब्द' का सम्बन्ध है।[१] शब्दतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, अर्थतत्त्व से अभिन्न है। तात्त्विक दृष्टि से उसका अर्थतत्त्व से विभाग नहीं किया जा सकता है, वह एक है, अद्वैत है, वह सर्वदा सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है, वह पवित्र है, नाना रूपों वाला है, वह अंतरात्मा में प्रविष्ट है। महाभाष्य के वर्णन की कैयट नागेश, भर्तृहरि और हेलाराज की व्याख्या से ज्ञात होता है कि पतंजलि अर्थ-नित्यता का यह भाव नहीं मानते थे कि अर्थ में कभी परिवर्तन नहीं होता। पतंजलि स्वयं नित्य की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि नित्य उसको भी कहते हैं जिसमें उसके मूलतत्त्व का नाश नहीं होता।[२] पतंजलि इसका उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि जैसे सुवर्ण के विभिन्न आभूषण बनाये जाते हैं। आकृतियाँ भिन्न-भिन्न होती रहती हैं। परन्तु, सुवर्ण तत्त्व सदा विद्यमान रहने के कारण उसे नित्य ही कहेंगे। कैयट और नागेश ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि अर्थ अनित्य है। शब्द नित्य है। अतः सम्बन्ध को भी नित्य कहा गया है।

नागेश नित्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नित्य का अर्थ है जिसके नष्ट होने पर भी तद्गत धर्म नष्ट नहीं होता। यदि अर्थ अनित्य है, तो उसे नित्य कैसे कहते हैं? इसको स्पष्ट करते हुए नागेश कहते हैं कि इसको प्रवाह-नित्यता समझना चाहिए। कैयट और नागेश दोनों ने अर्थ को प्रवाह-नित्य बार-बार कहा है। शब्द का अर्थ अनादि काल से चला आ रहा है। उसमें प्रवाह के कारण अर्थ-परिवर्तन होने पर भी वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, अतः नित्य ही कहा जाता है।[३] नागेश ने नैयायिक वैशेषिकों आदि के द्वारा शब्द और अर्थ के मानने में जो आक्षेप किये हैं, एक अध्यास द्वारा उनका समाधान करते हैं कि शब्द और अर्थ में यदि वास्तविक सम्बन्ध होता, तो यह कहना उचित होता कि 'घट' शब्द के उच्चारण मात्र से घट का काम चल जाता। इसी प्रकार मधु में मधुत्व होता और अग्नि के उच्चारण से मुँह जल जाता।

कैयट का कथन है कि शब्द के अर्थबोधन का व्यवहार अनादि काल से वृहद् व्यवहार-परम्परा से चल रहा है। अतः शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को नित्य कहते हैं।[४] शब्द का शब्दार्थ के साथ, जैसे 'गौ' शब्द का 'गाय' अर्थ के साथ

---

१. वाक्य० १।५०

२. तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्त्वम्? तस्यभावस्तत्त्वम्।
—मह्य० आ० १

३. उद्योत, महा० आ० १

४. कैयट, महा० आ १

कब, किस व्यक्ति ने सम्बन्ध किया है, अर्थात् गौ आदि शब्दों का यह अर्थ है, किस व्यक्ति ने सर्वप्रथम यह प्रयोग चलाया, यह कोई नहीं बता सकता है। अतएव इस प्रकार के सम्बन्ध को व्यवहार-परम्परा के कारण अनादि मानकर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य कहा जाता है।

भर्तृहरि और हेलाराज ने 'वाक्यपदीय' में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अनित्य अर्थ को भी नित्य इसलिए कहा गया है कि शब्द का कोई न कोई अर्थ अवश्य रहता है। इस प्रकार अर्थरूप से शब्दार्थ को नित्य मानकर 'नित्योह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः' ऐसा पतंजलि ने कहा है। यहाँ पर नित्यता का अर्थ प्रवाह-नित्यता है।[1] हेलाराज का कथन है कि यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सामयिक, अर्थात् किसी पुरुष के द्वारा निर्धारित (सांकेतिक) नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द में अर्थ की बोधकता-शक्ति का सम्बन्ध अनादि काल से है। अतएव भर्तृहरि ने 'सम्बन्धः समवस्थितः' कहा है, अर्थात् यह सम्बन्ध स्वभावसिद्ध है, किसी पुरुष के द्वारा निर्धारित नहीं। हरिवृषभ ने भर्तृहरि के 'शब्दानां यतशक्तित्वम्'[2] की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि शब्द में यह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि वह नियत अर्थ का बोध कराता है। इस स्वाभाविक सामर्थ्य से दोनों में सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

जैमिनि ने शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। जहाँ शब्द रहेगा, वहाँ अर्थ अवश्य रहेगा और जहाँ अर्थ होगा, वहाँ शब्द भी होगा। जब इन दोनों का सम्बन्ध नित्य है, तो इनका बोध्य-बोधक सम्बन्ध भी नित्य है। मीमांसा-दर्शन में शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य कहा गया है।[3] शबर स्वामी ने औत्पत्तिक शब्द का अर्थ नित्य माना है। शब्द और अर्थ अश्विनीकुमारों की तरह जुड़े हुए हैं। कविकुलगुरु कालिदास ने अर्थ की प्रतिपत्ति में वाक् (शब्द) और अर्थ को सम्पृक्त माना है। शिव और पार्वती इसी प्रकार अभिन्न हैं, जैसे शब्द और अर्थ।[4] वाराहपुराण में भी कहा गया है, जैसे शब्द-अर्थ मिले हैं,

---

१. अनित्येष्वपि नित्यत्वमभिधेयात्मना स्थितम्।—हेलाराज, वाक्य० ३, पृ० ११३

२. वाक्य० १।६

३. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो।
व्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्॥
—मीमांसा-दर्शन, भाग १, १।१।५

४. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वंदे पार्वती परमेश्वरौ॥ —रघुवंश १।१

वैसे ही उमा-शिव एक ही हैं ।[१] गोस्वामी जी ने भी वाणी और अर्थ को जल और उसकी लहर के समान भिन्नाभिन्न माना है । यथा—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ।।[२]

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों का मत है कि ये दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं । आदिम जातियों की भाषा पर शोध करने वाले भाषा-वैज्ञानिक ब्रोनिस्लाव मैलिनोव्सकी का कथन है कि न तो शब्द अपनी एकांतिक सत्ता रखता है और न अर्थ ही, क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित हैं । ऑग्डेन और रिचर्ड्स ने शब्द को अर्थ का प्रतीक माना है ।[३] मारिओपेइ लिखते हैं कि "अर्थविज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है समाज द्वारा किसी अर्थ-विशेष की स्वीकृति । समाज द्वारा स्वीकृत हुए बिना कोई शब्द किसी अर्थ-विशेष का द्योतक नहीं बन सकता, क्योंकि भाषा के क्षेत्र में जैसे सब चीजें समझौते (सामाजिक स्वीकृति) पर निर्भर करती हैं, वैसे ही अर्थ भी ।"[४] तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ का संबंध व्यक्ति एवं समाज सापेक्ष है ।

इसी प्रकार एक अन्य विद्वान् के अनुसार शब्दों के साथ अर्थ को ऐच्छिक रूप से सम्बद्ध कर दिया गया है[५], क्योंकि एक शब्द जिस वस्तु का अर्थ देता है, कोई दूसरा शब्द भी उस वस्तु का अर्थ दे सकता है । साथ ही कोई एक शब्द जो अर्थ देता है, वही शब्द उससे भिन्न कोई इतर भी दे सकता है । अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं है । यह यादृच्छिक और सामाजिक स्वीकृति से उद्भूत सामाजिक सम्बन्ध है । डॉ० राजदेव सिंह ने कहा है कि "आधुनिक अर्थविज्ञान की स्वीकृत मान्यता है कि शब्दों का अर्थ शब्दों में न होकर हमारी अर्थगत प्रतिक्रियाओं (सिमैटिक रिऐक्शंस) में निहित होता है,

१. मा० पी०, बा०, खंड १, पृ० ५०१
२. मानस १।१८।०
३. सी० के० ऑग्डेन एंड आई० ए० रिचर्ड्स, मीनिंग ऑव मीनिंग, पृ० ३०८-०९
४. "The essential part of sematics is acceptance of a given meaning, like all else in the realm of language, is a matter of convention."—The Story of Language, p. 148.
५. "A language is a system of arbitrary-vocal symbols by means of which a social group co-operates."—Bearnard Block and George Prager, An Outline of Lingustic Analysis.

वैसे ही जैसे सौ रुपये के नोट का मूल्य कागज के टुकड़े में न होकर उस सामाजिक अनुबन्ध में होता है जो कागज के उस टुकड़े का मूल्य सौ रुपये समझाकर तदनुकूल प्रतिक्रिया जगाता है। किसी शासन-व्यवस्था के टूटने के साथ जब यह सामाजिक अनुबन्ध टूट जाता है, सौ, हज़ार या लाखों रुपयों के नोट कागज के रद्दी टुकड़े होकर रह जाते हैं। बहुत कुछ यही स्थिति शब्दों के साथ है।[१] शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कुछ ध्वन्यात्मक आदि शब्दों को छोड़कर यादृच्छिक हैं। प्+उ+स्—त+क के मिश्रित रूप से 'पुस्तक' (ध्वनि) का 'पुस्तक' के अर्थ से नित्य सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध केवल लोगों का माना हुआ है। यदि हम सब लोग यह निश्चित कर लें, तो कल से 'चटाई' का अर्थ पुस्तक होने लगेगा। इसी प्रकार यदि समाज स्वीकार कर लें, तो भविष्य में 'पुस्तक' शब्द का अर्थ मोटर, बाग या कुर्सी कुछ भी हो सकता है।

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की ही तरह हमारा वैशेषिक दर्शन भी शब्दार्थ-सम्बन्ध को सामयिक मानता है—सामयिकः शब्दार्थ प्रत्ययः।[२] उपस्कार का मत है कि यह समय ईश्वरकृत संकेत है। भगवान् ने जिस शब्द से जिस अर्थ का संकेत कर दिया, वह शब्द उसी अर्थ का प्रतिपादन करता है। नैयायिक संकेत अथवा शक्ति को ईश्वर की इच्छा मानते हैं और मानते हैं कि इसी के द्वारा गौ आदि शब्दों का अर्थ रूढ़ हो गया है। 'ईश्वेरच्छा' में विज्ञान कोई आस्था नहीं रखता। वह इस सम्बन्ध में लोकव्यवहार को महत्त्व देता है। यथा—उक्त 'गौ' शब्द संस्कृत की 'गम्' धातु से बना है जिसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'गमनशील'। वैसे 'गमनशील' बहुत सारी चीजें हैं, फिर भी उन्हें हम 'गौ' नहीं कह सकते, क्योंकि लोकव्यवहार में यह शब्द एक विशेष जानवर के अर्थ में रूढ़ हो गया है। नैयायिकों की अपेक्षा वात्स्यायन का यह मत अधिक तर्कसंगत है : 'कः पुनरयं समयः ? अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमित्यभिधानमिधेयनियम-नियोगः।' अर्थात्, वह समय क्या है ? इस शब्द के यह अर्थ होते हैं, यह अभिधानाभिधेय नियम ही समय है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं स्वीकार करता है—शब्दार्थावसम्बद्धौ।[३]

उपर्युक्त विवेचन में लिखा गया है कि मीमांसक शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

---

१. शब्द और अर्थ : संत-साहित्य के संदर्भ में, पृ० ६-७

२. वैशेषिक दर्शनम् ७।२।२०

३. वैशेषिक दर्शनम् ७।२।१८

नित्य मानते हैं। परन्तु जब 'मीमांसा-सूत्र' (१।१।५) के सम्बन्ध में शबर स्वामी भाष्य लिखने लगे, तब उन्होंने कहा कि शब्द से अर्थ का सम्बन्ध नहीं ही है। शब्द और अर्थ स्वभाव से ही असंबद्ध हैं।[1] शबर स्वामी व्याख्या करते हैं कि स्वभाव से ही ये शब्द और अर्थ असम्बद्ध हैं, (घट आदि) शब्द मुँह में मिलते हैं और (घड़ा आदि) अर्थ (पदार्थ) ज़मीन पर।[2]

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों के अनुसार भाषा का निर्माता मनुष्य है। जैसे मानव किसी सभ्यता या संस्कृति के साथ प्रवहमाण है, वैसे ही भाषा भी किसी न किसी सभ्यता-संस्कृति के साथ चलती है। सभ्यता या संस्कृति परिवर्तनशील है, तो भाषा भी परिवर्तनशील होनी चाहिए। वैशेषिक दर्शन ने 'सामयिक' शब्द का प्रयोग देश, काल, प्रसंग, वक्ता तथा स्रोता को दृष्टि में रखकर किया है। देश-काल भेद से भी शब्दों के अर्थ अलग-अलग होते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के अनेक शब्दों के अर्थ कुछ और होते थे, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा में उनके कुछ और अर्थ हुए और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में उन दोनों से भिन्न कुछ और ही अर्थों में उनका प्रयोग देखने में मिलता है। 'सुश्रूषा' का अर्थ संस्कृत में 'सुनने की इच्छा' था। आज इसका अर्थ 'सेवा' लिया जाता है। यह काल का प्रभाव है। शब्द के अर्थ पर देश (स्थान) का भी प्रभाव पड़ता है। संस्कृत और हिन्दी में 'राग' शब्द का अर्थ 'प्रेम' है, किन्तु मराठी और बँगला में 'राग' का अर्थ 'क्रोध' है। संस्कृत 'सपत्न' का अर्थ भाई से शत्रु बन गया। उस किनारे पर रहने वाले को 'प्रतिकूल' कहा जाता था, अब 'शत्रु' का वाचक हो गया। हिन्दी में 'स्टूडेंट', 'काऊ' आदि शब्दों का वह अर्थ नहीं है जो अंग्रेजी में।

उपर्युक्त शब्दों के अर्थों से सिद्ध होता है कि शब्दों से उनके अर्थों का सम्बन्ध सामयिक है। संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, जैसा कि प्रकृति का नियम है। अतः भाषा भी बदलती रहती है।

कैयट, पंतजलि, भर्तृहरि, हेलाराज तथा मीमांसा-दर्शनकार आदि 'शब्द' के सामान्य अर्थ की बात कहते हैं। जब वे कहते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, तब उनके कथन का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक शब्द का कुछ न कुछ अर्थ होता है। बिना अर्थ के 'शब्द' की संज्ञा ही नहीं। 'शब्द' है, तो उसका अर्थ तीनों कालों में 'था', 'है' और 'होगा'। यही नित्य है।

---

१. नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः···स्वभावतो ह्यसम्बन्धावेतौ शब्दार्थौ।
—मीमांसा-दर्शनम्, प्रथमो भागः

२. मीमांसासूत्र १।१।५

यही विचार डॉ० भोलानाथ तिवारी का है।[1] इसी बात को डॉ० बाबूराम सक्सेना भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार—"दोनों मतों का समाधान इस प्रकार हो सकता है। शब्द और अर्थ की सम्बन्ध-नित्यता का केवल यह मतलब है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ है, यह नित्यसिद्ध बात है। पर किसी विशेष शब्द का कौन विशेष अर्थ है, यह बात सामयिक है। समय-समय पर शब्द का विशेष-विशेष अर्थ होता है। रही यह आपत्ति कि शब्द कहीं और अर्थ कहीं, शब्द मुँह में और चीज़ ज़मीन में, अथवा शब्द मुँह में (आकाशपुष्प) और चीज़ कहीं नहीं, तो इसका उत्तर है कि अर्थ का मतलब भावात्मक है, वह तो मस्तिष्क में रहता है। 'घड़ा' शब्द के उच्चारण के साथ-साथ उस शब्द से परिचय रखने वाले जनों के मस्तिष्क में भौतिक पदार्थ घड़ा के आकार और गुणों की उपस्थिति हो जाती है। अथवा, यह कहना चाहिए कि पूर्व उपस्थित यह भाव जागृत हो जाता है। यदि भौतिक वस्तु से सम्बन्ध होता, नित्य हो चाहे सामयिक, तो 'आग' शब्द का उच्चारण करते ही हम हिन्दी वालों के मुँह में आग पैदा हो जाती।"[2] यहाँ जिस मत की पुष्टि की गयी है, वह आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्तों से भी साम्य रखता है। शब्दों और अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अभी बहुत और गंभीर छान-बीन की आवश्यकता है। गंभीर अध्ययन के उपरान्त प्राचीन भारतीय आचार्यों और आधुनिक भाषावैज्ञानिकों में अत्यधिक मत-वैभिन्न्य नहीं रहेगा।

अर्थ-विनिश्चय

प्रस्तुत शीर्षक में विचार किया गया है कि अर्थ की नानार्थकता एवं संदिग्धार्थकता होने पर भी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों द्वारा किस प्रकार अर्थ ज्ञात होता है। यास्क के 'निरुक्त' में वैदिक मंत्रों के अर्थ के विवेचन की जो परम्परा दृष्टिगोचर होती है, वह अर्थतत्त्व-निर्धारण के मूलभूत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालती है। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि मुनित्रय ने भाषा के मानक रूप का निर्धारण किया और वैदिक साहित्य से जो भेद हो गया था, उसे स्पष्ट किया। भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाता है। शब्दों के अनेक अर्थ होने पर किसी विशेष प्रसंग में उनके अर्थों का विनिश्चय कैसे हो, इस विषय पर भी प्राचीन भारतीय वैयाकरणों, साहित्यशास्त्रियों तथा दार्शनिकों ने विचार किया है। 'बृहद्देवता' में कहा गया है कि वैदिक मंत्रों तथा साधारण वाक्यों में अर्थ का निश्चय प्रयोजन, प्रकरण, लिंग, औचित्य,

---

१. शब्दों का अध्ययन, पृ० १२०

२. अर्थविज्ञान, पृ० १३

देश और काल को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए।[१] नागेश[२] आदि वैयाकरणों तथा मम्मट[३], विश्वनाथ[४], हेमचंद्र[५] और जगन्नाथ पंडित[६] आदि साहित्यशास्त्रियों ने भी इनका विशद विवेचन किया है। मम्मट और विश्वनाथ ने अर्थ-निश्चय के संयोगादि साधनों का उल्लेख अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के अन्तर्गत किया है। विश्वनाथ के अनुसार संयोगादि के द्वारा अनेक अर्थ वाले शब्द के प्रस्तुत एक अर्थ के निश्चित हो जाने पर जो शक्ति अन्य (विशेष) अर्थ का बोध कराती है, उसी को अभिधामूला शाब्दी व्यंजना माना गया है।

यद्यपि आचार्य कपिलदेव द्विवेदी का मत है कि भर्तृहरि शब्दशक्ति को मानते थे।[७] किन्तु डॉ० सत्यकाम वर्मा के शब्दों में—"···जो भी आलोचक लक्षणा या व्यंजना के द्वारा किन्हीं अन्तर्निहित या अदृश्य शब्दों का आरोप किसी वाक्य पर स्वीकार करते हैं, भर्तृहरि उसे उचित नहीं समझते। दूसरे शब्दों में, भर्तृहरि शब्दशक्तियों की किसी प्रकार की मान्यता के परम विरोधी हैं।"[८] वास्तव में वे किसी भी अर्थ को गौण अथवा मुख्य अस्वीकार करते हैं। वाक्य, प्रकरण, अर्थ, साहचर्य आदि अर्थ-विनिश्चय के आधार पर मुख्यार्थ और गौणार्थ की प्रतीति होती है। अर्थ-विनिश्चय के साधनों की उपस्थिति में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के भेदों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। शब्दकोशों के अर्थों या प्रकृति, प्रत्ययादि विभाग द्वारा प्राप्त अर्थों से अर्थ-निश्चय नहीं हो सकता। अर्थ का निर्णय प्रतिभा, अभ्यास, विनियोग और लोक-प्रयोग (परम्परा) के द्वारा होता है। भर्तृहरि अभिधा को शक्ति नहीं, बल्कि उसे एक 'नियम' कहते हैं। 'लक्ष्य' या 'व्यंग्य' को शक्ति के रूप में नहीं, बल्कि 'वृत्ति' की 'अंगिता' में ही पाते हैं, अर्थात् यदि लक्षणा एवं व्यंजना की सत्ता है, तो वृत्ति की स्वाभाविकता में ही उनका अन्तर्भाव हो जाना चाहिए। जहाँ वे 'शब्द-शक्तयः' का प्रयोग करते हैं, वहाँ उनका तात्पर्य सामर्थ्य-शक्ति से है।

१. अर्थात्प्रकरणाल्लिगादौचित्याद्देशकालतः।
   मन्त्रेष्वर्थावबोधः स्यादितरोष्विति च स्थितिः॥ —बृहद्देवता २।११८
२. लघुमंजूषा, पृ० ११०
३. काव्य० उल्लास २।१६
४. साहित्य० २।२६
५. काव्यानुशासन, पृ० ३६
६. रसगंगाधर, पृ० ११८-२६
७. अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ० २३८-६१
८. भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, 'लेखक का वक्तव्य', पृ० २०

शब्द अपनी शक्ति (सामर्थ्य) से अपने अर्थों में विस्तार या दृश्यमान परिवर्तनादि कर सकता है। इसे ही 'अर्थस्य सर्वशक्तित्वात्'[१] के द्वारा कहते हैं। 'शक्ति' का दूसरा प्रयोग शब्द की 'ग्राह्य' और 'ग्राहक' शक्तियों के हेतु हुआ है।[२] किन्तु इन दोनों शक्तियों का सम्बन्ध किसी भी रूप में शब्दशक्तियों से नहीं है। दूसरे शब्दों में भर्तृहरि शब्दशक्ति को बिल्कुल स्वीकार नहीं करते।

वस्तुतः दार्शनिक होने के कारण ही भर्तृहरि 'शब्दशक्ति'-विरोधी थे। यहाँ पर भर्तृहरि का शब्दशक्ति-विरोधी मत इसलिए स्पष्ट कर दिया गया है, क्योंकि उनके द्वारा बताए हुए अर्थ-विनिश्चय के साधनों के आधार पर तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया जायगा। अन्य आचार्यों द्वारा बताए हुए शब्दशक्तियों से अर्थ-विनिश्चय का उपयोग भी भर्तृहरि के अर्थ-निर्णय के साधनों के अन्तर्गत हो जाता है।

अर्थ-विनिश्चय के साधन

भर्तृहरि आदि भारतीय आचार्यों ने अर्थ-विनिश्चय के लगभग २६ साधनों का उल्लेख किया है। वाक्यपदीयकार का कथन है कि नीचे लिखे अर्थ-निर्णय के साधन अर्थ का एक जगह नियंत्रण कर देते हैं जिससे उस समय के प्रयोग में दूसरे अर्थ नहीं उठते। भर्तृहरि ने अर्थ-निश्चय के निम्न साधनों का उल्लेख किया है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृतिहेतवः।[३]

(१) **संयोग**—किसी वस्तु का किसी के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध होता है, उसके आधार पर अनेकार्थवाचक शब्द के अर्थ का संयोग-निर्देश द्वारा अर्थ-निर्णय हो जाता है। यहाँ 'ससि' शब्द का अर्थ चन्द्रमा और शस्य, दोनों हो सकता है—

ससि संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी॥ (मानस, ४।१५।५)

किन्तु 'महि' शब्द के संयोग से 'शस्य' ही अर्थ होगा।

---

१. वाक्य० २।४३७

२. वही १।५६

३. वाक्य० २।३१७-१८; काव्यप्रकाश २।१९; साहित्यदर्पण २।२६

इसी प्रकार—

सोइ राम कामारि प्रिय अवधपति सर्वदा दास तुलसी त्रासनिधि वहित्रं ॥
(विनय० ५०)

उक्त पंक्ति में 'प्रयुक्त' 'राम' शब्द के परशुराम, बलराम, रामचन्द्र आदि कई अर्थ संभव होने पर भी 'कामारि प्रिय' तथा 'अवधपति' आदि विशेषणों के संयोग के कारण यहाँ पर दाशरथि 'राम' ही अर्थ होगा ।

(२) **विप्रयोग**—प्रसिद्ध संयोग का वियोग निर्दिष्ट हो, तो भी उसका ही बोध होगा । यथा—

अति अनन्य गति इंद्रीजीता । जाको हरि बिनु कतहुँ न चीता ॥
(वै० सं०, १४)

यहाँ पर 'हरि' शब्द के सिंह, वानर, किरण, अश्व, सूर्यादि अनेक अर्थ संभव होते हुए भगवान् विष्णु अर्थ ही उपयुक्त है, क्योंकि जितेन्द्रिय संतों के चित्तों से वियोग होना इसी अर्थ को निश्चित करता है ।

(३) **साहचर्य**—नागेश के अनुसार यदि दो शब्द एकत्र हों तो जिनका साहचर्य देखा गया है, उनका ही ग्रहण होगा ।[1] यथा—

हरि हरहि हरता बिधिहिं बिधिताश्रियहि श्रियता जेहिं दई ।
(विनयपीयूष, १३५।३)

गहि गिरीस कुस कन्या पानी । भवहिं समरपीं जानि भवानी ॥
(मानस, १।१०१।२)

उक्त उदाहरण में 'हरि' शब्द के कई अर्थ होते हुए भी ब्रह्मा, शिव और 'श्री' के साहचर्य में विष्णु भगवान् का ही अर्थबोध होता है । 'भव' का अर्थ शिव और संसार दोनों होता है, किन्तु शिव-पार्वती का साहचर्य प्रसिद्ध होने के कारण 'शिव' अर्थ-नियंत्रित हो गया है ।

(४) **विरोधिता**—जिनका विरोध प्रसिद्ध है, उनके विरोध का साथ में उल्लेख होने से अर्थ-निश्चय होता है । उदाहरणार्थ—

कंपहिं भूप बिलोकत जाकें । जिमि गज हरिकिसोर के ताकें ॥
(मानस, १।२६३।४)

मत्त नाग तम कुंभ बिदारी । ससि केसरी गगन बन चारी ॥
(मानस, ६।१२।२)

---

१. परिभाषावृत्ति—११

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में 'हरि' के कई अर्थ संभव होते हुए भी यहाँ 'हरि' शब्द से सिंह अर्थ ग्रहण किया जायगा, न कि विष्णु, बंदर और सूर्य आदि, क्योंकि गज और सिंह का स्वाभाविक विरोध है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में 'नाग' शब्द का अर्थ सर्प और हाथी दोनों है। केशरी और हाथी का वैर प्रसिद्ध होने के कारण नाग का अर्थ 'हाथी' ही होगा, न कि सर्प।

(५) **अर्थ**—अर्थ का अभिप्राय है 'प्रयोजन'। पतंजलि ने अर्थ-निश्चय के साधनों में अर्थ और प्रकरण को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है। कैयट के अनुसार अर्थ से तात्पर्य है—जिस प्रयोजन-हेतु वाक्य बोला गया है, उसका ही ग्रहण होगा। यथा—

द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई ॥

(विनय० १३६)

यहाँ पर 'द्विज' शब्द के दाँत, पक्षी, चन्द्रमा तथा ब्राह्मण आदि कई अर्थ होते हैं। 'हरि' शब्द के भी कई अर्थ होते हैं। किन्तु 'संसार के पार पाने का प्रयोजन' होने के कारण इसके अर्थ क्रमशः 'ब्राह्मण' और विष्णु' ही होंगे।

(६) **प्रकरण**—प्रकरण का अर्थ है—प्रसंग-संदर्भ से युक्त वातावरण, अर्थात् स्थिति-स्वरूप। वक्ता और श्रोता की बुद्धि में जो अर्थ होगा, वही प्रकरण से नियंत्रित अर्थ कहलाता है। अनेकार्थक शब्दों में भी प्रकरण ही उन्हें एक अर्थ में सीमित करने में समर्थ होता है। व्यंजना के निरूपण को विशेष महत्ता प्रदान की गई है। वक्ता कौन है, किससे वार्ता हो रही है, किस स्थिति में, कौन वार्ता पर रहा है—जब सहृदय पाठक को प्रत्येक परिस्थिति का ज्ञान हो जाता है, तभी व्यंग्यार्थ का पूर्णरूपेण बोध होता है।

भर्तृहरि ने समस्त अर्थ-निर्णय के साधनों में प्रकरण को बहुत महत्त्व दिया है और प्रकरण को अर्थ-निश्चय का प्रमुख साधन बताया है।[१] आचार्य पतंजलि[२], जगदीश[३], नागेश[४] और यास्क आदि ने प्रकरण को अर्थ-निश्चय का प्रमुख साधन माना है। सर्वप्रथम यास्क ने प्रकरण के महत्त्व को बताते हुए लिखा है कि वेद में मंत्रों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करना

१. वाक्य० २।२३५

२. महा० ६।१।८४

३. शब्दशक्ति-प्रकाशिका, पृ० १७३

४. उद्योत, महा० १।१

चाहिए, पृथक्-पृथक् करके नहीं।[१] आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रकरण को ही अर्थ-निश्चय का मुख्य साधन स्वीकार किया है।[२] एम्सन ने भी अर्थ-ज्ञान के लिए परिस्थितियों के बोध को महत्त्वपूर्ण माना है। "इतना ही नहीं, बल्कि जब हम कहते हैं कि एक ही शब्द के अनेक अर्थ हैं, तो कुछ सीमा तक हम भ्रम में रहते हैं। एक शब्द के बहुत से अर्थों में प्रसंग द्वारा निर्धारित केवल एक ही अर्थ बुद्धिसंगत होता है।"[३] वान्द्रिये के अनुसार—"शब्द की स्थिति ही हर बार क्षण-भर के लिए उसका अर्थ निश्चित करती है। चाहे शब्द के कितने भी अर्थ हों, संदर्भ ही उसको एक विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है और सन्दर्भ ही, स्मृति में एकत्र अतीत प्रतिमाओं से शब्द को मुक्त कराकर उसके लिए एक सामयिक अर्थ की सृष्टि करता है। पर प्रयोग चाहे कुछ भी हो, बुद्धि में शब्द का अस्तित्व रहता है। साथ ही उसके निहित व वास्तविक अर्थ भी रहते हैं और ऐसे सदा तत्पर हैं कि आवश्यकता पड़ने पर वे परि-स्थिति के अनुकूल प्रयुक्त हो सकें।"[४] ब्लूमफील्ड ने भी लगभग यही बात कही है।[५] वास्तव में वक्ता और श्रोता की बुद्धि-स्थिति को ही प्रकरण कहते हैं। नानार्थक स्थलों में प्रकरण के द्वारा ही स्पष्ट और निश्चित अर्थ का ज्ञान होता है। प्रसंग ही प्रकरण है। जब तक यह नहीं मालूम होता है कि कौन-सा शब्द या वाक्य किस प्रसंग में कहा या लिखा गया है, तब तक अर्थ संदिग्ध रहता है। उदाहरणार्थ 'सैंधवमानय' में 'सैंधव' का अर्थ गमन के प्रसंग में 'अश्व' और भोजन के प्रसंग में 'नमक' होगा। इसी प्रकार प्रसंग-प्रकरण अर्थात् वातावरण-परिस्थिति यह है कि मंदोदरी रावण का चरण स्पर्श करते हुए हनुमानजी के पराक्रम का बखान करके कहती है—

कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हिय धरहू ॥

(मानस, ५।३६।६)

१. निरुक्त १३।१२

२. ऑग्डेन एंड रिचर्ड्स, मीनिंग ऑव मीनिंग, अध्याय ३ और १०

३. द्रष्टव्य Paulhan B. Leroy द्वारा उद्धृत LXXXVII, पृ० ९७ उद्धृत—भाषा : जे० वान्द्रिये, पृ० २११

४. जे० वान्द्रिये, भाषा, पृ० २१६

५. "If we had an exact knowledge of every speaker's situation and of every hearer's response, we could simply register those two facts as the meaning of any given speech utterance."—Quoted from Sahitya Siddhant, Dr. Ram Avadh Dwivedi, p. 481.

'हरि' शब्द के विष्णु, बन्दर, सिंह, राम, कृष्णादि अनेक अर्थ संभव होते हुए भी प्रसंग और वातावरण से यहाँ 'हरि' का अर्थ श्री रामचन्द्र है। इसी तरह 'कह लंकेस मंत्र लगि काना'[1] में लंकेस विभीषण का सूचक है, रावण का नहीं, क्योंकि यहाँ सुबेल पर्वत-स्थित सपरिकर भगवान् श्रीराम की झाँकी का प्रसंग है। अतः स्पष्ट है कि प्रसंग के अनुकूल यथास्थान पर अर्थों की संगति हुआ करती है।

(७) **लिंग**—'लिंग' का अर्थ है चिह्न, लक्षण। किसी वस्तु के किसी विशेष लक्षण अथवा चिह्न से भी अर्थ का निर्णय होता है। उदाहरणार्थ—'कोपेउ जबहिं बारिचर केतू।'[2] 'बारिचर केतू' से कामदेव का ही बोध होगा, क्योंकि 'मकर चिह्न' जिसकी ध्वजा में है, न कि समुद्र; यद्यपि 'बारिचर केतू' का अर्थ समुद्र और कामदेव दोनों है। यहाँ लिंग के आग्रह से कामदेव अर्थ ही ठीक होगा।

(८) **अन्य शब्द का सान्निध्य**—अन्य शब्द के सामीप्य के कारण अर्थ नियंत्रित हो जाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार—'प्रत्येक शब्द अन्य शब्द के साथ सम्बद्ध होने पर विशेष वाचक हो जाता है।'[3] उदाहरणार्थ—

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहे असोच बनै प्रभु पोसें॥
(मानस, ४।३।४)

कीजै जो कोटि उपाइ त्रिविध ताप न जाइ,
कह्यो जो भुज उठाइ मुनिवर-कीर॥ (विनय० १९६)

सुनिय नाना पुरान मिटत नहिं अज्ञान
पढ़िय न समुझिय जिमि खग कर। (विनय० १९७)

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में 'पति' शब्द का अर्थ स्वामी और 'पतिदेव' दोनों हो सकता है, किन्तु 'सेवक' शब्द की सन्निधि से 'पति' का अर्थ स्वामी ही होगा। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में 'कीर' शब्द का अर्थ प्रसिद्ध रूप से 'सुग्गा' संभव होते हुए भी 'मुनिवर' शब्द के सान्निध्य से 'शुकदेव' अर्थ ही ग्रहण होगा। तृतीय उदाहरण में 'खग' शब्द के सामीप्य के कारण 'कीर' का अर्थ 'सुग्गा' (तोता) ही होगा। उक्त उद्धरणों में 'सेवक' और 'कीर'

---

१. मानस ६।११।६
२. वही १।८४।६
३. महा० २।१।५५

शब्द का वास्तविक अर्थ अन्य शब्द के सान्निध्य के कारण ही स्पष्ट हो सका है ।

(९) **सामर्थ्य**—इसकी स्थिति वहाँ मानी जाती है जहाँ किसी कार्य के सम्पादन में किसी पदार्थ या भाव का सामर्थ्य होता है । आचार्य पुष्पराज ने अर्थ-निर्णय के प्रकरण में लिखा है कि कतिपय आचार्यों के अनुसार अर्थ-निर्णय के समस्त साधन 'सामर्थ्य' में ही अन्तर्भूत हो गए हैं । अतः सामर्थ्य ही अर्थ-निर्णय का साधन है । अर्थ, प्रकरण, संसर्ग आदि के द्वारा जो अर्थ निश्चित किया जाता है, वह भी सामर्थ्य से ही प्रतीत होता है । उनके अनुसार सामर्थ्य का अर्थ है --कौन-सा अर्थ वाक्यार्थ को स्पष्ट करता है तथा प्राकरणिक और युक्तियुक्त है । उदाहरणार्थ—

तनु महु प्रबिसि निसरि सर जाहीं ।
जिमि दामिनि घन माझ समाहीं ॥

(मानस, ६।६६।६)

यहाँ पर 'सर' शब्द का अर्थ 'तालाब' न होकर 'वाण' ही होगा, क्योंकि उसी में यह सामर्थ्य है कि शरीर के आर-पार हो सके ।

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने इसी सामर्थ्य को प्रकरण कहा है । हर्मन पाउल ने इस विषय पर विशेष ध्यान आकृष्ट किया है—

१. वक्ता और श्रोता का समान अवधारण ।
२. वक्ता के पूर्वोक्त वाक्य ।
३. विशेष सामर्थ्य ।
४. अन्य शब्दों के जोड़ने से अर्थ की सीमा का निश्चय ।
५. अनिश्चित अर्थ वाले शब्द के सम्बन्धी शब्द के द्वारा ।

यहाँ हम देखते हैं कि हर्मन पाउल द्वारा कथित अर्थ-निश्चय के साधनों का अन्तर्भाव भर्तृहरि द्वारा कथित अर्थ-निश्चय के साधनों में हो जाता है । हर्मन पाउल का तृतीय तथा पंचम उपाय क्रमशः भर्तृहरि के द्वारा कथित सामर्थ्य तथा संयोग से साम्य रखता है । ध्यातव्य है कि भारतीय आचार्यों का अर्थ-निर्णय-सम्बन्धी विवेचन अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक है ।

(१०) **औचित्य**—औचित्य का अर्थ है 'उपयुक्तता' । वाक्य में जो अर्थ उपयुक्त अथवा संगत होगा, उसी का ग्रहण होगा । पुष्पराज के अनुसार

औचित्य का तात्पर्य है—यदि वाक्य में कुछ शब्दों का प्रयोग न हुआ हो, तो औचित्य के आधार पर वह अर्थ समझ लिया जाता है। अनेकार्थी शब्दों में जिस स्थान पर उसका प्रयोग उचित हो, उसी को ग्रहण किया जायगा। यथा—'पातु वो दयितामुखम्' में मुख का अर्थ साम्मुख्य लिया जायगा, क्योंकि प्रेयसी का साम्मुख्य विरही की रक्षा करने में समर्थ है। इसी प्रकार—

सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु। (मानस, १।२७४।०)

यहाँ युद्ध-स्थल (समर) में कर्तृत्व के औचित्य से 'सूर' का तात्पर्य पराक्रमी, वीर ही होगा, न कि नेत्रहीन या सूर्य।

(११) **देश**—अनेकार्थक शब्दों के वाक्य में स्थान या देश का उल्लेख होने से अर्थ निश्चित हो जाता है। उदाहरणार्थ—अवध प्रान्त में जब 'मौसा' शब्द कहा जायगा, तो उसका अर्थ माँ की बहन का 'पति' मात्र होगा। किन्तु हरियाणा में भाई का ससुर भी मौसा है। इसी तरह—

आए ब्याहि राम घर जब ते। बसे अनन्द अवध सब तब से ॥
(मानस, १।३६१।५)

यहाँ पर अवध देश के उल्लेख के कारण, अथवा अयोध्या से सम्बन्धित होने से दाशरथि 'राम' का अर्थ होगा, न कि बलराम, परशुराम का।

(१२) **काल**—वाक्य में काल या समय का उल्लेख होने से भी अर्थ-विनिश्चय होता है। यथा—

नौमी तिथि मधु मास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजिति हरिप्रीता ॥
(मानस, १।१६१।१)

× × ×

सब ऋतु सुखप्रद सो पुरी पावस अति कमनीय।

× × ×

बकराजि राजति गगन हरिधनु तड़ित दिसि दिसि सोहहीं ॥
(गीता०, ७।१६)

उक्त प्रथम उदाहरण में 'मधु' शब्द 'मास' के साथ आने के कारण उसका अर्थ 'चैत्र मास' हो गया है, यद्यपि 'मधु' का अर्थ वसंत, शहद आदि भी होता है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में पावस ऋतु के प्रसंग के कारण 'हरिधनु' का अर्थ 'इन्द्रधनुष' ही होगा, वैसे 'हरि' के विष्णु, बन्दर, आदि कई अर्थ होते हैं।

(१३) **व्यक्ति**—व्यक्ति से अभिप्राय पुल्लिंग स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग से

है। एक ही शब्द विभिन्न लिंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ का संकेत करते हैं। यथा—'मित्र' शब्द पुल्लिग में 'सूर्य' और नपुंसकलिंग में 'सुहृद' अर्थ देता है। इसी तरह—

सरजू बर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबै ।।

(कविता० १।७)

बीर कीर ! सिय राम लखन बिनु लागत जग अँधियारो ।।

(गीता०, २।६६।१)

उपर्युक्त पंक्तियों में पुल्लिग के कारण 'बीर' का अर्थ 'भाई' ही होगा, वैसे इसके अर्थ सखी, योद्धा आदि भी होते हैं।

(१४) **स्वर**—उदात्तादि स्वरों का विचार वेदों में ही किया जाता है, लौकिक काव्यों में नहीं। मम्मट के शब्दों में 'इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एवं न काव्ये स्वरो विशेष प्रतीतिकृत।' 'स्वरादयः' के 'आदि' का तात्पर्य कतिपय आचार्य सत्व-षत्व, णत्व-नत्व मानते हैं और कुछ अभिनय से सम्बद्ध करते हैं।

(१५) **सत्व-षत्व**—पुण्यराज ने इसे भी अर्थ-निश्चय का साधन स्वीकार किया है। यथा—'सुसिक्तम्' में अनुपसर्ग होने से मूर्धन्य 'ष' न होने से 'सु' का अर्थ पूजा होगा और 'सुषिक्तम्' में मूर्धन्य 'ष' होने से यह उपसर्ग ज्ञात होता है।

(१६) **णत्व-नत्व**—इसके अन्तर से भी अर्थ-निश्चय होता है। यथा—'प्रणायक' का अर्थ है—ग्रन्थ-लेखक (प्रणयनकर्ता), किन्तु 'प्रनायक' का अर्थ है—प्रगत है नायक जिसका (बहुव्रीहि समास), अर्थात् नायकहीन।

(१७) **अभिनय**—चेष्टाओं, भाव-भंगिमाओं और मुद्राओं के द्वारा भी अर्थ-निर्णय किया जाता है। रामदहिन मिश्र ने 'काव्यालोक' में अभिनय का एक उदाहरण यह प्रस्तुत किया है—

इतनी सी वा नारि के, इतने से उर जात।
इतने हैं लोचन बड़े, दूबर इतनो गात।।

यहाँ हस्तसंकेत के द्वारा स्तनों की पृथुता, नेत्रों की विशालता और शरीर के दौर्बल्य का स्पष्टीकरण किया गया है।

भर्तृहरि ने एक अन्य श्लोक में अर्थ-निर्णय के कतिपय इतर साधनों का भी उल्लेख किया है—

वाक्यात्प्रकरणदर्थादौचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्था प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्।।[१]

प्रकरणादि साधनों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

---

१. वाक्य० २।३१६

(१८) **वाक्य**—पुण्यराज के अनुसार वाक्यगत सम्बन्ध शब्द के अर्थ का निर्णय करता है। जब तक शब्दों का प्रयोग किसी सुव्यवस्थित वाक्य में न हो, तब तक शब्दों का यथार्थ अर्थज्ञान नहीं होता। वाक्यगत शब्द के व्याकरणिक स्वरूपों के आधार पर शब्दार्थ का निश्चयीकरण संभव है।

पुण्यराज ने कहा है कि उपर्युक्त साधन शब्दार्थ-निर्णय के उपायों का दिग्दर्शन मात्र है। अर्थ-निश्चय के अन्य साधनों का भी अनुसंधान करना चाहिए। अन्य साधन हैं—

(१९) **वक्ता की भावना**—पतंजलि और भर्तृहरि ने इसे भी अर्थ-निश्चय का साधन माना है। नानार्थक शब्दों में वक्ता जिस अर्थ में उसका प्रयोग करता है, उस शब्द का वही अर्थ होगा।[1] एक ही वाक्य को वक्ता जब समान रूप से बोलेगा, तो उसका अर्थ एक होगा और व्यंग्य या काकु रूप में बोलने पर उसका अर्थ सर्वथा विपरीत होगा। उदाहरणार्थ—

करहिं कूटि नारदहिं सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई॥
रीझिहि राजकुँवरि छबि देखी। इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी॥
(मानस, १।१३४।३-४)

यहाँ हरगणों के वाक्यों का अर्थ नारद समझ रहे हैं कि हरि (विष्णु) ने मुझे अपना स्वरूप प्रदान किया है। राजकुमारी हमको हरि (विष्णु) जानकर विशेष रूप से वरण करेगी। वक्ता की भावना के अनुरूप वक्रोक्ति से अर्थ होगा—राजकुमारी नारद को विशेष प्रकार का वानर समझकर झल्ला उठेगी।

(२०) **अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय**—जिसका जिसके साथ अर्थकृत आन्तर्य है, वह दूरस्थ होते हुए भी समीपस्थ होता है। प्राय. वाक्य में शब्द विपर्ययात्मक ढंग से रखे होते हैं। ऐसी स्थिति में 'अन्वय' क्रम को ही अर्थ-निश्चय का साधन माना जायगा। पतंजलि के अनुसार वाक्य में विभिन्न स्थानों पर पड़े हुए शब्दों का भी यथायोग्य सम्बन्ध किया जाता है।[2] कैयट के अनुसार पाठ-क्रम से अर्थक्रम बलवान होता है, अतः अर्थक्रम के अनुसार शब्दों का सम्बन्ध किया जाता है।[3]

(२१) **अन्वय-व्यतिरेक**—पतंजलि और भर्तृहरि अन्वय-व्यतिरेक को भी

---

१. महा० १।१।५५; वाक्य० २।४०९
२. महा० १।१।५७
३. प्रदीप, महा० ६।१।५७

अर्थज्ञान और अर्थ-निश्चय का साधन मानते हैं। प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ का निश्चय अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है।

(२२) **व्याख्यान**—पतंजलि ने कहा है कि संदिग्ध स्थलों पर ही नियम की आवश्यकता होती है। जहाँ पर अर्थ असंदिग्ध है, वहाँ पर नियम की आवश्यकता नहीं होगी। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि कई प्रकरणों में ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जहाँ पर दोनों अर्थ लग सकते हैं। वहाँ पर या तो दोनों ही अर्थ नहीं लग सकते, या दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं। ऐसे स्थलों के लिए पतंजलि ने कहा है कि उन्हें संदिग्ध मानकर अनिर्णीत अवस्था में छोड़ देना चाहिए। अपितु आचार्यों के व्याख्यान (विवरण) के आधार पर अर्थ लिया जायगा और वही अर्थ माना जायगा। यथा—'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' में 'सिद्ध' शब्द का अर्थ संदिग्ध है। आचार्यों के व्याख्यान में 'नित्य' अर्थ स्वीकार किया गया है।[1]

(२३) **ज्ञानरूप (बौद्ध) प्रकरण**—नागेश ने इसे भी अर्थ-निश्चय का साधन स्वीकार किया है।[2] मनुष्य के ज्ञान में पूर्व कही हुई बातें स्थित रहती हैं। पुनः उसी विषय की चर्चा होने पर पूर्वज्ञान की स्मृति से अर्थ-निश्चय हो जाता है। जिस व्यक्ति ने भागवत महापुराण का अध्ययन किया है, वह मानस के अयोध्या काण्ड के २२७वें दोहे में 'राजा वेन' का उल्लेख प्राप्त होने पर तुरंत समझ जाएगा कि यह 'राजा वेन' भागवत का ही है।

(२४) **सामान्य ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान**—पतंजलि ने बहुत से उद्धरणों के द्वारा बताया है कि मनुष्य को सामान्य ज्ञान होगा, तो वह वाक्य का अर्थ-निश्चय सरलता से कर लेगा। पाणिनि ने लोकप्रसिद्धि और लोकव्यवहार को अर्थ-निर्णय का प्रमुख साधन माना है।[3] लोकव्यवहार से भी अर्थ-निश्चय होता है। जिन्होंने व्याकरण का अध्ययन नहीं किया है, उनसे जब यह कहा जाता है कि 'राजपुरुष को लिवा लाओ', तब वे राज-विशिष्ट पुरुष लिवा लाते हैं, न कि राजा को लिवा लाते हैं और न पुरुष मात्र को। पश्चिमी विद्वान् मारिओपाइ ने भी कहा है कि अर्थ का सम्बन्ध परम्परा से है।[4] अतः अर्थ-निश्चय के लिए अर्थ का लोक में व्यवहार प्रधान आधार है।

---

१. महा० आ० १ तथा परिभाषेन्दु-शेखर, परिभाषा ६

२. परिभाषेन्दु, परिभाषा ६

३. अष्टा० १।२, ५५ से ५६ तक।

४. मारिओपाइ, द स्टोरी ऑव लैंग्वेज, पृ० १४८

(२५) **शब्दाध्याहार**—अपूर्ण वाक्यों का अर्थ-निश्चय अप्रयुक्त शब्दों के 'अध्याहार' (पूर्ति) से होता है। यथा—'प्रवेश करो, खाओ' का अर्थ 'भोजनालय में प्रवेश करो और (चावल रोटी, दाल, सब्जी आम, आदि) भोजन खाओ' कहने से ही निश्चित होता है। हम अर्थ और प्रकरण से ही इन शब्दों का अध्याहार कर लेते हैं।[1] पाणिनि के अनुसार—पृषोदरादीनियथोपदिष्टम्।[2] प्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि स्युः। अर्थात्, पृषोदर आदि शब्द जैसे शिष्ट लोगों ने कहे हैं, वैसे ही वे ठीक हैं। तात्पर्य कि जो शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध है, उससे वही अर्थ सिद्ध होगा। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर पाणिनि के धातुसूत्र आदि यथासंभव काम में लाकर जहाँ न बनता हो, वहाँ अपनी ओर से वर्ण-परिवर्तन, अन्य वर्ण-ग्रहण, लोप आदि जो आवश्यक हो, कर लें। यथा—'पृषत् उदर' = पृषोदर, वारिवाहक = बलाहक, हिंस धातु से सिंह, इत्यादि।

(२६) **युक्तिसंगतता**—पतंजलि ने अर्थ-निश्चय तथा इसी प्रकार के अन्य संदिग्ध अथवा विवादास्पद विषयों के हेतु एक बहुत ही उपादेय बात कही है। उनके अनुसार—'यच्च नाम सहेतुकं तन्न्याय्यम्'।[3]

जो भी अर्थ युक्तिसंगत एवं प्रासंगिक प्रतीत हो, वही अर्थ स्वीकार करना चाहिए। यह एक सामान्य नियम है जो सर्वत्र लागू होता है।

इसके अतिरिक्त कतिपय पाश्चात्य विचारक सारूप्य (दीखने वाली रूप की समानता) और भेद (विपरीत वृत्ति) को भी अथ-निश्चय का साधन मानते हैं, किन्तु भारतीय मनीषियों का अर्थ-निर्णय-सम्बन्धी विवेचन पर्याप्त गंभीर है। अतः पाश्चात्य चिन्तन की चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

पाठ-चयन के सिद्धान्त

१. **पाठानुसंगति तथा अर्थानुसंगति**—पाठ की दृष्टि से मूल से साम्य रखने वाला पाठ अर्थ तथा प्रसंग की दृष्टि से भी उपयुक्त होना चाहिए। स्वीकृत पाठ विषयानुसंगति और लेखानुसंगति से सिद्ध होना चाहिए। विषयानुसंगति से तात्पर्य है कि स्वीकृत पाठ प्रसंग, अर्थ, कविप्रयोग आदि की दृष्टि से ठीक बैठता हो। लेखानुसंगति वह है जो लेखन-सामग्री, लिपि आदि की दृष्टि से भी सिद्ध हो।

---

१. महा० २।२।११

२. अष्टा० ६।३।१०९

३. महा० १।३।९

२. कठिनतर पाठ की स्वीकृति—कामू के शब्दों को उद्धृत करते हुए श्री कन्हैयालाल सिंह ने कहा है कि जहाँ पर भिन्न-भिन्न शाखाओं में दो पाठ उपलब्ध हों, दोनों ही सार्थक एवं संगत प्रतीत हों और उनमें से एक कठिन पाठ हो और दूसरा सरल, तो सामान्यतया पाठालोचन का यह नियम है कि कठिन पाठ को सरल की अपेक्षा वरीयता देकर ग्रहण कर लेना चाहिए। आगे उन्होंने कहा है कि कभी-कभी भाषा पर प्राचीनता की कलई करने की चेष्टा प्रतिलिपिकारों द्वारा भी की जाती है। इस प्रकार कठिनतर पाठ होना मूल का प्रमाण नहीं है, प्रत्युत एक संभावना मात्र है जिसके अपवाद भी हो सकते हैं।[1]

३. संक्षिप्त पाठ की स्वीकृति—कभी-कभी यह दृष्टिगोचर होता है कि किसी रचना-विशेष का विभिन्न शाखाओं में पाठ कम और अधिक मिलता है। ऐसी स्थिति में प्रायः यह संभावना व्यक्त की जाती है कि वृहद् पाठ प्रक्षेपों से प्रभावित होने के कारण अधिक और संक्षिप्त पाठ मूल के निकट होने के कारण कम होता है।

४. प्रतियों की संख्या का नहीं, उनके मूल्य का महत्त्व—कुछ विद्वान् अधिक प्रतियों में मिलने वाले एक ही पाठ को प्रामाणिक और कम प्रतियों में मिलने वाले पाठ को अप्रामाणिक कहते हैं। किन्तु, ये विचार अधिक मान्य नहीं हैं, क्योंकि यदि किसी रचना की दश प्रतियों में एक पाठ मिलता है और दो प्रतियों में दूसरा। यदि परीक्षा के उपरान्त यह निश्चित हो जाता है कि उक्त दश प्रतियाँ एक ही शाखा की हैं और शेष दो प्रतियाँ दो भिन्न शाखाओं की, तो इन प्रतियों में प्राप्त पाठ अधिक मान्य होगा, अपेक्षाकृत प्रथम दश प्रतियों में मिलने वाले पाठ के। जिन प्रतियों में काट-छाँट कम हुई हो तथा प्रक्षिप्त अंश भी न मिलता हो, वे प्रतियाँ विश्वसनीय हो जाती हैं।

पाठ-चयन के सामान्य सिद्धान्त

ऐसे पाठ जो किसी रचना की समस्त शाखाओं में समान रूप से प्राप्त होते हैं, वे असंदिग्ध रूप से मूल पाठ से प्रवाहित हुए रहते हैं। अतएव इस प्रकार समान प्राप्त पाठों को मूल पाठ के रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि कोई पाठ निःसन्देह अशुद्ध हो, किन्तु वह सभी शाखाओं की सभी प्रतियों में अबाध रूप से मिलता हो, तो ऐसी स्थिति में यह सम्भावना रहती है कि वह लेखक की मूल प्रति की अशुद्धि है। ऐसी अशुद्धि के सुधार का अधिकार किसी

---

१. पाठ-संपादन के सिद्धान्त, पृ० ६६

को नहीं है । यदि यह अशुद्धि प्रमाणित हो जाए कि रचयिता के न चाहते हुए भी हो गयी है, तो वह लेखक की भूल होने पर भी संशोधन के योग्य है ।

जो पाठ सभी शाखाओं में समान रूप से न प्राप्त होते हों, उनमें से ऐसे पाठ जो दो या दो से अधिक शाखाओं में एक रूप में मिलते हों, उन्हें मूल पाठ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि ऐसे पाठ मूल के निकट हो सकते हैं ।

पाठ-सुधार

अन्तर्साक्ष्य, अन्तरंग संभावनाएँ अथवा विषयानुसंगति—पाठालोचक के द्वारा संशोधित पाठ अन्तर्साक्ष्य द्वारा सिद्ध होना चाहिए । अन्तर्साक्ष्य में ग्रन्थकार रचना और प्रयोग शैली से सम्बन्धित साक्ष्य आते हैं । ये साक्ष्य कवि की रचनाओं के गम्भीर अध्ययन के द्वारा तत्त्वदर्शी और पैनी निगाहों से युक्त पाठालोचक ही प्राप्त कर सकते हैं । पाठालोचक को प्रस्तावित पाठ-सुधार को निम्नलिखित कसौटी पर कसना चाहिए—

१. **प्रसंग**—जहाँ निजी विशिष्ट विकृति के कारण समान पाठ विभिन्न प्रतियों में पृथक्-पृथक् प्राप्त हों और सभी पाठ प्रसंग के धारा-प्रवाह में व्यवधान उपस्थित करें, तो पाठालोचक उस पाठ के संशोधन के सम्बन्ध में विचार कर सकता है ।

२. **सार्थकता**—प्रस्ताविक पाठ सार्थक होना चाहिए । निरर्थक पाठ कभी प्रसंग से सम्बद्ध नहीं हो सकता । पाठ की सार्थकता के स्पष्टीकरण के साथ पाठालोचक को विशेषज्ञ और सर्वतोमुखी प्रतिभा से युक्त होना चाहिए ।

३. प्रस्तावित पाठ रचयिता की प्रवृत्तियों के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए । साम्प्रदायिक साहित्य के सम्बन्ध में इस पर अधिक गम्भीरता से ध्यान देना चाहिए । प्रत्येक रचनाकार शब्दों का विशिष्ट ढंग से प्रयोग करता है । पाठालोचक को इस प्रयोग-वैशिष्ट्य पर ध्यान देना चाहिए । वह जिस पाठ का समर्थन कर रहा है, वह रचयिता के प्रयोग के अनुकूल होना चाहिए ।

४. प्रस्तावित पाठ रचयिता के काल में प्रचलित व्याकरण से सम्मत होना चाहिए । साथ ही वह रचयिता की छंद-योजना के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए । प्रस्तावित पाठ कवि की अपनी छंद-योजना के ही अनुसार होना चाहिए ।

किया गया पाठ-सुधार लेखानुसंगत और विषयानुसंगत, अर्थात् बहिरंग और अंतरंग संभावना द्वारा प्रमाणित होना चाहिए ।

पाठ वही उपयुक्त है जो उचित अर्थ प्रदान करे, जो प्रसंगानुकूल हो,

रचयिता की प्रवृत्तियों के अनुरूप हो, उसके प्रयोग और भाषा के अनुकूल हो, जिससे छंद भंग न हो, प्रवाह हो और पुनरुक्ति न हो। जो पाठ इन सब बातों को पूरा करे, उसे विषयानुसंगत कहते हैं।।

पाठालोचन के दो वर्ग हैं --

१. **रूढ़िवादी वर्ग**—रूढ़िवादी वर्ग सुधार नहीं चाहता। वह प्राचीनतम पाठ को ही प्रस्तुत करना चाहता है।

२. **सुधारवादी वर्ग**—सुधारवादी वर्ग सुधार चाहता है। सुधार को वह पाठालोचन का एक अंग मानता है।

आधुनिक पाठालोचकों के अनुसार सुधार होना चाहिए, किन्तु वह मनोनुकूल और अप्रामाणिक नहीं होना चाहिए। रूढ़िवादी वर्ग प्राचीनतम प्रतियों के आधार पर भ्रष्ट पाठ की ही क्लिष्ट कल्पना करके अर्थ निकालने का प्रयास करता है, चाहे वह अर्थ उस पाठ में विद्यमान हो अथवा नहीं। वह खींच-तानकर दूर की कौड़ी लाने का प्रयास करता है। यह वर्ग अर्थसंगति बैठा देना ही पाठ-समस्या की इतिश्री समझ लेता है। यह वर्ग पाठालोचक कम, प्राचीन पाठ का रक्षक और सत्यता से युक्त होता है। सुधारवादी बिलकुल सुधार के पक्ष में होता है। वस्तुतः दोनों वर्ग अतिवादी हैं। जहाँ तक हो सके पाठ-सुधार नहीं, पाठ-चयन ही करना चाहिए। जहाँ किसी पाठ का निर्णय पाठ-चयन के अन्तर्गत न हो, वहाँ पर बहिरंग तथा अन्तरंग संभावनाओं के आधार पर पाठ-सुधार प्रस्तुत किया जा सकता है।

२

तुलसी-साहित्य में तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास

भर्तृहरि ने वास्तविक अर्थज्ञान के लिए तर्क को परमावश्यक माना है। देखते हुए भी जो लोग नहीं समझ पाते, उनके लिए वेदवाक्यों का अर्थ केवल ध्वनिरूप या उच्चरित रूप मात्र से ही ग्रहण करना संभव नहीं हो पाता। यह बात सामान्य वाक्य-प्रयोग पर भी लागू होती है। ऐसे समय अर्थज्ञान के लिए तर्क का आश्रय लेना पड़ता है। किसी भी प्रसंग में यह तर्क मूल ग्रन्थ की, या मूल प्रसंग की अन्तर्निहित और एकसूत्र भावना के विपरीत नहीं पड़ना चाहिए। अतः वेदवाक्यों के अर्थ-प्रसंग में भी तर्क अपनी भावना और परम्परा के अनुकूल हो, तभी ठीक रहेगा और तभी अर्थ स्पष्ट हो सकेगा।[१]

किसी विद्यमान तत्त्व की अविवक्षा, परार्थ की उपलब्धि और संकेत या लक्षणों से अर्थ की उपलब्धि आदि ऐसी बातें हैं जिनके लिए हमें तर्क का आश्रय लेना ही पड़ता है।[२] पुरुष में आश्रित तर्क शब्द पर ही आश्रित होता है, या उसकी ही शक्ति के रूप में स्थित रहता है। अर्थात्, शब्द के लिंग, प्रकरण, वाक्य, काल आदि पर आश्रित रहकर किया गया तर्क ही सही अर्थ का परिज्ञान करा सकता है। इन सबका आश्रय लिये बिना बढ़ने वाला तर्क निराधार एवं शुष्क होता है, क्योंकि ये सब शक्तियों या उपादान शब्द के ही हैं। इनके द्वारा ही शब्द का अभिधेय पता चलता है। सामान्य पुरुष तो वेदादि के ज्ञान से भी रहित होते हैं। उनका अनागम तर्क तो शुष्क या कोरा तर्क कहलाएगा ही, क्योंकि वे उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित हुए बिना केवल श्रुतिमात्र से ही अर्थोपलब्धि संभव मानकर प्रवृत्त होते हैं।[३]

ऐसा अर्थ जो तर्क-वितर्क के उपरान्त ठीक और सर्वमान्य निष्कर्ष के रूप में निकलता हो, तर्कसंगत अर्थ है। यह पुराने और भ्रामक अर्थों को त्यागने के लिए

---

१. वेदशास्त्रविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।
रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते ॥—वाक्य० १।१३६

२. वही १।१३७

३. वही १।१३८

विवश करता है। इसमें कोरे काल्पनिक अथवा भावुकतापूर्ण अर्थों का पूर्णरूपेण खंडन और परिहार होता है। तर्कसंगत अर्थ न्याय, बुद्धि और अर्थ-विनिश्चय के साधनों के आधार पर निश्चित होने के कारण अधिकांश साहित्याभिरुचि-सम्पन्न व्यक्तियों को संतोष प्रदान करता है। तर्कपूर्ण अर्थ करने में कौन व्यक्ति किस स्तर से बोल रहा है, किससे बोल रहा है, कब बोल रहा है और किस प्रसंग में बोल रहा है, आदि महत्त्वपूर्ण बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। तर्कसंगत अर्थ आप्तवाक्यों एवं मान्य ग्रन्थों के उद्धरणों से पुष्ट होता है।

शब्दों का फाटक तोड़कर, रचना-शैली की दुरूहता दूर कर काव्यार्थ तक पहुँचना और उसके सहारे भावों को ढूँढ़ना या उसके अभिप्राय को ज्ञात करना एक बहुत ही श्रमसाध्य कार्य है। यह भी एक कला है। चौंसठ कलाओं में एक कला 'दुर्वाचक योग' है जिसका अर्थ है—कठिन शब्दों का अर्थ लगाना। एक-एक शब्दों के सही अर्थ-निर्धारण के लिए कितनी ही रातें जगकर व्यतीत करनी पड़ती हैं। डॉ० हरिहरनाथ हुक्कू ने ठीक ही कहा है कि "पाठक का धर्म है कि वह केवल लेखक के शब्दों से लेखक का अर्थ जानने का प्रयास करे।" रस्किन[1] ने अपने सुविख्यात शब्दों में कहा है कि "हमको कवि का अर्थ ढूँढ़ना चाहिए और उसी को ग्रहण करने के लिए परिश्रम करना चाहिए। हमें अपने अर्थ को कवि का अर्थ मानकर या कवि के अर्थ को हटाकर उसकी जगह अपना अर्थ स्थापित करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।" यही बात इस शताब्दि के प्रमुख अंग्रेजी उपन्यासकार बैनेट ने कही है। वे कहते हैं कि लेखक का सच्चा अर्थ ढूँढ़ना पाठक का धर्म है। उसको एक कृति को बार-बार पढ़ना चाहिए और अगर वह समझ में नहीं आये, तो उसे बार-बार पढ़ना चाहिए जब तक कि लेखक का सही अर्थ ग्रहण न हो जाय। जो क्लासिक है, जो प्रतिष्ठित कृति है, जिसको पीढ़ियों से पाठकों के द्वारा श्रेष्ठता की स्वीकृति मिल चुकी है, उसको यदि हमारी व्यक्तिगत साहित्यिक रुचि स्वीकार नहीं करती, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि कृति सदोष है, बल्कि इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी अपनी साहित्यिक रुचि (लिटरेरी टेस्ट) यथेष्ट सुसंस्कृत नहीं हुई है। अतः यदि किसी प्रतिष्ठित कृति का—जैसे 'रामचरितमानस' का—जल्दी में ठीक अर्थ खोजने के परिश्रम से हमें झिझकना नहीं चाहिए।[2] कविवर गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों का अर्थ लगाने से पूर्व यह देख लेना चाहिए कि शब्द-विशेष तुलसी-साहित्य में किस-किस स्थान पर किस-किस अर्थ में

---

१. रस्किन : सीसेम एंड लिलीज।

२. श्रीरामचरितमानस की काव्य-कला, पृ० ३५२-५३

प्रयुक्त हुआ है और यहाँ उसका कौन-सा अर्थ उपयुक्त होगा। गोस्वामी जी के शब्दों का कभी-कभी एक इतिहास होता है। तर्कसंगत अर्थ की भाषा दुर्बोध नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य कठिन को सहज या दुर्बोध को सुबोध करना होता है।

टीकाकारों द्वारा

टीका की महानता टीकाकार की तटस्थ वृत्ति में सन्निहित होती है। ऐसी टीका जो किसी प्रकार के पूर्वाग्रह, परंपरा या सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित होकर नहीं लिखी जाती, वही श्रेष्ठतम टीका है। श्रीधर स्वामी और मल्लिनाथ की टीकाएँ इसी कोटि में हैं। निर्गुणवादी, अद्वैती श्रीधर स्वामी ने सगुणचरित-सम्पन्न भागवत की एक उत्कृष्टतम टीका लिखी है। मल्लिनाथ ने भी ऐसी ही टीकाएँ लिखी हैं। ये दोनों टीकाकार किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता, मत-वादिता और पूर्वाग्रह से प्रभावित नहीं थे। मूल से संगति आदर्श टीका की प्रमुख एवं अत्यपेक्षित विशेषता है। उसमें प्रासंगिक एवं संगत अर्थ-योजना अत्यन्तावश्यक है। टीकाकार को किंचित् भी अर्थ के विस्तार एवं मूल से अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। संस्कृत-साहित्य के प्रतिनिधि टीकाकार मल्लिनाथ ने ठीक ही कहा है—

> 'इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यातं मया।
> नामूलं लिख्यते किंचिन्नापेक्षितमुच्यते ॥

अर्थात्, यहाँ अन्वय मुख से ही सब कुछ व्याख्यान किया जा सकता है। न तो 'अमूल' लिखा जाता है, न कुछ अनावश्यक कहा जाता है।

अर्थ-प्रकाशन की प्रत्यक्ष प्रणाली में पहली मौखिक प्रणाली से आजकल के संत-महात्मा, पंडित-व्यासादि तुलसी-साहित्य का प्रवचन करते हैं। इससे भी तुलसी-साहित्य की विशद् व्याख्या होती है। दूसरी लिखित प्रणाली ही विशुद्ध रूप से साहित्यिक अर्थ-प्रणाली है। अर्थ-प्रकाशन की लिखित प्रणाली का ही आकलन विशेषतः हो सकता है। टीका, भाष्यादि इसी लिखित प्रणाली के अन्तर्गत आते हैं।

यह परम हर्ष की बात है कि तुलसी-साहित्य पर सर्वाधिक टीकाएँ, आलोचना-ग्रन्थ एवं शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं। अर्थ की दृष्टि से आज का सुशिक्षित और परिष्कृत रुचि-सम्पन्न पाठक तुलसी-साहित्य की ऐसी विशुद्ध साहित्यिक टीका चाहता है जिसमें विस्तृत एवं सुगम रीति से कवि के भावों की वास्तविक व्याख्या की गयी हो। तुलसी-साहित्य की शताधिक टीकाएँ

उपलब्ध होती हैं। यहाँ पर मात्र उन्हीं टीकाओं पर विचार किया जायगा जिनमें तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास हुआ है, या जिनके द्वारा तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय में सहयोग प्राप्त हुआ है।

तुलसी-साहित्य की मानसेतर अधिकांश टीकाएँ अक्षरार्थमूलक हैं। विशेषतः व्याख्यात्मक टीकाओं में ही तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास हुआ है। टीकाओं की दृष्टि से मानस का तुलसी-साहित्य में सर्वोपरि स्थान है। मानस की लगभग सौ टीकाएँ प्राप्त होती हैं।

श्री काण्ठजिह्वा जी—वेदान्त, न्यायादि के महान् पंडित काशीनिवासी श्री काण्ठजिह्वा स्वामी ने 'रामचरितमानस' की एक संक्षिप्त टीका 'मानस-परिचर्या' नाम से लिखी थी। यह टीका 'रामायण-परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश' नामक टीका में संग्रहित है। टीका आज की दृष्टि से चाहे उत्कृष्ट न हो, किन्तु प्रारंभिक टीका होने के कारण यह बहुत ही श्लाघनीय है। काण्ठजिह्वा स्वामी जी ने तर्कसंगत अर्थ के विषय में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है—

मन की ठकुराई भई कौन सुनै कौन मानै काल के अँधेरे में न दाद फरियाद है।
जाको जो भावत है, सो तैसोई, भावत है श्रुति को प्रमान गयो हठ को फसादहै ॥
प्रकरन औ दे सकाल भाव देखि कहै बात ही वह कहै जद्यपि कामधेनु नाद है।
अक्षरन ते साफ निकसै सोई अर्थ कविता को सूधी बजाय कहै बाकी बकवाद है ॥[१]

श्री बैजनाथ जी—आप गोस्वामी जी के साहित्य से इतने प्रभावित थे कि उनके नाम के जो भी ग्रन्थ आपको मालूम हुए, सभी पर टीका लिख डाली, चाहे वे मानसकार के हों या न हों।

आपकी टीकाओं की भाषा ब्रज गद्य है। अवधी का प्रभाव भी लक्षित होता है। साहित्यिक दृष्टि से आपकी टीकाओं का विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि आप भक्तिपरक दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रभावित थे। यत्र-तत्र काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी तुलसी-साहित्य के व्याख्येय स्थलों का विश्लेषण किया है। अलंकार, रस, छंद और रूपकों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन करने के कारण आपकी टीका का प्रभाव आधुनिक टीकाओं पर विशेष लक्षित होता है। टीकाकार की प्रमुख विशेषता विशदता, सरलता और चमत्कारिता है। कहीं-कहीं तो बहुत ही अनावश्यक विस्तार दृष्टिगोचर होता है। पंडिताऊपन और पुनरुक्तियाँ स्थान-स्थान पर मिलती हैं। अलंकारों के लक्षणादि देने से आपकी टीकाओं का साहित्यिक महत्त्व अविस्मरणीय है। आपकी टीकाओं पर

---

१. रामा० परि-परिशिष्ट प्र० (भूमिका), पृ० ३

रामानंदीय दर्शन विशिष्टाद्वैत का भी प्रभाव है। विनयपत्रिका के २१४वें पद में प्रतिपादित श्रीकृष्ण भाव को गौण मानकर आपने श्रीराम-भाव को ही प्रधानता प्रदान की है। अतः आपकी टीकाओं में साम्प्रदायिक पक्षपात भी दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन टीकाकारों में तुलसी-साहित्य के समस्त ग्रन्थों के श्री बैजनाथ जी ही उल्लेखनीय टीकाकार थे।

श्री विनायक राव—राव जी की मानस की टीका 'विनायकी टीका' के नाम से प्रसिद्ध है। यह साहित्यिक एवं भक्तिपरक, दोनों दृष्टियों से उल्लेखनीय है। व्याख्या-पद्धति के आधार पर इसमें मानस की व्याख्या की गयी है। प्रत्येक काण्ड के अन्त के पुरौनी (परिशिष्ट) के अन्तर्गत काव्य-लक्षण, गण-विचार, पिंगल-विचार, भावभेद, रसभेद, कथाभाग आदि का विश्लेषण मानस के आधार पर हुआ है। शंका-समाधान में आपने तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास किया है।

बाबू श्यामसुन्दर दास की मानस की टीका व्याख्यात्मक टीकाओं के अन्तर्गत आती है। एक साहित्यकार के द्वारा लिखित होने के कारण यह भी मानस की साहित्यिक टीका है।

पं० महावीरप्रसाद मालवीय वैद्य 'वीरकवि'—आपने रामचरितमानस, विनयपत्रिका और हनुमानबाहुक की टीका लिखी है। आपकी टीकाओं में अलंकारों आदि का भी यथास्थान उल्लेख मिलता है। यत्र-तत्र काव्यात्मक चमत्कार का भी विवेचन प्रस्तुत है। आपके निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट है कि आपने साहित्यिक अर्थ करने का प्रयास किया है—"सैकड़ों तरह के अर्थ कथक्कड़ लोग किया करते हैं जिन अर्थों का अनुमान ग्रंथ-निर्माण के समय गोस्वामी जी को भी नहीं हुआ होगा। इस टीका को लिखने में हमने कवि-उद्देश्यानुसार ही अर्थ करने की चेष्टा की है जिसमें प्रेमी पाठकों का अमूल्य समय व्यर्थ के वितण्डावाद में नष्ट न हो।"[1] शंका-समाधान में तर्कसंगत अर्थ करने का आभास होता है।

साहित्यवाचस्पति महात्मा अंजनीनंदनशरण—महात्मा जी ने ७ खण्डों में मानस की 'मानस-पीयूष', ५ खण्डों में विनयपत्रिका की 'विनय-पीयूष' और हनुमानबाहुक की 'पीयूषवर्षिणी' नामक टीकाओं का सम्पादन किया है।

'मानस-पीयूष' रामचरितमानस पर लिखित बृहत्तम विश्वकोशात्मक टीका

---

१. वीरजी कृत 'मानस' की टीका, भूमिका।

है। 'यन्नेहास्ति न त्वत्क्वचित्' के उद्देश्य से मानस-पीयूषकार ने उसका निर्माण किया है। पीयूषकार के अनुसार "मानस-पीयूष का उद्देश्य रहा है कि आज तक जितनी टीकाएँ, टिप्पणियाँ, तिलक, शंकावलियाँ आदि छप चुकी हैं, उन सबका संग्रह एक ही जगह हो जाय। जहाँ जिस किसी में कोई नवीन भाव मिले, उनका संग्रह इसमें रहे जिसमें एक ही पुस्तक-वाटिका में सब प्रकार के फूलों के रस और सुगन्ध का आस्वादन मिल जाय।"[१] इसमें प्राचीन-अर्वाचीन प्रायः अधिकांश टीकाओं, प्रसिद्ध रामायणियों, मानस-मर्मज्ञों की टिप्पणियों, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत मतानुयायियों के भाव इत्यादि का आलोचनात्मक संकलन किया गया है। काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी पर्याप्त उल्लेख है। साथ ही पौराणिक संदर्भों का विपुल मंथन प्रस्तुत किया गया है। इसमें एक-एक शब्द पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। जिस प्रकार एक धुनिया रूई के रेशे को धुन-धुनकर पृथक् कर देता है, उसी प्रकार सम्पादक ने प्रत्येक शब्दों की व्याख्या पूर्ववर्ती टीकाकारों के मतानुसार की है कि प्रत्येक शब्द अपना अर्थ स्वयं देने लगा है।

'मानस-पीयूष' एक छान-बीन करने वाली और खोजपूर्ण टीका है। गूढ़ार्थों को टिप्पणी आदि के द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'मानस-पीयूष' की भाषा के परिमार्जित न होने का कारण हिन्दी-ज्ञान का अभाव ही था। महात्मा जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसे फ़ारसी और अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान था। उन्होंने किसी का खंडन-मंडन न करने अपने तर्क को सविनय प्रस्तुत कर दिया है, जैसे कि 'दास का यह मत है' आदि। अत्यन्त परिश्रम के उपरान्त उन्होंने लगभग सात-आठ वर्षों में इस 'टीका' का निर्माण किया है। मानस और 'मानस-पीयूष' का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय का हो गया। जिस मानस-पाठक ने 'मानस-पीयूष' का अध्ययन नहीं किया, उसने मानस के विषय में कुछ नहीं अध्ययन किया।

मानस-मर्मज्ञों के विचार कालक्रम से न देने के कारण टीकाकारों के मौलिक विचारों को ज्ञात करने में बड़ी कठिनाई होती है, इसे सम्पादक जी ने स्वयं स्वीकार किया है। साथ ही उद्धरित उद्धरणों के संदर्भों के पृष्ठादि का अंकन न होने के कारण अनुसंधित्सुओं को अधिक कठिनाई का अनुभव होता है। संकलनात्मक शैली का विशेष अवलम्ब लेने के कारण संपादक के मौलिक विचारों का सूत्र ढूंढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा। पादटिप्पणियों में दिये गये पाठान्तर बड़े ही उपयोगी हैं।

---

१. अंजनीनंदनशरण, मा० पी०, अयो०, 'पीयूष-परिचय', पृ० ४२

विनय-पीयूष

'मानस-पीयूष' की तरह ही 'विनय-पीयूष' भी 'विनयपत्रिका' की बृहत्तम टीका है, यद्यपि इसमें 'मानस-पीयूष' की व्यापकता और महत्ता नहीं है। इसमें भी प्राचीन और अर्वाचीन प्रसिद्ध टीकाकारों के विशद भावान्तरों का विवेचन और संग्रह किया गया है। पदटिप्पणियों में दिये गये अर्थान्तर से तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय में बड़ी ही सहायता मिली है। प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति-लिपियों से सहायता लेकर संगत पाठ निश्चित करने का भी प्रयास किया गया है। पाठांतरों के उल्लेख से पाठ से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान में सहायता प्राप्त हुई है। शब्दों की व्युत्पत्ति, अन्तर्कथाएँ, कवि की दार्शनिक विचारधारा, काव्यशास्त्रीय तत्त्वों आदि का साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व है। 'विनय-पीयूष' के अतिरिक्त 'विनयपत्रिका' की ऐसी सर्वसिद्धान्त-समन्वित एवं मर्मोद्‌घाटिनी विशद टीका एवं व्याख्या नहीं प्राप्त होती। अन्य टीकाओं की अपेक्षा यह 'विनय' की एक सर्वांगपूर्ण टीका है। मानस-पीयूष और विनय-पीयूष को एक प्रकार का महाभाष्य कहा जा सकता है।

हनुमानबाहुक की 'पीयूष-वर्षिणी' टीका भी बाहुक की टीकाओं में प्रथम स्थान रखती है। इसकी व्याख्या-पद्धति संक्षिप्त एवं उक्त टीकाओं की भाँति ही है। अर्थान्तर और पाठान्तर से बाहुक की अर्थगत समस्याओं का निदान किया जा सकता है।

रामनरेश त्रिपाठी जी की मानस की टीका भी एक साहित्यिक टीका है। टीकाकार ने मानस की भूल से संगति रखने वाली मानस की अक्षरार्थमूलक टीका लिखी है। स्वामी अवधबिहारीदास जी ने भी 'मानस' की एक टीका लिखी है। स्वामी जी उत्तेजित विचार के थे। खंडन के समय उनकी उत्तेजना का आभास मिलता है। सही अर्थ की खोज में उन्होंने तर्क-पद्धति का अवलंब लिया है। उनका अर्थ कहीं-कहीं बहुत ही तर्कसंगत प्रतीत हुआ है। वे व्यासीय शैली से प्रभावित थे।

श्री लाला भगवान दीन—दीन जी ने मानस, विनयपत्रिका, कवितावली की टीकाएँ लिखी हैं। इसके अतिरिक्त 'तुलसी-पंचरत्न' नामक पुस्तक में नहछू, मंगलादि गोस्वामी जी ने लघुग्रन्थों की टीकायें लिखी हैं। मानस-पीयूष में भी दीन जी के अर्थों का उल्लेख मिलता है। दीन जी के अर्थ तर्कसंगत और साहित्यिक हैं। काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी यथास्थान उल्लेख किया है। आपके विद्वत्तापूर्ण अर्थों की शैली की छाया तुलसी-साहित्य के आधुनिक टीकाकारों पर देखी जा सकती है। दीन जी ने अर्थानुसंगति पर सर्वदा ध्यान रखा है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—त्रिपाठी जी ने मानस की टीका 'विजया टीका' नाम से तीन भागों में लिखी है। इनकी टीका में साहित्यिक एवं व्यासीय, दोनों प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। व्यासीय प्रणाली के आधार पर होते हुए भी इसमें अतिरंजना और चामत्कारिक प्रवृत्ति का पूर्णरूपेण प्रभाव है। जैसा कि टीकाकार ने स्वयं कहा है—"पाठक इसमें किसी चमत्कारिक अर्थ, अद्भुत भाव या विभिन्न कथानकों की आशा न करें। इसमें विशेषता इतनी ही है कि ग्रन्थ से ग्रन्थ लगाने की चेष्टा की गयी है। जहाँ आवश्यकता पड़ी है, वहाँ अन्य ग्रन्थों से भी प्रमाण उद्धृत किये गये हैं। जहाँ तक हो सका है, पूज्यपाद ग्रन्थकार के अनुसरण का भी प्रयत्न किया गया है। अर्थ करने में 'वाक्यों' की संगति का विशेष ध्यान रखा गया है।"[1]

संगत अर्थ के लिए शंका-समाधान भी किया गया है। अनावश्यक भाग-दौड़ एवं खींचतान से बचकर टीकाकार ने साहित्यिक अर्थ करने का प्रयास किया है। प्राकृत एवं संस्कृत का ज्ञान होने के कारण यत्र-तत्र प्राकृत के व्याकरण के आधार पर भी शंकाओं की निवृत्ति की है। अन्ततः यह एक साम्प्रदायिक टीका है। टीकाकार ने 'मानस' की व्याख्या शांकर वेदान्त के आधार पर की है।

पं० श्रीकान्तशरण जी—बैजनाथ जी के उपरान्त पं० श्रीकान्तशरण जी ही एक ऐसे टीकाकार हैं जिन्होंने गोस्वामी जी के समस्त प्रामाणिक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। पंडितजी की टीकाएँ 'सिद्धान्त-तिलक' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

मानस की टीका 'सिद्धान्त-तिलक' में मानस-पीयूष का विशेष अनुशरण लक्षित होता है। यत्र-तत्र मानस-पीयूष के भाव ज्यों-के-त्यों उद्धृत हैं। मानसेतर ग्रन्थों की टीकाओं पर भी पूर्ववर्ती टीकाकारों का प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है।

व्याख्या की दृष्टि से 'सिद्धान्त-तिलक' विशेष महत्त्वपूर्ण है। 'विशेष' में अन्य ग्रन्थों के उद्धरण देते हुए तुलनात्मक विशद व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। यत्र-तत्र पाठों पर भी विचार किया गया है। साथ ही काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी विवेचन मिलता है। विशिष्टाद्वैतपरक व्याख्या होने के कारण तुलसी-साहित्य की 'सिद्धान्त-तिलक' नामक टीकाएँ साम्प्रदायिक ही कही जायेंगी। किंचित् अपवादों को छोड़कर तुलसी-साहित्य का संगत अर्थ-विनिश्चय किया गया है।

---

१. विजया टीका, प्रस्तावना।

श्री वियोगी हरि—वियोगी हरि जी की 'हरितोषिणी' नामक विनयपत्रिका-टीका बहुत प्रसिद्ध है। पद के भीतर आए हुए प्रसंगों की विशेष व्याख्या टिप्पणियों में ही की है। अन्य टीकाकारों से मतभेद के कारण भी टिप्पणियों में ही हैं। टीकाकारों की त्रुटियों को स्पष्ट करते हुए संगत अर्थ निश्चित करने का प्रयास किया है। तर्क-पद्धति के सहारे से कहीं-कहीं बहुत ही सटीक अर्थ किया है। विनयपत्रिका की टीकाओं में इसका साहित्यिक महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

श्री देवनारायण द्विवेदी—द्विवेदी जी ने 'देवदीपिका' नाम की मानस और विनयपत्रिका की टीका और कवितावली, बाहुक की टीकाएँ लिखी हैं। अपने पूर्ववर्ती टीकाकार वियोगी हरि जी की विनयपत्रिका की टीका का सतर्क खंडन करते हुए आपने तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास किया है। साहित्यिक दृष्टि से भी आपकी टीका का महत्त्व उल्लेखनीय है।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी—अवस्थी जी ने 'तुलसी के चार दल' नामक 'दूसरी पुस्तक' में नहछू, बरवै, पार्वती और जानकी मंगल पर टीका लिखी है। साथ ही आलोचनात्मक टिप्पणियाँ देकर काव्यात्मक सौन्दर्य का तुलनात्मक विशद विश्लेषण किया है। अर्थ की दृष्टि से आपने गोस्वामी जी के उक्त लघु ग्रन्थों के संगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास किया है। यत्र-तत्र अलंकार आदि काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी निर्देश किया है।

उक्त टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य अनेक टीकाकार हैं जिन्होंने तुलसी-साहित्य की व्याख्या की है। यद्यपि वे धार्मिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि उनमें यत्र-तत्र काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी विवेचन हुआ है। गीता प्रेस की टीकाएँ मूलानुगामिनी ही हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से अर्थ अधिकांशतः संगत ही हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'जे गावहिं यह चरित सँभारे' की उक्ति को चरितार्थ का प्रयास इन्हीं कतिपय टीकाकारों के द्वारा हुआ है।

तर्कसंगत अर्थ—विनिश्चय के सम्बन्ध में कोई स्वतंत्र शोध-प्रबन्ध नहीं लिखा गया है। मात्र 'तुलसी के भक्त्यात्मक गीत' नामक शोधप्रबन्ध में डॉ० वचनदेवकुमार ने तुलसी के गीत-ग्रन्थों—विनयपत्रिका, गीतावली और श्रीकृष्ण-गीतावली के कतिपय टीकाकारों के अर्थों को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करके संक्षेप में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि तुलसी के गीत-ग्रन्थों के टीकाकारों ने कहीं शब्द, कहीं पूरे चरण और कहीं पूरे पद के अशुद्ध अर्थ उपस्थित कर पाठकों के काव्यास्वाद में विघ्न उपस्थित किया है।[1] इसमें उनकी कोई

१. डॉ० वचनदेवकुमार, तुलसी के भक्त्यात्मक गीत, पृ० ११८-४८

मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रायः लेखक ने असंगतियाँ बताते हुए किसी टीकाकार के अर्थों को स्वीकार कर लिया है। इससे अर्थ-समस्याओं का निदान नहीं, अपितु सूचना मिलती है।

समीक्षकों द्वारा

श्रीरामदास गौड़ ने 'रामचरितमानस की भूमिका' नामक ग्रन्थ में मानस के कतिपय विवादास्पद स्थलों पर अर्थ की दृष्टि से विचार किया है। गौड़ जी के अनेकानेक भाव मानस-पीयूष में भी मिलते हैं। उन्होंने समग्रतः वैज्ञानिक अर्थ-विनिश्चय का प्रयास किया है। उनके तर्कसंगत अर्थ-निश्चय को उक्त दोनों ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

श्री रामनरेश त्रिपाठी जी ने 'तुलसीदास और उनकी कविता' के दूसरे भाग में मानस के कतिपय श्लिष्ट और कौतूहल में डालने वाले शब्दों के संगत अर्थ देने का प्रयास किया है। वे शब्द हैं भरनी, छत्रबंधु, पतंग, सोना, कूट, भूमिनाग, चाकी, घृनी और किन आदि।[1]

डॉ० शिवनाथ ने 'हिन्दी भाषा का अर्थ-तात्त्विक विकास' नामक पुस्तक में गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त कतिपय शब्दों का इतिहास प्रस्तुत किया है। यद्यपि उनकी दृष्टि भाषाविज्ञान के अर्थविज्ञान पर थी, किन्तु इससे शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ भी स्पष्ट हुए हैं।

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' ने 'रामचरितमानस : वाग्वैभव' नामक पुस्तक में मानस के कतिपय कूट और कूटोन्मुखी शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके तर्क-संगत अर्थ-निश्चय का प्रयास किया है।

आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

आचार्य मिश्र एक वरिष्ठ, महत्त्वपूर्ण समीक्षक और मानस के अर्थविशेषज्ञ हैं जो केवल समीक्षा और अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् सम्पादन एवं पाठभेद के संशोधन के गहनतम कार्य में भी कुशल हैं। आचार्य मिश्र ने 'गोसाईं तुलसीदास' नामक समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखा है। इसमें उन्होंने 'मानस-बिन्दु' नामक शीर्षक में मानस के कतिपय प्रमुख भ्रामक पाठ और अर्थ-समस्याओं को प्रस्तुत करके उसे स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। आपके द्वारा निश्चित किया हुआ अर्थ साहित्यिक और तर्कसंगत है। यत्र-तत्र बुद्धियोग अधिक होने के कारण अर्थ असंगत भी हो गये हैं। जैसे 'मासदिवस'[2]

---

१. श्री रामनरेश त्रिपाठी, तुलसीदास और उनकी कविता, दूसरा भाग, पृ० ३४२-४३

२. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गोसाईं तुलसीदास, पृ० १५२-५३

आदि का अर्थ। मिश्र जी के तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहिं उपचरा न थोरा।

—मानस २।२२८।७

इस अर्धाली के 'उपचरा' शब्द को टीकाकारों ने 'उपचार' मानकर उसका अर्थ 'उपाय' किया है, अर्थात् भरत ने हमारे साथ कम उपाय नहीं किया (मारने का)। पर उसका यह अर्थ वहाँ नहीं बैठता। यदि यही अर्थ लिया जाय तो मानना पड़ेगा कि उस 'चरण' में 'न्यूनपदत्व' दोष है। उस चरण में कोई क्रिया नहीं है जो 'उपचार' के साथ लगाई जाय। भरत ने हमको (हमारे लिए) थोड़ा उपाय न किया, यह शाब्दिक अर्थ हो गया, पर पता नहीं लगता कि क्या 'उपाय' थोड़ा नहीं किया। अतएव यह अर्थ वहाँ है ही नहीं। उक्त चरण में 'उपचरा' होना उचित है। टीकाकारों ने 'उपचरा' को न समझकर तुरंत उसका 'उपचार' कर दिया। समझा होगा कि भ्रम से 'चा' का आकार 'र' में लग गया है। 'उपचरा' शब्द संस्कृत उपचरण से बना है और इसका अर्थ है—'कुव्यवहार किया।' उपचरा वैसे ही है जैसे आनदेना।

तब मयना हिमवंतु अनन्दे। पुनि-पुनि पारबती पद बंदे॥

—मानस १।६६।१

अतः उक्त चरण का अर्थ होगा—भरत ने हमारे साथ कम कुव्यवहार नहीं किया।[1] स्पष्ट है कि कुशल पाठ-संपादक होने के कारण मिश्र जी ने पाठ और अर्थ, दोनों तर्कपूर्ण प्रणाली से निश्चित किये हैं। यत्र-तत्र आपके अर्थ-विनिश्चय पर स्वर्गीय लाला भगवान दीन जी की शैली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

इसके अतिरिक्त 'उत्तर-प्रदेश' और 'सरस्वती' नामक पत्रिकाओं में भी 'मानस' की अर्थगत समस्याओं के निदान-विषयक लेख पढ़ने को मिले हैं। 'वीणा' में भी मिश्र जी के लेख धारावाहिक रूप से निकलते रहते हैं। 'कल्याण' के मानसांक में जयरामदास दीन और श्री हरिहरनाथ हुक्कू के लेख भी अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। हुक्कू जी ने मानस के अर्थ मानस के शब्दों से निकालने का निर्देश 'श्रीरामचरितमानस की काव्यकला' नामक पुस्तक में किया है, वह भी अर्थ-विषयक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। तुलसी-साहित्य के अपूर्व साधक मानस तत्त्वान्वेषी पं० रामकुमार दास ने तर्कपूर्ण पद्धति

---

१. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७६-८०

से 'मानसमणि' आदि पत्रिकाओं एवं अपनी लघु पुस्तकों में तुलसी-साहित्य के तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का सफल प्रयास किया है। 'मानस-पीयूष' में भी आपके द्वारा किये हुए अर्थ साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त छिटपुट एतद्‌विषयक अनेक प्रयास अन्य लोगों ने भी किये हैं, किन्तु वे यहाँ उल्लेखनीय नहीं प्रतीत होते।

अर्थगत पूर्ववर्ती कार्य की अपर्याप्तता और प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की आवश्यकता

उपर्युक्त पूर्ववर्ती प्रयास से परिचित हो जाने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान' शीर्षक से कोई भी कृति नहीं लिखी गई है। तुलसी-साहित्य के टीकाकारों द्वारा किया गया प्रयास भी पर्याप्त नहीं है। तुलसी-साहित्य के समस्यापूर्ण स्थलों पर टीकाकारों ने भावार्थ कहकर या शब्दों को ज्यों-का-त्यों रखकर छोड़ दिया है। उनकी तर्कसंगत व्युत्पत्ति आदि खोजने का प्रयत्न नहीं किया है। टीकाओं में मत-वैभिन्न्य भी बहुत है। शब्दों के मनोनुकूल अनेक अर्थ किये गये हैं। जहाँ अर्थलोभ में कठिनता प्रतीत हुई, वहाँ पाठ में परिवर्तन कर दिया गया है। कोशों में शब्दों का अर्थ कुछ दिया है, तो टीकाकारों ने कुछ अन्य ही किया है।

कुछ टीकाएँ साम्प्रदायिकता के भार से दबी हुई हैं। प्राचीन टीकाकार बैजनाथ जी ने रामानन्दीय दर्शन विशिष्टाद्वैत के आधार पर तुलसी-साहित्य की व्याख्या की है। 'सिद्धान्त-तिलक' श्रीकांतशरण जी ने भी विशिष्टाद्वैत के आधार पर लिखा है। 'विजया टीका' विजयानंद त्रिपाठी जी ने शांकर वेदांत से प्रभावित होकर लिखी है। तात्पर्य यह है कि तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास जिन कतिपय टीकाओं में हुआ है, उनमें साम्प्रदायिक पक्षपात की भी मोहर लगी हुई है। किसी-किसी में तो केवल अलंकारों की ही छटा दिखाई पड़ती है। कुछ प्राचीन टीकाकारों की भाषा **ऐसी अनगढ़ और लद्दड़ है कि मूल चाहे समझ में आ जाय, पर टीका की उलझन से निकलना कठिन है।**

मानस-पीयूष, विनय-पीयूष टीकाएँ अच्छी हैं, किन्तु संत-हृदय होने के कारण इन टीकाओं के सम्पादक ने खंडन-मंडन आदि की तार्किक प्रणाली का आश्रय नहीं लिया है। अतः इनमें तर्कसंगत अर्थ-निश्चय करने की सामग्री ही उपलब्ध होती है। तर्कसंगत अर्थ पूर्णरूपेण निश्चित नहीं किया गया है। प्रायः अधिकांश टीकाएँ पूर्ववर्ती टीकाओं से पूर्णरीत्या प्रभावित हैं। 'रामचरित-मानस' और कुछ सीमा तक 'विनयपत्रिका' के अतिरिक्त तुलसी-साहित्य के अन्य ग्रन्थों की व्याख्याएँ नहीं हुई हैं। जो प्राप्त भी होती हैं, वे अधिकांशतः अक्षरार्थ-

मूलक हैं। तुलसी-साहित्य के विभिन्न पदों के अनेक अर्थ, उन्हें तोड़-मरोड़ कर या क्लिष्ट कल्पना के सहारे सर्वथा अवैज्ञानिक एवं असाधु रीति से किये गये हैं। तुलसी-साहित्य की एक भी ऐसी टीका नहीं है जिसमें साहित्य के केन्द्र-विन्दु से तर्कसंगत अर्थ-विनिश्चय का प्रयास किया गया है।

टीकाकारों के अतिरिक्त समीक्षकों के द्वारा लिखी गयी कोई भी ऐसी कृति नहीं मिलती जिनमें गोस्वामी जी के साहित्य की अर्थगत समस्याओं पर पूर्णरूप से विचार प्रस्तुत किया गया हो। कतिपय ग्रन्थ जो प्राप्त हुए हैं, उनमें आनुषंगिक ढंग से ही विचार किया गया है क्योंकि उन ग्रन्थों का प्रमुख विवेच्य विषय कुछ अन्य ही रहा है। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का एक ग्रन्थ 'गोसाईं तुलसीदास' प्राप्त हुआ है जिसमें मात्र 'मानस' की कतिपय प्रमुख अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास वैज्ञानिक एवं साहित्यिक प्रणाली से किया गया है। यत्र-तत्र किंचित् अपवादों को छोड़कर शेष तर्कसंगत अर्थ ही निश्चित किये गये हैं। यद्यपि इसमें भारतीय आचार्यों के अर्थ-निश्चय के साधनों का आश्रय नहीं लिया गया है, किन्तु वे अर्थ इन सिद्धान्तों के आधार पर ही हैं।

अस्तु, इन्हीं सब दृष्टियों से पूर्ववर्ती प्रयास की अपर्याप्तता के फलस्वरूप तुलसी-साहित्य की अर्थगत-समस्याओं के निदान पर स्वतंत्र शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। अतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान' विषय पर तुलसी की समस्त प्रामाणिक कृतियों को ध्यान में रखकर तुलसी-साहित्य के तर्कसंगत अर्थ-अन्वेषण का प्रयास किया गया है।

तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ और उनका वर्गीकरण—'समस्या' शब्द 'सम+अस+क्यप्+टाप' से बना है और संस्कृत में इसका अर्थ है—पूर्ण करने के लिए दिया जाने वाला छंद का चरण, कविता का वह भाग जो पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जाय।[1] डॉ० केशवराम पाल लिखते हैं कि—'समस्या' शब्द का मौलिक अर्थ है—मिलाने की क्रिया।....'समस्या' शब्द का 'कठिन विषय या प्रसंग' अर्थ इस शब्द के 'किसी श्लोक या छन्द का वह अन्तिम पद या चरण जो पूरा श्लोक या छन्द बनाने के लिए दूसरों को दिया जाये' अर्थ से विकसित हुआ है। किसी श्लोक या छन्द का उसके एक पद या चरण या चरणांश के आधार पर पूरा करना कठिन कार्य होता है। उसके लिए बहुत सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है। 'समस्या-पूर्ति' के कठिन होने के सादृश्य

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०७५

से किसी भी 'कठिन विषय या प्रसंग' को पहले आलंकारिक रूप में 'समस्या' कहा गया होगा। बाद में आलंकारिक भाव लुप्त हो जाने पर 'कठिन विषय या प्रसंग' ही 'समस्या' शब्द का सामान्य अर्थ समझा जाने लगा।'[१] 'मानक हिन्दी कोश' में इसका एक अर्थ इस प्रकार दिया है—'उलझन वाली ऐसी विचारणीय बात जिसका निराकरण सहज में न हो सकता हो। कठिन या विकट प्रसंग—प्राब्लेम।'[२] तुलसी-साहित्य के संदर्भ में यहाँ अर्थ-समस्याओं से मेरा अभिप्राय है—तुलसी-साहित्य के ऐसे विवादास्पद स्थल जो अर्थ की दृष्टि से कठिन हैं अथवा जिनसे उलझनें उत्पन्न होती या हो सकती हैं।

तुलसी-साहित्य के, विशेषतः मानस के, टीकाकारों में चमत्कार-प्रदर्शन की साहित्यिक प्रवृत्ति की ही प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है। पांडित्य-प्रदर्शन में अनेक नवीन कल्पनाएँ की गई हैं और छोटे-छोटे पदों तथा शब्दों को तोड़-मरोड़ कर उनका ऐसा अभिप्राय निकाला गया है जिसकी ओर कवि का ध्यान शायद ही गया होगा। कथावाचकीय शैली में जो व्यवस्था मानस या मानसेतर साहित्य की की जाती है, उसमें अर्थ-वैचित्र्य एवं कौतूहलोत्पादक कल्पनाओं की छाया ही विपुल रूप में प्राप्त होती है। यह सत्य है कि कवि के शब्द-प्रयोग की मार्मिकता का जो विविध प्रकार से उनमें आकलन किया गया है, उससे तुलसी के भावजगत् का भी स्पर्श हुआ है। साथ ही जनता की अभिरुचि भी तुलसी-साहित्य के प्रति उन्मुख हुई है। यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि 'कला को जीवन-यापन' मानने के कारण कथावाचकों की व्यापारिक विवशता ने अनर्थ भी लोकानुरंजन के नाम से कम नहीं किया। कहीं-कहीं लोकानुरंजकता के कारण कंचन-किंकर एवं ज्ञान-पुण्य वणिकों द्वारा कवि के वास्तविक भावों पर इतना मोटा परदा डाल दिया जाता है कि चौपाई कुछ की कुछ हो जाती है। ऐसे व्यासों की कथाओं को सुनकर जनता झूम उठती है।[३] व्यासीय टीकाकारों की भाषा में 'जो है सो', 'भया' आदि तकिया-कलाम प्रयोगों का भी बाहुल्य मिलता है।

---

१. हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थ-परिवर्तन, पृ० १४९-५०

२. दे० पाँचवाँ खंड, पृ० २८३

३. ऐसे कथावाचक लोग रुपये का निर्धारण करके मानस की कथाएँ सुनाते हैं। आजकल उनकी संख्या अगणित है। उदाहरणस्वरूप चित्रकूट के एक 'वत्स जी' रामायणी के नाम के प्रसिद्ध हैं। सन् १९७३ में एक बार उन्होंने एक यज्ञ-संचालक जी से एक या डेढ़ घंटे के लिए एक सौ एक रुपये की याचना की थी। संचालक जी के हाथ से मुझे उनके पत्र को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। रामायणी जी की विशेषता है कि संगीत के आधार पर मानस का प्रवचन करते हैं।

तुलसी-साहित्य का भक्तिपरक अर्थ करने वालों ने बाल की खाल खींचने का प्रयत्न करने में बड़ी कुशलता दिखलाई है, इससे भी कहीं-कहीं कवि के भावों का रंग धूमिल हो गया है। 'संत उन्मनी टीका' के टीकाकार संत श्री गुरुसहाय लाल ने व्याख्येय पदों के संस्कृत साहित्य के विविध पौराणिक ग्रन्थों के आधार पर अनेक चमत्कारपूर्ण अर्थ निकाले हैं। कहीं-कहीं तो इन अर्थों की संख्या ८० तक पहुँच गई है। ऐसा अर्थ करने में मानस के विविध पदों को तोड़ना-मरोड़ना पड़ा है। इसी प्रकार कहीं-कहीं कतिपय अन्य टीकाकारों ने भी व्याख्येय छंद के पाँच-पाँच, नौ-नौ एवं बारह-बारह अर्थ किये हैं।

कुछ रामानन्य महानुभाव 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ' (मानस १, मं० श्लो० १) के 'वाणी' का सरस्वती अर्थ न करके 'श्री सीता जी' ऐसा अर्थ करते हैं और 'विनायक' का अर्थ 'श्री रघुनाथ जी' करते हैं।[1] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में—और आगे बढ़ने पर तो आश्चर्य का समय सामने आ जाता है। किष्किधाकांड के आरंभ के दो सोरठों का अर्थ रामपरक किया गया है। यह चमत्कार-परंपरा पुरानी है। 'रामचरितमानस' को जो लोग पहेली-बुझौवल बनाना चाहते हैं और लालबुझक्कड़ों की श्रेणी में अपना नाम लिखाते हुए जनता को रहस्योद्घाटन से चकित करना चाहते हैं, वे कैसे-कैसे अर्थ किया करते हैं, इनकी बानगी के लिए देखिए—

मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानिकर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइय कस न॥ (३।१-२)

इस सोरठे का 'सीधा' अर्थ काशी की महिमा है। पर राम के पक्ष में लगाने के लिए महि (पृथ्वी) के टुकड़े करके 'म' अर्थ 'राम' नाम का 'म' अक्षर लिया गया और 'हि' का अर्थ 'का ही' किया गया। 'हानिकर' में से 'हानिक' और 'र' पद निकाल लिये गये। 'हानिक' का अर्थ 'हानि करने वाला' और 'र' का 'रा' अक्षर लिया गया। 'सो कासी' दो पद थे, पर इस अर्थ की सिद्धि के लिए दोनों का गठबन्धन हो गया और फिर 'सोकासी' से 'शोक के लिए असि' (तलवार) निकल पड़ी।

एक कृष्णोपासक प्रतिभासम्पन्न बाबा जी समूचे 'रामचरितमानस' को 'श्यामचरित' कहते थे और इसी प्रकार शब्दों को इधर-उधर जोड़कर बड़े मजे में 'कृष्णपरक' अर्थ निकाल देते थे। उन्होंने 'कुंभकरन्ह आवत रनधीरा' का अर्थ किया था—'(होली खेलने के) रण में धीरा (राधिका जी श्रीकृष्ण के ऊपर

---

१. मा० पी०, बाल०, खं० १, पृ० १०

डालने के लिए) करन्ह (करों में, हाथों में लाल रंग से भरा घड़ा) लिये चली आ रही हैं।' यही नहीं; 'अवधपति' का अर्थ 'अवधि (सीमा) का पति' लिया है, अर्थात् राम के परे कुछ नहीं है, वे ब्रह्मांड की सीमा के सिरे पर हैं। इसी प्रकार की 'ब्रह्मलीला' सारी पुस्तक में भरी पड़ी है।[१] इसे तुलसीदास की चौपाई का अर्थ समझा जाय या अनर्थ। बुद्धियोग अधिक होने के कारण कहीं-कहीं बहुत अनर्थ हो गया है। इस सम्बन्ध में श्री रामनरेश त्रिपाठी का कथन सत्य है—"टीकाकारों ने भी तुलसीदास के एक-एक शब्द को कानून की तरह उसका ऐसा विकृत रूप दे दिया है कि उसमें कवि का प्राण ही नहीं रह गया है। कविता न कानून है, न इतिहास है, वह तो केवल कविता है। वह बुद्धि की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। अतएव किसी कवि को हृदय की आँख से देखना चाहिए, न कि बुद्धि की। तुलसीदास की कविता में एक-एक शब्द की कानून की तरह लम्बी-लम्बी व्याख्याएँ देखकर कहना पड़ता है कि टीकाकारों ने तुलसीदास को कोल्हू में खूब पेरा है। तुलसीदास ने सर्वसाधारण के लाभ के लिए बहुत ही सरल भाषा में अपने भाव प्रकट किये थे, टीकाकारों ने उस पर अपनी विद्वत्ता की कलई चढ़ाकर उसे दुरूह बना दिया है।"[२] वास्तव में वही अर्थ तर्कसंगत है जिसमें ग्रन्थ का स्वारस्य बना रहे।

भांजा, अँक, भटभेरे, धुकि और घैया आदि ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ टीकाकारों ने खूब ताड़-मरोड़ करके किये हैं। इसी प्रकार फराक, बिलंद, कागर और रवा आदि शब्दों के असंगत अर्थ किये हैं। ऐसे शब्दों को अप्रचलित शब्द कहा गया है।

पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने कहा कि—"जिस रामायण में क्षेपक नहीं होती, उसको बहुत ही कम मनुष्य लेना अंगीकार करते हैं।"[३] इससे टीकाकार के पाठ की विशुद्धता का अनुमान हो जाता है। मानस और मानसेतर ग्रन्थों के कुछ ऐसे पाठ सनातन से चले आ रहे हैं जो भ्रामक हैं। ऐसे भ्रामक पाठों से भी अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

कहीं-कहीं टीकाकारों ने शाब्दिक अर्थ में उलट-फेर कर दिये हैं, तो कहीं वाक्यों के अर्थ क्लिष्ट, कल्पनायुक्त हैं और कहीं-कहीं पूरे पद के अर्थ में विपर्यय हो गया है। किसी शब्द का अर्थ कुछ है, तो उसका स्वरूप कुछ अन्य ही कर दिया गया है।

---

१. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २०१-२

२. टीका० रामनरेश त्रिपाठी, रामचरितमानस, पृ० ५

३. दे० रामायण, भूमिका, पृ० १

अनेकार्थी शब्दों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न किये गये हैं। किसी ने 'बसन' शब्द का अर्थ बसेगी नहीं, स्वामी, पति और करधनी किया है, तो किसी ने वस्त्र। 'भरनी' का अर्थ कोई भरणी नक्षत्र, गारुड़ी मंत्र, पक्षी-विशेष करते हैं, तो कोई मोरनी। इसी प्रकार पतंग, हीर, कूट और सिखी आदि शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं।

तुलसी-साहित्य के टीकाकारों ने मुहावरों एवं लोकोक्तियों के अर्थ करने में भी बड़ी गड़बड़ी की है। कहीं-कहीं मुहावरों एवं लोकोक्तियों को न समझकर अभिधेयार्थ की अभिव्यक्ति में पूरी शक्ति लगा दी है।

टीकाकारों ने कहीं-कहीं पांडित्य के बल पर विशेष चमत्कारपूर्ण, कौतूहलोत्पादक और मनोरंजक अर्थ निकाला है। महान् आश्चर्य तो उस समय होता है जब व्याख्येय पदों को तोड़-मरोड़ कर और वर्णविन्यास-चातुरी से अनेकानेक अर्थों की उद्‌भावना करते हैं। श्री बाबूराम शुक्ल ऐसे ही टीकाकार हैं जिन्होंने मानस की एक अर्धाली के पदों के अनेक अर्थ एवं मूल वाक्य का बहुविध अन्वय करके लक्षाश: अर्थों का सृजन किया है। टीकाकार ने अपनी प्रतिभा का विनियोग कल्पनाओं से युक्त कौतूहलोत्पक अर्थ-रचना में ही किया है। ऐसे अर्थों को आरोपित अर्थ कहा जा सकता है। तुलसी-साहित्य में यत्र-तत्र कूटोन्मुखी एवं कूट शब्दों का भी योग हुआ है। ऐसे शब्दों के अर्थ करने में टीकाकारों ने क्लिष्ट कल्पना द्वारा अर्थ करने की प्रक्रिया का खूब सहारा लिया है। पूर्वापर प्रसंग पर ध्यान न देने के कारण तुलसी-साहित्य के टीकाकारों ने कहीं-कहीं असंगत अन्वय करके अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं गूढ़ स्थलों की व्याख्या न करके सामान्य पाठक को बड़ी उलझन में डाल दिया है। अत: गूढ़ार्थ की अस्पष्टता के कारण भी अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। गद्यगत शब्द-व्यवस्था की तरह छन्द में शब्द-व्यवस्था नहीं रहती, क्योंकि इसमें गेयता की प्रधानता होती है। संगीतात्मकता के फलस्वरूप कहीं-कहीं मात्राओं को घटाना-बढ़ाना पड़ता है। छन्दानुरोध के फलस्वरूप भी अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कहीं-कहीं शब्दों का भी निर्माण करना पड़ता है। इस रहस्य को न समझने के कारण अनेक समीक्षकों में गोस्वामी जी पर दोषारोपण किया है।

उपर्युक्त समस्याओं को ध्यान में रखते हुए तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याओं को निम्नलिखित ६ भागों में वर्गीकृत कर दिया गया है—

(१) अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान।

(२) पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान ।

(३) अर्थ-विपर्यय के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान ।

(४) अनेकार्थी शब्दों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान।

(५) मुहावरों एवं लोकोक्तियों की अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान ।

(६) आरोपित अर्थों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएं और उनका निदान।

(७) कूटोन्मुखी शब्द एवं कूट प्रयोगों से उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान ।

(८) अन्वय-भेद एवं गूढ़ार्थ से उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान ।

(९) छंदानुरोध के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान ।

इन अर्थ-समस्याओं का निदान क्रमशः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अध्याय ३,४, ५, ६, ७, ८, ९, १० और ११ में किया गया है ।

भारतीय आचार्यों के अर्थ-विनिश्चय के साधनों के आधार पर तुलसी-साहित्य का अर्थ-विनिश्चय—भारतीय वैयाकरणों और मीमांसकों ने जितनी सूक्ष्मता और विस्तार के साथ अर्थ का जितना परीक्षण किया है, उतना अभी पश्चिमी साहित्य में नहीं हो पाया । फिर भारतीय महाकवियों के साहित्य का अर्थ-विनिश्चय भारतीय आचार्यों के अर्थ-विनिश्चय के साधनों की कसौटी के आधार पर ही करना न्यायसंगत है । हर्मन पाउल, आदि पश्चिमी आचार्यों द्वारा कथित अर्थ-निश्चय के साधनों का अन्तर्भाव भर्तृहरि आदि भारतीय आचार्यों द्वारा कथित अर्थ-निश्चय के साधनों में हो जाता है । अतः भारतीय साहित्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों का व्यापक और पाश्चात्य-शास्त्रियों का किंचित् उपयोग किया गया है । पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास श्री कन्हैयालाल सिंह की पुस्तक 'पाठ-संपादन के सिद्धान्त' में दिये हुए प्रमुख पाठ-चयन के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है ।

भर्तृहरि आदि भारतीय आचार्यों ने अर्थ-निश्चय के लगभग २६ साधनों का उल्लेख किया है । वे हैं—

१. संयोग, २. विप्रयोग, ३. साहचर्य, ४. विरोधिता, ५. अर्थ, ६. प्रकरण, ७. लिंग, ८. अन्य शब्द का सान्निध्य, ९. सामर्थ्य, १०. औचित्य, ११. देश, १२. काल, १३. व्यक्ति, १४. स्वर, १५. सत्व-षत्व, १६, णत्व-नत्व, १७. अभिनय, १८. वाक्य, १९. वक्ता की भावना, २०. अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय, २१. अन्वय-व्यतिरेक, २२. व्याख्यान, २३. ज्ञानरूप (बौद्ध) प्रकरण, २४. सामान्य ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान, २५. शब्दाध्याहार, २६. युक्तिसंगतता ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इन्हीं अर्थ-निश्चय के साधनों के आधार पर तुलसी-

साहित्य की अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है। संदिग्ध स्थलों पर ही इन साधनों का उपयोग किया गया है। पतंजलि ने भी कहा है कि संदिग्ध स्थलों पर ही नियम की आवश्यकता होती है। जहाँ पर अर्थ असंदिग्ध है, वहाँ पर नियम की आवश्यकता नहीं होगी।[१] उदाहरणार्थ, गीतावली की एक पंक्ति प्रस्तुत है—

गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो तब हिय हरषाने जाने सेष-सयन।[२]

बैजनाथ जी ने 'शेष' का अर्थ 'बाकी' और 'सयन' का अर्थ संकेत किया है।[३] किन्तु 'साहचर्य' अर्थ-निश्चय के साधन से यहाँ 'शेष-सयन' का अर्थ 'शेषशायी भगवान् विष्णु' होगा, क्योंकि शेषनाग और भगवान् विष्णु का साहचर्य देखा गया है। श्रीमन्नारायण को शेषशायी कहा भी जाता है। ऐसे ही अन्य साधनों के आधार पर भी अर्थ-विनिश्चय किये गये हैं।

---

१. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ० १५७

२. गीता-५१, गीता प्रेस संस्करण।

३. दे० गीता, पृ० ११८-१९

३

अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न अर्थ-समस्याएं और उनका निदान

प्रस्तुत अध्याय में ऐसे शब्दों की अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है जो सम्प्रति प्रयोग या व्यवहार में नहीं आते हैं। चलनसार न होने के कारण ऐसे शब्दों को अप्रचलित (अनकरेंट) शब्द कहा गया है। ऐसे अप्रचलित शब्द मुझे ठेठ, तद्भव और विदेशी रूपों में प्राप्त हुए हैं। नितान्त असाहित्यिक, साधारण बोलचाल के शब्द जिसमें दूसरी भाषा का मिश्रण न हो, ठेठ शब्द हैं। उदाहरणार्थ—माँजा, अैक, भटभेरे, धुकि और घैया आदि। संस्कृत या अन्य किसी भाषा का वह शब्द किसका स्वरूप परवर्ती या अन्य किसी भाषा में कुछ परिर्वातित हो गया है, तद्भव शब्द है। यथा—नाठी, सौंघाई, निबेही, धारि, उबैने आदि।

दूसरे देश के अरबी-फारसी के शब्द विदेशी शब्द हैं। यथा—फराक, बिलंद, कागर और रवा आदि। अप्रचलित होने के कारण ऐसे शब्दों के अर्थ टीकाकारों ने खूब तोड़-मरोड़ कर क्लिष्ट कल्पना करके मनोनुकूल किये हैं। ठेठ और तद्भव शब्द मानस, विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, बाहुक, श्रीकृष्ण गीतावली, नहछू, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल में मुख्यतया प्राप्त हुए हैं। विदेशी शब्द मानस, विनयपत्रिका, कवितावली, बाहुक, दोहावली, वैराग्य-संदीपनी और नहछू में प्रमुख रूप से प्राप्त हुए हैं। इस अध्याय में उक्त ग्रन्थों के क्रम से ही ठेठ और तद्भव शब्द एवं विदेशी शब्दों पर विचार किया गया है। सूची में मानसादि ग्रन्थों के आगे जो शब्द निर्दिष्ट किये गये हैं, वे इतर ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुए हैं। ग्रन्थ-विशेष के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए इतर ग्रन्थों के प्रयोग का भी आवश्यकतानुसार संदर्भ दे दिया गया है।

ठेठ और तद्भव शब्द

'अवरेब'

धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती।[1]

उक्त अर्धाली के 'अवरेब' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर

१. मानस १।३७।८

मत-वैभिन्न्य है। प्राचीन टीकाकार श्री रामचरणदास के अनुसार—अवरेब काको कही जो अक्षर उलटि के अर्थ सिद्ध होइ।[1] श्री हरिहरप्रसाद के अनुसार—कछु मिलाये से बात बनै नाहीं तो न बनै सो अवरेब।[2] श्री बैजनाथ जी लिखते हैं कि 'अवरेब' वह है जहाँ दूषण भी किसी कारण से भूषण हो जाता है।...शब्द अवरेब वह है जिसमें आदि-अन्त के शब्द मिलाकर अर्थ करना होता है।[3] प्राचीन टीकाकारों की ही भाँति अर्थ करते हुए श्रीकांतशरण जी लिखते हैं कि—'अवरेब' तिरछी या टेढ़ी चाल, अर्थात् जिसमें शब्दों का उलट-फेर हो। (अन्वय करने पर ठीक अर्थ निकले। यथा—'रामकथा कलि पन्नग भरनी' (दो० ३०)। इसमें 'भरनी' को उलट कर रामकथा के साथ लगाना पड़ता है। एवं—'राम कथा कलि बिटप कुठारी' (दो० ३०) तथा 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥' (कि० दो० १), इसमें 'इहाँ' को 'खोजत' के साथ लगाना चाहिए।[4] एफ० एस० ग्राउस महोदय इसका अर्थ 'इनवलूशन्स' (Involutions) (उलझन, जटिलता) करते हैं।[5] श्री सूर्यप्रसाद मिश्र के मतानुसार—'अवरेव' (अवर+इव) का अर्थ है—अधम काव्य के समान।[6] श्री सुधाकर द्विवेदी के अनुसार—यह फारसी शब्द है जिसका अर्थ 'टेढ़ा' या 'फेर-फार' है।[7] श्री विजयानंद त्रिपाठी के अनुसार—अवर+इव=अवरेव। अवर के ऐसा होना, अर्थात् उत्तम न होना। जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्तम नहीं होता, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं, उसे ही यहाँ 'अवरेब' कहा है। काव्य के दो भेद होते हैं—(१) ध्वनि, (२) गुणीभूत व्यंग्य। अतः 'अवरेब' से यहाँ गुणीभूत व्यंग्य अभिप्रेत है।[8] कुछ लोग 'अवरेव' का अर्थ पर्य्यायोक्ति अलंकार करते हैं, तो कतिपय विद्वान् लक्षणावृत्ति।[9] श्री जानकीशरण ने इसका अर्थ व्यंजना[10] और श्री शुकदेवलाल ने पुण्यार्थ और

---

१. रामा०, पृ० १०९
२. रा० परि० परिशिष्ट, प्र०, पृ० ४४
३. दे० मा० पी०, प्र० भा०, बाल०, पृ० ५५५
४. मानस सि० ति०, पृ० २०८
५. द रामायन आव् तुलसीदास, पृ० २४
६. दे० मा० पी०, प्र० भा०, बाल०, पृ० ५५५-५६
७. वही, पृ० ५५६
८. वि० टी०, प्र० भा०, बाल०, पृ० ९७
९. दे० मा० पी०, प्र० भा०, बाल०, पृ० ५५६-५७
१०. मानस मा० प्र० सं०, २७२

व्यंग्यार्थ किया है ।[1] तुलसी-ग्रन्थावली प्रथम खण्ड के सम्पादक[2], श्री हनुमान-प्रसाद पोद्दार[3] और श्री रामनरेश त्रिपाठी[4] आदि आधुनिक विद्वानों ने 'अवरेव' का अर्थ वक्रोक्ति किया है ।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभी तक विद्वानों ने 'अवरेब' के लगभग ९ अर्थ किये हैं—खंडान्वय, उलझन या जटिलता, अधम काव्य के समान, टेढ़ा फेरफार, गुणीभूत व्यंग्य, पर्य्यायोक्ति अलंकार, लक्षणा-वृत्ति, व्यंजना और वक्रोक्ति। श्री रामचरणदास, श्री हरिहरप्रसाद, श्री बैजनाथ और श्रीकांतशरण जी द्वारा 'अवरेब' को खंडान्वय मानना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि यहाँ पर गोस्वामी जी अर्थ-निश्चय के साधन का उल्लेख नहीं कर रहे हैं। यहाँ वे काव्य-भेदों की चर्चा कर रहे हैं। 'उलझन या जटिलता' के अर्थ में 'अवरेब' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है । यहाँ काव्य-भेदों की चर्चा में इसका अर्थ 'उलझन' युक्तिसंगत नहीं लगता। अतः ग्राउस महोदय का अर्थ भी उचित नहीं है। श्री रूपनारायण मिश्र जी के अनुसार—श्री सूर्य-प्रसाद मिश्र जी ने ध्वनि से उत्तम काव्य और 'अवरेव' से 'अवर-इव' ऐसा पदच्छेद करके 'अवर (अधम काव्य) के सदृश' अर्थ किया है । परन्तु सूक्ष्मेक्षि-कया विचार करने पर 'अवर+इव' से 'अवरेव' शब्द बन नहीं सकता, क्योंकि 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक से समास होने पर 'अवर' शब्द के आगे आयी हुई विभक्ति का लोप नहीं हो सकता और विभक्ति के रहते हुए सन्धि नहीं हो सकती तथा केवल प्रातिपादिक असाधु है और शास्त्र साधु शब्दों में ही प्रवृत्त होते हैं।[5] दूसरे, विवेच्य अर्धाली में 'मनोहर' शब्द के प्रयोग द्वारा गोस्वामी जी ने उच्चकोटि के काव्य-सिद्धान्तों की ओर ही संकेत किया है। 'अवरेब' का अर्थ गुणीभूत व्यंग्य हो सकता है । 'धुनि' के उपरांत 'अवरेब' का प्रयोग कवि की काव्यशास्त्रीयता का परिचायक है । ध्वनिकार के मतानुसार भी ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य से विभूषित वाणी कवि-प्रतिभा के आनन्त्य का हेतु होती है ।[6] अभिनवगुप्त ने गुणीभूत व्यंग्य को वक्रोक्ति का प्रतिरूप माना

---

१. रामा०, पृ० ३१

२. अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५४

३. मानस, पृ० ६९

४. रामचरित०, पृ० ५२

५. मा० पी०, प्र० भा०, बाल०, पृ० ५५६

६. ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ।। —ध्वन्यालोक ४।१, पृ० ३३६

है।[1] स्मृतव्य है कि जिस प्रकार ध्वनिकार ने समस्त अलंकारों में गुणीभूत व्यंग्यता सिद्ध की है, उसी प्रकार कुंतक[2] और भामह[3] ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों के मंतव्यों पर दृष्टिपात करने पर गुणीभूत व्यंग्य और वक्रोक्ति की अभिन्नता की पुष्टि हो जाती है। सुधाकर द्विवेदी द्वारा 'अवरेब' (फा० उरेब) को फारसी शब्द मानना वस्तुतः उपयुक्त है। भारतीय काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के प्रसंग में फारसी के शब्द का प्रयोग असाधारण माना जायगा, परन्तु वक्रतापरक अर्थ में 'अवरेब' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है।

'अवरेब' का अर्थ पर्य्यायोक्ति अलंकार मानना उचित नहीं है, क्योंकि 'उपमा बीचि बिलास मनोरम' अर्धाली में 'उपमा' शब्द से अलंकारों की चर्चा पूर्व हो चुकी है। वामन ने वक्रोक्ति के लक्षण 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[4] में कहा है कि सादृश्यनिमित्तक लक्षणा को वक्रोक्ति कहते हैं। व्यापक अर्थ में सादृश्य लक्षणा (गौणी लक्षणा) वह है जिसमें यथार्थ कथन से हटकर चमत्कारपूर्ण ढंग से कोई बात कही जाती है। इसे ही वक्रोक्ति भी कहा जा सकता है। इस प्रकार लक्षणावृत्ति, गुणीभूत व्यंग्य एवं वक्रोक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं है। श्री जानकीशरण और श्री शुकदेव ने 'अवरेब' को व्यंजना कहा है, किन्तु 'धुनि' शब्द में व्यंजना भी समाविष्ट है। अतः 'अवरेब' को व्यंजना कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

'हिन्दी शब्दसागर' में 'अवरेब' शब्द के कई अर्थ दिये गये हैं—'अवरेव' संज्ञा पुं० (सं० अव=विरुद्ध+रेव=गति) (१) वक्र गति, तिरछी चाल, (२) कपड़े की तिरछी काट, (३) पेच, उलझन, (४) बिगाड़, खराबी, (५) झगड़ा, विवाद, खींचातानी, (६) वक्रोक्ति, काकूक्ति।[5] इस प्रकार 'अवरेब' अनेकार्थी शब्द है। स्वयं गोस्वामीजी ने इसका प्रयोग विभिन्न स्थलों पर विभिन्न अर्थों में किया है। डॉ० अम्बाप्रसाद जी के अनुसार—वक्रता या टेढ़ के लिए फ़ारसी में 'उरेब' शब्द है। इसी से 'अवरेब' शब्द विकसित है। वक्रता मिटेगी, अर्थात् उलझन दूर होगी। बनियान, पायजामे की एक प्रकार की तिरछी सिलाई 'औरेबी' कहलाती है। इसे 'अवरेबी' भी कहते हैं। संज्ञा 'अवरेब' से विशेषण

१. ध्वन्यालोक ३।१७ की वृत्ति, पृ० २९०-९२
२. वक्रोक्तिजीवितम् १।९-१०, पृ० ३८, ५१
३. काव्यालंकार, २।८५, पृ० ६२
४. काव्यालंकारसूत्र ४।३।८, पृ० २३५
५. दे० पृ० १७८

'अवरेबी' है जो ब्रज के लोक-जीवन में 'औरेबी' के रूप में आज भी प्रचलित है।[1] डॉ० अम्बाप्रसाद के उक्त अर्थ के रूप में गोस्वामी जी ने 'औरेबैं' शब्द का प्रयोग किया है। यथा—हमहूँ कछुक लखी ही तबकी औरेबैं नंदलला की।[2] यहाँ 'औरेबैं' का अर्थ है टेढ़ी चालें, चाल की बातें। श्री सुधाकर द्विवेदीका भी उक्त अर्थ यहाँ उचित बैठता है। ग्राउस महोदय के अर्थ में 'अवरेब' शब्द का प्रयोग भी गोस्वामी जी ने किया है—'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब। सो सिर धरि धरि करिहि सब मिटिहि अनट अवरेब।'[3] बिगाड़ या खराबी के अर्थ में इसका प्रयोग गीतावली और मानस में किया है।[4]

स्मरणीय है कि उपर्युक्त कतिपय विद्वानों ने 'प्रकरण' पर ध्यान न देने के कारण ही अनर्थ कर दिये हैं। उक्त काव्योक्ति में गोस्वामी जी काव्यभेदों की चर्चा कर रहे हैं। इसके अन्तर्गत उलझन, टेढ़ा, फेरफार आदि अर्थ नितांत असंगत हैं। ध्वनि के बाद काव्य का कोई इतर भेद आना चाहिए। गुणीभूत व्यंग्य और लक्षणावृत्ति को कोई स्वतंत्र साम्प्रदायिक महत्ता नहीं प्राप्त हुई है। गुणीभूत व्यंग्य व्यंजना की भांति ध्वनि के कलेवर में ही समाहित हो जाता है। लक्षणावृत्ति वक्रोक्ति के अन्तर्गत आ जाती है। वक्रोक्ति को पृथक् रूप से सम्प्रदायता प्राप्त हो चुकी है। तुलसी-ग्रन्थावली के सम्पादक, श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, श्री रामनरेश त्रिपाठी और 'हिन्दी शब्दसागर' आदि ने 'अवरेब' का अर्थ 'वक्रोक्ति' ही स्वीकार किया है। अर्थ-निश्चय के 'प्रकरण' नामक साधन से भी इसका अर्थ वक्रोक्ति ही निश्चित होता है। अतः यहाँ पर 'अवरेब' का अर्थ 'वक्रोक्ति' ही संभव है।

'अवडेरि'

पंच कहैं सिव सती बिवाही। पुनि अवडेरि मराएन्हि ताही ॥[5]

उक्त अर्धाली के 'अवडेरि' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद है। हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है कि 'ढीलि कै

---

१. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० ११

२. श्रीकृष्ण० ४३

३. मानस २।२६८।०

४. ऋषि नृपनीस ठगौरी सी डारी।
कुलकुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेबनि सकल सुधारी।—गीता० १।६८।१
रामकृपा अवरेब सुधारी। —मानस २।२१६।३

५. मानस १।७६।८

मराइन्ह शरीर त्याग कराइन्ह ।'[१] इसी प्रकार श्री संतसिंह पंजाबी[२], श्री ज्वालाप्रसाद[३], श्री अवधबिहारीदास[४], श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार[५], तुलसी-ग्रन्थावली के सम्पादक[६] एवं ग्राउस महोदय[७] आदि विद्वान् इसका अर्थ करते हैं कि 'त्याग कर' मरवा डाला। श्री शुकदेवलाल ने मूल शब्द ही किंचित् परिवर्तन के साथ लिखकर अर्थ किया है कि 'उसको एक अवढेरा लगाकर मरवा दिया।'[८] बैजनाथ जी के अनुसार—'अवढेरि कहे चारों तरफ से औढेरा लगाय पेंच गाँठि ताहि सती को मराय डारिनि।'[९] लगभग इसी प्रकार का अर्थ श्री श्रीकांतशरण, वीरकवि और विनायक राव का है। श्रीकांतशरण जी के अनुसार 'अवडेर—फेर (चक्कर) में डालकर।'[१०] वीरकवि के अनुसार—'पेंच में डालकर'[११] और विनायक राव के अनुसार—'उलझन में डालकर मरवा डाला।'[१२] श्री श्यामसुन्दरदास के अनुसार—'धोखा देकर।'[१३] श्री विजयानंद त्रिपाठी के अनुसार—'फिर उसे दुःख देकर' मरवा ही डाला।[१४] मानस-पीयूष-कार के अनुसार—'सुना जाता है कि पहलवानों में इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है। कोई दाँव या पेंच करके जोड़ी को फाँसा जाता है जिसे 'अवडेरा' कहते हैं। पुनः अर्थ करते हुए लिखते हैं कि—फेर में डालकर या त्यागकर उनको मरवा डाला।'[१५] उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि

---

१. रा० परि० परिशिष्ट, प्र०, पृ० ६९
२. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० १५०
३. सं० टी०, पृ० १३६
४. मानस, पृ० ९९
५. मानस, पृ० १०२
६. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ९३
७. "एंड सून अवेंडन्ड हर एंड लेफ्ट हर टू डाई"—द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० ४३
८. रामा०, पृ० ५५
९. रामा०, बाल०, पृ० २९७
१०. मानस सिं० ति०, प्र० खं०, पृ० ३१४
११. मानस, पृ० १०५
१२. मानस, पृ० २१२
१३. मानस, पृ० ८३
१४. वि० टी०, प्र० भा०, बा०, पृ० १६३
१५. मा० पी०, बा०, खं० २, पृ० २५६-५७

'अवडेरि' शब्द के लगभग ५ अर्थ लोगों ने किये हैं—त्यागकर, पेंच, फेर (चक्कर), उलझन में डालकर, धोखा देकर और दुःख देकर।

'अवडेर' शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। यह पुरानी हिन्दी का काव्य-प्रयोग है। साथ ही स्थानिक प्रयोग और सकर्मक क्रिया है। 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति सं० 'अवधीरण' से मानी गई है और अर्थ इस प्रकार दिया है— फेर या झंझट में फँसाना, भ्रम में डालना।[1] 'मानक हिन्दी कोश' में इसकी व्युत्पत्ति हिं० 'अव+डेरा' से की गयी है।[2] 'तुलसी शब्दसागर' और 'हिन्दी शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति और अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—(सं अव+राट्), धोखा देकर, चक्कर में डालकर[3] और सं० पु० (हि० अव+रार या राड़), चक्कर में डालना, फेर में डालना।

ध्यातव्य है कि यहाँ 'दुःख', 'धोखा' और 'त्याग' शब्द से पार्वती जी की अनासक्ति शंकर जी के प्रति उतनी संभव नहीं है जितनी कि पेंच, फेर या उलझन जैसे शब्दों से। सप्तर्षि यहाँ पार्वती जी को उन परिस्थितियों का स्मरण दिलाना चाहते हैं जिनको सती जी दण्डकारण्य में श्रीराम जी की परीक्षा लेने में और पिता दक्ष के यज्ञ में शिव जी के भोग को न देखकर भोग चुकी थीं। अतः 'अवडेरि' शब्द का अर्थ यहाँ धोखा देकर, दुःख देकर या त्याग कर नहीं हो सकता। 'प्रकरण' अर्थ-निश्चय के साधन से इसका अर्थ 'चक्र (फेर) में डालकर' ही हो सकता है। अधिकांश कोशों का मत भी इसी पक्ष में है। पहलवानों में इस शब्द का प्रयोग दाँव-पेंच के अर्थ में होता है। इस प्रकार उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'लोगों के कहने (प्रेरणा) से (प्रथम तो) शिव जी ने सती जी से विवाह किया, फिर चक्र (फेर) में डालकर उनको मरवा डाला।'

इसी प्रकार विनयपत्रिका की एक पंक्ति है—

जननी जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो 'अवडेरे'।[5]

यहाँ 'अवडेरे' शब्द का विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। बैजनाथ जी के मतानुसार—'अबडेरे कहीं बड़ेरे नहीं। हौं मुझे विधि सृज्यो—ब्रह्मा ने जब रचा तब मेरे मन में एक भी रेखा बड़ाई की नहीं लिखी सर्व रेखा निचाई

१. दे० पृ० ६५

२. प्र० खं०, पृ० १६७

३. दे० पृ० ३०

४. उद्धृत, मा० पी०, बा०, खं० २, पृ० २५६

५. विनय०, २२७

की लिखी है अर्थात् जन्मपत्री में कर्महीन देख माता-पिता ने त्यागा।'[१] गया-प्रसाद जी के अनुसार—विधाता ने मुझे निरादर से बनाया।[२] सूर्यदीन शुक्ल जी के अनुसार—दैव ने भी उत्पन्न कर मुझे फंदे में डाला।[३] रामेश्वर भट्ट जी के अनुसार—अभागा पैदा किया था।[४] श्रीकांतशरण जी भी 'अबड़ेरे' पाठ मान कर लिखते हैं कि बड़ेरे नहीं, एक भी रेखा बड़ेपन की नहीं।[५] बाबू शिवप्रकाश ने तिरस्कारपूर्वक, अर्थात् अभागा अर्थ किया है और पं० रामकुमार ने 'त्याग दिया' अर्थ लिखा है।[६] श्री देवनारायण द्विवेदी[७], दीन जी[८], वियोगी जी[९] और श्री पोद्दार जी[१०] ने बेढब (जिसको पास रखने से भी हानि हो और त्यागने से भी हानि हो) ऊटपटांग, भाग्यहीन, अभागा और बेढब-सा—ये अर्थ दिये हैं। इस प्रकार 'अवडेरे' के लगभग ७ अर्थ किये गये हैं—बड़ाई की रेखा से हीन, निरादर से, फंदे में डाला, अभागा, तिरस्कारपूर्वक, त्याग दिया, बेढब-सा, ऊटपटांग। विनय-पीयूषकार ने बैजनाथ जी और दीन जी आदि के अर्थों को अपना लिया है।[११]

'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में इसका बेढब, कुढंगा[१२], 'तुलसी-शब्दसागर' में चक्करदार, बेढब[१३] एवं 'बृहत हिन्दी शब्दकोश' में झंझटवाला, चक्करदार, भद्दा अर्थ किया गया है।[१४] कतिपय टीकाकारों ने 'अबड़ेरे' पाठ मानकर 'बड़ाई की रेखाओं से रहित' अर्थ किया है जो कि उचित नहीं है, क्योंकि अधिकांश टीकाकारों का पाठ 'अवडेरे' है जो कि 'अवडेर' संज्ञा पुं० शब्द का विशेषण

---

१. विनय०, पृ० ४३३
२. वही, पृ० ३२१
३. वही, पृ० २५३
४. वही, पृ० ३१२
५. विनय सि०-ति०, पृ० १३७६
६. वि० पी०, खं० ५, पृ० ६६२
७. विनय०, पृ० ३७८
८. वही, पृ० १६४
९. वही, पृ० ५१७-१८
१०. वही, पृ० ३६३
११. वि० पी०, खं० ५, पृ० ६६३
१२. सं० हि० को०, प्र० खं०, पृ० ६५
१३. तु० शब्द०, पृ० ३०
१४. दे० पृ० १०३

रूप है। गोस्वामी जी ने 'अवडेरि, अवडेरिए, अवडेरे' शब्दों का प्रयोग मानस, बाहुक और विनयपत्रिका में किया है। अतः 'बड़ाई की रेखाओं से हीन' वाला अर्थ 'अवडेरे' पाठ से असंगत है। इसका 'निरादर से और तिरस्कारपूर्वक' अर्थ किसी कोश में नहीं प्राप्त होता है, अतः यह भी प्रामाणिक नहीं है। 'त्याग दिया' अर्थ तो बिल्कुल अनुपयुक्त है, क्योंकि इसी पंक्ति में (जननी जनक) 'तज्यो' शब्द आ गया है। अतः इस अर्थ को स्वीकार करने से 'पुनरुक्ति' दोष हो जायगा। ''तजने और निकालने' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बाहुक में हुआ है—'भोरानाथ भोरे हौ, सरोष होत थोरे दोष, पोषि तोषि थापि आपने न अवडेरिए'।[१] 'फंदे में डाला' यह अर्थ भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि मृत्युलोक में जन्म लेना ही फंदे में पड़ना है जो कि जीवमात्र के लिए लागू होता है। शास्त्रकारों ने इससे मुक्त होने के अनेकानेक उपाय बताये हैं। अतः फंदे में डालकर विधाता ने कोई बहुत बड़ा अहित नहीं किया।

'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ-विनिश्चय के साधन से इसका अर्थ चक्करदार (बेढब), प्रकारान्तर से 'अभागा' ही हो सकता है। प्रायः सभी कोशों में इसका यही अर्थ दिया गया है। वीरकवि जी[२], श्री देवनारायण द्विवेदी, दीन जी, वियोगी जी और पोद्दार जी ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। स्वयं गोस्वामी जी ने भी लिखा है—'बिधिहू न लिखी कछु भाल भलाई'[३]; 'लिखी न बिरंचि हू भलाई भूलि भाल है।'[४]

इस प्रकार उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'ब्रह्मा ने भी मुझे चक्करदार (बेढब-सा), प्रकारांतर से भाग्यहीन बनाया।

चाँकी

चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी ॥[५]

उक्त अर्धाली का समस्यापूर्ण शब्द 'चाँकी' है जिसके अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद है। श्री रामचरणदास[६], बैजनाथ जी[७], पंजाबी जी[८],

१. बाहुक, ३४
२. विनय०, पृ० २६१
३. कविता०, ७।५७
४. वही, ७।६५
५. मानस १।२१६।८
६. रामा०, पृ० ३४२
७. वही, पृ० ५४५
८. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ३०२

ग्राउस महोदय[१], पोद्दार जी[२], श्रीकांतशरण जी[३], तुलसी-ग्रन्थावली के संपादक[४] और मानस-पीयूषकार[५] आदि अनेक टीकाकारों के अनुसार उक्त शब्द का अर्थ है—'मानो शोभा पर छाप या मुहर लगा दी गयी है।' हरिहर-प्रसाद जी ने ये अर्थ दिये हैं--'कसवटी पर कसी कनक रेखा सो चाँकी। कोऊ या भाँति सो कहत हैं···तिलक की रेखा जो सो सोभा रूपी रासी को चाँकी कहै छापा लगाया है।······चाँकी कहै चक्ति कर दिया है वा···चाँकी कहै दबाय दिया है।'[६] विनायक राव जी के अनुसार—तिलक की रेखा ने मानों शोभा की सीमा बाँध दी।[७] लगभग इसी प्रकार का अर्थ अवधबिहारी-दास ने भी किया है—माथे पर तिलक की रेखा की शोभा ऐसी है मानों शोभा को घेरे में कर लिया है।[८] गौड़ जी के मतानुसार—चाँकी का अर्थ है—चक्रांकित की मुहर लगा दी। जब मालगुजारी खेत की पैदावार के ही रूप में दी जाती थी, तब राजा का अंश अन्न के ढेरों में 'चक्रांकित' कर दिया जाता था।[९] ज्वालाप्रसाद जी के अनुसार—और तिलक की रेखा ने तो मानों शोभा की राशि को ही घेर लिया है जिससे (टोना) न लगे। दूसरा अर्थ चाँकी का चकबक हो जाता है, भाव यह कि तिलक की रेखा ऐसी है मानों आप आकर चकबक हो खड़ी हुई हैं।[१०] संत श्री गुरुसहायलाल जी के अनुसार—यहाँ 'चाँक' मागधी बोली है। इसका अर्थ है 'सावधान करना या होना'। बोलचाल में कहा जाता है कि 'मुझे तो उसी के बात करने पर चाँक पड़ गया, अर्थात् सावधानता आ गयी। 'तिलक रेख···चाँकी' अर्थात् तिलक की ऊर्ध्व रेखाओं ने मानों सर्वाङ्ग की शोभा को 'सयग्य' (सजग)

---

१. "एंड ए स्टार ऑन द फोरहेड देट सीम्ड बियुटीज ओन स्टैम्प"—द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० ११०
२. मानस, पृ० २१५
३. मानस सि०-ति०, प्र० खं०, पृ० ६१२
४. प्र० सं०, अ०भा० वि० परि०, २२३
५. मा० पी०, बाल०, खं० ३, पृ० २११
६. रा० परि० परिशिष्ट, प्र०, पृ० १५३
७. वि० टी० १, बाल०, पृ० ७१
८. मानस, पृ० २३९
९. मा० पी०, बा०, खं० ३, पृ० २११
१०. सं० टी०, पृ० २७०

कर दिया है। भाव यह कि यह विदेह नगर है, इसमें भावात्मक होकर देख पड़ना। अथवा श्रेष्ठ बाँकी भृकुटी त्रिशूलाकार तिलक रेख शोभा को मानों सावधान कर रही है। भाव यह कि यहाँ श्री लाड़ली जी की शोभा का मण्डल है, ऐसा न हो कि छक करके तुम फीके पड़ जाओ जिससे मुझे क्रोध आवे। अतः आगे अद्भुत शोभा से सखिगण की दृष्टि में चकाचौंध आ गया।[१] एक महात्मा ने 'शोभा' का अर्थ 'श्री' करते हुए लिखा है कि 'तिलक की रेखाएँ पीत रंग की हैं, बीच की श्री लाल रंग की है। 'श्री' का अर्थ शोभा भी होता है, शोभा का भी रंग लाल है। अतः बीच की 'श्री' शोभा हुई, वह बगल की दोनों रेखाओं से घिरी है। यही चाँकना है।'[२]

पं० रामकुमार जी के अनुसार—तिलक की रेखाओं ने मानो शोभा को रोक दिया है। अर्थात् दो रेखाओं का तिलक है। दोनों के बीच में शोभा रुक गयी। अथवा तिलक की शोभा कैसी है मानो बिजली है। अथवा तिलक रेख क्या है मानों शोभा है जो मुख की शोभा को देखकर चकित हो गयी है।[३] श्री श्यामसुन्दरदास जी के अनुसार—उनके तिलक की रेखा भी बिजली की सी शोभित हो गयी है अथवा तिलक की रेखा क्या है मानो शोभा की हद खींची हुई है।[४] वीरकवि जी, विजयानन्द त्रिपाठी जी और रामनरेश त्रिपाठी जी के मतानुसार—माथे पर तिलक की रेखा की शोभा बिजली की तरह थी।[५] 'हिन्दी शब्दसागर' में 'चाँकी' का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—चाँकना—क्रिया सकर्मक (हि०चाँक) (१) खलियान में अनाज की राशि पर मिट्टी, राख या ठप्पे से छापा लगाना जिसमें यदि अनाज निकाला जाय, तो मालूम तो जाय। (२) सीमा बाँधने के लिए किसी वस्तु को रेखा वा चिह्न खींचकर चारों ओर से घेरना, हद खींचना, बाँधना। (३) पहचान के लिए किसी वस्तु पर चिह्न डालना।[६] 'मानक हिन्दी कोश' में 'रेखा खींचकर सीमा निर्धारित करना' यह अर्थ दिया है।[७] 'तुलसी शब्दसागर' में 'हिन्दी शब्दसागर' का ही अर्थ दिया

---

१. मा० पी०, बाल०, खंड, ३, पृ० २१२
२. वही, पृ० २१२
३. वही, पृ० २१२
४. दे० मानस की व्याख्येय अर्धाली।
५. मानस, टी० वीरकवि, पृ० २५७; वि०टी०, प्र०भा०, बाल०, पृ० ३७७; मानस, टीका० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० २४६
६. दे० पृ० ९६३-६४
७. द्वि० खं०, पृ० २२४

गया है ।[1]

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि विभिन्न विद्वानों ने चाँकी के लगभग ६ अर्थ किये हैं—छाप या मुहर लगा दी गयी है, कसी हुई कनक की रेखा, चकित कर दिया है, दबा दिया है, सीमा बाँध दी, चक्रांकित की, सजग कर दिया है, शोभा को रोक दिया है और बिजली ।

'चाँकी' का 'चकित कर दिया, दबा दिया और सजग किया' अर्थ किसी भी कोश आदि ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होता । अतः ये अनुमानित और अप्रामाणिक अर्थ हैं । इसका 'सीमा बाँधने' के अर्थ में प्रयोग अवध प्रान्त में भी होता है । खलियानों में स्वच्छ की हुई अनाज की राशि की चारों ओर गोबर से एक वृत्त इस हेतु खींच दिया जाता है जिससे कि अनाज कोई निकाल न सके । वृत्त खींची हुई राशि से अनाज निकालने पर तुरन्त पता चल जाता है । इसी बात का समर्थन 'हिन्दी शब्दसागर' जैसे कोशों से भी ही जाता है । चक्रांकन, छाप या मुहर आदि भी अनाज की ढेर पर राख या मिट्टी से लगाया जाता था जिससे कि अनाज निकालने पर मालूम हो जाय । इसी आधार पर लोगों ने 'चाँकी' का अर्थ 'छाप', 'मुहर' या 'चक्रांकित की' किया है । अब विचारणीय है कि क्या कवि ने शोभा के सुरक्षण-हेतु ऐसी उत्प्रेक्षा की है ? नहीं, वह शोभा की सुरक्षा नहीं, बल्कि उसे लुटाना चाहता है । बालक-वृन्द उस शोभा को लूटने के लिए राम और लक्ष्मण के साथ लग गये—बालक बृंद देखि अति सोभा । लगे संग लोचन मनु लोभा ।।[2] 'शोभा रोक दी' ऐसा अर्थ भी इसी तर्क से कट जाता है । अतः यहाँ पर इसका अर्थ 'सीमा बाँध दी; छाप, मुहर या चक्रांकित की' युक्तिसंगत नहीं है । 'सीमा बाँधने' के अर्थ में इसका प्रयोग कवितावली में कवि ने किया है—'तुलसी त्रिलोक की समृद्धि सौंज संपदा सकेलि चाकि राखी रासि जांगर जहान भो ।'[3] संत श्री गुरुसहायलाल जी का अर्थ बिलकुल पंडिताऊ और अविचारणीय है । 'श्री' (तिलक) का अर्थ शोभा नहीं होता । यदि 'शोभा' का अर्थ 'श्री' (तिलक) मान भी लिया जाय, तो 'जनु' शब्द व्यर्थ हो जाता है । अतः यह अर्थ भी असंगत है । 'चाँकी' का अर्थ 'कसी हुई कनक की रेखा' से 'बिजली' करना अधिक सटीक है क्योंकि बिजली में अपेक्षाकृत अधिक चमक-दमक है ।

'अवधी कोष' में 'चाँकी' का अर्थ इस प्रकार दिया है—सं० स्त्री० :

---

१. तु० शब्द०, पृ० १४५

२. मानस, १।२१६।२

३. कविता०, ५।३२

बिजली, चाकी परै, बिजली गिरे, चाकी मारै—शाप देने के शब्द, चकिया।[१] श्री रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार 'चाकी' फारसी के 'चाक' शब्द से निकला है जिसका अर्थ है—फाड़ देना। देहात में इसे चिर्री भी कहते हैं। दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। पर संभवतः यह संस्कृत 'चक्र' (विष्णु के आयुध) से विकसित है। अवध प्रान्त में महिलाएँ शाप देने के अर्थ में 'चक्री परै' ऐसा प्रयोग करती हैं।

स्वयं गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में तिलक की छवि की उत्प्रेक्षा बिजली से करते हुए कहा है कि ललाट पर के तिलक को समझाकर कहता हूँ। वह ऐसा मालूम होता है, मानो बिजली की दो छोटी-छोटी पतली रेखाएँ अपनी चपलता छोड़कर (मुख) चन्द्र में (आकर स्थिर होकर) रह गयी हैं—

कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई।
अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई॥[२]

पं० रामकुमार जी ने 'चाँकी' शब्द के ३ अर्थ दिये हैं। उनमें से एक अर्थ 'बिजली' भी स्वीकार किया है। इसी प्रकार श्री श्यामसुन्दरदास जी भी दो अर्थों में एक अर्थ 'बिजली' करते हैं। वीरकवि जी, विजयानंद त्रिपाठी जी और रामनरेश त्रिपाठी जी ने निःसंदेह 'चाँकी' शब्द का अर्थ 'बिजली' किया है। अर्थ-निश्चय के 'प्रकरण' नामक साधन से भी इसका अर्थ 'बिजली' ही निश्चित होता है, क्योंकि प्रसंग राम-लक्ष्मण की शोभा के वर्णन का है। उनके नेत्र लाल कमल के समान हैं। कानों में कनकफूल शोभा दे रहे हैं। उनकी दृष्टि मोहिनी है और भौंहें श्रेष्ठ और टेढ़ी-तिरछी हैं। ऐसी स्थिति में यह उत्प्रेक्षा करना कि—

"मस्तक पर तिलक की रेखा की छबि बिजली की भाँति है"

कवि की कल्पना में चार-चाँद लग जाता है। इस प्रकार उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'मस्तक पर तिलक की रेखा की छवि बिजली की भाँति है।'

नाठी

मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी॥[३]

उक्त पंक्ति के 'नाठी' शब्द का अर्थ करते हुए रामनरेश त्रिपाठी जी

---

१. दे० अवधी-कोष, पृ० ८६

२. विनय, ६२

३. मानस १।१३५।५

लिखते हैं कि—मोह ने उनकी (नारद की) बुद्धि को जकड़ लिया था।[१] ग्राउस महोदय के अनुसार—उनकी बुद्धि बिल्कुल चली गई थी।[२] रामायण-परिचर्याकार, रामायण-परिचर्या-परिशिष्टकार, रामायण-परिचर्या-परिशिष्ट प्रकाशकार[३], शुकदेवलाल जी[४], पोद्दार जी[५], तुलसी-ग्रन्थावली के संपादक[६], श्री अवधबिहारीदास[७], बैजनाथ जी[८] और मानस-पीयूषकार[९] आदि टीकाकारों के मतानुसार—'मोह ने मुनि की बुद्धि को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला' ऐसा अर्थ किया है। 'तुलसी-शब्दसागर' के अनुसार इसका अर्थ है— 'नष्ट हो गयी।'[१०] 'हिन्दी शब्दसागर' में 'नाठना' क्रिया का अर्थ 'नष्ट करना, ध्वस्त करना' दिया है।[११]

'नाठी' का 'जकड़ लिया था' अर्थ किसी कोशादि में नहीं प्राप्त होता। अतः त्रिपाठी जी का यह अर्थ अप्रामाणिक है। ग्राउस महोदय ने 'हटना' अर्थ किया है। यह भी यहाँ संगत नहीं है। हटने के अर्थ में इसका प्रयोग गोस्वामी जी ने कवितावली में किया है —आपनि सूझि कहौं, पिय ! बूझिए, जूझिबे जोग न ठाहरू नाठे।[१२] यद्यपि 'नाठे' शब्द का अर्थ यहाँ पर भी 'तुलसी-शब्दसागर' में 'नष्ट हो गए' किया गया है[१३], किन्तु यह अप्रासंगिक है।

रामायण-परिचर्या-परिशिष्टकार 'नाठी' की व्युत्पत्ति 'नाढ़ी' तिरहुत प्रांत की भाषा से मानते हैं।[१४] किन्तु यह पुरानी हिन्दी का काव्य-प्रयोग है। इसकी

---

१. मानस, पृ० १५९
२. "इन हिज इन फैटुएशन हिज रीजन वाज क्वाइट गान"
—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० ६८
३. रा० परि० परिशिष्ट, प्र०, टीका० हरिहरप्रसाद, पृ० १०३
४. रामा०, पृ० ८५
५. मानस, पृ० १४८
६. प्र० खं०, अ० भा० वि० परिषद्, काशी, पृ० १४९
७. मानस, पृ० १५८
८. रामा०, बाल०, पृ० ३९२
९. मा० पी०, खण्ड २, पृ० ५१२
१०. दे० पृ० २५८
११. वही
१२. कविता०, ६।२८
१३. तु० शब्द०, पृ० २५८
१४. रा० परि० परिशिष्ट, हरिहरप्रसाद, पृ० १०३

व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सं० नष्ट, प्रा० नट्ठ, हिं० नाठ। संस्कृत 'ष्ट' का हिन्दी में 'ठ' हो जाता है। यथा—काष्ट > काठ, रुष्ट > रूठ, मुष्टिका > मुठिका, मिष्ट > मिठ आदि। 'नाठना' का नष्ट होना या ध्वस्त होना और हिं० नाठना = भागना या हटना, दो अर्थ होते हैं। 'हटना' के अर्थ में इसका प्रयोग सूरदास ने भी किया है।[1] प्रकरण से इसका अर्थ करना चाहिए। 'प्रकरण' अर्थ-निश्चय के साधन से उक्त अर्धाली का अर्थ इस प्रकार निश्चित किया जा सकता है—"मोह ने मुनि की बुद्धि को नष्ट कर डाला, इससे मुनि अत्यन्त व्याकुल हो गये, मानो गाँठ से मणि छूटकर गिर गयी हो।" अधिकांश टीकाकारों का मत भी इसी पक्ष में है। 'हट जाना' अर्थ यहाँ इसलिए संगत नहीं है कि अति विकलता में मात्र हट जाना पर्याप्त नहीं है, नष्ट हो जाना ही उचित है।

बिसूरति

जानि कठिन सिव चाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति ॥[2]

'बिसूरति' के कई अर्थ लोगों ने किये हैं। रामायण-परिचर्याकार के अनुसार—बिसूरति बावरी। रामायण-परिचर्या-परिशिष्टकार के अनुसार—बिसूरति बिगत भई है सूरत भाव बेचेत है। रामायण-परिचर्या-परिशिष्ट-प्रकाशकार के अनुसार—कोऊ अस कहत······बिसूरति कहै भयावन। ······वा बिसूरति कहै देहाध्यास बिसारे चली······बिसूरति कहै बिगति सूरति करेंगे अर्थात् तोड़ि डारैंगे, अस जानि मूरति हिय में राखि चली।[3] रामनरेश त्रिपाठी जी के अनुसार—शिवजी के धनुष को कठोर जानकर वह पछताती थीं।[4] वीरकवि के अनुसार—कठोर शिव-धनुष को टूटा हुआ समझकर हृदय में श्यामल मूर्ति रखकर चलीं।[5] श्री रामबख्श पाण्डेय के अनुसार—'धनुष को कठिन जानते हुए भी रामचन्द्र जी की साँवली मूर्ति को हृदय में रखने से धर्म की सामान्यता पायी जाती है, अर्थात् सतीत्व धर्म के विरुद्ध होता है। इसलिए 'बिसूरति' का दूसरा अर्थ 'विगत सूरति वा टूटा हुआ' ही अधिक संगत जान पड़ता है।' इस तरह अर्थ यह होगा कि "शिव जी के कठिन धनुष को टूटा हुआ जाना।" अथवा, यह अर्थ किया जाय कि रघुनाथ जी की वीरता के आगे चाप को बिसूरते (टूटा हुआ) पाया, तो उनको अपना जान उनकी

---

१. दे० सं० हिं० शब्द०, पृ० ५२६

२. मानस १।२३५।१

३. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १६५

४. मानस, पृ० २६१

५. मानस, पृ० २७६

स्यामल मूर्ति अपने हृदय में रख ली।[1] किन्तु कवि ने[2] इसके पूर्व स्वयं कहा है—लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥ बैजनाथ जी के मत से—बिसूरति बि को अर्थ दोऊ दिशि सूरति के सुधि करत कौन द्वै दिशि उधर धनुष कठिन जानि के कठोरता गुरुता में बार-बार सूरति जात पिता को प्रण बिचारि इधर अपनी प्रीति ते स्यामल मूरति उर में राखे हैं तातें रघुनाथ जी की शोभा बल प्रतापादि गुणन में सूरति जात इत्यादि द्वउदिशि हिंडोरा सी पै गमन दोउ दिशि दौरावत किशोरी जी चलीं पीछे को देखना बन्द कीन।[3] ग्राउस महोदय[4], विनायक राव जी[5] और रामेश्वर भट्ट[6] ने दुखित होती हुई अर्थ किया है। पोद्दार जी[7] ने 'मन में विलाप करती हुई', 'तुलसी-ग्रन्थावली'[8] के संपादक 'चिन्ता में अकुलाती हुई', पंजाबी जी[9], श्री रामचरणदास[10], शुकदेव लाल जी[11], विजयानन्द त्रिपाठी[12] और श्री अवधबिहारीदास[13] आदि टीकाकारों ने 'चिन्ता करती हुई' अर्थ किया है। श्री श्यामसुन्दरदास जी ने 'मसोसने लगी' और पं० रामचरण मिश्र जी ने 'विचार करती हुई' अर्थ किया है।[14] पीयूषकार ने विवाद से बचने के लिए 'बिसूरती हुई' ही लिख दिया है।[15] इसी प्रकार 'बिसूरति' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने पार्वतीमंगल में भी किया है—

रति पतिहीन मलीन बिलोकि बिसूरति। नीलकंठ मृदु सील कृपामय मूरति॥[16]

---

१. मा० पी०, खंड ३, पृ० ३२६
२. मानस १।२३२।७
३. रामा०, बाल०, पृ० ५७६
४. "द थाट ऑव् शिवाज अन-ईल्डिग बोमेड हर बाइल्ड—" दरामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० ११६
५. वि० टी०, पृ० १०१
६. मानस, पृ० २४६
७. मानस, पृ० २२७
८. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २३७
९. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ३१६
१०. रामा०, पृ० ३६१
११. रामा०, पृ० १४२
१२. वि० टी०, प्र० भा०, पृ० ३९७
१३. मानस, पृ० २५२
१४. मानस, पृ० २२५; मा० पी०, बाल०, खं० ३, पृ० ३२६
१५. मा० पी०, बाल०, खं० ३, पृ० ३२५
१६. पा० मं०, ३०

यहाँ पर भी 'बिसूरति' के कई अर्थ लोगों ने किये हैं। दीन जी ने 'चिन्ता करती हुई' (बिगड़ी हुई सूरत जिसकी)[1] अर्थ किया है। सद्‌गुरुशरण अवस्थी जी लिखते हैं कि इसका अर्थ 'विलाप करती हुई' है। बुंदेलखंड में यह शोक और गहरी चिन्ता करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[2] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'शोक करते हुए, चिंतित'[3] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक ने 'कलपती'[4] अर्थ किया है।

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि टीकाकारों ने 'बिसूरति' के लगभग १३ अर्थ दिये हैं। वे हैं—बावली, बेचेत होकर, भयावन, देहाध्यास बिसारे हुए, पछताती, टूटा हुआ जानकर, बि-दोनों (ओर की)+सूरति=सुरात (स्मरण करती हुई), दुखित होती हुई, मसोसने लगी, विलाप करती हुई, चिन्ता में अकुलाती हुई, चिन्ता करती हुई, विचार करती हुई, और कलपती आदि। इसके अतिरिक्त भी लोगों ने अनेक अर्थ दिये हैं। क्लिष्ट कल्पनायुक्त होने के कारण उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ इस प्रकार है—

बिसूरना[1]—क्रि० अ० (सं० विसूरण (=शोक) सोच करना। चिंता करना। खेद करना। मन में दुःख मानना।

बिसूरना[2]—संज्ञा स्त्री० चिंता। फिक्र। सोच। उदा०--लालची लबार बिललात द्वार-द्वार, दीन बदन मलीन मन मिटै ना बिसूरना।—तुलसी[5]
'तुलसी-शब्दसागर' में इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—

बिसूरति--(सं० विसूरण) दुखित होती हुई, विलाप करती हुई। चिंता करती है।[6]

गोस्वामी जी कहीं-कहीं शब्द-विशेष का अर्थ स्वयं लिख देते हैं। उदाहरण-स्वरूप—

अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू॥[7]

---

१. तुलसी-पंचरत्न, पा० मं०, पृ० ३
२. दूसरी पुस्तक, पृ० ६४
३. पा० मं०, डॉ० मा० प्र० गुप्त, पृ० २१
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २४
५. हि० शब्द०, पृ० ३५१६
६. दे० पृ० ३५२
७. मानस ५।१७।३

उक्त अर्धाली के 'छोहू' शब्द का अर्थ वे 'कृपा' करते हैं। यथा—

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ॥[१]

इसी प्रकार 'जानकीमंगल' में वे एक स्थान पर 'बिसूरति' शब्द का प्रयोग करते हैं—

'कहि प्रिय बचन सखिन्ह सन रानि बिसूरति।
कहाँ कठिन सिवधनुष कहाँ मृदु मूरति ॥
जो बिधि लोचन अतिथि करत नहिं रामहिं।
तौ कोउ नृपहि न देत दोसु परिनामहि ॥
अब असमंजस भयउ न कछु कहि आवै।'

यहाँ रानी का 'बिसूरना' कहकर फिर उसी का अर्थ आगे 'ससोच' शब्द देकर किया है—

रानिहि जानि 'ससोच' सखी समुझावै ॥[२]

इसी प्रकार एक स्थान पर वे कहते हैं—

पुलक सिथिल तन बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन ॥[३]

आगे वे इसी की उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो करुणा ही बहुत से वेश धारण करके सोच कर रही है—

सब सिय राम प्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहु वेष बिसूरति ॥

स्पष्ट है कि यहाँ उक्त 'सोचन' शब्द के लिए ही 'बिसूरति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'बिसूरति' शब्द का अर्थ 'विलाप करती हुई' नहीं हो सकता, क्योंकि गोस्वामी जी 'जनक' जैसे ब्रह्मज्ञानी के लिए 'बिसूरन' शब्द का प्रयोग करते हैं—

रूप सील वय बंस राम परिपूरन। समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन ॥
लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनि कै ॥[४]

इसी प्रकार—

कौसल्या दिन राति 'बिसूरति' बैठि मन मौन।
तुलसी उचित न होइ 'रोइबो' प्रान गए संग जौन ॥[५]

---

१. मानस ५।१७।४
२. जा० मं० ८२--८४
३. मानस २।२८०।७
४. जा० मं०, ५३—५४
५. गीता०, २।८३

और—

'आरत' बचन कहति बैदेही।

बिलपति भूरि 'बिसूरि' दूरि गए मृग संग परम सनेही ॥[१]

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'बिसूरति' का अर्थ 'विलाप करती हुई' नहीं हो सकता, क्योंकि 'बिसूरति' शब्द के प्रयोग के बाद 'रोइबो' शब्द का प्रयोग है। यदि उसका अर्थ 'विलाप करती हुई' होता, तो 'रोइबो' शब्द का प्रयोग कवि कदापि न करता। इसी तरह द्वितीय उदाहरण में 'आरत' और 'बिलपति' शब्द के बाद 'बिसूरि' शब्द का प्रयोग है। अतः इसका अर्थ 'दुखित होती हुई' भी नहीं हो सकता। 'सोचना' के ही अर्थ में गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग एक अन्य स्थान पर भी किया है—

कहौ सो विपिन है धौं केतिक दूरि।

जहाँ गवन कियो कुँवर कोसलपति, बूझति सिय पिय-पतिहि बिसूरि ॥[२]

बावली, बेचेत होकर, भयावन, देहाध्यास बिसारे हुए, टूटा हुआ जानकर और 'बि' दोनों (ओर की) + सूरति = सुरात (स्मरण करती हुई), आदि अर्थ बिल्कुल काल्पनिक और खींचातान अर्थ हैं। 'कलपती' अर्थ भी संगत नहीं है। 'चिन्ता करती हुई' और 'विचार करती हुई' दोनों का अर्थ लगभग एक ही है। पुनः जब कवि स्वयं 'बिसूरति' का अर्थ 'सोच करती हुई' करता है तो 'मसोसना' आदि अर्थ भी उपयुक्त नहीं है। 'हिन्दी शब्दसागर' और 'तुलसी-शब्दसागर' में इसके अनेक अर्थों में एक अर्थ 'सोचती, विचारती, चिन्ता करती' भी दिया है। उपर्युक्त अधिकांश विद्वानों का मत भी इसी का समर्थन करता है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से 'सोच करती हुई' अर्थ ही युक्तिसंगत एवं प्रासंगिक विदित होता है। अतः मानस की उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—"शिव जी के धनुष को कठिन जानकर हृदय में साँवली मूर्ति रखकर सोच करती हुई चलीं।" इसी तरह 'पार्वतीमंगल' के उक्त अंश का अर्थ होगा—"कामदेव की स्त्री रति को पतिहीन, दुःखी और सोचती हुई (चिंतित) देखकर (कोमल स्वभाव वाले, कृपा की मूर्ति, आशुतोष) भगवान् नीलकंठ ने उसे सन्तुष्ट करते हुए वर दे दिया।"

'सरव' और 'पाइक'

घंट-घंटि धुनि बरनि न जाहीं। सरव करहिं पाइक फहराहीं ॥[३]

१. गीता०, ३।७

२. वही, २।१३

३. मानस १।३०२।७

प्रस्तुत अर्धाली के उत्तरार्ध का अर्थ टीकाकारों ने निश्चित रूप से नहीं लिखा। प्राचीन टीकाकारों ने इसके अर्थ की बड़ी छीछालेदर की है। कतिपय टीकाकारों ने तो इतनी उड़ान से काम लिया है जिसकी कल्पना स्वयं गोस्वामी जी भी नहीं कर सकते थे।

इसके पाठ पर ठीक से विचार न करने के कारण भी अर्थ का अनर्थ कुछ कम नहीं हुआ है। कतिपय प्रतियों में 'सरव' पाठ है, तो कहीं 'सरौ'। इसी प्रकार कुछ प्रतियों में 'पाइक' और कुछ में 'पायक' पाठ प्राप्त होता है। सं० १७०४, १७२१ और १७६२ की प्रतियों में 'सरौ' पाठ है।[1] छक्कनलाल की प्रति, रघुनाथदास की प्रति, कोदवराम की प्रति, बालकांड में श्रावणकुंज की प्रति और अयोध्याकांड में राजापुर की प्रति में 'सरव' पाठ है। छक्कन०, बाल० श्रावण०, अयो० राजा०, सं० १७२१ और सं० १७६२ की प्रतियों में 'पाइक' पाठ है। रघु०, बंदन पाठक, सं० १७०४ काशिराज वाली प्रति, श्रावण० और राजापुर की प्रतियों में 'पायक' पाठ है। 'पाउक' फुटकर प्रतियों का पाठ है जो अप्रामाणिक है।[2] भागवतदास के प्र० सं० (सं० १९४२) और काशिराज-संस्करण में 'सरव करहिं पाइक फहराहीं' पाठ स्वीकार किया गया है जो कि उचित प्रतीत होता है। 'सरौ' और 'सरव' के अन्तर को न समझने के कारण अधिकांश टीकाकारों ने 'ध्वनि' या 'ध्वनिसहित' अर्थ लगाया है।

वीरकवि के मत से—झण्डियाँ फहराती हैं, उनमें लगे घुँघरू बोल रहे हैं।[3] इसी तरह ज्वालाप्रसाद जी के मतानुसार—शब्द करती हुई झण्डियाँ पायकों (सेवकों) के हाथ में फहरा रही हैं।[4] रामनरेश त्रिपाठी और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक के अनुसार क्रमशः—नौकर लोग शब्द करते हुए हाथों में झण्डियाँ फहरा रहे थे[5] और पैदल चलने वाले सेवक (पटेबाज) चिल्ला-चिल्लाकर (अनेक प्रकार की कला दिखाते और पटा-बनेठी घुमाते हुए) झंडे फहराते चले जा रहे थे।[6]

श्री रामचरणदास इसका अर्थ करते हैं—'अरु मल्लसरो करते हैं, ताल देते हैं, कूदते हैं, फहराते हैं किन्तु मल्लसरो करते हैं कूदते हैं अरु पायक नभ विषे

१. दे० मा० पी० बा०, खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० ६८०

२. शंभुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० ७७

३. मानस, पृ० ३५५ (सं० टी०)

४. सं० टी०, पृ० ३४१

५. मानस, पृ० ३२८

६. प्र० सं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २९५

कूदते हैं, फहराते हैं।[१] पं० रामचरण मिश्र के मत से—'सरव पटेबाजी करत फरी गदा बहुभाँति। पायक प्यादे को कहत चले जात फहरात।' इत्यादि। रामायणी रामबालकदास जी भी 'सरव' का अर्थ पटेबाजी इत्यादि करते हैं और कहते हैं कि पूरब में 'सरों' पटेबाजी इत्यादि को कहते हैं, जैसा प्रायः जलूसों, राजाओं-रईसों की सवारियों, बारातों इत्यादि में देखने में आता है।[२] हरिहरप्रसाद जी के अनुसार—'पायक कहें सेवक अर्थात् नट जे सेवक हैं ते फहराहीं कहैं कूदत हैं सरव कहैं दण्ड करत हैं वा सरौ करत हैं जो पायक अर्थात् दण्डबाज सेवक ते फ़हराहि कहैं पटा बाना आदि खेलत हैं। (पं० रामकुमार जी ने भी यही अर्थ लिखा है) वा (जो हाथियों पर निशान लिये हैं) जब सरो रीति खड़ा करत हैं तब हवा से पायक जो उनका पताका फहरात है वा हाथिन के घंटा घंटी की धुनि बरनि नहीं जाती तिन हाथिन को जब पायक हैं पीलवान जब रव सहित करत हैं, अर्थात् जोर से चलावत हैं तब फहराहीं कहैं सुण्ड उठाइ के बकारा लेत हैं अर्थात् फुदकार छोड़त हैं।'[३] पंजाबी जी ने ऐसा अर्थ किया है—'सरौ कहिए सनमुख नृप के ध्वजा लै के पाइक फहराते हैं किंबा सरौ नाम सरुवों का सरुवों के आकार मोर-पंख के बनाए कर भी पाएक हाथ में राखते हैं विवाह के समै आगे चलते हैं अथवा सरोकरण नाम कूदने-फाँदने का है पाएक कूदते जाते हैं अरु धुजा तिन के हाथों में फहरतिआँ हैं।'[४] बैजनाथ जी इसका अर्थ लिखते हैं—'ऐसा सघन शब्द होत अरु पायक जे सेवक जन तिनके करे कहे हाथन विषे सरौ छड़ी लिहे तिनमें झण्डी फहराइ रहीं ते आगे चले जात अरु भल्लन को कूदिबो अथवा ताड़ आदि में फहरात नहीं बनि परत।'[५] ग्राउस महोदय अर्थ करते हैं कि 'पैदल सिपाही ऐसे कूदते और नाचते थे मानो कि ललकारते हुए आक्रमण करते हों।'[६] शुकदेवलाल जी के अनुसार—'सरौ करैं अर्थात् मल्लों के से व्यायाम कहे दण्ड करते लहराते हुए झण्डे फहराते जाते हैं।'[७] बाबू श्यामसुन्दरदास के अनुसार—कलाबाज अनेक प्रकार की कसरत करते और हाथों में झण्डियाँ फहराते चले

१. रामा०, पृ० ४३०
२. मा० पी० बा०, खं० ३, पृ० ६८१
३. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० २०५
४. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ३८६
५. रामा०, बाल०, पृ० ६७६
६. "दिअर वाज एन इनडेसक्राइवेबल क्लैमर ऑव् वेल्स, बोथ ग्रेट एण्ड स्माल। द फट सोल्जर्स लीप्ड एण्ड डान्स्ड एज इफ चैलेंजिंग अटैक"—द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० १४६
७. रामा०, पृ० १७८

जाते थे ।[1] श्री विजयानंद त्रिपाठी के मत से—'घण्टे और घण्टियों की ध्वनि कुछ कही नहीं जाती। कसरत करते हैं, पाइक लोग दौड़-धूप करते हैं।' इसके अतिरिक्त पादटिप्पणी में 'पाइक' पाठ से असहमति व्यक्त करते हुए 'पाउक' पाठ की संभावना व्यक्त करते हैं और उसे 'पावक' का अपभ्रंश मानते हैं। 'सरौ' को 'श्रव' का अपभ्रंश मानते हुए अर्थ करते हैं कि फहराकर पावक श्रव करता है (यथा—पावकमय ससि श्रवत न आगी)। भाव यह कि आतशबाजी छूट रही है।'[2] त्रिपाठी जी की बुद्धि ने व्यायाम तो खूब किया, किन्तु 'पाउक' तो फुटकर प्रतियों का पाठ है जो नितांत अप्रामाणिक है। प्रोफेसर लाला भगवान-दीन जी कहते हैं कि 'पूरब गोरखपुर आदि देशों में 'सरो' करना 'परिश्रम, कसरत वा मेहनत' करने के अर्थ में बोला जाता है। यह 'श्रम' का अपभ्रंश है। गदा का घुमाना. पटेबाजी आदि अनेक कसरतें जैसी नट, पहलवान आदि करते हैं, वह सब इस इस शब्द में सूचित कर दिये हैं। उनकी राय में 'जाई' और 'फहराई' पाठ ठीक है। 'फहराई' का अर्थ है फरहरे हाथ, फुर्ती के साथ। अर्थात् पैदल चलने वाले सिपाही फुर्ती के साथ पैंतरे से पैंतरा मिलाकर चलते हैं और चलने में थोड़ी-थोड़ी दूर पर रुककर कसरत दिखाते हैं।'[3] किन्तु 'जाहीं' और 'फहराहीं' पाठ प्रायः सभी प्राचीन प्रतियों का है। ना० प्र० सभा और वंदन पाठक जी की प्रतियों में यही पाठ है। संतसिंह जी पंजाबी, करुणा-सिंधु जी और बैजनाथ जी के संस्करणों में 'जाई' और 'फहराई' पाठ अवश्य मिलता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसका अर्थ किया है—'पैदल सेना या सेवक लोग प्रफुल्लचित्त से कसरत करते हैं।'[4] विनायक राव जी के अनुसार—सेवकों के हाथों में सीधी झण्डियाँ फहरा रही थीं।[5] श्री अवधबिहारी के मत से—'पैदल चलने वाले सेवकगण अथवा पट्टेबाज कसरत के खेल कर रहे हैं और फहरा रहे हैं।'[6] श्रीकांतशरण जी अर्थ करते हैं कि पायक (पैदल सिपाही) लोग तरह-तरह के सरो (श्रम या कसरत के खेल) दिखाते जाते हैं, उनके हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं।'[7] पोद्दार जी के अनुसार—'पैदल चलने वाले सेवकगण पट्टेबाज कसरत के खेल कर रहे हैं और फहरा रहे हैं (आकाश में ऊँचे उछलते जा रहे

---

१. मानस, पृ० २८६
२. वि० टी०, प्र० भा० बाल०, पृ० ५०१
३. मा० पी० बा०, खं० ३, पृ० ६८१
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल जी, पृ० १२७
५. रा० बाल०, पृ० २१८
६. वि० टी०, पृ० ३१८
७. मानस, सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ७६२

हैं)।'[1] बाबा हरीदास के अनुसार—'सरौ करहिं = दण्ड करते, कला दिखाते वा कूदते हैं। पायक = करतबी, कूदने वाले। फहराहीं = उड़ते हैं।'[2] रामेश्वर भट्ट के अनुसार—'सेवक झंडियाँ फहराते हुए कूदते-फाँदते चले जाते हैं।'[3] गौड़ जी के मतानुसार—यहाँ दीप-देहरी न्याय से इस प्रकार अन्वय करना चाहिए—'सरौ करहिं पायक, करहिं पायक फहराहीं' = पायक सरौ करहिं, करहिं पायक फहराहीं' = पैदल सिपाही लोग तरह-तरह के कसरत के खेल दिखाते चलते हैं। हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं। 'सरो' का अर्थ कसरत के खेल है। इसका मूल रूप श्रम है, परन्तु आजकल सरवरिया बोली में 'सरौ करना' केवल दण्ड करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। बैठक आदि उसमें शामिल नहीं हैं। पायक = (१) पैदल चलने वाला हरकारा या सिपाही। (२) पताका या फरहरा।[4]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि 'सरव' के लगभग ६ अर्थ और 'पाइक फहराहीं' के लगभग ११ अर्थ किये गये हैं—'सरव' के ये अर्थ हैं—झण्डियों में लगे घुँघरू बोलते हैं, शब्द करती हुई, मल्लसरो करते हैं, कूदते हैं, पटेबाजी करते हैं, सरो रीति खड़ा करते हैं, रव सहित करते हैं, अर्थात् जोर से चिल्लाते हैं, सरुवों के आकार मोर-पंख के बनाकर दंड, व्यायाम या कसरत करते हैं। 'पाइक फहराहीं' के अर्थ इस प्रकार हैं—झंडियाँ फहराती हैं, झण्डियाँ पायकों के हाथ में फहरा रही हैं, पायक फहराते जाते हैं, पटेबाज, हवा से पताका फहराता है। 'पीलवान' अर्थ करते हुए एक टीकाकार लिखते हैं कि जब वे चिल्लाते हैं (रव सहित करते हैं) तो हाथियाँ सुण्ड उठाकर बकारा लेते हैं, फूत्कार छोड़ते हैं, पायक हाथ में रखते हैं, दौड़-धूप करते हैं। 'फहराई' का अर्थ फरहरे हाथ, फुर्ती के साथ पैंतरे से पैंतरा मिलाकर चलते हैं, हाथों में फरहरे उड़ते हैं और 'फहराहीं' प्रफुल्लचित्त। इस प्रकार साम्प्रदायिक और साहित्यिक प्रायः अधिकांश टीकाकारों ने क्लिष्ट कल्पना करके पण्डिताऊ और असाहित्यिक अर्थ किये हैं।

'हिन्दी शब्दसागर' में 'सरव' का कोई अर्थ नहीं दिया गया है। 'मानक हिन्दी कोष' में 'सरव' का अर्थ है—वि० (सं० अव्ययीभाव समास) १. जिसमें रव या शब्द होता है। २. शब्द करता हुआ (शब्दायमान) अर्थ दिये गये हैं।[5]

---

१. मानस, पृ० २८०
२. मा० पी० बा०, खं० ३, पृ० ६८१
३. मानस, पृ० ३०६
४. मा० पी० बा०, खं० ३, पृ० ६८१
५. पां० भा०, पृ० २६८

'तुलसी-शब्दसागर' में इसका अर्थ 'डंड, कसरत' है।[१] 'हिन्दी शब्दसागर' में 'पाइक'[२] और 'पायक' दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति 'सं० पादातिक' से ही स्वीकार की गयी है। 'पायक' का अर्थ इस प्रकार किया गया है—संज्ञा पु० (सं० पादातिक, पायिक) १. धावन, दूत। हरकारा। हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनुमान से पायक।[३] २. दास, सेवक, अनुचर, पैदल सिपाही। यही अर्थ 'बृहत् हिन्दी कोश'[४] और 'तुलसी-शब्दसागर' में हैं।[५] 'पाइअ सद्द महण्णवो' में 'सरव' का अर्थ है—पुं० (सरप) भुजपरि सर्प का एक प्रकार।[६]

पूर्व प्रसंग को ध्यान में न रखने के कारण अनेक टीकाकारों ने अव्यवस्थित अर्थ किये हैं। जब कवि पूर्व कोलाहल का वर्णन कर चुका है और ऐसा कोलाहल जो मनुष्यों के शब्दों से सौगुना अधिक है—'भयेउ कुलाहल हय गय गाजे'—तो पुनः मनुष्यों के कोलाहल का वर्णन क्यों करेगा? अतः यहाँ पर 'सरव' का 'शब्द करता हुआ' (शब्दायमान) अर्थ असंगत है। 'घंटि घंटि धुनि बरनि न जाहीं।' कहकर पुनः 'झण्डियों में लगे घुँघुरू बोलते हैं' यह अर्थ भी पुनरुक्ति दोषयुक्त एवं अनुपयुक्त है। 'सरो रीति' तो बाबा हरिहरप्रसाद ही जानें। 'सरव' का 'छड़ी' और 'सरुवों' के आकार के मोरपंख बनाकर' अर्थ किसी कोश में नहीं मिलता। अतः यह भी काल्पनिक है। इसी प्रकार 'पायक फहराहीं' के 'पायक' का अर्थ स्वयं गोस्वामी जी ने 'सेवक' किया है—'जाके हनुमान से पायक।'[७] 'हिन्दी शब्दसागर' आदि कोश 'पाइक' और 'पायक' को सं० 'पादातिक' से व्युत्पन्न हानते हैं। अतः 'पाइक' का अर्थ 'पताका' नहीं हो सकता। एक तो 'पायक' का अर्थ 'पीलवान' कहीं नहीं मिलता, दूसरे जब कवि 'भयेउ कुलाहल हय गय गाजे' कह चुका है, तो पुनः 'हाथियाँ सुण्ड उठाकर बकारा लेते हैं अर्थात् फूत्कार छोड़ते हैं' क्यों कहेगा? अतः यह भी अटकलपच्चू अर्थ है। वैसे 'दीन' जी ने 'फहराई' पाठ माना है, जबकि प्राचीन और उसके प्रिय शिष्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का भी पाठ 'फहराहीं' है। गौड़ जी का 'पायिक लोगों के हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं' और दीन जी का 'पैदल चलने वाले सिपाही

---

१. पृ० ४४६

२. मानस ६।६३।३

३. हि० शब्द०, पृ० २६२४

४. दे० पृ० ७८३

५. दे० पृ० २६६

६. दे० पृ० ८८०

७. मानस ६।६३।३

फरहरे हाथ अर्थात् फुर्ती के साथ पैंतरे से पैंतरा मिलाकर चलते हैं' वाला अर्थ भी 'फहराहीं' की झोंक में उड़ा जा रहा है। इसके साथ श्री विजयानंद त्रिपाठी का 'दौड़-धूप' वाला अर्थ भी उड़ने की ही झोंक में है। आचार्य शुक्ल जी ने तो कदाचित् 'हिन्दी शब्दसागर' के निर्माण के पश्चात् 'फहराहीं' का अर्थ 'प्रफुल्लचित्त' सोचा।

दीन जी 'सरव' को 'श्रम' का अपभ्रंश मानते हैं। किन्तु 'पाइअ सद्द महण्णवो' के अनुसार यह 'सरव' विकसित है। मल्लसरो, पटेबाजी, दंड, व्यायाम और कसरत में परस्पर अधिक अर्थान्तर नहीं है, किन्तु दौड़ने का अर्थ 'व्यायाम या कसरत' कदापि नहीं हो सकता। किसी कोश में 'सरव' का अर्थ दौड़ना नहीं है। अतः यह भी अप्रामाणिक है। शुकदेवलाल जी, गौड़ जी और दीन जी आदि टीकाकारों ने 'सरव' का अर्थ 'व्यायाम या कसरत' किया है। 'तुलसी-शब्दसागर' भी इसी का समर्थन करता है। 'पाइअ सद्द महण्णवो' के अनुसार इसका अर्थ 'भुजपरि सर्प का एक प्रकार' है जो अत्यधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। अर्थ-निश्चय के 'प्रकरण' साधन से 'सरव करहिं' का अर्थ होगा 'भुजाओं को घुमा (परिसर्पण कर) रहे हैं।' भुजाओं के घुमाने में ही दण्ड, व्यायाम या कसरत का भी भाव आ जाता है।

कोशों में 'पाइक' का अर्थ 'पैदल चलने वाले सिपाही' दिया है। अधिकांश टीकाकारों ने भी 'पैदल चलने वाले सेवकगण' अर्थ किया है। अतः यहाँ पर 'पाइक' का अर्थ 'पैदल चलने वाले सेवकगण' होगा। इसके आगे 'फहराहीं' शब्द है। 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में 'फहराना' का अर्थ है—कोई चीज इस प्रकार खुली छोड़ देना जिसमें वह हवा में हिले और उड़े।[1] अतः 'पाइक फहराहीं' का अर्थ होगा—'पैदल चलने वाले सेवक-गण फहरा रहे हैं।' गौड़ जी ने 'दीप-देहरी न्याय' से अन्वय करके जो अर्थ किया है, वह संगत नहीं प्रतीत होता। अब प्रश्न है कि पैदल चलने वाले सेवकगण क्या फहरा रहे हैं? भारतीय आचार्यों ने अपूर्ण वाक्यों का अर्थ-निश्चय अप्रयुक्त शब्दों के अध्याहार (पूर्ति) से बताया है। अतः यहाँ 'पाइक फहराहीं' का अर्थ 'शब्दाध्याहार' 'अर्थ-विनिश्चय के साधन से होगा—'पैदल चलने वाले सेवकगण पताका फहरा रहे हैं।' 'झंडा फहराना' अर्थ अधिकांश लोगों ने किया भी है। उक्त अर्धाली के उत्तरार्ध का अर्थ होगा—'पैदल चलने वाले सेवकगण भुजाओं को घुमा रहे हैं और पताका फहरा रहे हैं।'

---

१. दे० पृ० ६७४

'बगमेल'

हरषि परस्पर मिलन हित कछुक चले 'बगमेल'।
जनु आनंद समुद्र दुइ मिलत बिहाइ सुबेल ॥[१]

'बगमेल' के अनेक अर्थ टीकाकारों ने किये हैं। वीरकवि ने इसका अर्थ 'कुछ चले और नगिचा गये' किया है।[२] रामचरणदास के अनुसार—'तब हर्षि के नागारे दै परस्पर मिलन हेतु बगमेल कही हाथी घोड़े रथन की बागैं दोउ दिशि ते छूटती भईं।'[३] पंजाबी जी 'बगमेल कहिये बाहन चलाइ के आगे भये' अर्थ किया है।[४] विनायक राव के अनुसार--भेंट करने हेतु आगे बढ़े।[५] हरिहर-प्रसाद जी ने 'बाग मिलाय चले'[६], अवधबिहारीदास जी ने 'बाग ढीली कर मिलाये हुए चले'[७], दीन जी ने 'बाग मिलाकर चाल मिलाये हुए धीरे-धीरे दोनों चले'[८] और रामबख्श पाण्डेय ने 'बगमेल, अर्थात् घोड़े की बाग ढीली कर छोड़ा'[९], ज्वालाप्रसाद जी[१०] एवं श्रीकांतशरण जी ने[११] 'बागें ढीली करके उन्हें मिलाये हुए चलकर आ मिले' अर्थ किया है। ग्राउस महोदय[१२], गौड़ जी[१३], 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक[१४] और बाबू श्यामसुन्दरदास जी[१५] ने 'दोनों ओर से पंक्ति बाँधे हुए सवार चले' अर्थ किया है। श्री विजयानंद त्रिपाठी ने भी दीन

१. मानस १।३०५
२. मानस, पृ० ३५८
३. रामा०, पृ० ४३२
४. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ३८६
५. वि० टी०, पृ० २२३
६. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० २०७
७. मानस, पृ० ३२१
८. मा० पी०, बाल०, खं० ३, पृ० ६६४
९. वही, पृ० ६६४
१०. सं० टी०, पृ० ३४३
११. सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ७६
१२. "फॉर ए सिटिल दे ज्वाइन्ड दिअर रैंक्स एंड मार्च्ड इन दिअर ज्वॉय एज वन बाडी फॉर द सेक ऑव् कम्पनी, लाइक टु आसेन्स ऑव् ब्लिश दैट हैड बर्स्ट दिअर बॉन्ड्स एंड कम टुगेदर।"—रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० १४७
१३. मा० पी० बा०, खं० ३, पृ० ६६४
१४. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, पृ० २६८
१५. रामचरितमानस, पृ० २६२

जी की तरह 'बाग मिलाये हुए मिलने के लिए आगे बढ़े' अर्थ किया है।[१] बैजनाथ जी ने 'बागै मिलाइ जानि' अथवा 'वेग ते चले' अर्थ किया है।[२] पोद्दार जी[३], श्री स्वामी प्रज्ञानंद सरस्वती[४] और रामनरेश त्रिपाठी[५] जी ने 'वेग से (बेतहाशा)' अर्थ किया है। 'मानस-पीयूषकार' ने 'बागों को ढीली किये और मिलाये हुए दौड़कर चले' अर्थ किया है।[६]

इस प्रकार 'बगमेल' के 'अत्यन्त निकट, हाथी-घोड़े की बागें दोनों ओर छूटीं, बाहन चलाकर, बाग मिलाकर, बाग ढीली कर या छोड़कर, पंक्ति बाँधे हुए सवार और वेग से' लगभग ७ अर्थ टीकाकारों ने किये हैं।

'हिन्दी शब्दसागर' में 'बगमेल' का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—

बगमेल—१. संज्ञा पुं० (हि० बाग + मेल) दूसरे घोड़े के साथ बाग मिलाकर चलना। पाँक्त बाँधकर चलना। बराबर-बराबर चलना। उदा०—जो गज मेलि हौद संग लागे। तो बगमेल करहु संग लागे।—जायसी। २. बराबरी, समानता। तुलना। उदा०—भूधर भनत ताकी बास पाय सोर करि कुत्ता कोतवाल को बगानो बगमेल में।—भूधर।

बगमेल—क्रि० वि० पंक्तिबद्ध। बाग मिलाये हुए। साथ-साथ। उदाहरण-स्वरूप उक्त दोहे को ही प्रस्तुत किया गया है।[७]

'तुलसी-शब्दसागर' में इसका अर्थ है—(सं० वल्गा+मेल) १. बाग मिलाकर या घोड़े की बाग ढीली करके। २. एक पंक्ति बनाकर। ३. एकसाथ धावा करना।[८]

'बगमेल' अनेकार्थी शब्द है। इसका अर्थ 'प्रकरण' से करना चाहिए। 'हाथी-घोड़े की बागें दोनों ओर से छूटीं' इस अर्थ में 'हाथी की बागें' का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। इसी प्रकार 'बाहन चलाकर' अर्थ भी किसी कोशादि में नहीं प्राप्त होता। अतः उक्त दोनों अर्थ अप्रामाणिक हैं। गोस्वामी जी ने इस शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है—

---

१. वि० टी०, प्र० भा० बाल०, पृ० ५०६
२. रामा०, बाल०, पृ० ६५०
३. मानस, पृ० २८२
४. मा० पी० बा०, खंड ३, पृ० ६६४
५. मानस, पृ० ३३१
६. मा० पी० बा०, खं० ३, ६६३
७. दे० पृ० ३३४७
८. दे० पृ० ३२२

आइ गए 'बगमेल' धरहु धरहु धावत सुभट।
जथा बिलोकि अकेल बाल रबिहि घेरत दनुज ॥[१]

पं० महावीरप्रसाद मालवीय 'वीरकवि' जी का 'नगिचा' (अत्यंत निकट, बिल्कुल समीप) वाला अर्थ यहाँ उपयुक्त बैठता है, क्योंकि सोरठे की दूसरी पंक्ति में उत्प्रेक्षा की गई है कि जैसे बाल सूर्य को अकेला देखकर दैत्य घेर लेते हैं, अर्थात् चारों ओर से समीप आ जाते हैं।

अन्यत्र इसका प्रयोग है—

बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह 'बगमेल' ॥[२]

यहाँ 'मदन कीन्ह बगमेल' में 'लगाम छोड़कर बेतहाशा दौड़ते हुए ले जाने' वाले अर्थ की संगति है। अतः बैजनाथ जी, पोद्दार जी और रामनरेश त्रिपाठी जी के 'बेतहाशा' (वेग से) अर्थ का औचित्य यहाँ पर है। 'तुलसी-शब्दसागर' का 'एकसाथ धावा करने' के अर्थ की भी यहाँ संगति है। 'बगमेल' का 'बाग छोड़ने' का अर्थ वहाँ पर होगा जहाँ इसका प्रयोग चढ़ाई या दौड़ने के साथ हुआ हो।

कवितावली में भी इसका प्रयोग है—

सूर सँजोइल साजि सुबाजि सुसेल धरे बगमेल चले हैं।[३]

ग्राउस महोदय, गौड़ जी और बाबू श्यामसुन्दरदास जी आदि टीकाकारों के 'पंक्ति बाँधे हुए' अर्थ की संगति यहाँ पर है। कोशों में भी 'बगमेल' का एक अर्थ पंक्ति बनाकर दिया है।

'बगमेल' का शाब्दिक अर्थ 'बाग मिलाये हुए' है। उपर्युक्त व्याख्येय दोहे के 'बगमेल' शब्द का अर्थ न तो निकटतासूचक है और न 'धावा करने' एवं 'बेतहाशा (वेग से)' के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि यहाँ चढ़ाई या आक्रमण का प्रसंग नहीं है। 'प्रकरण' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यहाँ 'बगमेल' शब्द का अर्थ है—'बागों को मिलाये हुए।' पीयूषकार ने 'बागों को ढीली किये और मिलाये हुए' दोनों अर्थ किये हैं। 'तुलसी-शब्दसागर' ने दोनों अर्थ को एक ही माना है। अतः या तो 'बागों को ढीली किये' अर्थ होगा या 'बागों को मिलाये हुए'। 'बागों को मिलाये हुए' ही यहाँ युक्तिसंगत लगता है। 'हिन्दी शब्दसागर'

१. मानस ३।१८।०
२. मानस ३।३७
३. कविता० ६।३३

में भी यही अर्थ दिया हुआ है। इस प्रकार उक्त दोहे का अर्थ होगा—'प्रसन्न होकर परस्पर मिलने हेतु दोनों ओर से कुछ-कुछ लोग बागों को मिलाये हुए दौड़कर चले, मानो आनंद के समुद्र मर्यादा छोड़कर मिल रहे हों।'

'माँजहि' (माँजा)

नयन सजल तन थर-थर काँपी। 'माँजहि' खाइ मीन जनु माँपी॥[१]

इस अर्धाली के 'माँजहि' का अर्थ लोग अनेक प्रकार से करते हैं। हरिहर-प्रसाद जी के अनुसार 'नवीन पावस के जल परे ते कबहूँ-कबहूँ माजा नाम एक रोग होता है वा सेहुड़ आदि डारे ते जल में जो फेन उत्पन्न होता है ताको माजा कहत हैं।'[२] पंजाबी जी के मत से—'माजा नाम कुंडी (बंसी जिसमें चारा गूथ कर जल में गिराते हैं) है मापी नाम तड़फने का है अथवा माजा नाम पावस के नवीन जल का भी है अथवा थोहर को काटकर जल मों पाय देते हैं उस कर भी मीन तड़फते हैं उसका नाम भी माजा है।'[३] ज्वालाप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं—'वर्षा के नवीन जल से एक रोग उत्पन्न होता है। सेन्दुर आदि के जल में डालने से जल में जो फेन होता है, उसको माञ्जा कहते हैं अथवा मछली पकड़ने के काँटे को भी मञ्जा कहते हैं।[४] अवधबिहारीदास जी कहते हैं कि 'जब पहाड़ों का सड़ा हुआ जल (माजा) नदियों में आता है और उसे मछलियाँ खा लेती हैं तो व्याकुल हो जाती हैं।'[५] बाबू श्यामसुन्दरदास के अनुसार—'माँजा एक तरह का रोग है जो अक्सर बरसात के प्रारम्भ में मछलियों को होता है। उससे मछलियाँ तड़पती और मर जाती हैं।'[६] विजयानन्द त्रिपाठी के शब्दों में—'पहिले पानी बरसने से जो गाज नदी में उत्पन्न होता है, उसे खाकर मछली बड़ी विकल हो जाती हैं।'[७] एक वैद्यराज जी 'माँजा' को एक ओषधि बताते हैं—'एक माँझ नाम की औषधि होती है। इसे कुचलकर पानी में डाल दीजिए, पानी काला हो जायगा। मछलियाँ और जल के छोटे जंतु मरकर ऊपर उतरा जायेंगे। इसके बाद दो-चार दिन में जल निदोष और स्वच्छ हो जायेगा, जैसा कि 'परमैगनेट ऑव् पोटाश' डालने से होता

१. मानस २।५४।४
२. रा० परि० परिशिष्ट, प्र०, पृ० ३३
३. मा० भा०, प्र० भा०, संत सिंह, पृ० ६७
४. सं० टी०, ज्वालाप्रसाद मिश्र, पृ० ६६
५. मानस, पृ० ४३४
६. वही, पृ० ४००
७. वि० टी०, अयो , पृ० २६४

है।'[१] श्री रामचरणदास[२], शुकदेवलाल जी[३], श्रीकांतशरण जी[४] और पोद्दार जी[५] आदि टीकाकारों ने 'प्रथम वर्षा के जल के फेन' को 'माँजा' कहा है।

इस प्रकार टीकाकारों के अनुसार—'माँजहि' के लगभग ८ अर्थ हैं—माजा नामक रोग जो बरसात के प्रारंभ में मछलियों को होता है, एक माँझ नाम की ओषधि, पानी में सेहुँड़ आदि के सड़ने से निकला हुआ फेन, बंसी जिसमें चारा गूँथ कर जल में गिराते हैं, सिंदूर आदि के डालने से जल में जो फेन होता है, पहाडों का सड़ा हुआ जल, पहला पानी बरसने से जो गाज नदी में उत्पन्न होता है और प्रथम वर्षा के जल का फेन।

'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ इस प्रकार है—संज्ञा पुं०, पहली वर्षा का फेन जो मछलियों के लिए मादक होता है।[६] 'तुलसी-शब्दसागर' के अनुसार यह एक प्रकार का रोग है जो जलचरों को बरसाती पानी पीने से होता है।[७]

'माँजा' देशज शब्द है। 'तुलसी-शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित बतायी गयी है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'माँजा' शब्द के विकास का अनुमान 'मज्ज' से करते हैं।[८] बाबू श्यामसुन्दरदास जी बाबा हरिहरप्रसाद के अर्थ को ग्रहण कर 'माँजा' को रोग कहते हैं, किन्तु रोग कहीं खाया नहीं जाता। व्याख्येय शब्द है 'माँजहि खाइ'। अतः यह अर्थ अनुपयुक्त है। 'माँजा' शब्द का अर्थ जब रोग किया जा सकता है, तो उसको दूर करने के लिए ओषधि भी चाहिए। अतः एक वैद्यराज जी इसको एक ओषधि कहते हैं। एतदर्थ समस्त नदियों, तालाबों आदि के तट पर मात्र 'माँझ' ओषधि ही होनी चाहिए, क्योंकि इसकी बहुतायत से ही मछलियों का स्वाहाकार हो सकता है। किन्तु जहाँ पर यह नहीं होती, वहाँ के छोटे जलजंतु कैसे मर जाते हैं। अतः यह अर्थ भी उचित नहीं है। इसी प्रकार सेहुँड़ आदि के सड़ने से निकला हुआ फेन और सिंदूर आदि के डालने से जल में जो फेन होता है, ये अर्थ भी काल्पनिक और आश्चर्यजनक हैं।

१. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७१-७२
२. रामा०, पृ० ५५१
३. रामा०, पृ० २६
४. सि० ति०, पृ० १०१३
५. मानस, पृ० ३७८
६. दे० पृ० ३८७०
७. दे० पृ० ३८४
८. पादटिप्पणी, गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७१--७२

'माँजा' का तात्पर्य 'पहाड़ों का सड़ा हुआ जल' भी असंभव है, क्योंकि तालाबों में ये जल कैसे पहुँच जाते हैं, वहाँ पर भी तो जलजंतु व्याकुल और मृत देखे गये हैं।

इसका अर्थ 'बंसी' भी नहीं हो सकता, क्योंकि मछलियों के मुख में इसके फँसने से वे मतवाली नहीं होतीं। उक्त अर्धाली में 'मापी' शब्द आया है। ऐसा अर्थ करने पर वह निरर्थक हो जाता है।

विजयानन्द त्रिपाठी जी को 'पहिले पानी बरसने से उत्पन्न गाज' का तात्पर्य संभवतः मछलियों के ध्वंस होने से है। यदि ऐसा नहीं है, तो यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि 'गाज' शब्द का अर्थ वज्रपात-ध्वनि, बिजली और वज्र आदि से है। नदी में 'गाज' (वज्रपात-ध्वनि, वज्र) उत्पन्न होता है, यह संदिग्ध अर्थ है। यहाँ पर 'माँजहि' का अर्थ होगा 'प्रथम वर्षा के जल का फेन'। 'हिन्दी शब्दसागर' में यही अर्थ दिया हुआ है। अधिकांश टीकाकारों ने भी यही अर्थ किया है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ प्रासंगिक एवं तर्कसंगत है। स्वयं गोस्वामी जी ने उक्त अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है—

> तलफत विषम मोह मन मापा। 'माँजा' मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा।[1]
> संकर-सहर सर, नरनीर बारिचर,
> बिकल सकल महामारी माँजा भई है।[2]

उक्त अर्धाली का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

'नेत्रों में आँसू भर आया है, देह थर-थर काँपने लगी। मानो मछली प्रथम वर्षा के जल के फेन को खाकर मादकता को प्राप्त हो गयी है।'

'अैक'

> इन्हहि देखि बिधि मनु अनुरागा। पटतर जोगु बनावइ लागा।।
> कीन्ह बहुत श्रम 'अैक' न आए। तेहि इरिषा बन आनि दुराए।।[3]

प्रस्तुत चौपाई का विवादास्पद शब्द 'अैक' है। हरिहरप्रसाद जी के अनुसार—'एक कहें अंदाजा में न आए तेहि ईर्षा से बन में आदि दुराय वा एक कहें एक्यता अर्थात् तादृश एक भी न आए वा इहाँ एक के अर्थ में है अर्थात् जोड़ी के सम बनने को कहै एक भी न बने वा समस्त शरीर सम बनने को

१. मानस २।१५२।६

२. कविता० ७।१७६

३. मानस २।११६।५-६

कहै एक अंग भी न बनो वा जेतने बनाए तिनमें एक भी समता लायक न बना।'[१] श्री रामचरणदास ने पाठ-परिवर्तन करके अर्थ किया है—'तहाँ एक कही अनेक उपाय करि हार्‌यो नहीं बन्यो तब त्यहि ईर्ष्या ते वन को पठावत भयो है।'[२] श्री अवधबिहारीदास ने अपने अर्थ में उक्त शब्द को ही नहीं आने दिया—'बहुत परिश्रम किया पर नहीं बन पाया।'[३] 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक ने 'एक' पाठ मानकर अर्थ किया है—'पर बहुत परिश्रम करने पर भी जब वह एक भी ऐसा न बना पाया, तो इसी डाह के मारे उसने इन्हें वन में ला छिपाया।'[४] शुकदेवलाल ने 'एक' पाठ मानकर अर्थ किया है—'अपना सा बहुतेरा श्रम किया एक भी न बना।'[५] श्री रामेश्वर भट्ट के अनुसार—'पर जब बहुत मेहनत करने पर भी इनका सा न बना होगा।'[६] विनायक राव के मत से —'जब एक भी ऐसा न बना सका।'[७] ग्राउस महोदय ने अर्थ किया है कि 'कोई बस नहीं आयी।'[८] रामनरेश त्रिपाठी जी ने 'समता' अर्थ करते हुए लिखा है कि 'जब बहुत-सा परिश्रम करने पर भी समता न आई।'[९] दीन जी के अनुसार—'ऐक नहिं आए—ढाँचा न बन सका, खाका न खिंचा।'[१०] बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी 'समता न आई' अर्थ किया है।[११] श्रीकान्तशरण जी ने 'ऐक्य=समानता, सादृश, वा अन्दाजा' अर्थ किया है।[१२] मानस-पीयूषकार ने 'अैक' पाठ मानकर अर्थ किया है कि 'बहुत परिश्रम किया, पर अटकल ही में न

---

१. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १७०-७१

२. करि अनुमान एक नहिं आवा। त्यहि कारण वन आनि दुरावा॥
—रामा०, पृ० ६०६

३. मानस, पृ० ४९७

४. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४६४

५. राना०, पृ० ६४

६. मानस, पृ० ४८९

७. वि० टी०, पृ० १७७

८. "ह्वेन ही सा देम, गाड वाज सो प्लीज्ड दैट ही एसेड टु मेक दिअर मैच, बट आफ्टर मच लेबर, नथिन्ग केम आव् इट, एंड दस इन स्पाइट ही हैज सेंट एंड वरीड देम इन द वुड्स"—रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० २३५

९. मानस, पृ० ५२०

१०. मा० पी०, अयो०, पृ० ४९२

११. मानस, पृ० ४५८

१२. मानस, सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० ११३९

आया कि कैसे बनावें।'[१] विजयानंद त्रिपाठी जी ने भी 'कोई अन्दाज नहीं लगा' अर्थ किया है।[२] पोद्दार जी ने पाठ 'ऐक' माना है और अर्थ किया है कि "कोई उसकी अटकल में नहीं आये, पूरे नहीं उतरे।'[३] वीरकवि जी ने 'अइक न आये' पाठ स्वीकार करके अर्थ किया है—'अटकल नहीं आया।'[४] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इसका अर्थ 'अंदाज न लगा' किया है।[५]

उक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अब तक टीकाकारों ने 'अैक—ऐक' के लगभग ५ अर्थ किये हैं—समानता या सादृश्य, अनेक उपाय करके हार गया, एक भी ऐसा न बन पाया, ढाँचा न बन सका, खाका न खिचा और अटकल या अन्दाज़।

'अैक—ऐक' शब्द का अर्थ हमें अवधी आदि किसी कोश में नहीं प्राप्त हुआ। श्री रामचरणदास ने 'करि अनुमान एक नहिं आवा। त्यहि कारण वन आनि दुरावा' पाठ स्वीकार किया है। किन्तु लगभग सभी प्राचीन प्रतियों एवं अब तक के प्रकाशित सभी संस्करणों में 'आए एवं दुराए' तुकांतयुक्त पाठ ही दृष्टिगोचर हुए हैं। श्री रामचरणदास का पाठ मान लेने पर भी 'एक' की समस्या का निदान नहीं हो पाता। फिर 'एक' का 'अनेक उपाय करके हारना' अर्थ भी हास्यास्पद है। 'एक' का 'एक भी ऐसा न बन पाया' अर्थ स्वीकार करने पर 'कीन्ह बहुत श्रम एक न आवा' पाठ होना चाहिए। क्योंकि 'एक' एकवचन है, इसलिए 'आए' बहुवचन क्रिया उसके साथ असंगत है। 'आवा' पाठ भी असंभव है, क्योंकि 'दुराए' का तुक 'आवा' नहीं हो सकता। 'आवा' के लिए 'दुरावा' भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह क्रिया बहुवचन कर्म से संबद्ध है। अतः 'एक' का यह अर्थ अनुपयुक्त है। 'ऐक' पाठ मानकर उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों ने 'साम्य' अर्थ किया है। उनके विचार से 'ऐक' ऐक्य का अपभ्रंश है। 'ऐक्य' से 'ऐक' की व्युत्पत्ति मुझे कहीं प्राप्त नहीं हुई। फिर 'ऐक्य' एकवचन के साथ 'आए' बहुवचन की क्रिया कैसे लग सकती है? दीन जी का 'ढाँचा न बन सका, खाका न खिचा' वाला अर्थ अटकल या अंदाज में ही समाविष्ट हो जाता है। यहाँ पर 'एक' पाठ स्वीकार करके साधु अर्थ नहीं लग सकता। वीरकवि जी ने 'अइक' और मानस-पीयूषकार तथा काशिराज-

१. मा० पी०, अयो०, पृ० ४६२
२. वि० टी०, अयो०, पृ० १७४
३. मानस, पृ० ४२६-३०
४. वही, पृ० ५७६
५. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७५

संस्करण के सम्पादक ने 'अैक' पाठ माने हैं जो 'ऐक' या अवधी प्रकृति के अनुसार 'अइक' या 'अैक' ठेठ प्रयोग हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'अैक' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'अंकन' से है, ऐसा अनुमान करते हैं।[1] उनके अनुसार 'इस अँगूठी की कीमत आँको' ऐसा कहा जाता है। यहाँ 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से 'अैक' का अर्थ 'अंदाज, अटकल या थाह लगाना' है। मानस-पीयूषकार, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, विजयानन्द त्रिपाठी जी, पोद्दार जी और वीरकवि जी आदि विद्वानों ने उक्त अर्थ को ही स्वीकार किया है। बाबा हरिहरप्रसाद ने भी अनेक अर्थों में 'अंदाज' भी एक अर्थ स्वीकार किया है। दीन जी के अनुसार कहाँ कितना पानी है, किधर से नाव ले जाना चाहिए, इस प्रकार के अंदाज लगाने की चेष्टा को केवट लोग 'अइकना' कहते हैं।[2] गोस्वामी जी ने इसी अइकना का प्रयोग एक स्थान पर और किया है—

'केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ अैक नहिं आवा॥[3]

इस 'अैक' के स्थान पर भी टीकाकारों ने 'एक' रखकर अनेक ऊटपटांग अर्थ किये हैं। राजापुर की प्रति में 'अैक' पाठ है।[4] पाठान्तर 'ऐक' भी मिलता है। यहाँ पर भी 'अैक' का अर्थ है—अंदाज न लगाते बना; राम, लक्ष्मण और सीता की तरह का ढाँचा न बन सका। उक्त व्याख्या के शब्द सहित पूरी चौपाई का अर्थ इस प्रकार होगा—

'इन्हें देखकर (इनके सौंदर्य को देखकर) ब्रह्मा का मन आकृष्ट हुआ। तब इनकी समता के योग्य (इनके सदृश) बनाने लगा। ब्रह्मा ने बहुत परिश्रम किया, पर अंदाज (अटकल) ही में न आया कि कैसे बनायें। अर्थात्, राम, लक्ष्मण और सीता की समता के योग्य बनाना तो दूर रहा, अंदाज ही न लगा सके। इसी ईर्ष्या के फलस्वरूप इनको वन में लाकर छिपा दिया।'

'खेलवार'

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस 'खेलवार'।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखें भा भिनुसार॥[5]

उक्त दोहे के 'खेलवार' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद

१. गोसाईं तुलसीदास, पाटटिप्पणी, पृ० १७३-७५
२. मा० पी०, अयो०, पृ० ६७१
३. मानस २।२७५।४
४. मा० पी०, अयो०, पृ० ६७१
५. मानस २।२१४।०

है। श्री रामचरणदास के अनुसार—'खेलवार' कही पक्षिन को बझावने वाला।[१] ग्राउस महोदय[२], रामनरेश त्रिपाठी जी[३], रामेश्वर भट्ट[४], विनायक राव[५], ज्वालाप्रसाद जी[६] और बाबू श्यामसुन्दरदास[७] आदि टीकाकारों ने भी इसका अर्थ 'बहेलिया' किया है। हरिहरप्रसाद जी[८], पंजाबी जी[९], शुकदेवलाल जी और श्रीकान्तशरण जी[१०] आदि टीकाकारों ने 'खेलाड़ी' अर्थ किया है। पोद्दार जी[११], विजयानन्द त्रिपाठी जी[१२], 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक[१३], मानस-पीयूषकार[१४] और श्री अवधबिहारीदास[१५] आदि टीकाकारों ने 'खेलवाड़' अर्थ किया है। वीरकवि जी ने दोनों अर्थों को मिलाकर अर्थ किया है कि 'मुनि की आज्ञा खेलवाड़ करने वाला बहेलिया है।'[१६]

इस प्रकार 'खेलवार' के टीकाकारों ने दो अर्थ किये हैं—'बहेलिया' और 'खेलवाड़'। 'मानक हिन्दी कोश'[१७] और 'तुलसी-शब्दसागर'[१८] में उक्त दोनों अर्थ दिए हुए हैं।

१. रामा०, पृ० ६६६
२. "ऐफ्लुअॅन्स, लाइक द चकवी, एंड भरत एज हर मेट, बाइकम्पलशन ऑव् द सेंट्स आर्डर, विअर प्रिजंड टुगेदर दैट नाइट, एज बाई ए 'फाउलर', इन द केज ऑव् द हर्मिटेज टिल डाउन ब्रोको"—द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० २७७
३. मानस, पृ० ६१४
४. मानस, पृ० ५७७
५. वि० टी०, ३२०
६. सं० टी०, पृ० ५६१
७. मानस, पृ० ५४१
८. रामा०, परि० परिशिष्ट, प्र०, पृ० १२२
९. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० २४८
१०. रामा०, पृ० ११३
११. मानस, सि० ति०, द्वि०खं०, पृ० १३०३
१२. मानस, पृ० ५०४
१३. वि० टी० अयो०, पृ० ३१०
१४. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५४५
१५. मा० पी० अयो०, पृ० ७७१
१६. मानस, पृ० ५८३
१७. वही, पृ० ६८१
१८. दे० पृ० ४४
१९. दे० पृ० ११२

'खेलवार' प्रांतिक शब्द है। यहाँ 'प्रकरण' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से इसका अर्थ 'बहेलिया' है। प्रकरण है 'सम्पत्ति-रूपी चकवी और भरत-रूपी चक का' आश्रम-रूपी पिंजड़े में बन्द करने का। प्रायः बहेलिया (शिकारी) ही पक्षियों को पकड़ कर पिंजड़ा में बन्द करके अपना व्यवसाय करता है। इसीलिए कवि ने मुनि की आज्ञा (निमंत्रण) को बहेलिया कहा है। यहाँ 'बहेलिया' अर्थ लेने से ही सम-अभेद रूपक की पुष्टि भी होती है। स्वयं गोस्वामी जी ने भी उक्त शब्द का प्रयोग 'बहेलिया' के अर्थ में किया है—मानो 'खेलवार' खोली सीसताज बाज की।[१] ग्राउस महोदय, रामनरेश त्रिपाठी और बाबू श्यामसुन्दरदास आदि अनेक विद्वानों ने भी इसका अर्थ 'बहेलिया' ही किया है। अतः उक्त दोहे का इस प्रकार अर्थ करना चाहिए—'सम्पत्ति चकवी है। भरत जी चकवा हैं। मुनि की आज्ञा (निमंत्रण) बहेलिया है जिसने उस रात को आश्रम-रूपी पिंजड़े में दोनों को बंद कर रखा है। उसी स्थिति में प्रातःकाल हो गया।'

'ओड़िअहिं'

होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहुँ के घाए ॥[२]

प्रस्तुत शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में कुछ भी मतभेद नहीं है। प्रायः सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ—'वज्र की चोट (वार) हाथ ही अपने ऊपर लेता है या पसारा जाता है, अथवा वज्र के आघात भी हाथ से ही रोके जाते हैं' किया है। किन्तु आधुनिक शिक्षाप्राप्त पाठकों की पैठ उक्त शब्द में सद्यः नहीं हो सकती। 'ओड़ना' लोकभाषा का शब्द है। गोस्वामी जी ने लोक-शब्दों का प्रयोग अपने साहित्य में विपुल मात्रा में किया है। यही कारण है कि आज उनका साहित्य इतना लोकप्रिय हो गया है। इस शब्द का प्रयोग केवल काव्य में प्राप्त होता है। यह प्रान्तिक शब्द है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति सं० 'ओणन' से बतायी गयी है।[३] 'ओड़' धातु रोकना के अर्थ में प्रचलित है। इससे 'ओड़न' भाववाचक क्रियार्थक संज्ञा बनाई गयी है। कर्म-वाच्य की तिङन्त बहुवचनीय क्रिया 'ओड़िअहिं' का अर्थ है—रोके जाते हैं। 'ओड़न' शब्द का अर्थ है—रोकने वाला साधन, अर्थात् वह साधन जिससे तलवार का वार रोका जाता है—ढाल, फरी। इस अर्थ में इसका प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है—

---

१. कविता० ६।३०

२. मानस २।३०।८

३. दे० पृ० ३६७

एक कुसल अति ओड़न खाँड़े ।[१]

जायसी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है—'सरजै धरि ओड़न पर लीन्हा ।।'[२]

'ओड़िअत' और 'ओड़िये' शब्द का प्रयोग भी गोस्वामी जी ने किया है—

पलक पानि पर 'ओड़िअत' समुझि कुघाइ सुघाइ ।।[३]

यहाँ पर इसका अर्थ है—ओड़ते हैं, रोकते हैं । ओड़िये = फैलाइये, पसारिए का प्रयोग कवितावली में किया है—

तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िये ।।[४]

उक्त 'ओड़िअहिं' शब्द में जितनी अर्थगर्भिता है, वह 'रोके जाते हैं', 'पसारे जाते हैं' आदि समानार्थी शब्दों में नहीं है । गोस्वामी जी ने तत्सम शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ विशिष्ट स्थलों पर लोकभाषा के सजीव शब्दों को नगीने की भाँति जड़ दिया है जिनमें अमित अर्थ व्यक्त करते का सामर्थ्य तो है ही, साथ ही उनके स्थान पर समानार्थी शब्दों के रख देने से भाव-संवहन की वैसी शक्ति नहीं रह जाती । उदाहरणार्थ—मानस के पंचम सोपान के ३१वें दोहे की ७वीं और ८वीं अर्धाली है—

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा । स्वास जरइ छन माह सरीरा ।।
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी । जरे न पाव देह बिरहागी ।।

यहाँ पर शब्दों के प्रयोग की कला का सौन्दर्य दर्शनीय है । तनु, शरीर और देह तीनों का अर्थ एक होते हुए भी धात्वर्थ भिन्न-भिन्न हैं । तूल की कोमलता के लिए तनु (तन + उ) शब्द का प्रयोग करते हैं क्योंकि यह भी सुकुमारता का बोधक है । छन के लिए प्रतिक्षण क्षय होने वाले 'शरीर' (शृ + ईरन) और जल से सींचे जाते रहने के कारण उत्पन्न हुई स्थूलता और पुष्टता के लिए 'देह' (दिह + घञ्) शब्द का प्रयोग किया है । शब्दों के किंचित् परिवर्तन से अर्थ का अनर्थ हो सकता है ।

डॉ० छोटेलाल दीक्षित के शब्दों में—'ओड़िअहिं' क्रियापद का अर्थ सहना या अपने उपर ले लेना है । अर्थ साधारण है, पर संदर्भ के अनुरूप सटीक प्रयोग होने से इसमें अपूर्व चमत्कार और अर्थगर्भिता आ गई है । इस क्रियापद में भाव-

---

१ मानस २।१९०।६

२. पद्मावत ३३६।६

३. दोहा० ३२५

४. कविता० ७।२५

संवहन और चित्रांकन दोनों की क्षमता है। 'ओड़िअहिं' पद से एक ओर हाथों का धर्म संवेद्य हो रहा है, तो दूसरी ओर किसी भी प्रकार के प्रहारक अस्त्र-शस्त्र के सामने शरीर के अन्य अंगों के रक्षार्थ स्वयं पसर जाने का व्यापार मूर्त बन रहा है।[१]

'कुराईं'

कुस कंटक काकरीं 'कुराईं'। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं ॥[२]

उक्त अर्धाली के 'कुराईं' शब्द के अर्थ में मतभेद है। शुकदेवलाल जी इसका अर्थ बिलकटु[३], विनायकराव जी कटसरैया[४], रामनरेश त्रिपाठी जी कुरैया,[५] ज्वालाप्रसाद जी कोरदार[६], श्रीकांतशरण जी गढ़े आदि से कुराह[७] और वीरकवि जी कुराह[८] अर्थ करते हैं। श्री विजयानंद त्रिपाठी के अनुसार रास्ते के छोटे गड़हे जिनके चारों ओर घास-पात जम जाते हैं, उन्हें 'कुराईं' कहते हैं।[९] श्री हरिहरप्रसाद[१०], रामचरणदास[११] और मानस-पीयूषकार[१२] आदि टीकाकारों ने 'गड़हे' अर्थ किया है। पोद्दार जी ने 'दरारें' अर्थ किया है।[१३]

इस शब्द का प्रयोग केवल काव्य में हुआ है। 'बिलकटु' शब्द का प्रयोग मुझे कहीं नहीं मिला। कोशों से भी इसका अर्थ ज्ञात न हो सका। 'कटसरैया' अड़ूसे की तरह का एक काँटेदार पौधा होता है।[१४] किन्तु कटसरैया से 'कुराईं' शब्द का बनना असंभव-सा लगता है। कुरैया (सं० कुटज) सुन्दर फूलों वाला जंगली पेड़ है जिसके बीज 'इन्द्रजौ' कहलाते हैं।[१५] कुरैया से 'कुराईं' बनना

१. तुलसी का सौंदर्य-बोध, पृ० १४०
२. मानस २।३१०।५
३. रामा०, पृ० १६१
४. वि० टी०, अयो०, पृ० ४५६
५. मानस, पृ० ७११
६. सं० टी०, पृ० ६६
७. मानस, सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० १४८०
८. मानस, पृ० ७८६
९. वि० टी०, द्वि० भा०, पृ० ४५१
१०. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १७६
११. रामा० पृ० ७६२
१२. मा० पी०, अयो०, पृ० १०८२
१३. मानस, पृ० ५८१
१४. सं० हि० शब्द०, पृ० १५६
१५. वही, पृ० २१२

बहुत असंभव नहीं है, किन्तु कवि मार्ग के छोटे-छोटे कष्टदायक अवरोधों का वर्णन कर रहा है। जैसे कुस, काँटा और कंकड़ियाँ आदि। अतः यहाँ कुटज के अर्थ में 'कुराईं' संगत नहीं लगता, तब तक जब तक कि वह भी मार्गावरोधक सिद्ध न हो जाय। इसकी व्युत्पत्ति सं० 'कु' और फा० 'राह' से हुई है। नदी के किनारे की मटियार भूमि को (जो धूप से फट जाती है और पशुओं आदि के खुरों से जो गड्ढे हो जाते हैं, उन्हें) 'कुराईं' कहते हैं। ऐसे स्थलों पर चलना बहुत ही कष्टदायक होता है। पोद्दार जी ने भी 'कुराईं' का अर्थ 'दरारें' किया है। ज्वालाप्रसाद जी के 'कोरदार' का भी भाव इसमें आ जाता है। उपर्युक्त अनेक टीकाकारों ने भी इसका अर्थ 'गड्ढे' किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में भी यही अर्थ दिया हुआ है।[१] गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में भी इसका प्रयोग किया है, किन्तु वहाँ शुद्ध घास का ही कोई रूप प्रतीत होता है—'काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाउँ बझाऊ रे।' क्योंकि इसके साथ आये हुए अन्य शब्द वैसा ही अर्थ देते हैं। इस प्रकार 'कुराईं' का अर्थ सर्वथा निश्चित नहीं कहा जा सकता। यदि दोनों स्थलों को एकसाथ देखा जाय तो घास वाला अर्थ अधिक संभाव्य दिखाई देता है।

यहाँ पर भी लोगों ने 'कुराय' का अर्थ 'कुराइ' आदि कई तरह से किये हैं, किन्तु 'कुरांय'या 'कुराईं' का अर्थ मात्र 'कुराह' करना उचित नहीं है।

'धारि'

रामकृपा अवरेब सुधारी। बिबुध 'धारि' भइ गुनद गोहारी॥[२]

'धारि' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न किया है। पंजाबी जी के अनुसार 'धार' कहा 'तस्करों का पुंज।'[३] श्री रामचरणदास[४], श्री विनायक राव[५], श्री अवधबिहारीदास[६] और पं० ज्वालाप्रसाद[७] आदि टीकाकारों ने 'धारि' का अर्थ 'माया' किया है। ज्वालाप्रसाद जी का पाठ 'धार'

---

१. दे० पृ० ५६६
२. मानस २।३१६।३
३. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ३७४
४. रामा०, पृ० ७६७
५. वि० टी०, अयो०, पृ० ४६५
६. मानस०, पृ० ६८१
७. सं० टी०, पृ० ६६७

है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'चाल' अर्थ किया है।[१] वीरकवि जी ने पूरे वाक्य के अर्थ में गड़बड़ी कर दी है—'देवताओं का किया हुआ समूह बिगाड़ रामचन्द्र जी की कृपा से सुधर कर गुणदायक गोहारि (सहायता) हो गई।'[२] 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक ने 'धारि' शब्द को ही अपने किये हुए अर्थ से बाहर कर दिया है—'राम की कृपा ने देवताओं के खड़े किये संकट को इस प्रकार उपकार करने वाला बना दिया, जैसे रक्षा के लिए की हुई पुकार लाभकर होती है।'[३] रामेश्वर भट्ट ने भी इसका ऊटपटांग अर्थ किया है—'देवताओं के समूह की प्रार्थना भी लाभदायक हो गयी।'[४] बाबा हरिहरप्रसाद[५], विजयानन्द त्रिपाठी जी[६], श्रीकांतशरण जी[७], पोद्दार जी[८] और मानस-पीयूषकार[९] आदि अनेक टीकाकारों ने 'धारि' का अर्थ 'सेना' किया है।

इस प्रकार टीकाकारों ने इसके लगभग ४ अर्थ किये हैं—तस्करों का पुंज, माया, चाल और सेना।

'हिन्दी शब्दसागर' में 'धारि' का अर्थ 'समूह, झुंड' दिया हुआ है।[१०] 'तुलसी-शब्दसागर' में 'फौज, सेना, डाकुओं का समूह और झुंड, समूह' दिया हुआ है।[११] 'बृहत् हिन्दी कोश' में यही अर्थ दिया हुआ है।[१२]

'धारि' संस्कृत शब्द 'धारा' से विकसित है। यह, जैसा कि कोशों से स्पष्ट है, अनेकार्थी शब्द है। प्रकरण से इसका अर्थ करना चाहिए। 'धारि' का अर्थ 'माया' और 'चाल' किसी कोश में नहीं मिलता, अतः यह कल्पित और अग्राह्य अर्थ है। तस्करों का पुंज (डाकुओं का समूह) अर्थ में इसका प्रयोग कवितावली में हुआ है—

१. मानस, पृ० ७१६
२. वही, पृ० ७६५
३. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ६२७
४. मानस, पृ० ६७६
५. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १८२
६. वि० टी०, अयो०, पृ० ४५८
७. सि० ती०, द्वि० खं०, पृ० १४६०
८. रामा०, पृ० ५८६
९. मा० पी०, अयो०, पृ० ११०१
१०. दे० पृ० २४५८
११. दे०, पृ० २४७
१२. दे० पृ० ६४१

धाई धारि फिरिकै गोहारि हितकारी होति ।[१]

कवितावली में ही इसका प्रयोग 'सेना' के अर्थ में है—

वाटिका उजारि, अच्छ-धारि मारि, जारि गढ़,
भानुकुल भानु को प्रतापभानु भानु :सों ।[२]

'समूह' अर्थ में इसका प्रयोग मानस में अन्यत्र हुआ है—

चलि रघुबीर सिलीमुख धारी ।।[३]

उक्त विवेच्य अर्धाली के 'धारि' शब्द का अर्थ भी यहाँ 'समूह' है । इसका अर्थ यहाँ 'सेना' नहीं हो सकता, क्योंकि युद्ध का प्रसंग नहीं है । 'युक्तिसंगता' नामक अर्थ-विनिश्चय के साधन से इसका अर्थ 'समूह' ही प्रासंगिक और युक्ति-संगत है । इसी का समर्थन 'हिन्दी शब्दसागर' भी करता है । पं० रामेश्वर भट्ट का अर्थ यहाँ असंगत है, क्योंकि देव-समुदाय कोई प्रार्थना नहीं कर रहे हैं । वे तो कुचाल चल रहे हैं कि किसी प्रकार अवध-समाज चला जाय और रामजी निशाचरों का विनाश करें । इसी प्रकार 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक महोदय और वीरकवि जी का अर्थ भी असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता । अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'श्रीराम की कृपा ने उलझन को सुधार दिया । देव-समुदाय गुणदायक रक्षक बना ।'

'सौंघाई'

एक कहहिं अँसिउ 'सौंघाई' । सठहु तुम्हार दरिद्रु न जाई ।।[४]

प्राय: समस्त टीकाकारों ने 'सौंघाई' का अर्थ अधिकता, बहुतायत या सस्ती किया है । ग्राउस महोदय ने भी इसका अर्थ पर्याप्ति (प्लेंटी) किया है ।[५] केवल श्री रामचरणदास ने संभवत: अर्थ न समझने के कारण पाठ-परिवर्तन कर दिया है ।[६] हरिहरप्रसाद जी उक्त शब्द को 'संघ' से बना हुआ मानते हैं[७], तो

---

१. कविता० ७।७५
२. कविता० ५।२८
३. मानस ६।६२।७
४. मानस ६।८८।३
५. ''सेज वन—'ऐट सच ए टाइम ऑव् प्लेंटी : यू रेच, इज योर हंगर स्टिल अन-सेटिसफाइड''—द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० ४६८
६. एक कहहिं ऐसेहु 'समुदाई'···। रामा०, पृ० १०८६
७. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० ७२

गौड़ जी समर्घता का प्राकृत रूप कहते हैं।[१] किन्तु 'सौंघाई' संस्कृत 'स्वानर्घ्य' से विकसित है। सं० अर्घ (अर्घ+घञ्) का अर्थ है—मूल्य। जिसका मूल्य न हो, उसे अनर्घ कहते हैं। 'अनर्घ' से भाववाचक संज्ञा शब्द 'आनर्घ्य' बना। 'आनर्घ्य' में 'सु' उपसर्ग लगकर शब्द स्वानर्घ्य (सु+आनर्घ्य) बना। 'स्वानर्घ्य' (सु=अधिक, आनर्घ्य=निर्मूल्यता) का अर्थ हुआ 'अत्यन्त निर्मूल्यता', अर्थात् सस्तापन। स्वानर्घ्य>सौंघाई का अर्थ हुआ—'अत्यन्त सस्तापन'। दोहावली में भी इसी अर्थ में 'सौंघे' शब्द का प्रयोग हुआ है—

तुलसी जाने सुनि समुझि कृपासिंधु रघुराज।
महँगे मनिकंचन किए, सौंघे जग जल नाज॥[२]

अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ हुआ—(परस्पर छीना-झपटी पर) 'एक कहते हैं कि इस प्रकार के अत्यन्त सस्तेपन पर भी, हे मूर्खो ! तुम्हारा दारिद्र्य नहीं जाता।'

'निबेही'

गुन कृत सन्यपात नहि केही। कोउ न मान मद तजेउ 'निबेही'॥[३]

श्री रामश्याम ने 'निबेही' शब्द का अर्थ न समझने के कारण पाठ ही बदल दिया है।[४] पंजाबी जी के अनुसार—'निबाही निबेही यह अतिसार के नाम है सो मान मद रूपी अतिसार ने किसको छोड्यो है।'[५] श्री रामचरणदास[६], विनायक राव जी[७], शुकदेवलाल जी[८] और अवधबिहारीदास जी ने इसका अर्थ 'निर्वाह' किया है। रामेश्वर भट्ट जी के अनुसार—ऐसा कोई नहीं है जो मान और मद का त्याग करके संसार से मुक्त हो गया हो।[९] ज्वालाप्रसाद जी के मत से—मान-मद छोड़कर कौन निभ गया है, कौन एकरस रहा।[१०] वीर-कवि जी अर्थ करते हैं कि 'अभिमान और मद को त्याग कर कोई पार नहीं

१. मा० पी०, लंका०, पृ० ४५६
२. दोहा० १४६
३. मानस ७।७१।१
४. कोउ न मान मद व्यापेह जेही॥—रामा०, पृ० ५५
५. मा० भा०, उत्तर, पृ० ७६
६. रामा०, पृ० १२७१
७. वि० टी०, पृ० १५३
८. रामा०, पृ० ४५
९. मानस०, पृ० ११२५
१०. सं० टी०, पृ० ११७७

गया।'[१] बाबू श्यामसुन्दरदास जी 'चुनकर' अर्थ करते हैं।[२] पोद्दार जी के अनुसार 'ऐसा कोई नहीं है जिसे मान और मद ने अछूता छोड़ा हो।'[३] पोद्दार जी के अर्थ का अनुकरण करते हुए 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक महोदय अर्थ करते हैं कि 'मान और मद ने किसे अछूता छोड़ा।'[४] उक्त टीकाकारों की भाँति ग्राउस महोदय भी यद्यपि 'निबेही' शब्द के मूल को नहीं पकड़ पाये हैं, तथापि अपेक्षाकृत भावानुवाद सटीक ही है। उसके अनुसार 'मान और मद ने किसे सफलतापूर्वक छोड़ा है।'[५] श्री रामनरेश त्रिपाठी[६], श्रीकांतशरण जी[७], विजयानन्द त्रिपाठी जी[८] और मानस-पीयूषकार[९] ने 'बिना छेद डाले' (निश्छिद्र) अर्थ किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि टीकाकारों ने 'निबेही' के लगभग ८ अर्थ किये हैं—अतिसार, निर्वाह, मुक्त हो गया हो, पार नहीं गया, चुनकर, अछूता, सफलतापूर्वक और बिना छेद डाले।

'मानक हिन्दी कोश' में इसका अर्थ 'जिसका वेध न किया जा सके, वेध-रहित, छल-कपट आदि से रहित' किया गया है।[१०] 'तुलसी-शब्दसागर' में 'अछूता, मुक्त, उन्मुक्त' अर्थ दिया है।[११]

'निबेही' का 'अतिसार' अर्थ टीकाकार के अल्पज्ञान का सूचक है। निर्वाह से विकसित निबेही मानने के भ्रम से कतिपय टीकाकारों ने इसका अर्थ 'निर्वाह' किया है। अतएव यह भी अग्राह्य अर्थ है। 'मुक्त हो गया, पार नहीं गया, अछूता और में सफलतापूर्वक' अर्थ 'निबेही' का भावानुवाद भले ही मान लिया जाय, किन्तु यह भी असंगत और शब्द के मूल से भिन्न अर्थ है। 'चुनकर' अर्थ बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'शब्दसागर' के आधार पर किया है, किन्तु यह भी यहाँ

१. मानस०, पृ० १२७७
२. वही, पृ० १०४४
३. वही, पृ० ९३४
४. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ९७२
५. "हू हैज इफेक्टुअली डिसकार्डेड वेनिटी एंड प्राइड"—द रामायन ऑव तुलसीदास, पृ० ५३२
६. मानस०, पृ० ११५५
७. सि० ति०, तृ० खं०, पृ० २५९५
८. वि० टी०, तृ० भा०, उत्तर०, पृ० १२३
९. मा० पी०, उत्तर०, पृ० ३६१
१०. दे० ती० खं०, पृ० २७३
११. दे० पृ० २६४

तर्कसंगत नहीं लगता। 'निबेही' की यह व्युत्पत्ति—निर्व्यथ—नि+ब्ब्+ए—निब्बे। थ=ह। निर्व्य+थ=निब्बे+ह—पीड़ारहित (निर्व्यथी) जबर्दस्ती की है।[1] लगता है कि 'तुलसी-शब्दसागर' के संपादक महोदय ने मानस के टीकाकारों के ही आधार पर अर्थ किया है। अतः उक्त टीकाकारों की भाँति 'तुलसी-शब्दसागर' का अर्थ भी अशुद्धिरहित लगता नहीं दिखता।

'निबेही' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'निर्वेध' से हुई है। निर्वेध > निवेह। 'र्' का लोप हो गया है और 'ध' का 'ह'। तुकांत के कारण 'निबेह' को 'निबेही' के रूप में प्रयोग किया गया है। गोस्वामी जी ने 'बेह' (बेहू) शब्द को 'छेद' के अर्थ में प्रयोग किया है—बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू॥[2] अतः 'निबेही' शब्द का अर्थ हुआ—'बिना छेद डाले'। अब प्रश्न है कि क्या 'मान' और 'मद' कोई बड़ी मोटी सूई है जो छेद करेगी? नहीं, यहाँ तात्कर्म्य से सम्बन्धित शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा है। तात्कर्म्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ द्वारा उसमें 'नष्ट करने' का भाव है। गोस्वामी जी ने 'नष्ट करने के' अर्थ में 'छेदन' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है—

भव खेद छेदन दक्ष हम कहुँ रक्ष राम नमामहे।[3]
सहसबाहु भुज छेदनिहारा।[4]

अतएव 'निबेही' शब्द का अर्थ हुआ—'बिना छेद डाले'। लक्षणा से 'बिना नष्ट किये'। रामनरेश त्रिपाठी जी, श्रीकांतशरण जी, विजयानंद त्रिपाठी जी और मानस-पीयूषकार आदि टीकाकारों ने इसका अभिधेयार्थ 'बिना छेद डाले' किया है। 'वक्ता की भावना' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से भी इसका अर्थ 'बिना नष्ट किये' ही निश्चित होता है। अतः उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'रजादि गुणों का किया हुआ सन्निपात किसे न हुआ? ऐसा कोई नहीं है जिसे मान और मद ने बिना नष्ट किये छोड़ा हो।'

'भटभेरे'

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं 'भटभेरे'॥[5]

'भटभेरे' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने अनेक प्रकार से किये हैं। श्री राम-

---

१. मा० पी०, उत्तर०, पृ० ३६१
२. मानस २।२६१।६
३. मानस ७।१३। छंद ८
४. मानस २।२७२।८
५. मानस ७।१२०।१२

चरणदास जी लिखते हैं कि—'भटभेरे कही जब कौन्यों सुयोग ते सत्संग भजन कै साइति प्राप्त भई, तब अभाग्य ते कोई विघ्न प्राप्त भयो ताको भटभेरे कही।'[१] रामायण-परिचर्याकार के अनुसार—भटभेरो अर्थ आड़। कोई-कोई कहते हैं कि वस्तु की प्राप्ति होने पर उसको न पहिचानना 'भटभेरा' है। यथा—गली अँधेरी साँकरी औ भटभेरो आनि।[२] पंजाबी जी के मत से—भटभेरे देते कहे भीतों सों माथे को फोड़ते फिरते हैं, अर्थ यह सत्संग नहीं करते अरु तीर्थाटनादिक कष्ट करते हैं।[३] विनायक राव 'टालमटोल' अर्थ करते हैं।[४] वीरकवि जी के अनुसार—पीछा दे देते हैं।[५] विजयानंद त्रिपाठी जी कहते हैं—'पर अभागे मनुष्य उसमें रुकावट पैदा करते हैं।'[६] पोद्दार जी[७], श्रीकांतशरण जी[८], 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक[९], श्री रामनरेश त्रिपाठी[१०] और मानस-पीयूषकार[११] ने 'ठुकरा देते हैं' अर्थ किया है।

इस प्रकार टीकाकारों ने 'भटभेरे' के लगभग ५ अर्थ किये हैं—१. विघ्न प्राप्त होना, आड़, रुकावट, २. न पहचानना, ३. दीवालों से माथा फोड़ना, ४. टालमटोल, ५. पीछा देते हैं, ठुकरा देते हैं।

'हिन्दी शब्दसागर' में इसके ३ अर्थ हैं—१. दीवारों का सामना, मुकाबला। २. धक्का, टक्कर, ठोकर। ३. आकस्मिक मिलन।[१२] 'तुलसी-शब्दसागर' में 'ठोकर, धक्का' अर्थ दिया है।[१३]

'भटभेरे' का 'न पहचनना' अर्थ असंगत है। हरिहरप्रसाद जी ने इसी अर्थ को लिखा है और प्रमाणस्वरूप उन्होंने बिहारी के दोहे की एक पंक्ति दी है।

---

१. रामा०, पृ० १३५३
२. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १२०
३. मा० भा०, उत्तर०, पृ० १३६
४. वि० टी०, पृ० २६२
५. मानस०, पृ० १३४६
६. वि० टी०, तृ० भा०, पृ० २२५
७. मानस०, पृ० ६८२
८. सि० ति०, तृ० खं०, पृ० २७७८
९. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० १०१८
१०. मानस०, पृ० १२२३
११. मा० पी०, उत्तर०, पृ० ६५२
१२. दे० पृ० ३६१०
१३. दे० पृ० ३६४

किन्तु उस दोहे में आए हुए 'भटभेरे' का अर्थ 'न पहचानना' नहीं, बल्कि 'आकस्मिक मिलन' है[१] जो यहाँ संगत सिद्ध नहीं होता। 'दीवालों से (भीतों से) माथा फोड़ने' वाला अर्थ तभी संगत माना जा सकता है जब कष्ट पाने के सामान्य अर्थ में ग्रहण किया जाय। 'विघ्न प्राप्त होना, आड़-रुकावट और टालमटोल' अर्थ हमें किसी कोश में नहीं प्राप्त हुए, अतः ये भी अप्रामाणिक हैं। सम्मुख भिड़न्त को 'मुठभेर' और पीछे से धक्का देने को 'भटभेर' कहते हैं। 'भटभेरे' शब्द का प्रयोग प्रांतिक है। पुरानी हिन्दी के काव्यों में भी इसका प्रयोग हुआ है। यह हिन्दी 'भट+भिड़ना' से बना है। दो वीरों का सामना और ठोकर (धक्का) इसके दोनों अर्थ होते हैं। प्रसंग से इसका अर्थ करना चाहिए। युद्धादि के प्रसंग में इसका अर्थ 'मुकाबला' होगा। किन्तु यहाँ ऐसा कोई प्रसंग नहीं है। यहाँ पर 'भटभेरे' का अर्थ 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से 'ठुकरा देते हैं' ही प्रासंगिक एवं संगत प्रतीत होता है। स्वयं गोस्वामी जी ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग अन्यत्र भी किया है—

तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन 'भटभेरो'।[२]

यहाँ पर भी श्री देवनारायण द्विवेदी ने इसका अर्थ 'अड़चन'[३] और पं० सूर्यदीन शुक्ल ने 'भिड़ा देती हैं'[४] अर्थ किये हैं। ये अर्थ भी उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों की ही भाँति अग्राह्य हैं। पोद्दार जी, श्री रामनरेश त्रिपाठी और मानस-प्रीयूषकार आदि अनेक टीकाकारों ने भी इसका अर्थ 'ठुकरा देते हैं' किया है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—

'भक्तिमणि की प्राप्ति के उपाय सुगम हैं, किन्तु भाग्यहीन मनुष्य उन्हें ठुकरा देते हैं।' यहाँ एक-दूसरे को ठुकराने या धक्का देने का अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।

'आढ़'

ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों-त्यों जमगन मुख मलीन लहैं 'आढ़' न।[५]

पं० सूर्यदीन शुक्ल ने 'आढ़न' का अर्थ 'सेरों मलिन हुए' किया है।[६]

---

१. दे० हि० शब्द०, पृ० ३६१०
२. विनय०, १४३
३. विनय०, पृ० २५८
४. विनय०, पृ० १६२
५. विनय०, २१
६. विनय०, पृ० २०

शुक्ल जी के अतिरिक्त अन्य सभी टीकाकारों ने 'आढ़' का अर्थ 'आसरा, सहारा, आड़, ओट, ठिकाना, शरण या अवलंब' किया है।

'आढ़' शब्द का प्रयोग पुरानी हिन्दी और काव्य में होता था। 'तुलसी-शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति सं० 'अल' से की गयी है[१] और 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में हिन्दी 'आड़' से।[२] 'आढ़' संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है। हिन्दी 'आड़' से 'आढ़' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। पं० सूर्यदीन शुक्ल ने भ्रम से इसे सं० 'आढक' से बना हुआ मानकर अर्थ 'सेरों मलिन हुए' किया है, क्योंकि 'आढक' चार प्रस्थ, अर्थात् चार सेर की एक तौल को कहते हैं। किन्तु यह अर्थ यहाँ असंगत है। 'हिन्दी शब्दसागर' ने इसका अर्थ 'ओट, पनाह, सहारा, ठिकाना' किया है।[३] यही अर्थ यहाँ तर्कसंगत लगता है। प्रायः सभी टीकाकारों ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'जैसे-जैसे जल मटमैला होता है, वैसे-वैसे यमदूतों के मुँह मलिन होते हैं। उनको कहीं शरण नहीं मिलती।'

'सीठे'

जो मोहि राम लागते मीठे।
तो नवरस, षटरस—रस अनरस ह्वै जाते सब 'सीठे'॥[४]

बैजनाथ जी के अनुसार—'नवरस षटरस जो सरस मानने से मीठे लगते हैं, वे नीरस मानकर सीठे अर्थात् कड़वे हो जाते हैं।'[५] इनके अतिरिक्त प्रायः सभी टीकाकारों ने 'सीठे' का अर्थ 'फीके' लिखा है।

'सीठा' विशेषण शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—संस्कृत शिष्ट > प्राकृत सिट्ठ > हिन्दी सीठा। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ 'नीरस, फीका, बिना स्वाद का' दिया हुआ है।[६] 'सीठे' का 'फीके' अर्थ ही तर्कसंगत है। बैजनाथ जी का 'कड़वे' अर्थ मनगढ़न्त है। गोस्वामी जी ने अपने साहित्य में इसका प्रयोग कई स्थलों पर इसी अर्थ में किया है—

'तुलसी' जौ लौं विषय की, मुधी माधुरी मीठि।
तौ लौं सुधा सहस्र सम, राम-भगति सुठि 'सीठि'॥[७]

---

१. दे० पृ० ४०
२. दे० पृ० ८४
३. दे० पृ० २३६
४. विनय०, १६६
५. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० २६८
६. दे० पृ० ३५५६
७. दोहा० ८३

पय पावनि, बन-भूमि भलि, सैल सुहावन पीठ।
रागिहिं 'सीठ' विशेष थल, विषय-बिरागिहि मीठ ॥[१]

उपर्युक्त व्याख्येय पंक्ति का अर्थ होगा—

'यदि मुझे रामजी प्रिय लगते, तो शृंगारादि साहित्य के नवों रस मधुर, अम्लादि भोज्य पदार्थों के छह रस आदि सभी रस नीरस और फीके पड़ जाते।'

'चाह'

सुनत सुहावनि 'चाह' अवध घर-घर आनंद बधाई।[२]

'चाह' शब्द अनेकार्थी है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसके कई अर्थ दिये हुए हैं—(१) इच्छा, अभिलाषा, (२) प्रेम, अनुराग, प्रीति, (३) पूछ, आदर, क़दर, (४) माँग, जरूरत, आवश्यकता, (५) खबर, समाचार, गुप्त भेद, मर्म।[३]

इसका अर्थ 'प्रकरण' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से जहाँ पर जो अर्थ प्रासंगिक हो, वही करना चाहिए। उक्त पंक्ति के 'चाह' शब्द का अर्थ यहाँ 'समाचार' है। यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त होता है। 'संक्षिप्त शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति हिन्दी चाल=आहट से मानी गयी है[४] और 'तुलसी-शब्द-सागर' में संस्कृत 'चार' से।[५] गोस्वामी जी ने 'समाचार' अर्थ में इसका प्रयोग कई स्थलों पर किया है—

लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई ॥[६]
पुर घर-घर आनंद महा सुनि चाह सुहाई।
सुनी मैं, सखि ! मंगल चाह सुहाई।[७]

जायसी ने भी इसी अर्थ में 'चाह' शब्द का प्रयोग किया है—

राव रंक जहँ लग सब जाती। सब की चाह लेइ दिन राती ॥[८]

गीतावली के सभी टीकाकारों ने यहाँ पर इसका अर्थ 'समाचार' ही किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—

---

१. रामाज्ञा० २।६।१
२. गीता० १।१००।७
३. दे० पृ० ६८१
४. दे० पृ० ३११
५. दे० पृ० १४७
६. मानस २।२२५।७
७. गीता० १।१०१।५; वही २।८६।१
८. हि० शब्द०, पृ० ६८१

'यह सुंदर 'समाचार' सुनते ही अयोध्या के प्रत्येक घर में आनन्दयुक्त बधाइयाँ बज उठीं।'

'निफन'

जोते बिनु बए बिनु 'निफन' निराए बिनु,
सुकृत-सुखेत सुख-सालि फूलि फरिगे।[१]

इस शब्द का प्रयोग केवल पद्य या पुरानी हिन्दी में हुआ है। हरिहर-प्रसाद जी और बैजनाथ जी ने 'निफल' पाठ माना है। हरिहरप्रसाद जी के अनुसार 'निफल कहे अंकुर निराए बिना।'[२] बैजनाथ जी के अनुसार—'निफल भयो कहे प्रेम का आनन्द बढ़ आया।'[३]

उक्त दोनों टीकाकारों ने 'निफन' शब्द के अर्थ की अज्ञानता के कारण ही पाठ-परिवर्तन करके इसके असंगत और अप्रामाणिक अर्थ किये हैं। 'हिन्दी शब्द-सागर' में इसका अर्थ 'पूर्णरूप से, अच्छी तरह' दिया हुआ है।[४] यहाँ पर इसका यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। 'निफन' शब्द क्रियाविशेषण है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—संस्कृत निष्पन्न > प्रा० निष्फन्न > हिन्दी निफन, जिसका अर्थ है—अच्छी तरह। प्रायः अधिकांश टीकाकारों ने इसका यही अर्थ किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'उनके (मार्गवासी लोगों के) पुण्य-रूपी खेत में सुख-रूपी धान्य बिना अच्छी प्रकार जोते, बोये और निराये ही पुष्पित और फलयुक्त हो गये, अर्थात् पुण्य उदय हो गये।'

'चाँचरि'

तुलसिदास 'चाँचरि' मिस कहे राम गुनग्राम।[५]

'चाँचरि' शब्द को टीकाकारों ने अस्पष्ट रखा है। मुनिलाल जी के अनु-सार—'होली के गान के मिस से ही'[६] और बैजनाथ जी ने 'केवल चाँचर के बहाने' अर्थ किया है।[७] हरिहरप्रसाद जी के अनुसार—'चाँचरि मिसु कहे होरी में चर गायो जात है तेहि के बहाना से।'[८] श्रीकांतशरण जी ने 'होली-वर्णन

१. गीता० २।३२।२
२. गीता० सटीक, पृ० २०
३. गीता० सटीक, पृ० २५३
४. दे० पृ० २६२६
५. गीता० २।४७।२२
६. गीता० सटीक, पृ० २१६
७. " " पृ० २८३
८. " " पृ० ३२

के व्याज से' अर्थ किया है।[१] इसका 'चाँचर' रूप प्रचलित है। 'चाँचरि' पारिभाषिक शब्द है। अतः इसको स्पष्ट करने की आवश्यकता है। 'हिन्दी शब्द-सागर' में इसका अर्थ इस प्रकार है—संज्ञा स्त्रीलिंग (संस्कृत चर्चरी) वसंत ऋतु में गाया जाने वाला एक राग। चर्चरी राग जिसके अन्तर्गत होली, फाग, लेद इत्यादि माने जाते हैं।[२]

जैसा कि कोशों से स्पष्ट है, 'चाँचरि' शब्द संस्कृत "चर्चरी' से विकसित है। जैन कवियों, विशेषकर जिनदत्त सूरि ने अपनी रचनाओं में 'चच्चरी' राग के रूप में इसका प्रयोग किया है। कबीर ने अपने 'बीजक' में भी इसका प्रयोग किया है। 'चाँचरि' एक प्रकार का लोकगीत है। उत्तर प्रदेश में वसंत या होली के अवसर पर इस राग को गाया जाता है। यह शृङ्गार-विषयप्रधान होता है, किन्तु संतों और भक्त कवियों ने इसे भक्ति और अध्यात्म विषयप्रधान बना दिया है। वास्तव में जिस प्रकार सांसारिक लोग जन्मोत्सव, विवाहोत्सव आदि मनाते हैं, उसी प्रकार भक्त लोग भी मनाते हैं। अन्तर मात्र इतना होता है कि वे अपने पुत्र-पुत्रियों का जन्मोत्सव, विवाहोत्सव मनाते हैं, किन्तु भक्त और साधु लोग राम-कृष्णादि अवतारी पुरुषोत्तमों का। उनके कृत्य संसारी होते हैं और भक्तों के ईश्वरोन्मुख। शृङ्गारिक प्रवृत्तियाँ संसार का संयोग होने के कारण दूषित होती हैं, वही उन अवतारी पुरुषोत्तमों के संयोग के कारण पावन हो जाती हैं। इसी प्रकार सांसारिक लोग जिस 'चाँचरि' को अपशब्दों से बोझिल करके गाते हैं, उसी को भक्त लोग शृंगार-विषयप्रधान रखते हुए भी ईश्वरोन्मुख कर देते हैं। आजकल वैरागी संत लोग भी इस राग को 'होली' के रूप में गाते हैं। माघ मेले में वसंतपंचमी के दिन इसी राग के साथ वे भगवान् राम की प्रतिमाओं पर रंग-गुलेल आदि छोड़ते हैं, साथ ही परस्पर भी 'रंग' खेलते हैं। इसी को गोस्वामी जी ने भी परम्परा के रूप में प्रयुक्त किया है।

चित्रकूट में श्रीराम के निवास के कारण वसंत ऋतु का भी आगमन बताया गया है। उस मनोहारी वसंत ऋतु के अवसर पर कवि ने बहुत सामयिक और सटीक होली का रूपक प्रस्तुत किया है। यहाँ पर कवि का 'चाँचर' (चाँचरि) पूर्णरूपेण रामोन्मुख है। गोस्वामी जी ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग अन्यत्र भी किया है—

चाँचरि झूमक कहैं सरस राग।[३]

---

१. गीता० सटीक, पृ० ४६२

२. दे० पृ० ६६४

३. गीता० ७।२२

उक्त व्याख्येय पंक्ति का अर्थ होगा—'तुलसीदास ने भी चाँचर (होली का गीत लिखने) के बहाने राम के कतिपय गुण कह सुनाये हैं।'

'गारो'

गए ते प्रभुहि पहुँचाइ फिरे पुनि करत करम गुन 'गारो' ।।[1]

यहाँ 'गारो' शब्द के अर्थ में बड़ा मतभेद है। बैजनाथ जी के अनुसार—'निंदा करते फिर लौट आये।'[2] हरिहरप्रसाद जी ने भी 'करतब की निंदा करत पुनि फिरे'[3], मुनिलाल जी[4] और ठाकुर बिहारीलाल जी[5] ने भी 'निंदा करना' ही अर्थ किया है। 'तुलसी-ग्रन्थावली' द्वितीय खण्ड के सम्पादक ने 'करम ठोंकते हुए लौट आए' अर्थ किया है।[6] श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ 'गौरव' किया है।[7] 'हिन्दी शब्दसागर' में 'गारो' का अर्थ 'गर्व, घमंड, अहंकार, अभिमान' दिया है।[8] लेकिन 'तुलसी-शब्दसागर' में 'गारो' को संस्कृत के तीन रूपों—गर्व, गालन और गालि से व्युत्पन्न मानकर ३ अर्थ दिया है। गर्व से व्युत्पन्न मानकर घमंड, अहंकार, मान, गौरव, गुरु, बड़ा; गालन से व्युत्पन्न मानकर गलाया, गार दिया, निचोड़ा और 'गालि' से व्युत्पन्न मानकर निंदा, बुराई, गाली देना।[9]

उपर्युक्त 'गारो' शब्द संस्कृत 'गौरव' से व्युत्पन्न हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है : संस्कृत गौरव > पालि-प्राकृत गारव > हिन्दी गारो। 'गारो' का अर्थ है—गौरव, बड़प्पन। यहाँ पर इसका 'निंदा करते हुए' अर्थ तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि मंदमति वाले 'कर्म' की निंदा करते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिरु धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ।।[10]

गोस्वामी जी ने कर्म की प्रधानता (गौरव) के सम्बन्ध में कई स्थानों पर लिखा है—

---

१. गीता० २।६६।५
२. गीता० सटीक, पृ० ३०४
३. गीता० सटीक, पृ० ३०४३
४. " " पृ० २३६
५. " " पृ० १८३
६. दे० अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४३६
७. गीता०, सिं० ति०, पृ० ५४७
८. गीता०, पृ० ७६८
९. गीता०, पृ० १२४
१०. मानस ७।४३

सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करमु प्रधान सत्य कह लोगू ॥[१]
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥[२]

संभवतः 'तुलसी-शब्दसागर' के संपादक ने भी बैजनाथ जी और हरिहर-प्रसाद के अर्थ के आधार पर ही अपना अर्थ दिया है। अतः यहाँ पर 'निंदा करते हुए' अर्थ अग्राह्य है। श्रीकांतशरण जी ने 'गारो' का अर्थ 'गौरव' किया है। यहाँ पर 'गौरव' अर्थ ही युक्तिसंगतता नामक अर्थनिश्चय के आधार पर प्रासंगिक प्रतीत होता है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'जो लोग साथ में गए थे, वे भी राम को कुछ दूर पहुँचाकर कर्म के गुणों का गौरव (प्रधानता) प्रमाणित कर रहे हैं, अर्थात् अपने जीवन को कर्म के अधीन मान रहे हैं। अन्यथा हम लोग विरह में मर जाते।'

'धुकि'

तुलसिदास रघुनाथ-नाम-धुनि अकनि गीध धुकि धायो।[३]

बैजनाथ जी[४], ठाकुर बिहारीलाल जी[५], मुनिलाल जी[६] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' द्वितीय खण्ड के संपादक[७] ने 'धुकि' शब्द का अर्थ 'क्रोध करके' किया है। हरिहरप्रसाद जी[८] और श्रीकांतशरण जी[९] ने 'वेग से' अर्थ किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ 'वेग से टूटना, झपटना' दिया है।[१०] 'तुलसी-शब्दसागर' में भी 'झपटकर, जल्दी से' अर्थ दिया है।[११]

इस शब्द का प्रयोग पुरानी हिन्दी और पद्य में प्राप्त होता है। साथ ही इसका प्रयोग प्रांतिक है। 'तुलसी-शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति अनुकरणात्मक 'धुक' से दी हुई है। यहाँ 'धुकि' का अर्थ 'क्रोध करके' कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

---

१. मानस २।६१।८
२. मानस २।२१८।४
३. गीता० ३।७
४. गीता० सटीक, पृ० ३३६
५. ” ” पृ० २०६
६. ” ” पृ० २६७
७. अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४५२
८. गीता० सटीक, पृ० ५
९. गीता०, सि० ति०, पृ० ६१६-१७
१०. दे० पृ० २४६६
११. दे०, पृ० २४८

कोशों में इसका अर्थ 'वेग से या झपटकर' दिया हुआ है। स्वयं गोस्वामी जी ने कई स्थलों पर इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

> मानों प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो।[१]
> बाँधि लकुट पट फेरि बोलाई सुनि कल बेनु धेनु धुकि धैया।[२]

'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से 'धुकि' का अर्थ 'वेग से' ही तर्कसंगत है।

अतः उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'तुलसीदास जी कहते हैं कि राम के नाम की ध्वनि सुनकर गृध्रराज जटायु वेग से दौड़ा।' यही अर्थ हरिहरप्रसाद जी और श्रीकांतशरण जी ने भी किया है।

'अँकोर'

> बिथुरित सिररुह बरूथ कुंचित बिच सुमन-जूथ,
> मनिजुत सिसु-फनि-अनीक ससि समीप आई।
> जनु सभीत दै अँकोर राखे जुग रुचिर मोर
> कुंडल-छबि निरखि चोर सकुचत अधिकाई॥[३]

बैजनाथ जी, ठाकुर बिहारीलाल जी और हरिहरप्रसाद जी ने 'अँकोर' शब्द को ज्यों का त्यों लिख दिया है। मुनिलाल जी[४] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' द्वितीय खण्ड के संपादक[५] ने इसका अर्थ 'फुसलाकर' किया है। श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ 'भेंट और घूस' किया है।[६]

'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ 'भेंट, नज़र, घूस, रिश्वत' दिया है।[७] 'तुलसी-शब्दसागर'[८] और 'बृहत् हिन्दी कोश' में भी इसका यही अर्थ दिया है।[९] 'तुलसी-शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति सं० 'अंकपालि' से दी है। 'अवधी कोष' में

---

१. कविता० ६।५४
२. श्रीकृष्ण १९
३. गीता० ७।३
४. गीता० सटीक, पृ० ३८३
५. अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५१६
६. गीता०, सि० ति०, पृ० ८७९
७. दे० पृ० ३
८. दे० पृ० १
९. दे० पृ० २

सं० 'उत्कोच' से विकास मानकर संदिग्धात्मक प्रश्नचिह्न लगा दिया गया है।[१] वैसे 'उत्कोच' का अर्थ 'घूस या रिश्वत' होता है। 'अँकोर' का 'फुसलाकर' अर्थ किसी भी ग्रन्थ और कोशादि में नहीं प्राप्त होता है, अतएव यह अप्रामाणिक अर्थ है। 'रिश्वत या घूस' अर्थ सभी कोश-ग्रन्थों में दिया है। श्रीकांतशरण जी ने भी यही अर्थ किया है, अतः यहाँ 'अँकोर' का 'घूस' अर्थ युक्तिसंगत प्रतीत होता है। उक्त पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होगा—'उनके (राम के) घुँघराले बिखरे हुए बालों के बीच-बीच में पुष्पों के गुच्छे गुँथे हुए ऐसे जान पड़ते हैं कि मानो मणियों के साथ बाल सर्पों की सेना चन्द्रमा के सन्निकट (अमृत चुराने के लिए) आई हो और उन्हें (सर्पों को) देखकर भयभीत हो चन्द्रमा ने 'घूस' (रिश्वत) देकर इससे बचने के लिए दो सुन्दर मोरों को रखा हो। और उन (मोर-रूप) कुण्डलों की छवि देखकर वे (सर्प-रूप) चोर अत्यन्त संकोच करते हैं।' यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

'तुलसी-ग्रन्थावली' द्वितीय खंड के संपादक का अर्थ तो बिल्कुल असंगत है—'उन्हें (सर्पों को) देखकर चन्द्रमा से भयभीत होकर उनसे बचने के लिए उसने दो सुन्दर मोर (कुण्डल) फुसलाकर ला पाले हों।'[२] यहाँ चन्द्रमा स्वयं भयभीत है, न कि चन्द्रमा से भयभीत होकर। यहाँ संपादक महोदय ने मुनिलाल जी के अर्थ का अनुकरण किया है। 'अँकोर' शब्द का प्रयोग प्रांतिक है। जायसी ने भी इसका प्रयोग किया है—

टका लाख दस कीन्ह अँकोरा। बिनती कीन्ह पाँय गहि गोरा॥

सूर ने भी लिखा है—

सूरदास प्रभु के जो मिलन को कुच श्रीफल सों करति अँकोर।

'गँस'

मानी राम अधिक जननी तें जननिहु गँस न गहीं।[३]

'गँस' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'ग्रन्थि' हुई है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ 'गाँठ, द्वेष, वैर' दिया हुआ है।[४] तुलसी-शब्दसागर[५] और बृहत् हिन्दी

---

१. दे० पृ० १
२. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३
३. गीता० ७।३७
४. दे० पृ० ७४२
५. दे० पृ० ११५

कोश[1] में भी यही अर्थ दिया है। अतएव यहाँ पर 'गँस' का अर्थ 'द्वेष' होगा। प्राय: सभी टीकाकारों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है। अत: उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'किन्तु राम ने उन्हें (कैकेयी को) अपनी माता से भी बढ़कर माना और माता कौशल्या ने भी कैकेयी से किसी प्रकार का द्वेष नहीं रखा।'

यहाँ 'गँस' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में कोई समस्या नहीं है, किन्तु आजकल के पाठकों के लिए यह दुरूह अवश्य है।

'पँवारो'

बीर बड़ो बिरुदैत बली, अजहूँ जग जागत जासु पँवारो।[2]

इसका प्रयोग पुरानी हिन्दी और पद्य में प्राप्त होता है। 'पँवारो' शब्द का अर्थ 'हिन्दी शब्दसागर' में 'कीर्तिगाथा, वीरता का आख्यान' दिया हुआ है।[3] 'तुलसी-शब्दसागर' में 'पँवारो' शब्द के लिए लिखा है—देखिए 'पँवारा' और 'पँवारा' शब्द का अर्थ 'पँवाड़ा, लंबी-चौड़ी कथा या बात जिसे सुनते-सुनते जी ऊब जाय' दिया है।[4]

संस्कृत 'प्रवाद' में 'ड' प्रत्यय लगाने से 'पँवारो' का रूप इस प्रकार मिल सकता है—संस्कृत प्रवादड > प्राकृत प्रवाअड, पवाड > हिन्दी पवाड, पमार पँवार, पंवारो।[5] इतना तो स्पष्ट है कि संस्कृत 'प्रवाद' से 'पँवारो' शब्द बना है। यहाँ पर 'पँवारो' शब्द का अर्थ 'पँवाड़ा, लम्बी-चौड़ी कथा या बात जिसे सुनते-सुनते जी ऊब जाय' नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसंग रावण की महत्ता का है। अत: 'तुलसी-शब्दसागर' का उक्त अर्थ असंगत है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से इसका अर्थ 'कीर्तिगाथा' ही हो सकता है। प्राय: सभी टीकाकारों ने इसका यही अर्थ किया है। अतएव उद्धृत अंश का अर्थ होगा—'जो बड़ा बलशाली और यशस्वी था तथा जिसकी कीर्ति-कथा आज भी जगत् में प्रसिद्ध है।'

'बौंड़िए'

दैहै तौ प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौंड़िए।[6]

'बौंड़िए' का अर्थ डॉ० माताप्रसाद 'बँवर' करते हैं। उनके अनुसार

---

१. दे० पृ० ३६२

२. कविता० ६।३८

३. दे० पृ० २७४७

४. दे० पृ० २७६

५. डॉ० शिवनाथ, हिन्दी भाषा का अर्थतात्त्विक विकास, पृ० २७४

६. कविता० ७।२५

शब्दसागर' में भी यही अर्थ है।[१] इसकी व्युत्पत्ति हिंदी उ=नहीं+उपानह=जूता से हो सकती है।

'अकरे' (अकरा)

अकरे किये खोटेउ, छोटेउ बाढ़े।[२]

'अकरे' का अर्थ बैजनाथ जी[३], चन्द्रशेखर जी[४] और देवनारायण द्विवेदी जी[५] ने 'खरे' किया है। श्रीकांतशरण जी[६] और इन्द्रदेवनारायण जी[७] ने 'बहुमूल्य' (महँगे) अर्थ किया है।

'अकरा' शब्द का प्रयोग प्रांतिक है। 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में इसके दो अर्थ दिये हैं—(१) न मोल लेने योग्य। महँगा, अधिक दाम का, कीमती। (२) खरा, श्रेष्ठ, उत्तम।[८] 'हिन्दी शब्दसागर' में 'अकरा' का अर्थ दूसरा वाला ही स्वीकार किया गया है। यहाँ पर दोनों ही अर्थ युक्तिसंगत हैं। वैसे गोस्वामी जी ने अपने लिए 'महँगो' शब्द का प्रयोग किया है—

लहै न फूटी कौड़िहू, को चाहे केहि काज।
सो तुलसी 'महँगो' कियो राम गरीब निवाज।[९]

'अकरे' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'अक्रय्य' (न क्रय करने योग्य) से हुई है। अतः उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'उसने (नाम के प्रताप ने) न जाने कितने दुराचारियों को भी महँगा (प्रतिष्ठित) और छोटों को बड़ा बना दिया।'

'कुहत'

कासी-कामधेनु कलि कुहत कसाई है।[१०]

बैजनाथ जी ने 'कुहत' का अर्थ 'कहरत है' किया है। शेष समस्त टीकाकारों ने इसका अर्थ 'मारे डालता है' किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ

---

१. दे० पृ० ५६
२. कविता० ७।१२७
३. कविता०, पृ० २६८
४. वही, सटीक, पृ० १६६
५. वही, ,, पृ० २२५
६. कविता०, सि०ति०, पृ० ४६४
७. कविता० सटीक, पृ० १८७
८. दे० पृ० १३
९. दोहा० १०८
१०. कविता० ७।१८१

'मारना, बुरी तरह से मारना' किया गया है।[1] 'कुहत' का अर्थ यहाँ 'कहरना' असंगत है। कलिकाल अस्वस्थ तो नहीं है जो 'कहरता' हो। इस शब्द का प्रयोग प्रांतिक है। यह संस्कृत 'कु+हनन' से बना है जिसका अर्थ है 'बुरी तरह से मारना।' दोहावली में भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है—

आपु व्याध को रूप धरि, कुहो कुरंगहि राग।
तुलसी जो मृगमन मुरै परै प्रेम पट दाग॥[2]

इस 'कुहो' का अर्थ है—'चाहे मार डाले'।

'फलँगु'

फलँगु फलाँगहू ते घटि नभ तल भो।[3]

'फलँगु' शब्द का अर्थ बैजनाथ जी 'बीच' करते हैं। शेष कतिपय टीकाकारों ने इसके अर्थ को ही छोड़ दिया है। श्रीकांतशरण जी[4], परमेश्वरीदयाल जी[5] और अंजनीनन्दनशरण जी[6] ने 'स्वल्प' अर्थ किया है। 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक ने तो 'फलँगु' का अर्थ 'स्वल्प' किया है, किन्तु 'घटि नभ तल भो' का अर्थ छोड़ दिया है।[7] 'फलँगु' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'फल्गु' से हुई है। 'संस्कृत 'फल्गु' का अर्थ 'अल्प' भी है।[8] लगता है, फलांग की तौल से गोस्वामी जी ने 'फलँगु' शब्द का निर्माण कर लिया है। 'फलाँग' के प्रभाव से ही 'फलगु' (फल्गु) में चन्द्रबिन्दु लगाया गया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'आकाशतल इनके (हनुमान जी के) एक अल्प छलाँग (कुदान) से भी कम हुआ।' अतः यहाँ पर 'फलँगु' का अर्थ 'बीच' अग्राह्य है।

'जमकातरि'

तोरि जमकातरि मंदोदरी कढ़ोरि आनी।[9]

पं० महावीरप्रसाद मालवीय जी 'जमकातरि' का अर्थ 'यमराज का खड्ग'

१. दे० पृ० ६११
२. दे० दोहा० ३१४
३. बाहुक ५
४. बाहुक, सि० ति०, पृ० २६
५. बाहुक-सटीक, पृ० ८
६. पीयूषवर्षिणी टीका, पृ० २५
७. द्वि० खं०, अ०भा०वि०परि०, काशी, पृ० २६८
८. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ० ७०२
९. बाहुक २७

करते हैं—यमराज का खड्ग, अर्थात् परदा फाड़कर······मंदोदरी को राज-महल के बाहर निकाल लाये।[१] श्रीकांतशरण जी के अनुसार—'आप यमराज की तलवार के समान विकट शस्त्रास्त्रधारी सेना को तोड़कर रावण के घर से मंदोदरी को घसीट लाये।'[२] 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक ने ज्यों का त्यों यही अर्थ लिख दिया है।[३] देवनारायण द्विवेदी जी ने भी मालवीय जी वाला अर्थ 'परदा फाड़कर' किया है।[४]

हरिहरप्रसाद जी के अनुसार—'जमकातरि कहैं केवारी तोरि कैं। केवारी को जमकातरि वैद्यनाथ जी के देश में कहत हैं वा जमकातरि एक पटे का ठाट है वाको गोहारि का ठाट भी कहत हैं ताको किये रावण के अन्तःपुर के द्वार पर अनेक वीर खड़े रहे तेहि ठाट को हनुमान जी तोड़ि कै भीतरि घुँसि मँदोदरि कौं कढ़ोरि कहैं खींचि कै आनी।'[५] बैजनाथ जी[६], परमेश्वरी-दयाल जी[७] और अंजनीनंदनशरण जी[८] ने 'पुष्ट कपाट को तोड़कर' अर्थ किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में सं० यम+कर्त्तरी—'यम का छूरा खांडा' अर्थ दिया है।[९] यहाँ पर 'यमराज की तलवार के समान विकट शस्त्रास्त्रधारी सेना या परदा' अर्थ किसी भी प्रकार से प्रसंगानुकूल नहीं लगता। वैद्यनाथ-धाम के आसपास में 'जमकातरि' कपाट को कहते हैं, ऐसा हरिहरप्रसाद जी का मत है। यहाँ प्रसंगानुसार 'जमकातरि' से तात्पर्य 'अन्तःपुर के कपाटों' से ही है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार हो सकता है—'आप (रावण के अन्तःपुर के) दृढ़ द्वार को तोड़कर मंदोदरी को अन्तःपुर के बाहर निकाल लाये।'

'घैया'

मथि-मथि पियो बारि चारिक में भूख न जाति अघाति न घैया।[१०]

रामायनसरन जी ने 'घैया' शब्द का अर्थ 'मट्ठा-दूध' किया है—'दूध

१. बाहुक सटीक, पृ० २६
२. बाहुक, सि० ति०, पृ० १२२
३. द्वि० खं०, अ० भा वि० परि०, काशी, पृ० ३०५
४. बाहुक सटीक, पृ० २४
५. कवित्त०, पृ० २६१–६२
६. बाहुक सटीक, पृ० ३६
७. बाहुक सटीक, पृ० ४०
८. पीयूषवर्षिणी टीका, पृ० १२२
९. दे० पृ० १११५
१०. श्रीकृष्ण० १९

मट्ठा घिव जो हो सो घैया कहावतु है।'[१] श्रीकांतशरण जी के अनुसार—'थन से छूटती हुई धार, जो मुँह रोप कर पी जाय।'[२] वामदेव जी के अनुसार—'पर उससे भूख नहीं मिटती है, न तृप्ति होती है।'[३] 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक महोदय इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि 'चरवाहों की भूख न तो चार बार दूध दूहकर पीने से मिट पा रही थी, न वे दूध का फेन पीकर ही अघा पा रहे थे।'[४]

इस प्रकार 'घैया' शब्द के चार अर्थ लोगों ने किये हैं—दूध-मट्ठा, थन से छूटती हुई धार, तृप्ति नहीं होती, दूध का फेन।

'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ 'गौ के थन से निकली हुई दूध की धार जो मुँह लगाकर पी जाये' दिया है।[५]

'तुलसी-शब्दसागर' में 'घैया' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध मानकर तीन अर्थ दिये गये हैं—(१) कोख, पेट, उदर, (२) थन से निकली हुई दूध की धार, (३) ओर, तरफ, दिशा।[६]

रामायनसरन जी का तो 'दूध-मट्ठा' अर्थ बिल्कुल काल्पनिक है। किसी भी कोश में यह अर्थ नहीं प्राप्त होता। 'दूध का फेन' अर्थ भी कहीं नहीं मिलता। 'हिन्दी शब्दसागर' में 'घैया' का एक अर्थ और दिया है—'ताजे और बिन मथे हुए दूध के ऊपर उतराते हुए मक्खन को काछकर इकट्ठा करने की क्रिया।'[७] भ्रम से 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक महोदय ने 'दूध का फेन' अर्थ समझ लिया। 'थन से निकली हुई दूध की धार' अर्थ भी यहाँ तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि उद्धृत अंश के पूर्व कवि स्वयं कह रहा है कि चरवाहों ने 'चार बार दूध दूहकर पिया'। जब दूध दिया गया तो पुनः यह कहना कि 'थन से निकली हुई दूध की धार मुँह लगाकर पिया' पुनरुक्ति-दोष हो जायेगा। इस अर्थ में 'घैया' शब्द का प्रयोग अन्यत्र गीतावली में हुआ है—

---

१. श्रीकृष्ण० सटीक, पृ० १८

२. " , सि० ति०, पृ० ३६

३. श्रीकृष्ण० सटीक, पृ० २३

४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५६१

५. दे०, पृ० ८६७

६. दे० पृ० १३७-३८

७. दे० पृ० ८६७

तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनी घैया ।[१]

'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ 'घैया' का अर्थ 'तुलसी-शब्दसागर' द्वारा समर्थित 'पेट या उदर' होगा। वामदेव जी ने भी लगभग यही अर्थ किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'चरवाहों की चार बार दूध दूहकर पीने से न भूख मिटती है और न पेट ही भरता है (तृप्ति ही होती है)।

'चरेरीऐ'

यह बतकही चपल चेरी की निपट चरेरीऐ रही है।[२]

'चरेरी' शब्द का अर्थ रामायनसरन जी ने 'चालाकी-चतुराई' माना है।[३] गीता प्रेस की टीका[४] में तथा श्रीकांतशरण जी[५] ने इसका अर्थ 'कठोर, कड़ी, खुरदरी या कर्कश' दिया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ 'कड़ा और खुरदुरा, कर्कश, रूखा' दिया है।[६] 'चरेरी' अनुकरणात्मक शब्द है। 'चरचर' से 'चरेरा' शब्द बना है। ईकारान्त होने से 'चरेरी' स्त्रीलिंग शब्द है। यहाँ पर 'चरेरीऐ' का अर्थ होगा 'कर्कश ही'। रामायनसरन जी का 'चालाकी-चतुराई' अर्थ सर्वथा अनुमानित है। आज भी इलाहाबाद जनपद में इस शब्द का प्रयोग 'कर्कश' अर्थ में होता है। सब्जी-विक्रेता प्रायः कहते हैं कि यह मूली या लौकी 'चरेरी' नहीं है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'ये बातें चंचला कुबड़ी की हैं जो सरासर (एकदम) कर्कश ही हैं।'

'आलहि'

आलहि बाँस के माँड़व मनिगन पूरन हो।[७]

'आल' शब्द की व्युत्पत्ति 'हिन्दी शब्दसागर' में सं० 'आर्द्र' से दी हुई है[८] और 'तुलसी शब्दसागर' में संस्कृत 'ओल' से। दोनों कोशों में इसका अर्थ 'गीला, हरी और कच्चा' दिया है। यहाँ पर इसका अर्थ 'हरा' (कच्चा) है—

---

१. गीता० १।१७
२. श्रीकृष्ण० ४२
३. ,, सटीक, पृ० ४३
४. दे० पृ० ५०
५. श्रीकृष्ण०, सि० ति०, पृ० १०२
६. दे० पृ० ६५३
७. नहछू ३
८. दे० पृ० २६३

'रत्नों से जड़े हुए हरे-हरे बाँसों के मण्डप बने हुए हैं।' सभी टीकाकारों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है। बिहारी ने भी इसका प्रयोग किया है—आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।[१]

'बरायन'

बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो।[२]

यहाँ 'बरायन' शब्द के अर्थ में मतभेद है। 'दीन' जी के अनुसार 'बरायन' शब्द संस्कृत 'वारण' से बना है। लोहे का एक छल्ला जो विवाह के समय वर को पहनाया जाता है। इसमें रत्नों की जगह गुंजा लगे रहते हैं। लोगों का विश्वास है कि इससे वर को नजर नहीं लगती। यह छल्ला लोहारिनि लाती है और पहनाते समय अपना नेग लेती है।[३] लगभग यही अर्थ श्रीकांतशरण जी ने भी किया है।[४] सद्गुरुशरण अवस्थी जी ने इसका अर्थ 'कंकण' किया है।[५] 'तुलसी-ग्रन्थावली' द्वितीय खंड के संपादक ने भी इसका अर्थ 'लोहे का छल्ला' किया है।[६] माधुरी के एक लेख में के० पी० दीक्षित कुसुमाकर ने लिखा है कि—"बरायन का अर्थ 'कंकन' नहीं होता। विवाह के अवसर पर एक घड़ा आता है जिसमें दूलह का नहाया हुआ पानी भर लिया जाता है और इसी से दुलहिन नहलाई जाती है। यह घड़ा बरात के साथ लड़के के घर से लड़की के घर जाता है। अवध में यह प्रथा अब भी भली-भाँति प्रचलित है। 'बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो' के स्थान पर 'बिहँसत आउ कुम्हारिन हाथ बरायन हो' होगा। विवाह के समय लोहारिन का आना उतना मंगलजनक नहीं जान पड़ता जितना कुम्हारिन का। हम इसे विवाह का 'नहछू' मानते हैं।[७] पंडित रामकुमारदास जी ने इसका अर्थ मुझे 'कजरौटा' बताया है।

इस प्रकार 'बरायन' के चार अर्थ लोगों ने किये हैं—लोहे का छल्ला, कंकण, वर के यहाँ से आया हुआ (जल) और कजरौटा।

'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ इस तरह है—'वह लोहे का छल्ला जो

---

१. बिहारी-रत्नाकर, दोहा ३८३
२. नहछू ५
३. तुलसी-पंचरत्न, नहछू, पृ० २
४. नहछू, सि० ति०, पृ० ७-८
५. तुलसी के चार दल—दूसरी पुस्तक, पृ० ५
६. अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २
७. माधुरी, वर्ष ८, खंड २, सं० ५, पृ० ६२८, ज्येष्ठ ३०६ तु० सं०

ब्याह के समय दूल्हे के हाथ में पहनाया जाता है। इसमें रत्नों के स्थान में गुंजा लगे रहते हैं।'[1]

के० पी० दीक्षित का अर्थ क्लिष्ट कल्पनायुक्त है। उन्होंने पाठान्तर भी कर दिया है, जबकि सभी प्रतियों में 'लोहारिनि' ही पाठ मिलता है, न कि कुम्हारिन। वर के यहाँ से जो जल कन्या के यहाँ जाता है, उसे कुम्हारिन नहीं, बल्कि नाई ले जाता है। मैंने स्वयं कई लोगों से इस शब्द के सम्बन्ध में चर्चा की। पुरोहित-पंडितों से भी बात की। सभी ने 'बरायन' का एक दूसरा अर्थ बताया है। उनके अनुसार—नहछू के समय लोहारिनि एक विशेष आकार की लोहे की बनी हुई वस्तु लाती है जो दूल्हा के जामे में बाँध दी जाती है। गोल लोहे की पत्ती में चारों ओर छेद करके छोटी-छोटी लोहे की पत्तियों की झालर लटकाई जाती है। कहीं-कहीं घुँघची भी लटकाते हैं। उसे ही 'बरायन' कहते हैं।

गोण्डा जिले में उक्त आकार-विशेष की लोहे की बनी हुई वस्तु को 'कंकण' कहते हैं जो लोहार या लोहारिन लाती है।

'व्यावहारिक ज्ञान' नामक अर्थनिश्चय के साधन से इसका 'कंकण' अर्थ ही निश्चित होता है। यहाँ 'कजरौटा' अर्थ उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यह तो कन्या के यहाँ लोहारिन प्रदान करती है।

गोस्वामी जी ने कंकण छोड़ने का उल्लेख मानस, प्रथम सोपान के ३६०वें दोहे की पहली अर्धाली में किया है—सुदिन सोधि कल कंकन छोरे।

'सौंतुख'

देखौं सपन कि सौंतुख ससि सेखर सहि।[2]

इस शब्द का प्रयोग केवल पद्य में हुआ है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति 'सम्मुख' से मानी गयी है जो विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती और अर्थ 'प्रत्यक्ष, सम्मुख' किया गया है।[3] दीन जी प्रा० सुंतु+अक्ख से बना मानते हुए 'आँख से देखी हुई वस्तु' (प्रत्यक्ष) अर्थ किया है।[4] सभी टीकाकारों ने भी इसका अर्थ 'प्रत्यक्ष, साक्षात्' किया है। अतः 'सौंतुख' का अर्थ 'प्रत्यक्ष' निर्विवाद है। आजकल यह शब्द दुरूह माना जाता है।

---

१. दे० पृ० ३३६६
२. पा० मं० ७१
३. दे० पृ० ३६६५
४. तुलसी-पंचरत्न, पृ० ७

'घरबात'

घरबात घरनि समेत कन्या आनि सब आगे धरी ।[१]

अयोध्यानाथ शर्मा और रामबहोरी जी ने 'घरबात' का अर्थ 'घर की बातें, घर-सम्बन्धी बातें' किया है ।[२] अच्युतानन्द दत्त जी ने लगभग यही अर्थ किया है—घर की सभी बातें—यहाँ तक कि स्त्री और पुत्री तक मुनियों के आगे लाकर रख दीं, अर्थात् उनके प्रति हिमालय ने निश्छल भाव प्रकट किया।[३] शेष लगभग सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ 'घर की सामग्री, घर की सम्पत्ति' किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में भी इसका अर्थ 'घर की सामग्री, घर की सम्पत्ति' दिया है ।[४] यहाँ पर 'घरबात' का अर्थ 'घर की बातें' बिल्कुल काल्पनिक है। स्वयं गोस्वामी जी ने 'घर की सामग्री' (सम्पत्ति) अर्थ में इसका प्रयोग कई स्थानों पर किया है—

कृसगात ललात जो रोटिन को, घरवात धरे खुरपा खरिया ।[५]

× × ×

निज घर की घरवात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी ।।[६]

इस शब्द का प्रयोग केवल पद्य में हुआ है। साथ ही इसका प्रयोग प्रांतिक है । हिन्दी घर+वात प्रत्यय से 'घरवात' शब्द बना है जिसका अर्थ है—घर की सामग्री ।

'हरदि-बेदन'

प्रथम हरदि-बेदन करि मंगल गावहिं ।[७]

हरदिवेदन संस्कृत 'हरिद्रा' से बना है । विवाह में हल्दी लगाने की एक प्रक्रिया को 'हरदिबेदन' कहते हैं । हल्दी वर और वधू दोनों को अपनी-अपनी जन्मभूमि पर लगायी जाती है। यहाँ पर कवि ने कन्या (सीता जी) के हल्दी लगाने की रीति का उल्लेख किया है । प्रायः टीकाकारों ने 'हरदि-बेदन' शब्द ही रखकर अर्थ को अस्पष्ट रखा है ।

१. पा० मं० ६२
२. पा० मं० सटीक, पृ० २८
३. ,, ,, पृ० २६
४. दे० पृ० ८८१
५. कविता० ७।४६
६. विनय० ५
७. जा० मं० १२६

विदेशी शब्द

'फराक'

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पिअहिं बाजि गज ठाटा ॥[१]

पोद्दार जी 'फराक' का अर्थ लिखते हैं कि—अलग कुछ दूरी पर वह सुंदर घाट है।[२] 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक के मत से—थोड़ी ही दूर पर ऐसा दूसरा सुन्दर घाट बना हुआ था।[३] श्री अवधबिहारीदास ने भी ऐसा ही अर्थ किया है—यहाँ से कुछ दूरी पर।[४] विनायक राव ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है—कुछ दूर अन्तर से।[५] शेष समस्त टीकाकारों ने इसका 'लम्बा-चौड़ा, विस्तृत' अर्थ किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ 'लंबा-चौड़ा, विस्तृत, आयत' दिया हुआ है।[६]

'फराक' शब्द फ़ारसी 'फ़राख' से विकसित है। फ़ारसी ख>क हो गया है। फ़ारसी में 'फ़राख' को 'विशाल' कहते हैं। उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों ने भ्रम से फ़ारसी 'फ़र्क' से 'फराक' शब्द का विकास मानने के कारण ही इसका अर्थ 'अलग कुछ' किया है। 'तुलसी-शब्दसागर' के सम्पादक महोदय ने भी इसी भ्रम के कारण इसका अर्थ 'अलग, हटकर' किया है।[७] किन्तु यह शब्द फ़र्क से नहीं, फ़राख से विकसित है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'दूर पर वह विशाल (विस्तृत) मनोहर घाट है जहाँ घोड़ों और हाथियों के समूह जल पीते हैं।'

'सही'

अधिक आपु तें आपनो सुनि मान सही ले।[८]

इस पंक्ति के 'सहीले' शब्द पर विवाद है। देवनारायण द्विवेदी के मत से—'तू अपने से अधिक सेवक की सुनता और उसका मान सहने वाला है।'[९] बाबू शिवप्रकाश के अनुसार—'सहत हौ अर्थात् स्वीकार करत हौ।'[१०] इसी

१. मानस ७।२९।१
२. मानस०, पृ० ८९९
३. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ९४०
४. मानस, पृ० १०४९
५. वि० टी०, पृ० ७७
६. दे० पृ० ३२७२
७. दे० पृ० ३१८
८. विनय० ३२
९. ,, सटीक, पृ० ५८
१०. ,, ,, पृ० ४८-४९

प्रकार भट्ट जी[१] और गीता प्रेस[२] की टीका में 'सहता था' अर्थ दिया है। वियोगी हरि जी ने अपनी टीका में 'सहीले' शब्द का अर्थ ही नहीं किया है—तू अपने सेवक की सुनता और मानता था।[३] वीरकवि जी के अनुसार—आप सेवक को अपने से अधिक मानते हैं, उनका दुःख सुनकर मन चंचल हो जाता है।[४] श्रीकांतशरण जी[५], प० सूर्यदीन शुक्ल जी[६], पं० रामकुमार जी, दीन जी[७] और विनयपीयूषकार[८] ने 'सहीले' का अर्थ—'सही (सत्य) मान लो' किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त टीकाकारों ने 'सही' के तीन अर्थ किये हैं—सहना, चंचल होना और ठीक, सत्य।

यहाँ पर वीरकवि जी का 'चंचल होना' अर्थ तो बिल्कुल ऊटपटांग है। वास्तव में 'सही' शब्द के दो अर्थ होते हैं—सहना और ठीक, सत्य। उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों ने संस्कृत 'सहन' से विकसित मानने के कारण इसका अर्थ 'सहना' किया है। 'सहना' अर्थ में 'सही' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने श्रीकृष्णगीतावली में किया है—

तुलसी परमेश्वर न सहैगो, हम अबलनि सब 'सही' है।[९]

उक्त व्याख्यातव्य 'सही' शब्द फ़ारसी 'सहीह़' से विकसित है जिसका अर्थ है—ठीक, सत्य। गोस्वामी जी ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग भी किया है—

सिय-रघुबर-सेवा सुचि ह्वै हौ तौ जानिहौं सही सुत मोरे।[१०]

यहाँ 'सही सुत' का अर्थ है—'सच्चे पुत्र।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ 'सही' का अर्थ 'ठीक, सत्य' है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—

'अपने से अपना (सेवक, आश्रित) अधिक होता है, यह (बात) सुनकर

---

१. विनय०, सटीक, पृ० ४७
२. ,, ,, पृ० ४८
३. ,, ,, पृ० १२६
४. ,, ,, पृ० १२६
५. ,, सि० ति०, पृ० १५६
६. ,, सटीक, पृ० ३३
७. वि० पी०, खंड १, पृ० ११३
८. वही, पृ० ११२-१३
९. श्रीकृष्ण० ४२
१०. गीता० २।११।३

सत्य (ठीक) मान लो।' दीन जी, सूर्यदीन शुक्ल जी और विनयपीयूषकार आदि टीकाकारों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

'बिलंद'

मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे।[1]

'बिलंद' शब्द फ़ारसी 'बुलंद' से विकसित है जिसका अर्थ है—ऊँचा, उच्च। केशव ने भी 'बिलंद' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

प्रबल बिलंद वर बारनि के दंतनि सौं बैरनि के बाँके-बाँके दुरग बिदारे हैं।[2]

उक्त पंक्ति का अभिधेयार्थ है—'(मार्ग) नीचा-ऊँचा दलदल से पूर्ण है। उसमें डोला को झटका लगने से दुःख प्राप्त होता है।' 'वक्ता की भावना' अर्थनिश्चय के साधन से लक्षणार्थ होगा—सांसारिक जीवन-मार्ग में कभी तो जीव के मन में तामस प्रवृत्तियों से वासनाओं की लहरें उठती हैं। उदाहरणार्थ—दोषदृष्टि, परहानि आदि नीच कर्मों की वासनाएँ। इसी को कवि मंद मार्ग कहता है। कभी उच्च रजोगुण से किया हुआ धर्मकार्य। जैसे सफलता के लोभ से किसी देवता की पूजा-आराधना अथवा विजय, कीर्ति की कामना से धर्मानुष्ठान करना आदि बिलंद (उच्च) मार्ग है।

'कागर'

कीर के कागर ज्यों नृपचीर बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।[3]

बैजनाथ जी के अनुसार 'कीर को कागर अर्थात् केंचुलि यथा कीरा की देह निर्मल देखात अथवा कीर सुवा को पिंजरा से अंग की शोभा ढकी अरु बंधन ते मन उदासीन जब वसन उतारि डारे तब अंग की शोभा प्रसिद्ध देख परी।'[4] हरिहरप्रसाद जी इसका अर्थ करते हैं—'भाव जैसे पिंजड़ा तजे सूगा षुसी होत तैसें वस्त्रादि तजे भये वा कीर के बच्चा ने ज्यौं षोता तज्यो त्यों राम ने नृपचीर भूषन ताही ने नाई अंगनि उपमा ऊपाई।'[5] शेष समस्त आधुनिक टीकाकारों ने 'कागर' का अर्थ 'पंख' किया है।

'हिन्दी शब्दसागर' में इसके दो अर्थ दिये हैं—१. कागज, २. पंख, पर। बैजनाथ जी ने 'कीर' का अर्थ 'सर्प' करके 'कागर' का अर्थ 'केंचुल' किया है।

---

१. विनय १८६
२. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३५०६
३. कविता० २।१
४. कविता०, पृ० ३५
५. कवित्त०, पृ० १७

किन्तु 'कीर' का अर्थ 'तोता' ही होता है। कीड़ा (कीरा) का अर्थ 'सर्प' होता है, न कि 'कीट'। गोस्वामी जी ने 'कीर' शब्द का प्रयोग 'तोता' के अर्थ में गीतावली में किया है—

मोहि कहा बूझत पुनि-पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै।[१]

अतः 'केंचुल' अर्थ यहाँ अग्राह्य है। 'कागर' का 'पिंजड़ा' अर्थ में प्रयोग मुझे कहीं देखने में नहीं आया। अतः बैजनाथ जी और हरिहरप्रसाद जी का अर्थ मनमाना है। कागर, कागल फारसी 'काग़ज़' के विकसित रूप हैं। हिन्दी में इसका एक विकसित रूप 'कागद' भी मिलता है। 'काग़ज़' का विकास इस रूप में माना जा सकता है : 'काग़ज़>कागद>कागड़>कागल>कागर।[२] उक्त विवेच्य 'कागर' का प्रयोग तोते के पंख (पर) के लिए हुआ है। पंख या पर कागज की तरह पतला होता है। अतः कागज के आधार पर 'पंख' (पर) अर्थ प्रस्फुटित हुआ। इस तरह यहाँ अर्थस्फोट का तत्त्व मिलता है। 'पंख' के अर्थ में इसका प्रयोग गोस्वामी जी ने उपर्युक्त पंक्ति के दूसरे सवैया में किया है—

कागर-कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यौ तजि नीर ज्यौं काई।।[३]

उपर्युक्त व्याख्यातव्य पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—'श्रीराम के अंगों ने राजोचित वस्त्रों और आभूषणों को त्यागकर वही शोभा प्राप्त की जो तोता अपने पंखों को त्यागकर पाता है।'

डॉ० भानुकुमार जैन यहाँ शब्ददोषों में न्यूनपदत्व दोष का आरोप करते हुए लिखते हैं कि—"यहाँ कवि अभिलषित अर्थ की प्रतीति कराने में असमर्थ है, क्योंकि उसने इसे 'त्याग' शब्द के लाये बिना ही लिख दिया है।...'त्याग' शब्द के बिना यहाँ अर्थ लगाना असंभव हो जाता है।"[४] किन्तु आचार्यों ने अर्थनिश्चय के साधनों में एक साधन 'शब्दाध्याहार' माना है। इसके अनुसार अपूर्ण वाक्यों का अर्थनिश्चय अप्रयुक्त शब्दों के अध्याहार (पूर्ति) से होता है। अतः यहाँ 'त्याग' शब्द का अध्याहार करके अर्थ करना चाहिए।

'हलक'

महिषमती को नाथ साहसी सहसबाहु
समर समर्थ, नाथ! हेरिए हलक में।।[५]

---

१. गीता० ६।१५

२. डॉ० शिवनाथ शर्मा, हिन्दी भाषा का अर्थतात्त्विक विकास, पृ० १२०

३. कविता० २।२

४. तुलसीकृत कवितावली का अनुशीलन, पृ० १३७

५. कविता० ६।२५

'तुलसी-शब्दसागर' में इसका अर्थ 'गला, कंठ' दिया हुआ है।

'हलक' शब्द अरबी का है। अरबी 'हलक' के ये अर्थ प्राप्त हैं—(सिर) मुंडन। किसी को गले से घायल करना। गला, वायुनलिका, स्वरनलिका (स्टाइन गास)।[१] हिन्दी 'हलक' का अर्थ 'गले की नली, कंठ' है।[२] यहाँ पर इसका अर्थ 'हृदय' है, यद्यपि अरबी में इसका अर्थ 'हृदय' नहीं है। लगता है, अनुप्रास के अनुरोध से 'हृदय' के अर्थ का आरोप 'हलक' पर किया गया है। आधुनिक हिन्दी में इसका अर्थ, जैसा कि शब्दसागर से स्पष्ट है, 'हृदय' नहीं है। अतः यहाँ अर्थसंकोच का तत्त्व मिलता है। कवितावली के सभी टीकाकारों ने भी इसका अर्थ 'हृदय' ही किया है। उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—

'हे नाथ! हृदय में किंचित् सोचकर देखिये, माहिष्मतीपुरी का राजा साहसी सहस्रबाहु रण में कैसा पराक्रमी था।' 'तुलसी-शब्दसागर' का 'गला, कंठ' अर्थ बिल्कुल असंगत है।

'रवा'

राम को किंकर सो तुलसी समुझेहि भलो कहिबो न रवा है।[३]

बैजनाथ जी के अनुसार—रवा नहीं है सलित रीति नहीं है बल्कि दूषण है।[४] शेष समस्त आधुनिक टीकाकारों ने, यहाँ तक कि प्राचीन टीकाकार हरिहरप्रसाद जी ने भी इसका अर्थ 'उचित' किया है।

'रवा' फ़ारसी शब्द है जिसका अर्थ 'हिन्दी शब्दसागर' में १. उचित, ठीक; २. प्रचलित, चलनसार दिया है।[५] यहाँ प्रथम अर्थ ही उपयुक्त है। अतः उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'परन्तु आज वही तुलसी श्रीराम का किंकर हो गया। इस बात को समझना ही अच्छा है, कहना उचित नहीं है।' बैजनाथ जी का अर्थ बिल्कुल असंगत है।

'तमाहि'

लोक परलोक कों बिसोक सो बिलोक ताहि,
तुलसी तमाहि ताहि काहु बीर आन की?[६]

कतिपय प्राचीन प्रतियों एवं संस्करणों में 'तमाइ' पाठ भी मिलता है। श्री बैजनाथ जी[७] और हरिहरप्रसाद जी[८] 'तमाहि' का अर्थ 'क्रोध' करते हैं।

१. डॉ० शिवनाथ शर्मा, हिन्दी भाषा का अर्थतात्त्विक विकास, पृ० ४५४
२. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३७६०
३. कविता० ७।५६
४. कविता० सटीक, पृ० २०२
५. दे० पृ० ४१२७
६. बाहुक १३
७. बाहुक सटीक, पृ० २२
८. कवित्त० सटीक, पृ० २६०

शेष समस्त टीकाकारों ने इसका अर्थ 'लोभ, लालच या लालसा' किया है। इस शब्द का प्रयोग पद्य और पुरानी हिन्दी में हुआ है। अरबी 'तमअ' से 'तमाहि' (तमाइ) शब्द विकसित है। इसका अर्थ 'हिन्दी शब्दसागर' में '१. लालच, लोभ, हिर्स; २. चाह, इच्छा, ख्वाहिश' दिया है।[१] यहाँ पर 'क्रोध' अर्थ की संगति किसी प्रकार नहीं है। यहाँ पर इसका अर्थ 'लालसा' या 'लालच' ही है। लोभ या लालच के अर्थ में इसका प्रयोग कवि ने अन्यत्र भी किया है—

जाप की न, तप खप कियो न तमाइ जो,
जाग न, बिराग त्याग तीरथ न तन कौ।[२]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'वह अपने लोक और परलोक की ओर से निश्चित है। कहिये (तो) तुलसीदास ! उसे त्रैलोक्य में किसी अन्य वीर की लालसा ही क्या ?'

'कनिगर'

तुलसी के माथे पर हाथ फेरौ कीस-नाथ,
देखिए न दास दुखी तो-से कनिगर के।[३]

'कनिगर' का अर्थ परमेश्वरीदयाल ने इस प्रकार किया है—आपने समान 'रोषयुक्त' प्रभु के दास को कष्ट में रहना उचित नहीं।[४] शेष समस्त टीकाकारों में इसका अर्थ 'मर्यादा की लाज रखने वाला, अपनी कीर्ति की रक्षा का ध्यान रखने वाला, या नाम की लाज रखने वाला' किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में यही अर्थ दिया हुआ है।[५] यहाँ 'कनिगर' का अर्थ 'रोषयुक्त' अन्दाज़िया है। यह शब्द पूर्ण रूप से विदेशी नहीं है, बल्कि दो देशों से मिला हुआ है। हिन्दी 'कानि' और फ़ारसी 'गर' से इस शब्द का निर्माण हुआ है जिसका अर्थ है—'अपनी मर्यादा का ध्यान रखने वाला'। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'हे कीशनाथ ! तुलसी के मस्तक पर हाथ फेरिये। आप-जैसे अपनी मर्यादा का ध्यान रखने वाले के दास का दुखित रहना उचित नहीं।'

---

१. दे० पृ० २०१८
२. कविता० ७।७७
३. बाहुक ३३
४. बाहुक सटीक, पृ० ४८
५. दे० पृ० ४४६-४७

'इताति'

तुलसी दिन भल साहु कहँ, भली चोर कहँ राति ।
निसिबासर ताकहँ भलो, माने राम 'इताति' ॥[१]

'इताति' शब्द अरबी 'इताअत' से विकसित है। इसका अर्थ 'हिन्दी शब्द-सागर' में 'आज्ञापालन, ताबेदारी' दिया है।[२] प्रायः सभी टीकाकारों ने निर्विवाद रूप से इसका अर्थ 'आज्ञापालन' ही किया है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग अन्यत्र भी कवि ने किया है—

करतार, भरतार, हरतार, कर्म, काल,
को है जगजाल जो न मानता इताति है।[३]

अतएव उक्त व्याख्येय दोहे का अर्थ होगा—

'तुलसीदास कहते हैं कि सज्जनों को दिन का समय और चोरों को रात का समय अच्छा लगता है। परन्तु जो लोग राम की आज्ञा का पालन करते हैं, उनके लिए दिन और रात दोनों ही अच्छे हैं।' अप्रचलित होने के कारण 'इताति' का अर्थबोध शीघ्र नहीं हो पाता।

'अकस'

बंदि बोले बिरद अकस उपजाइ कै।[४]

'मानक हिन्दी कोश' में सं० आकर्ष से 'अकस' का विकास बताया गया है।[५] 'हिन्दी शब्दसागर' के अनुसार अरबी 'अकस' से 'अकस' विकसित है,[६] यद्यपि अर्थ में कुछ भी भेद नहीं है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ 'वैर, द्वेष, शत्रुता, डाह, अदावत, विरोध, लाग, बुरी उत्तेजना' दिया हुआ है।[७] टीका-कारों ने इसका अर्थ 'बुरी उत्तेजना उत्पन्न कर, उत्तेजित करते हुए, लाग-डाँट उपजाकर' किया है। संस्कृत 'आकर्ष' से 'अकस' की व्युत्पत्ति मानना कुछ क्लिष्ट कल्पना ही है। यदि गोस्वामी जी अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग अपने साहित्य में विपुल मात्रा में किया है, तो विशुद्ध अरबी के 'अकस' शब्द को

---

१. दोहा० १४८
२. दे० पृ० २८७
३. बाहुक ३०
४. गीता० १।८२।७
५. दे० प० खं०, पृ० २७
६. दे० पृ० ३१
७. वही, पृ० ३१

मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उक्त 'अकस' शब्द अरबी 'अकस' से विकसित है। इसका समर्थन 'हिन्दी शब्दसागर' और 'तुलसी-शब्दसागर'[१] दोनों से होता है। बिहारी ने भी 'वैर' अर्थ में इसका प्रयोग किया है—

मनु ससि सेखर की अकस किय सेखर सतचंद।[२]

गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग 'वैर' (द्वेष) अर्थ में कवितावली में किया है—एते मान अकस कीबे को आपु आहि को?[३] उक्त व्याख्यातव्य शब्द का अर्थ यहाँ 'उत्तेजना' होगा—

'इसी समय भाट लोग सबको उत्तेजित करते हुए विरुदावली कहने लगे।'

'सहिदानु'

'मैं तैं' मेट्यो मोह तम, ऊगों आतम-भानु।
संतराज सो जानिए, तुलसी या सहिदानु॥[४]

'सहिदान' शब्द का प्रयोग पद्य में हुआ है। साथ ही यह प्रांतिक प्रयोग है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति 'संज्ञस' से मानी गयी है और अर्थ 'चिह्न, पहचान, निशान' किया गया है।[५] कुछ लोग 'सहिदान' को अरबी शब्द मानते हैं। सभी टीकाकारों ने भी इसका अर्थ 'लक्षण, पहचान, चिह्न' किया है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग उक्त ग्रन्थ में ही हुआ है—तुलसी यहै सांति सहिदानी।[६] अतएव उक्त व्याख्येय शब्द का अर्थ यहाँ 'लक्षण' (पहचान) है—

'तुलसीदास कहते हैं कि संत को इस लक्षण से जानना चाहिए कि उसके मन में 'मैं और तू' का अज्ञान मिट चुका हो और उसके हृदय में आत्मज्ञान का सूर्य उदय हो चुका है। उसी को संतों में सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए।' उक्त शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। अप्रचलित होने के कारण दुरूह भी है।

'सुमौज'

तापर करहिं सुमौज बहुत दुख खोवहिं हो।[७]

---

१. दे० पृ० ५
२. बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४१६
३. कविता० ७।१००
४. वै० सं० ३३
५. दे० पृ० ३४६२
६. वै० सं० ५१
७. नहछू १७

'सुमौज' विशुद्ध विदेशी शब्द नहीं है। 'सु' भारतीय है, तो 'मौज' अरबी। 'मौज' अरबी संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है। 'मौज' का अर्थ 'आनंद, सुख' है।[1] 'सु' एक संस्कृत उपसर्ग है जो संज्ञा शब्दों के पूर्व जोड़ा जाता है, विशेषण और क्रियाविशेषणों में भी जुड़ता है। इसका अर्थ 'सुन्दर, अच्छा, और अधिक, अत्यधिक, बहुत अधिक' आदि है। यहाँ पर 'सु' का अर्थ 'अत्यधिक' है। इस प्रकार 'सुमौज' का अर्थ होगा—अत्यधिक आनंद। उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'वे उस धन से अत्यधिक आनंद करते हैं और अपने समस्त दुःख मिटाये डाल रहे हैं।' सद्गुरुशरण अवस्थी जी इसे 'गंगा-जमुनी' समास कहते हैं।[2]

———

१. दे० सं० हि० शब्द०, पृ० ६८८ और संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, पृ० ११०९

२. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० १७

४

पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

तुलसी-साहित्य के विभिन्न संस्ककरणों में वर्तनी-भेद और शैली की विभिन्नता के अतिरिक्त ऐसे भी अनेक पाठभेद हैं जिनसे अर्थ में महत्त्वपूर्ण अन्तर पड़ जाता है। ऐसे पाठभेदों के सम्बन्ध में प्रायः कहा जाता है कि प्रतिलिपिकारों ने अथवा व्यासीय शैली के टीकाकारों और संशोधकों ने अर्थ न समझकर मनोनुकूल पाठ-परिवर्तन कर दिये हैं। यह बात निःसंदेह सत्य है। कतिपय पाठांतर ऐसे भी दृष्टिगोचर हुए हैं जो अर्थ की दृष्टि से बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। उदाहरणार्थ—'पायस' पाठ अर्थ की दृष्टि से बहुत उपयुक्त है, किन्तु प्रतिलिपिकारों ने 'बायस' कर दिया है। इसी प्रकार 'अयमय खाँड न ऊखमय' को 'अजगव खंडेउ ऊख जिमि' कर दिया है। कुछ पाठ ऐसे भी हैं जो कविप्रयोग और अर्थ की दृष्टि से असंगत हैं। कहीं-कहीं अर्थानुसंगति के आधार पर भी पाठभेद कर दिये गये हैं। यत्र-तत्र वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर पाठभेद कर दिया गया है। पाठ-चयन के सिद्धान्त के आधार पर जो पाठ खरा नहीं उतरा है, उसे अस्वीकार कर दिया गया है। किन्तु वैज्ञानिक प्रक्रिया पर ध्यान रखते हुए भी साहित्यिक सरणि का परित्याग नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक प्रक्रिया शब्द पर अधिक ध्यान देती है, तो साहित्यिक प्रक्रिया शब्द पर बल देते हुए भी अर्थ को प्रमुख स्थान प्रदान करती है। अतः पाठ-चयन की वैज्ञानिक हठवादिता का निदान साहित्यिक सरणि अर्थात् अर्थानुसंगति के आधार पर किया गया है। कतिपय टीकाकारों ने प्राचीनतम प्रतियों के आधार पर भ्रष्ट पाठ की ही क्लिष्ट कल्पना करके अर्थ निकालने के अनेकानेक प्रयास किये हैं, चाहे वह अर्थ उस पाठ में विद्यमान हो अथवा नहीं और खींचतान करके दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया है। ऐसे टीकाकारों ने अर्थानुसंगति बैठा देना ही पाठ-समस्या का निदान समझ लिया है। अतः प्रस्तुत अध्याय में **पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं का निदान प्रसग, अर्थ, कविप्रयोग और कवि की प्रवृत्तियों आदि पर ध्यान देते हुए किया गया है। आवश्यकतानुसार विषयानुसंगति, लेखानुसंगति और कठिनतर पाठ की स्वीकृति आदि पाठ-चयन के सिद्धान्तों का भी उपयोग किया** गया है। प्रायः संपादकों ने अपूर्ण प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों पर ध्यान नहीं दिया है। 'विनयपत्रिका'

के संदर्भ में उन्होंने अधिकतर पूर्ण प्रतियों को ही महत्त्व दिया है। किन्तु गोस्वामी जी मुक्तकों एवं स्फुट पदों की रचना समय-समय पर आजीवन करते रहे। अतः पूर्ण हस्तलिखित प्रति ही प्रामाणिक है, यह नहीं कहा जा सकता। इसीलिए यहाँ पूर्ण हस्तलिखित प्रति पर विचार करते हुए अपूर्ण प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति पर विशेष दृष्टि रखी गयी है।

'बायस—पायस'

पायस पलिअहिं अति अनुरागा होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा।[१]

उक्त अर्धाली में कहीं 'पायस' पाठ है, तो कहीं 'बायस'। बड़इया (पटना) की सं० १६४१ की परंपरा की प्रति (लिपिकाल-सं० १८७१) में 'बायसु' पाठ है।[२] श्री रामचरणदास[३], रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाशकार[४], रामनरेश त्रिपाठी जी[५], गीता प्रेस[६], अवधबिहारीदास जी[७], ग्राउस महोदय[८], श्रीकान्त-शरण जी[९] और जानकीशरण जी, मानसपीयूषकार[१०] आदि टीकाकारों ने 'बायस' पाठ माना है और पुनरुक्ति दोष के परिहार के लिए 'बायस और काग' दोनों के साथ क्रियाएँ हैं, अतः पुनरुक्ति नहीं है—ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया है। शंभुनारायण चौबे जी, विजयानंद त्रिपाठी जी और डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी अपने संस्करणों में 'बायस' पाठ को ही स्वीकार किया है।[११] शंभुनारायण चौबे जी के संस्करण की 'प्रस्तावना' में कहा गया है कि "भावाभिव्यक्ति की तीव्रता एक ही शब्द या उसके पर्याय के बार-बार उच्चारण का कारण बनती है। यह गुण है, क्योंकि अर्थ के साथ भावतीव्रता का बोध काव्य की श्रीसंपदा का आभासक होता है। वैसे अनुराग कभी भी प्रियपात्र के प्रति हिंसक नहीं होता और पुनरुक्तिवदाभास अनुप्रास कम सुंदर अलंकार भी नहीं होता।"[१२]

१. मानस १।५।२
२. मानस, काशिराज संस्करण, पृ० ४६३
३. रामा०, पृ० १८
४. रामा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १२
५. मानस, पृ० ६
६. वही, पृ० ३६
७. वही, पृ० १०
८. द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० ४
९. मानस, सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ५२
१०. श्रीमानस मार्तण्ड टीका, प्रं० खं०; मा० पी०, खं० १, पृ० १४१
११. काशिराज संस्करण, आत्मनिवेदन, पृ० २४-२५
१२. दे० प्रस्तावना, पृ० ३२-३४

उदयपुर (राजस्थान) के सरस्वती भंडार की प्रति (लिपि-सं० १७७१) और नरोतम लिखक (लिपि-सं० १७७५) की प्रति में 'पायस' पाठ है।[१] श्रावणकुंज अयोध्या की प्रति (लिपि-सं० १६६१), रघु तिवारी लिखक (लिपि-सं० १७०४), जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा की प्रति (लिपि-सं० १७५७) और रघुनाथ लिखक (लिपि-सं० १७८३) की हस्तलिखित प्रतियों में प्रथम अंकित (संशोधन के पूर्व का) पाठ 'पायस' है।[२] विनायक राव[३], संतसिंह पंजाबी, मुंशी रोशनलाल[४] और पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र[५] आदि टीकाकारों ने भी 'पायस' पाठ माना है। शुकदेवलाल ने पाठ 'बायस' माना है, किंतु अर्थ 'पायस' का किया है—जैसे जो अति सौरभ स्वादिष्ट पायस कहैं खीर करि के बड़े प्रेम मित-,पाले जावैं तो क्या कव्वे कभी निरामिष होते हैं।[६] बैजनाथ जी के अनुसार—यह जो 'बायस' पाठ सो अशुद्ध है एक तौ पुनरुक्ति दूसरे काक को कुछ भोजन नहीं होत ताते पायस चाहिए यथा पायस जो खीर सो परम पावन हैं ताको भोजन दै अत्यंत अनुराग ते पालिये अर्थात् मधुर वचन बोलिये भाव उत्तम भोजन दीजै उत्तम वचन सिखाइये तथापि काक कबहुँ कि निरामिष होय।[७]

'बायस' या 'पायस' पाठ से कोई विशेष अर्थ-समस्या नहीं उत्पन्न होती। किन्तु यदि प्राचीन और प्रामाणिक पाठ 'पायस' प्राप्त हो जाता है, तो अर्थ में उत्कृष्टता के साथ ही सुसंगतता आ जाती है। पुनरुक्ति-परिहार और 'पायस' का प्रतिद्वंद्वी शब्द 'निरामिष' उपयुक्त हो जाता है। वैसे पुनरुक्ति के भय से मनोनुकूल पाठ स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यदि प्राचीनतम पाठ 'पायस' है, तो 'भावाभिव्यक्ति की तीव्रता' और 'पुनरुक्तिवदाभास' अनुप्रास के प्रलोभन से 'बायस' पाठ स्वीकार करना कवि के भावों का हनन करना है। उपर्युक्त अधिकांश संस्करणों और हस्तलिखित प्रतियों में 'बायस' और 'पायस' दोनों पाठ प्राप्त होते हैं। पर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने मानस-पाठशोध के सम्बन्ध में गवेषणापूर्ण ढंग से इसका 'पायस' पाठ निर्धारित किया

---

१. काशिराज संस्करण, पृ० ४६३

२. वही

३. वि० टी०, बाल०, पृ० ३६

४. मा० भा०, पृ० २२

५. शंभुनारायण चौबे का संस्करण, प्रस्तावना, पृ० ३२-३४

६. रामा०, पृ० ७

७. रामा०, बाल०, पृ० ४३

है। उनके अनुसार श्रावणकुंज अयोध्या, रघु तिवारी लिखक, जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा और रघुनाथ लिखक की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में प्रथम अंकित (संशोधन के पूर्व का) पाठ 'पायस' है। यद्यपि इस अर्धाली में 'बायस' और 'कागा' से होने वाली द्विरुक्ति का परिहार करने के लिए पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार है, तथापि यहाँ दो बार उल्लेख की कोई आवश्यकता है ही नहीं। अनुराग से पालने में 'निरामिषत्व' का ग्रहण दूरारूढ़ है। 'पायस' (खीर) के द्वारा 'निरामिष' की प्रतिद्वंद्विता ठीक-ठीक होती है। 'पायस' और 'पलिअहिं' में 'प' का अनुप्रास भी है जिसकी दाद अलंकारप्रेमी भी देंगे, सो अलग ही। अधिकांश संस्करणों में 'बायस' पाठ ही गृहीत है। जिन प्राचीनतम हस्तलेखों को उनके संपादकों ने आधार बनाया, उन्हीं में संशोधन के पूर्व 'पायस' पाठ है जिस पर उन लोगों का ध्यानाकर्षण नहीं हुआ।[1] 'तुलसी-ग्रंथावली' प्रथम खंड में 'व्यास-संहिता' का एक श्लोक दिया है। यद्यपि उसमें संदर्भ नहीं अंकित है, तथापि इसके द्वारा भी 'पायस' पाठ की ही पुष्टि होती है—

न विना पखादेन रमते दुर्जनो जनः। काकः सर्वरसान्भुक्त्वा विना मेध्यं न तृप्यति।[2]

पाठ वही उचित होता है जो प्राचीनतम हो, विषयानुसंगति तथा लेखानुसंगति से सिद्ध हो। अर्थात्, जो उचित अर्थ प्रदान करे, प्रसंगाकूनुल हो, रचयिता की प्रवृत्तियों के अनुकूल हो और जिसमें पुनरुक्ति न हो। 'पायस' पाठ उक्त सभी दृष्टियों से तर्कसंगत है। साथ ही कठिनतर पाठ भी है। अतः यही पाठ उपयुक्त और ग्राह्य है। 'पायस' पाठ स्वीकार करने के पश्चात् उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'कौवे को बड़े ही अनुराग से खीर खिलाकर पालिये, (तो भी) क्या मांसत्यागी (निरामिष) हो सकते हैं ?' 'पायस' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में गोस्वामी जी ने 'रामाज्ञा-प्रश्न' में किया है—

दशरथ कुलगुरु की कृपा, सुतहित जाग कराइ।
पायस पाइ बिभाग करि, रानिन्ह दीन्ह बुलाइ॥[3]

'सकल कुल—सकुल रन'

राम सकुल रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा॥[4]

डॉ० माताप्रसाद गुप्त वैज्ञानिक विधि का अनुसरण करते हुए 'सकल कुल'

---

१. मानस, काशिराज संस्करण, आत्मनिवेदन, पृ० २६
२. श्रीरामचरितमानस, अ० भा० वि० परिषद्, काशी, पृ० १४
३. रामज्ञा० ४।१।२
४. मानस १।२५।५

पाठ निर्धारित करते हैं। सं० १७२१, सं० १७६२, लाला छक्कनलाल जी की पोथी और भागवतदास जी की पोथी में 'सकल कुल' पाठ है।[1]

सं० १६६१, सं० १७०४ की हस्तलिखित प्रतियों एवं कोदवराम जी के गुटका में 'सकुल रन' पाठ है। मानसपीयूषकार[2], गीता प्रेस के संस्करण और काशिराज-संस्करण में भी यही पाठ है। इस प्रकार 'सकुल रन' पाठ प्राचीनतम है। अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर भी यही पाठ तर्कसंगत लगता है। उक्त अर्धाली में कवि 'राम' से 'राम-नाम' को बड़ा सिद्ध करना चाहता है। 'सकल कुल रावनु मारा' पाठ से सायासता उतनी नहीं स्पष्ट होती जितनी 'सकुल रन रावनु मारा' से, क्योंकि कवि प्रथम सायासता द्योतित करके बाद में 'बिनु श्रम' कहना चाहता है। तात्पर्य यह है कि जिस कार्य को राम संग्राम में अपने उदात्त पराक्रम से करते हैं, 'नाम' उसी को अनायास कर डालता है। 'रन' और 'रावनु' में अनुप्रास की छवि भी दर्शनीय है। अतएव 'सकुल रन' पाठ प्राचीनतम, कठिनतर, उदात्त, अर्थयुक्त एवं विषयानु-संगत है। डॉ० गुप्त ने कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से 'सकल कुल' पाठ रखा है, किन्तु साहित्यिक सरणि का परित्याग नहीं किया जा सकता। 'सकल कुल' जहाँ 'सकुल' में समाविष्ट हो जाता है, वही 'रन' में और उत्कृष्टता आ जाती है। विनयपत्रिका में भी कवि ने 'सकुल' का प्रयोग किया है—

सकुल निरमूल करि दुसह दुख हरहुगे।[3]

'सुबंधु—सुबद्ध'

घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम बर बानी॥[4]

पं० रामवल्लभशरण जी तथा भागवतदास की प्रति में 'सुबंधु' पाठ है। मानसपरिचारिकाकार ने भी 'सुबंधु' पाठ माना है।[5] 'सुबंधु' पाठ को प्रमाणित करने में उन्होंने दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया है। उनका भाव बिल्कुल काल्पनिक और पंडिताऊ है। लाला छक्कनलाल की प्रति में 'सुबंध' पाठ है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त कहते हैं कि 'सुबंध' ही पढ़ने में सुबद्ध हो जाता है।[6] डॉ० गुप्त ने गवेषणापूर्ण वैज्ञानिक ढंग से इसका पाठ 'सुबद्ध' ही निर्धारित

---

१. मा० पी० बा०, खं० १, पादटिप्पणी, पृ० ३८१

२. वही

३. पद २११

४. मानस १।४१।४

५. मा० पी० बा०, खं० १, पादटिप्पणी, पृ० ६१८ और पृ० ६२०

६. मानस, पृ० २५ (पादटिप्पणी)

किया है। मानसपीयूषकार, गीता प्रेस और पं० विश्वनाथप्रसाद जी ने भी 'सुबद्ध' पाठ को ही प्रामाणिक सिद्ध किया है। प्रासंगिक दृष्टि से विचार करने पर भी यही पाठ विषयानुसंगत एवं अर्थानुसंगत है। 'सुबंधु' पाठ मानने से अर्थ होगा—'लक्ष्मण जी और श्रीराम जी की श्रेष्ठ वाणी ही घाट है।' परशुराम-लक्ष्मण संवाद में लक्ष्मण की वाणी को 'श्रेष्ठ' कहना बिल्कुल असंगत है। लक्ष्मण की वाणी के लिए कवि स्वयं कह रहा है कि—'लखन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोपु कृसानु। बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु।'[१] 'थर थर काँपहिं पुर नर नारी। छोट कुमार खोट बड़ भारी।'[२] सम्पूर्ण प्रसंग में लक्ष्मण की वाणी तिलमिला देने वाली है। ऐसी वाणी को गोस्वामी जी कभी 'श्रेष्ठ' नहीं कहेंगे। हाँ, श्रीराम जी की वाणी अवश्य श्रेष्ठ है—'बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु।' 'राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने।'[३] 'अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले रामु जोरि जुग पानी।'[४] 'सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के।'[५] अतएव यहाँ श्रीराम की ही 'वाणी' श्रेष्ठ है, लक्ष्मण की नहीं। अतः 'सुबंधु' पाठ अप्रासंगिक है। उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'(इस कथारूपिणी नदी में जो) परशुराम जी का क्रोध है, वह घोर है और श्रीराम जी की श्रेष्ठ वाणी ही सुदृढ़-बद्ध घाट है।'

'अन्त—मध्य'

नहि तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाउ बेदु नहिं जाना।[६]

सं० १६६१, १७२१, १७६२ की हस्तलिखित प्रतियों, लाला छक्कनलाल की पोथी, संत उन्मनी श्री गुरुसहायलाल जी की टीका, पं० रामकुमार जी, विजयानंद त्रिपाठी और श्री भागवतदास जी की पोथी में 'अंत अवसाना' पाठ है।[७] इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पं० विश्वनाथप्रसाद जी और पं० शंभुनारायण चौबे ने भी यही पाठ निर्धारित किया है। बाबा हरिहरप्रसाद जी की टीका, कोदवराम जी के गुटका और गीता प्रेस में 'मध्य अवसाना' पाठ दिया है।[८]

---

१. मानस १।२७६
२. वही १।२७८।५
३. वही १।२७७।५
४. वही १।२७६।१
५. वही १।२८४।५
६. मानस १।२३५।७
७. मा० पी० बा०, खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० ३३१
८. वही

अर्थानुसंगति की दृष्टि से 'अंत अवसाना' पाठ उपयुक्त नहीं लगता। 'अवसान' और 'अंत' पर्याय शब्द हैं। 'अंत' पाठ मानकर लोगों ने इसका अर्थ खींचतान कर किया है। पं० रामकुमार जी 'अंत' का अर्थ मध्य करते हैं। उनके अनुसार यहाँ 'अंतर' को 'अंत' कहा है। अन्तिम अक्षर रकार का लोप हो गया है। संत गुरुसहायलाल जी ने 'अंत' का अर्थ इस प्रकार किया है—'न तो आपका आदि है और न आपके अन्त का अवसान अर्थात् हद है।' यही अर्थ मानसपीयूषकार ने भी किया है।[1] पीयूषकार के अनुसार—शब्दसागर में 'अवसान' का अर्थ 'विराम, ठहराव और सीमा' दिया है। किन्तु 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में 'अंत' का अर्थ भी 'अवसान' दिया है।[2] प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों में 'अंत अवसाना' पाठ है और न उसमें हरताल है, न पाठांतर। गोस्वामी तुलसीदास जैसे सावधान कवि ने शब्द-प्रयोग की दृष्टि से कैसे ऐसा एकार्थी शब्द रख दिया? लगता है, प्रथम लिखक ने अनुप्रास के प्रवाह में ऐसा लिख दिया होगा। गोस्वामी जी ने 'आदि' और 'अवसाना' के बीच में 'मध्य' शब्द का प्रयोग किया है—जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना।[3] 'अंत' अर्थ में 'अवसान' का भी प्रयोग हुआ है—जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान।[4] गीता प्रेस आदि कतिपय संस्करणों में 'मध्य अवसाना' पाठ स्वीकृत है। 'आदि' के साथ 'अंत' का प्रयोग सहज स्वीकृत है। इसी प्रकार 'आदि', 'मध्य', 'अवसान' भी उतना ही स्वाभाविक प्रयोग है। त्रुटि का कारण 'अंत' और 'मध्य' शब्द की मात्रागत समानता तथा आदि के साथ सहज सम्बद्धता प्रतीत होती है। किंतु 'अवसान' के पूर्व 'मध्य' का प्रयोग 'आदि' के कारण अधिक संगत है। 'अंत अवसाना' यदि स्वतंत्र प्रयोग होता, तो उसकी संगति भी विचारणीय होती। वर्तमान स्थिति में वह स्पष्टतः असंगत दिखाई देता है। इस पृष्ठभूमि में काव्यात्मक गरिमा और तुलसी के शब्द-समायोजन की प्रकृति को देखते हुए यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि 'आदि मध्य अवसाना' पाठ ही ग्राह्य है, भले ही पाठालोचन की आधारभूत हस्तलिपियों द्वारा उसका समर्थन उतना न मिलता हो जितना 'आदि अंत अवसाना' का। यह स्थल इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ साहित्यिक अर्थसंगति को पाठालोचन की यांत्रिक प्रक्रिया के ऊपर वरीयता मिल रही है।

---

१. मा० पी० बा०, खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० ३३१

२. दे० पृ० ७

३. मानस ७।६१।५-६

४. बरवै० ७।६७

'अजगव खंडेउ ऊख जिमि—अयमय खाँड़ न ऊखमय'

गाधिसूनु कह हृदय हसि मुनिहि हरियरे सूझ ।
अयमय खाँड़ न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ ।।[१]

कतिपय पुस्तकों में 'अज गज खंडेउ ऊख जिमि' पाठ मिलता है । श्री लमगोड़ा जी के अनुसार—'अजगव खंडेउ···' पाठ में प्रसारण गुण बहुत है और दूसरे पाठ में खींचातानी । फिर 'ऊखमय' में 'मय' बिल्कुल कृत्रिम दिखता है और बैठता नहीं ।[२]

सं० १६६१, १७२१, १७६२ की हस्तलिखित प्रतियों, लाला छक्कन-लाल जी की पोथी और कोदवराम जी के गुटका सं० १६६६ की प्रति, काशिराज की रामायण परिचर्य्या टीका, भागवतदास जी की पोथी और नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण में 'अयमय खाँड़ न ऊखमय' पाठ है ।[३] इसके अति आधुनिक प्रामाणिक संस्करणों डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र और गीता प्रेस में भी यही पाठ है ।

'अजगव खंडेउ···' पाठ से अर्थ होगा—'शंकर जी के धनुष को ऊख की तरह से तोड़ डाला ।' स्मरणीय है कि पूर्वप्रसंग परशुराम-लक्ष्मण का है, न कि राम-परशुराम का । इस पाठ से यह कथन राम के पक्ष में लागू हो जायगा, क्योंकि धनुष को राम ने ही तोड़ा है । पुनः विश्वामित्र जी लक्ष्मण जी को साधारण बालक समझने के कारण परशुराम के ऊपर हृदय में हँसे थे । अतः प्रासंगिक दृष्टि से यह पाठ संगत नहीं है । इसके बाद समस्त प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों, प्रकाशित संस्करणों एवं आधुनिक समस्त प्रामाणिक संस्करणों में भी 'अयमय खाँड़···' पाठ ही उपलब्ध होता है । यह पाठ कठिन भी है । अतः यही ग्राह्य है । उत्कृष्ट व्यंग्य वही है जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों के नीचे मुस्करा रहा हो । ब्राह्मणों को 'मधुर' प्रिय होता ही है—'ब्राह्मणो मधुरप्रियः' । विश्वामित्र जी भी इसी बात पर हँस रहे हैं कि—ऊख की खाँड़ मुख में रखते ही घुल जाती है, मीठी लगने के कारण खा डाली गयी और लोहे की खाँड़ तो मुँह काट और पेट फाड़ डालेगी । हलवाई के यहाँ बनी हुई शक्कर की खाँड़ लोग खाते हैं, किंतु लक्ष्मण जी लोहे के खाँड़, अर्थात् बहुत कठिन व्यक्ति से पाला पड़ा है । परशुराम ने २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया और सहस्रबाहु जैसे पराक्रमी को भी मार डाला । विश्वामित्र जी के कहने का

१. मानस १।२७५
२. मा० पी० बा०, खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० ५६७
३. वही

तात्पर्य है कि ये सब 'ऊखमय' खाँड़, अर्थात् साधारण नृप थे। लक्ष्मण को मारना लोहे की खाँड़ खाना अर्थात् लोहे का चना चबाना है। उक्त दोहे का अर्थ होगा—'विश्वामित्र जी ने हृदय में हँसकर कहा है कि मुनि को हरा ही हरा सूझ रहा है। (यह बालक) लोहे का बना हुआ खाँड़ (तलवार) है, ऊख के रस से निर्मित खाँड़ नहीं। अबोध (परशुराम) को अब भी नहीं सूझता।' स्मरणीय है कि यदि यहाँ पर ऊखमय (शक्कर) कहते, ऊखमय खाँड़ (तलवार) न कहते, तो शक्कर और तलवार का भ्रम न होता, क्योंकि दोनों (शक्कर और तलवार) में रूपसाम्य नहीं है और बिना एकरूपता के भ्रम नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि लोहे से निर्मित खाँड़ है, शक्कर की खाँड़ नहीं।

'सुरासुर—सरासुर'

सकै उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयेउ करि फेरू ॥[1]

सं० १६६१, १७०४, १७६२ की हस्तलिखित प्रतियों, कोदवराम जी के गुटका और नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण में 'सुरासुर' पाठ है।[2] डॉ० माताप्रसाद गुप्त, काशिराज और गीता प्रेस के संस्करण एवं उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतियों के अतिरिक्त समस्त प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में 'सरासुर' पाठ है।

'सुरासुर' पाठ से एक अर्थ लिया गया है कि 'देवता और असुर' भी हार मान गये। किंतु 'सकै', 'सोउ' और 'गयेउ' ये तीनों एकवचन हैं। एकवचन क्रिया और सर्वनाम के लिए 'बहुवचन' कर्ता का प्रयोग नहीं हो सकता।

यदि 'सुरासुर' शब्द 'मेरु' के साथ समासबद्ध मान लिया जाय, तब अर्थ होगा—'सुरासुर' सहित मेरु पर्वत, जो असंभाव्य नहीं है। फिर धनुभंग के प्रसंग में मानस तथा मानसेतर ग्रंथों में भी 'बाणासुर' का नाम बराबर कई स्थलों में आया है—

रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा ॥[3]
रावनु बानु महाभट भारे। देखि सरासनु गवँहि सिधारे ॥[4]
बान बलवान जातुधानप सरीखे सूर
जिन्हके गुमान सदा सालिम संग्राम को।[5]

---

१. मानस १।२६२।७
२. मा० पी० बा०, खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० ६४५
३. मानस १।२५६।३
४. वही १।२५०।२
५. कविता० १।६

बान जातुधानपति भूप दीप सातहुँ के,
लोंकप बिलोकत पिनाक भूमि लई है।[1]

स्पष्ट है कि उक्त स्थलों में 'बाणासुर-रावण' का उल्लेख साथ-साथ आया है। यहाँ भी बाणासुर के साथ रावण का उल्लेख हुआ है—

जेहि कौतुक सिव सैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभउ पावा ।।[2]

यहाँ पर 'बाणासुर' का सुमेरु उड़ाने का प्रमाण न प्राप्त होने पर 'पाठ-भेद' का अनुमान करना अर्थगत कठिनाई उपस्थित करता है: जिसका निराकरण दो प्रकार से हो सकता है। एक, तदनुरूप किसी पौराणिक अन्तर्कथा या संदर्भ के उपलब्ध हो जाने पर; दूसरे, 'सुरासुर' पाठ को 'मेरु' से सम्बद्ध मान लेने पर। वह यहाँ संभावना व्यक्त करता है कि 'बाणासुर सुमेरु पर्वत उठा सकता है।' फिर 'सुरासुर' का भी सुमेरु पर्वत उठाने का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। अतएव यहाँ पर 'सुरासुर' पाठ ही प्रासंगिक एवं कवि की दृष्टि से समीचीन है।

'तनय—जनक'

जानकी लघु भगिनी सकल सुंदरि सिरोमनि जानि कै।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहि सकल बिधि सनमानि कै ।।[3]

सं० १६६१ और १७०४ की हस्तलिखित प्रतियों में 'तनय' पाठ है।[4] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और गीता प्रेस ने भी 'तनय' पाठ माना है। मानस-पीयूषकार ने भी यही पाठ प्राचीनता की दृष्टि से स्वीकार किया है।

सं० १७२१ और १७६२ की हस्तलिखित प्रतियों, कोदवराम जी के गुटका एवं लाला छक्कनलाल जी की पोथी में 'जनक' पाठ है। डॉ० माता-प्रसाद गुप्त ने पाठ-संपादन की वैज्ञानिक विधि से 'जनक' पाठ ही निर्धारित किया है। यदि प्राचीनतम पाठ के ही आधार पर पाठ-निर्धारण होना चाहिए, तो 'सुरासुर' पाठ भी प्राचीनतम है, किंतु उसको मानसपीयूषकार आदि सम्पादकों ने इसलिए प्रामाणिक नहीं माना, क्योंकि वह प्रासंगिक एवं कविप्रयोग की दृष्टि से खरा नहीं उतरता। इसी प्रकार 'तनय' पाठ भी प्रासंगिक और

---

१. गीता० १।८४।२ और जा० मं० १०३

२. मानस १।२६२।८

३. वही, १।३२५। छंद २०

४. मा० पी० बा०, खं० ३, पृ० ७७८

कविप्रयोग की दृष्टि से असंगत है। 'तनय' सं० पुल्लिग है जो स्त्रीलिंग जानकी की 'लघु भगिनी' के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतएव असंगत है। गोस्वामी जी ने कहीं 'तनय' का अर्थ 'पुत्री' नहीं किया है। सर्वत्र उन्होंने 'तनय' का अर्थ 'पुत्र' किया है—'पूछन जोगु न तनय तुम्हारे।'[1] 'पवन तनय संतन हितकारी।'[2] वे 'तनया' का अर्थ 'पुत्री' करते हैं—'तात जनक तनया यह सोई।'[3]

अतः यहाँ पर डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा निर्धारित 'जनक' पाठ ही सुसंगत और विषयानुसंगत लगता है। जिन लोगों ने 'तनय' पाठ माना है, उन्होंने इसका अर्थ 'पुत्री' किया है जो कि परंपरा-सम्मत नहीं है और एक प्रकार से उसे असंगत भी कहा जा सकता है। जनक जी की दो कन्याएँ सीता जी और उर्मिला जी थीं, इसी से इनके संकल्प में 'जनक' नाम दिया गया है। यदि 'तनय' पाठ स्वीकार किया जाय, तो 'तनया' का 'तनय' छंदाग्रह से मानना उचित होगा।

'सुरपति--सुरपुर'

बन रघुपति सुरपुर नर नाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू ॥[4]

राजापुर की हस्तलिखित प्रति में 'सुरपति' पाठ है।[5] डॉ० माताप्रसाद गुप्त[6] और गीता प्रेस[7] के संस्करण में भी 'सुरपति' पाठ दिया है। मानस-पीयूष और काशिराज-संस्करण में 'सुरपुर' पाठ दिया है। पाठ वही प्रामाणिक होता है जो अर्थ, प्रसंग और कविप्रयोग की दृष्टि से भी संगत हो। 'सुरपति' पाठ से अर्थ होगा—'रघुनाथ जी वन में और राजा सुरपति हैं या सुरपति हो गये।' अब विचारणीय है कि राजा दशरथ इन्द्र तो बने नहीं, इन्द्र तो दूसरा ही है। अभी आगे इन्द्र जी बृहस्पति द्वारा फटकारे जायेंगे[8] और तमाम प्रकार की कुचाल करेंगे।[9] कविप्रयोग की दृष्टि से भी 'सुरपति' पाठ

१. मानस १।२६२।१
२. विनय०, ३६
३. मानस १।२३१।१
४. मानस २।१७५।३
५. मा० पी०, अयो०, पृ० ६५६
६. मानस, पृ० २५३
७. वही, पृ० २२६
८. मानस २।२१६–१८
९. वही २।३१५

असंगत है। गोस्वामी जी ने आगे बराबर इस प्रसंग में 'सुरपुर' शब्द का प्रयोग किया है—

पितु 'सुरपुर' सिय राम बन करन कहहु मोहि राजु।[१]
लखन रामु सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ 'अमरपुर' पति हित कीन्हा ॥[२]
रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा। बिछुरत गमनु 'अमरपुर' कीन्हा ॥
आपु इहाँ अमरावति राऊ ॥[३]

अतएव यहाँ पर 'सुरपुर' पाठ ही अर्थ, प्रसंग और कविप्रयोग की दृष्टि से ठीक, अर्थात् विषयानुसार संगत है। अन्तर्साक्ष्य से भी यही पाठ सुसंगत लगता है। लगता है कि राजापुर की प्रति के लिखक ने रघुपति के प्रभाव से 'सुरपति' लिख दिया है।

'सादर—सारद'

सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा ॥[४]

राजापुर की प्रति में 'सादर' पाठ है। संभवतः इसी के आधार पर नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण और मानसपीयूष में भी 'सादर' पाठ स्वीकृत हुआ है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त[५], काशिराज और गीता प्रेस के संस्करण में 'सारद' है। यहाँ पर 'सादर' पाठ से अर्थ तो लग जाता है, किंतु कविप्रयोग की दृष्टि से यह बात प्रमाणित नहीं होती। प्रायः श्रीराम जी के गुणों के वर्णन का प्रसंग जहाँ-जहाँ आया है, वहाँ शारदा और शेष का नाम अवश्य आया है, क्योंकि श्रीराम के गुणों के प्रधान वक्ता ये ही हैं। उदाहरण—

होहिं सहस दस **सारद सेषा**। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा ॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा ॥[६]
—(जनक जी का कथन)

सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान ॥[७]

---

१. मानस २।१७६
२. वही ४।१७६।३ और २।२४६।३
३. वही २।१७८।४ और २।२४७।७
४. वही २।१९९।८
५. मानस, पृ० २६४
६. मानस १।३४२।१-२
७. वही १।१२

अन्तर्साक्ष्य से 'सारद' पाठ ही तर्कसंगत लगता है। यही प्रासंगिक और गोस्वामी जी की प्रयोगशैली के अनुसार है। उक्त व्याख्येय अर्धाली का अर्थ होगा—'करोड़ों सरस्वती और अरबों शेष जी भी प्रभु श्रीराम जी के गुण-समूहों का लेखा (गिनती) नहीं कर सकते।'

'उपचार—उपचरा'

अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहिं उपचरा न थोरा॥[1]

छक्कनलाल की प्रति, रघुनाथदास की प्रति, बंदन पाठक की प्रति, कोदवराम की प्रति और बालकांड में—श्रावणकुंज की प्रति, अयोध्या में राजापुर की प्रति में 'उपचार' पाठ है।[2] श्री रामचरणदास, शुकदेवलाल जी, हरिहरप्रसाद जी, रामनरेश त्रिपाठी जी, विनायक राव जी और मानस-पीयूषकार आदि टीकाकारों एवं गीता प्रेस के संस्करण में भी 'उपचार' पाठ है।

सं० १७६२ की प्रति, सं० १७०४ की काशिराज वाली प्रति और भागवतदास के संस्करण में 'उपचरा' पाठ है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और डॉ० माताप्रसाद गुप्त[3] द्वय विद्वान् संपादकों ने भी 'उपचरा' पाठ निर्धारित किया है। इसके अतिरिक्त, श्यामसुन्दरदास जी, अ० भा० वि० परि० काशी के संपादक, नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण, विजयानंद त्रिपाठी के संस्करण में भी 'उपचरा' पाठ स्वीकृत है।[4] लाला भगवानदीन जी भी 'उपचरा' पाठ को ही प्रामाणिक मानते थे।[5]

उक्त अर्धाली के 'उपचरा' शब्द को टीकाकारों ने 'उपचार' मानकर उसके 'जब्र (दुःख)[6], कष्टप्रद उपाय[7], उपाय[8], छेड़छाड़[9], इलाज-

---

१. मानस २।२२८।७
२. शंभुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० ६१
३. मानस, पृ० २७७
४. मा० पी० अयो०, पादटिप्पणी, पृ० ८१४
५. वही
६. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, हरिहरप्रसाद, पृ० १३०
७. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० २६८
८. रामा०, शुकदेवलाल, पृ० १२० और वीरकवि जी, पृ० ६६७
९. मानस, टीका० अवधबिहारीदास, पृ० ५६६ और पोद्दार जी, पृ० ५१६

अभ्यास[१], उकसाया[२], ललकारा[३], खातिर[४] और परेशान' अर्थ किये हैं।[५] 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में 'उपचार' का 'उपाय और इलाज' के अतिरिक्त कोई उक्त अर्थ नहीं दिया है।[६] अतः शेष सब अर्थ काल्पनिक हैं। यहाँ पर 'उपाय' और 'इलाज' अर्थ भी तर्कसंगत नहीं हैं। ये अर्थ स्वीकार करने पर उक्त अर्धाली के द्वितीय चरण में 'न्यूनपदत्व दोष' होगा। इस अर्धाली के द्वितीय चरण में कोई क्रिया नहीं है जो 'उपचार' के हेतु प्रयुक्त की जाय। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने विद्वत्तापूर्वक वैज्ञानिक पाठ-संपादन के आधार पर 'उपचरा' पाठ निर्धारित किया है जो कि तर्कसंगत लगता है। 'भरत' कर्ता के साथ 'उपचरा' क्रिया आवश्यक है। यदि 'हमहि' को द्वितीया के स्थान पर सप्तमी में माना जाये और यह अर्थ लिया जाय कि 'भरत में और हममें उपचार कम नहीं है', तो पाठ 'भरतहि' होना चाहिए था, जैसे 'हमहि' है। अन्यत्र भी ऐसा ही प्रयोग हुआ है—'हमहि तुम्हहि सरिबरि कस नाथा। कहहु न कहा चरन कह माथा।।[७] यदि यह अर्थ किया जाय कि 'भरत ने हम पर थोड़ा उपाय—इलाज न किया', तो कौन-सा उपाय नहीं किया, यह स्पष्ट नहीं है। अस्वस्थता का भी प्रसंग नहीं है जो 'इलाज' अर्थ किया जाय। अतः ये अर्थ असंगत हैं। विजयानंद त्रिपाठी जी ने पाठ तो 'उपचरा' स्वीकार किया है, किन्तु अर्थ 'पूजा' किया है और क्लिष्ट कल्पना करके भाव 'निरादर' का निकाला है।[८] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार—"उक्त चरण में 'उपचरा' होना उचित है। टीकाकारों ने 'उपचरा' को न समझ कर तुरन्त उसका 'उपचार' कर दिया। समझा होगा कि भ्रम से 'चा' का आकार 'र' में लग गया है। 'उपचरा' शब्द संस्कृत 'उपचरण' से बना है और इसका अर्थ है—'कुव्यवहार किया'। उपचरना वैसे है जैसे आनंदना। 'तब मयना हिमवंतु अनंदे। पुनि पुनि पारबती पद बन्दे'[९]।"[१०] इसी प्रकार

---

१. गौड़ जी का अर्थ, मा० पी०, अयो०, पृ० २२६
२. वि० टी०, टीका० विनायक राव, पृ० ३४१
३. मानस. टीका० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ६२६
४. रामा०, टीका० रामेश्वर भट्ट, पृ० ५६०
५. दे० रामा० ऑव् तुलसीदास, टी० एफ० एस० ग्राउस, पृ० २८४
६. दे० पृ० १२४
७. मानस १।२८२।५
८. वि० टी, द्वि० भा, पृ० ३३१
९. मानस १।९९।१
१०. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७९–८०

दीन जी[1], पीयूषकार[2] और श्यामसुन्दरदास जी[3] ने भी 'दुर्व्यवहार' अर्थ किया है। मिश्र जी, दीन जी, पीयूषकार और बाबू श्यामसुन्दरदास का 'कुव्यवहार' (दुर्व्यवहार) 'उपचरा' शब्द का भावार्थ हो सकता है, किन्तु शाब्दिक और सटीक अर्थ नहीं। मैं मिश्र जी की मान्यता—'संस्कृत 'उपचरण' से 'उपचरा' विकसित है' से सहमत नहीं हूँ। 'उपचार' संज्ञा पुल्लिग का क्रियारूप 'उपचरा' है। जैसे गोस्वामी जी ने 'आनंद' संज्ञा पुल्लिग से 'अनंदे' क्रिया बना लिया है, वैसे 'उपचार' से 'उपचरा' क्रिया बना ली। वामन शिवराम आप्टे के 'संस्कृत-हिन्दी कोश' में 'उपचार' का एक अर्थ 'शिष्टता, नम्रता, सौजन्य' दिया है।[4] इसी आधार पर 'उपचरा' का अर्थ होगा—'शिष्ट आचरण करना।' अतः उक्त अर्धाली का अर्थ इस प्रकार होगा—

'हे नाथ ! मेरे कहने का अयुक्त (बुरा) न मानियेगा, भरत ने हमारे साथ किंचित् शिष्टाचरण नहीं किया।'

'घट न—घटइ'

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बलु मुखछबि सोई ॥[5]

'घट न' पाठ भागवतदास के प्रथम संस्करण (सं० १६४२) का है। रघुनाथदास की प्रति, बंदन पाठक की प्रति और कोदवराम की प्रति में भागवतदास का ही पाठ है। हरिहरप्रसाद जी[6], शुकदेवलाल जी[7], श्यामसुन्दरदास जी[8], वीरकवि जी[9] और ज्वालाप्रसाद जी[10] आदि टीकाकारों ने 'घट न' पाठ स्वीकार किया है। सं० १७०४ की काशिराज वाली प्रति में 'घटइ तेजु बल मुखछबि सोई' पाठ है। श्री रामचरणदास जी ने उक्त अर्धाली के द्वितीय चरण को पूर्णरूपेण परिवर्तित कर दिया है—'बढ़त तेज मुख द्युति छवि

---

१. मा० पी०, अयो०, पादटिप्पणी, पृ० ८१५
२. वही
३. मानस, पृ० ५५५
४. दे० पृ० २०३
५. मानस २।३२४।१
६. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १८६
७. रामा०, पृ० १६८
८. मानस, पृ० ६४०
९. मानस, पृ० ८०२
१०. सं० टी०, पृ० ६७२

सोई।'[१] बालकांड—श्रावणकुंज की प्रति और अयोध्याकांड—राजापुर की प्रति में 'घटइ' पाठ है। सं० १७६२ वि० की प्रति में 'घटत न तेजु बल मुखछबि सोई' पाठ है।[२] गीता प्रेस[३], काशिराज, डॉ० माताप्रसाद गुप्त[४] और मानसपीयूषकार ने भी 'घटइ' पाठ स्वीकार किया है।

रामेश्वर भट्ट ने 'घट न' पाठ मानकर 'तेज और बल नहीं घटता' अर्थ किया है।[५] विनायक राव[६] और ग्राउस महोदय[७] की टीका से विदित होता है कि दोनों ने 'नहीं घटता' अर्थ किया है। अवधबिहारीदास और पंजाबी जी ने भी यही पाठ और अर्थ स्वीकार किये हैं।[८] हरिहरप्रसाद जी ने भी 'घटइ' पाठ मानकर अर्थ किया है कि—'तेज बल क्या घटत है अर्थात् नहीं। यहाँ काकु है।'[९] 'घटइ' पाठ मानकर टीकाकारों ने इसके कई अर्थ किये हैं। रामनरेश त्रिपाठी[१०] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक ने[११] इसका अर्थ 'तेज और बल घटता था' किया है। गौड़ जी के अनुसार—'देह दिनों-दिन दुबली होकर घटती जाती है। तेज का विकास होता है। बल और मुखछवि ज्यों-की-त्यों है।'[१२] विजयानंद त्रिपाठी के अनुसार—'तेज और बल नहीं घटता था। जिस भाँति कसरत करने वालों का शरीर दुर्बल हो जाता है, परन्तु उसमें कस बढ़ता जाता है, उसी भाँति योग-जप-तप से शरीर की स्थूलता मात्र कम हुई, तेज और बल नहीं (यथा—करहिं योग जप तप तन कसहीं।)'[१३] मानसपीयूषकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'शरीर दिन-दिन दुबला होता जाता है, तेज से संयुक्त हो रहा है, अन्न, घृत आदि से

१. रामा०, पृ० ८०४
२. शंभुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० ६५
३. मानस, पृ० २८४
४. वही, पृ० ३२५
५. रामा०, पृ० ६८६
६. वि० टी, अयो०, पृ० ४७४
७. "डे बाई डे हिज बाडी ग्रिउ थिनर, बट हिज लस्ट्रे एंड वीगर वेअर नाट डिमिनिश्ड"—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० ३२१
८. मानस, पृ० ६८८; मा० भा०, पृ० ३८२
९. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १८६
१०. मानस, पृ० ७२४
११. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ६३२
१२. मा० पी०, अयो०, पृ० ११२१—२२
१३. मानस, वि० टी०, द्वि० भा०, पृ० ४६६

उत्पन्न होने वाला मेद घट रहा है।'[१] पीयूषकार भी संदिग्धावस्था में हैं—एक अर्थ उन्होंने 'घटइ' का 'संयुक्त होना' किया है और दूसरा 'मेद घटना' पोद्दार जी का अर्थ स्वीकार कर लिया है। पोद्दार जी के अनुसार—'तेज (अन्न, घृतादि से उत्पन्न होने वाला मेद) घट रहा है।'[२]

यहाँ पर 'घट न' पाठ बिल्कुल असंगत है, क्योंकि एक तो यह प्राचीन पाठ नहीं है; दूसरे कवि के अन्य ग्रंथों से अर्थसाम्य नहीं रखता। गीतावली में इसी प्रसंग में 'घटत' का 'घटना, कम होना' के अर्थ में गोस्वामी जी ने प्रयोग किया है—तुलसी ज्यों-ज्यों **घटत तेज तनु** त्यौं-त्यौं प्रति अधिकाई।[३] 'भरत जी का तेज घटता था'—इसी अर्थ की असंगति के कारण हस्तलिखित प्रतियों के लिखकों एवं टीकाकारों ने पाठ बदल कर 'घटन' कर दिया है। किन्तु अन्य ग्रंथ में इसी प्रसंग में 'घटत' शब्द के प्रयोग के कारण 'घट न' पाठ और इसके अर्थ अनुपयुक्त लगते हैं।

टीकाकारों का यह अर्थ कि—'तेज और बल घटता था' भी कविप्रयोग के प्रतिकूल है, क्योंकि गोस्वामी जी ने स्वयं कहा है कि तप से तेज का विस्तार होता है—बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।[४] और भरत जी का बल भी कम नहीं हुआ था। वे हनुमान जी से कहते हैं कि—चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपा निकेता।[५] फिर 'बिलसत बेतस बनज बिकासे' दृष्टान्त तेज बढ़ने का है। अतः यहाँ पर 'तेज और बल घटता था' यह अर्थ तर्कसंगत नहीं है। गौड़ जी का अर्थ भी क्लिष्ट कल्पनायुक्त है। विजयानंद त्रिपाठी जी के अर्थ को सटीक तो नहीं, किन्तु भावार्थ कहा जा सकता है। 'घटइ' का संयुक्त होना अर्थ होता है, किन्तु यह भी यहाँ युक्तिसंगत नहीं लगता। उक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही है कि 'घटइ' पाठ प्राचीन और कविप्रयोग-सम्मत है। आप्टे ने 'संस्कृत-हिन्दी कोश' में 'तेजस्' के लगभग २३ अर्थ दिये हैं। उनमें से एक अर्थ 'मज्जा' भी है।[६] मेरे विचार से यहाँ पर 'तेज' का अर्थ 'चरबी, मेद, वसा या मज्जा' ही है। अतएव उक्त विवेच्य अर्धाली का अर्थ होगा—'शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जाता है। तेज (अन्न, घृतादि से उत्पन्न होने वाला मेद) घट रहा है और बल एवं मुख की प्रभा

१. मा० पी०, अयो०, पृ० १११६
२. मानस, पृ० ५६२
३. गीता० २/७६/४
४. मानस ७।६०।५
५. वही ६।६०।६
६. दे० पृ० ४३६

वैसी ही बनी है।' पोद्दार जी ने भी यही अर्थ किया है। यहाँ पर यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'सीतल निसि तव असि बर धारा—सीतल निसित बहसिं बर धारा'

सीतल निसित बहसि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा ॥[१]

सं० १७२१, १७६२, छक्कनलाल, रघुनाथदास, बंदन पाठक, सं० १७०४ की प्रतियों एवं भागवतदास के प्रथम संस्करण (सं० १६४२) में 'निसि तव असि' पाठ है।[२] श्री रामचरणदास जी[३], ज्वालाप्रसाद जी[४], पं० रामकुमार जी[५], विनायक राव जी[६], संतसिंह पंजाबी जी[७], महावीरप्रसाद मालवीय जी[८] और रामेश्वर भट्ट जी[९] आदि टीकाकारों ने भी यही पाठ स्वीकार किया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी 'निसि तव असि बर धारा' पाठ इसलिए स्वीकार किया है, क्योंकि उनके अनुसार—'निसित' पाठ इसलिए अनुपयुक्त है क्योंकि 'बर' तीक्ष्ण के अर्थ में प्रयुक्त हो चुका है और 'निसित' के कारण अर्धाली में पुनरुक्ति दोष आ जाता है।[१०] इस पाठ के अनुसार टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'हे तलवार ! तेरी धार शीतल निशि अर्थात् चाँदनी रात्रि के समान है।'

कोदवराम की प्रति में 'निसित बहसि' पाठ है।[११] हरिहरप्रसाद जी[१२], अवधबिहारीदास जी[१३], रामनरेश त्रिपाठी जी[१४], श्यामसुन्दरदास जी,

१. मानस ५।१०।६
२. शंभुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० १०७
३. रामा०, पृ० ६४४
४. सं० टी०, पृ० ८६६
५. टीका सुन्दर०, प्रका० कृष्णप्रसाद सिंह चौधरी, मैनेजर, पाटलिपुत्र, पृ० ११४
६. वि० टी०, सुन्दर०, पृ० २३
७. मा० भा०, सुन्दर०, पृ० १४
८. सुन्दर, पृ० १५
९. रामा०, पृ० ८२४
१०. डॉ० माताप्रसाद गुप्त, तुलसी-ग्रंथावली, भाग १, खंड २, पृ० ४१२
११. शंभुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० १०७
१२. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १०
१३. मानस, पृ० ८०८
१४. वही, पृ० ८६१

विजयानंद त्रिपाठी जी[1], श्रीकांतशरण जी[2] और अ० भा० वि० परि० काशी के संपादक ने स्वकीय संस्करणों में इसी को स्वीकार किया है। मानसपीयूषकार, गीता प्रेस और काशिराज के संस्करणों में भी यही पाठ स्वीकृत है। उक्त अर्धाली में 'निसित बहसि बर धारा' ही तर्कसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि गोस्वामी जी ने 'प्रसन्नराघव' से प्रेरणा लेकर छायानुवाद किया है—

> चन्द्रहास हर मे परितापं, रामचन्द्र विरहानल जातम्।
> त्वं हि कान्तिजित मौक्तिकचूर्णं, धारया वहसि शीतलमम्भः ॥[3]

इस श्लोक का पूर्वार्ध अर्धाली ५ से पूर्णरीत्या मिलता है। श्लोक के उत्तरार्ध का 'त्वं हि धारया...बहसि शीतलं' ही चौपाई का 'सीतल बहसि धारा' है और 'कान्तिजित मौक्तिक चूर्णं' का भाव चौपाई के 'बर' शब्द में दिया गया है। उक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध का अर्थ है—'तू अपनी धारा से मोती के चूर्ण की कान्ति को जीतने वाले शीतल जल को धारण करती है।' गौड़ जी, दीन जी, पं० रामबल्लभशरण जी और पीयूषकार यहाँ नदी का रूपक मानते हैं। उनके अनुसार—नदी की धारा शीतल और तलवार में भी धार। जल अग्नि को बुझाता है, तलवार की धार से विरहाग्नि बुझेगी। यह सादृश्य है।[4] यहाँ रूपक की स्पष्टता 'प्रसन्नराघव' के श्लोक के आधार पर ही होती है, गोस्वामी जी की पंक्तियों से उतना स्पष्ट नहीं हो पाता। इसी आधार पर डॉ० किशोरीलाल ने 'धारा बहना', 'तलवार चलाना' अर्थ किया है।[5] किंतु यह संगत नहीं प्रतीत होता। यहाँ 'बहसि' संस्कृत का 'वहसि' है। प्रसन्नराघव के उक्त श्लोक में 'वहसि' आया है, उसी को गोस्वामी जी ने अवधी की प्रकृति के अनुसार व > ब करके 'बहसि' कर दिया है। 'वहसि' 'वह्' धातु, लट लकार, एकवचन, मध्यम पुरुष है। संस्कृत 'वह्' धातु का अर्थ 'धारण करना, वहन करना' होता है। यहाँ पर 'बहसि' का अर्थ 'धारण करती है' है। अधिकांश प्रतियों में 'निसि तव असि' पाठ मिलता है। इसका कारण संभवतः यही हो सकता है कि उस समय लेखन-क्रम में प्रायः शब्द अलग-अलग नहीं लिखे जाते

१. वि० टी०, तृ० भा०, पृ० ८७
२. सि० ति०, तृ० खं०, पृ० १८४
३. प्रसन्नराघव नाटक, अंक ६, श्लो० ३३
४. मा० पी०, सुन्दर०, पृ० ६५
५. सम्मेलन पत्रिका, मानस चतुःशती विशेषांक, भाग ६०, संख्या १, २, ३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित, पृ० २८८-८६

थे। अर्थ करने वाला अपनी धारणा के अनुसार उनका बिलगाव कर लेता था। कभी-कभी इस क्रम में त्रुटि का आ जाना स्वाभाविक है, जैसा कि प्रस्तुत पंक्ति में हुआ है। 'निसि तव हसि' 'निसित बहसि' हो सकता है। 'हसि' के अर्थ की उलझन के कारण ही 'असि' पाठ कर दिया गया होगा, जैसाकि विभिन्न प्रतियों में पाया जाता है। किन्तु यह पाठ मूल उद्गम-स्थल के प्रतिकूल है। 'प्रसन्नराघव' में 'त्वं हि धारया वहसि शीतलं' है जिसका अनुवाद गोस्वामी जी ने—'सीतल बहसि धारा' किया है। 'निसित' संस्कृत 'निशित' शब्द है जिसका अर्थ 'तीक्ष्ण, तेज' होता है। इस शब्द के अल्प प्रयोग के कारण पाठांतर हुआ है। इसका प्रयोग कठोपनिषद् में भी मिलता है।[1] यह पाठ कठिनतर भी है। पाठालोचन का सिद्धांत है कि कठिनतर पाठ मूल के अधिक निकट होता है। 'प्रसन्नराघव' के श्लोक से इन पाठ की बहिरंग संगति भी है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी यही पाठ निर्धारित किया है। अतएव यहाँ पर 'सीतल निसित बहसि' पाठ ही तर्कसंगत है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'तू (चन्द्रहास) शीतल, तेज और श्रेष्ठ धार (नदी के पक्ष में धारा) धारण करती है। (अत:) मेरे दु:ख के गुरुत्व को दूर कर दे।'

'पुनी, धुनी, धरणी, धनी और घृनी'

सब निर्दंभ धर्मरत घृनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ।।[2]

सं० १७२१, छक्कनलाल, रघुनाथ, बंदन पाठक और कोदवराम, इन सब की प्रतियों में 'पुनी' पाठ है। भागवतदास के प्रथम संस्करण (सं० १६४२) में भी 'पुनी' पाठ है।[3] पीयूषकार के अनुसार—सं० १८१७, १८१८ और पं० रामगुलाम के गुटका में भी 'पुनी' पाठ है।[4] गीता प्रेस[5], विनायक राव जी[6], श्यामसुन्दरदास जी[7], अवध बिहारीदास जी[8], विजयानंद त्रिपाठी

---

१. क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।
—कठोपनिषद् १।३।१४, प्रका० घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोखरपुर

२. मानस ७।२०।७

३. शंभुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० १४३

४. मा० पी०, उत्तर०, पादटिप्पणी, पृ० १५१

५. मानस, पृ० ८६५

६. वि० टी०, पृ० ५६

७. मानस, पृ० ६६७

८. वही, पृ० १०४२

जी[1] और अखिल भारतीय विक्रम परिषद् काशी के संपादक[2] आदि टीकाकारों ने भी 'पुनी' पाठ मानकर उसका अर्थ 'पुण्यात्मा' किया है। विजयानंद त्रिपाठी जी ने 'पुनी' का अर्थ 'दयावान' किया है। श्रीकांतशरण जी 'घृणी' पाठ इसलिए नहीं मानते हैं क्योंकि गोस्वामी जी 'सरल कवित कीरति विमल' के पक्षपाती थे।[3] किंतु जब गोस्वामी जी करन, सभीती, बनज, कदंबा आदि कूटोन्मुखी शब्दों का प्रयोग कर सकते थे, तो 'घृणी' का क्यों नहीं ? 'धुनी' पाठ श्री रामचरणदास जी का है और अर्थ—'धुनी कही जिनके धर्महि विषे रत धुनि है अहर्निश किंतु रत धुनी कही अचल धुरंधर है।'[4] रामश्याम जी ने उक्त अर्धाली को ही परिवर्तित कर दिया है—'सब निरदंभ धर्मरत धरणी। नर अरु नारि चतुर शुभ करणी॥' अर्थ किया है—'सब लोग दंभ-रहित, धर्मनिष्ठ और धर्म के कुल में अग्रणी हैं। वहाँ जो स्त्री-पुरुष हैं, वे सब अति चतुर और अच्छे गुणवान हैं।'[5] शुकदेवलाल ने 'धनी' पाठ मानकर 'धनी' (धनवान) अर्थ किया है।[6]

सं० १७६२ की प्रति, १७०४ की काशिराज वाली प्रति[7] और सं० १८४२ की प्रति में 'घृनी' पाठ है।[8] हरिहरप्रसाद जी[9] और पंजाबी जी[10] ने 'घृनी' पाठ मानकर 'दयावान' अर्थ किया है। रामेश्वर भट्ट जी ने 'घृनी' पाठ तो माना है, किन्तु अर्थ 'पुण्यवान' किया है।[11] रामनरेश त्रिपाठी जी ने भी 'घृनी' पाठ मानकर अर्थ—आप्टे की डिक्शनरी के अनुसार—'सनशाइन, ए रे ऑव् लाइट, ए वेव—प्रकाशमान' किया है।[12]

यहाँ पर 'घृनी' पाठ प्राचीनतम, कठिनतर और सार्थक है। पाठालोचन

---

१. वि० टी०, तृ० भा०, उत्तर०, पृ० ४७
२. प्र० खं०, पृ० ६३४
३. मानस, सि० ति०, तृ० खं०, पृ० २४७२-७३
४. रामा०, पृ० ११६७
५. रामा०, उत्तर०, पृ० २१
६. रामा०, पृ० १६
७. शंभुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० १४३
८. मा० पी०, उत्तर०, पादटिप्पणी, पृ० १५१
९. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० २४
१०. मा० भा०, उत्तर०, पृ० ३२
११. मानस, पृ० १०७३
१२. वही, पृ० ११०४

के सिद्धान्त के अनुसार कठिनतर और प्राचीनतम पाठ मूल के अधिक निकट होता है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और डॉ० माताप्रसाद गुप्त[१] दोनों विद्वान् और कुशल संपादकों ने 'घृनी' पाठ को ही प्रामाणिक माना है। अतः यहाँ पर 'घृनी' पाठ ही तर्कसंगत है। कुछ टीकाकारों ने 'पुनी' पाठ मानकर उसका अर्थ 'पुण्यात्मा' एवं 'और' किया है। किंतु 'पुण्यात्मा' का भाव 'धर्मरत' में आ जाता है और 'पुनि' (और) कोई विशेष प्रयोजनीय शब्द नहीं है, यह केवल अगले-पिछले शब्दों को जोड़ने वाला अव्यय है। लगता है कि प्रतिलिपि-कारों ने 'घृणा' का तिरस्कारी वाच्यार्थ और लेख-प्रमाद के कारण लिखा हुआ जानकर 'पुनी' कर दिया है। कालान्तर में कतिपय टीकाकारों ने भी प्राचीनतम पाठ 'घृनी' का अर्थ तिरस्कारी समझकर 'धुनी, धरणी और धनी' अनेक पाठांतर कर दिये। रामनरेश तिवारी जी का 'प्रकाशन' अर्थ तर्कसंगत नहीं लगता। त्रिपाठी जी ने 'घृण' का अर्थ दिया है, किन्तु यहाँ शब्द घृणी—घृणा है। आप्टे ने घृणा (घृ+नक्+टाप्) का अर्थ 'दया, तरस' किया है। संस्कृत में इसका प्रयोग 'दया' अथवा 'अनुकंपा' के अर्थ में ही पाया जाता है—

तां विलोक्य वनितावधे घृणां पमिणा सह मुमोच राघवः।[२]
न शशाक घृणाचक्षुः परिमोक्तं रथेन सः।[३]

घृणा+इनि=घृणिन से प्रथमा एकवचनीय रूप घृणी होता है जिसका अर्थ है—दयावान। यहाँ पर 'घृनी' (दयावान) शब्द 'धर्मरत' शब्द के अर्थ को अपूर्व अर्थवत्ता प्रदान करता है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'सब दम्भरहित, धर्मरत और दयावान हैं। स्त्री-पुरुष सभी चतुर और गुण-वान हैं।' आजकल 'घृणा' शब्द में अर्थापकर्ष का तत्त्व प्राप्त होता है। 'घृणा' का 'दयावान' अर्थ आज तिरस्कारवाची हो गया है।

'हाथ सों न, हाथी स्याने, और हाथी स्वान (स्वाने)'

स्वारथ के साथी, मेरे हाथ सों न लेवा देई,
काहू तो न पीर रघुबीर दीन जन की।[४]

भागवतदास जी की प्रति, चरखारी-नरेश की टीका, हरिहरप्रसाद जी की टीका, रामेश्वर भट्ट की टीका, सं० १८७६ की प्रहलाददास की पोथी[५],

१. मानस, पृ० ५०२
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ३६४
३. वाल्मीकि रामा०, २।४५।१६
४. विनय० ७५
५. वि० पी०, खं ३, पादटिप्पणी, पृ० ७८०

नागरी प्रचारिणी सभा की 'तुलसी-ग्रंथावली' दूसरा खंड और श्रीकांतशरण जी[१] के संस्करण में 'हाथ सों न' पाठ है। यही पाठ पं० रामकुमार जी के खर्रे में है।[२]

सं० १६६६ की भगवान ब्राह्मण—रामनगर, काशी—की प्रति में 'हाथी स्याने' पाठ है। महावीरप्रसाद मालवीय की टीका, बाबू शिवप्रकाश की टीका, बैजनाथ जी की टीका, लाला भगवानदीन जी की टीका, वियोगी हरि जी की टीका[३], देवनारायण द्विवेदी की टीका[४], सूर्यदीन शुक्ल की टीका[५] और गयाप्रसाद जी की टीका[६] में 'हाथी स्वान' पाठ है।

प्राचीनतम पाठ 'हाथी स्याने' है। 'व' का 'य' हो जाना कोई असंभव नहीं है। लगता है, 'स्वाने' को भगवान ब्राह्मण ने 'स्याने' लिख दिया। विनयपीयूष-कार ने 'स्वाने' पाठ माना है।[७] आगे चलकर टीकाकारों ने 'स्वान' कर दिया। यहाँ पर 'स्वाने' पाठ ही प्राचीनतम है। अर्थ न लगा सकने के कारण लोगों ने 'हाथ सों न' पाठ कर दिया। पाठालोचन के सिद्धान्त के अनुसार कठिनतर पाठ मूल के अधिक निकट होता है। 'स्वाने' पाठ कठिन भी है। अतः यहाँ पर 'स्वाने' पाठ ही तर्कसंगत प्रतीत होता है। अतएव उक्त पंक्ति का पाठ इस प्रकार होगा—

'स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वाने लेवा देई'

इसका अर्थ होगा—

'(ये सब देवतादि गण) मेरे साथी स्वार्थ के हैं। ये हाथी और श्वान का लेन-देन करते हैं। अर्थात् हाथी के समान अधिक सेवा लेते हैं और कुत्ते के समान तुच्छ सांसारिक वस्तु प्रदान करते हैं।' यही अर्थ अन्तर्साक्ष्य से भी प्रमाणित होता है—

बिबुध सयाने पहिचाने कैधौं नाहीं नीके,
देत एकगुन लेत कोटिगुन भरि सो।[८]

'हाथ सों न' पाठ से इसका अर्थ टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—

१. विनय०, सि० ति०, पृ० ५१५
२. वि० पी०, खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० ७८४
३. वही, पादटिप्पणी, पृ० ७८०
४. विनय०, पृ० १५७
५. वही, पृ० ८६
६. वही, पृ० १३२
७. वि० पी०, खं० ३, पृ० ७८०
८. विनय० २६४

'ये सब स्वार्थ के साथी हैं और मेरे हाथ से इससे कुछ लेन-देन (व्यवहार) नहीं है।' अर्थ की दृष्टि से भी विचार करने पर यह पाठ और अर्थ असंगत लगता है। इस अर्थ से देवता, मनुष्य और मुनियों का स्वार्थ स्पष्ट नहीं हो पाता।

'हरिहि हरिता--हरि-हरहि हरता, सिवहि सिवता—श्रियहि श्रियता'

हरिहि हरिता, विधिहि विधिता, सिवहि सिवता जो दई।[1]

वियोगी हरि जी की टीका[2], गयाप्रसाद जी की टीका[3], देवनारायण द्विवेदी जी की टीका[4], लाला भगवानदीन की टीका[5], बैजनाथ जी की टीका[6], गीता प्रेस की टीका[7] और पं० सूर्यदीन शुक्ल[8] आदि की टीकाओं में 'हरिहि हरिता—सिवहि सिवता' पाठ है। 'तुलसी-ग्रन्थावली' में भी यही पाठ है।[9] मुरादाबाद लक्ष्मीनारायण यंत्रालय से सं० १९७० में छपा मूल गुटका, पं० महावीरप्रसाद मालवीय और वीरकवि की टीका में 'पुनि हरिहि-हरता…' पाठ है।[10]

सं० १६६६ की श्री भगवान ब्राह्मण की प्रति, ईजानगर के व्यास पं० गजाधर की पोथी और भागवतदास की प्रतिलिपि में 'हरि-हरहि हरता—श्रियहि श्रियता जेहिं' पाठ है। पं० रामेश्वर भट्ट की टीका और हरिहर-प्रसाद जी की टीका में केवल 'हरि' नहीं है। विनयपीयूषकार[11] और श्रीकांत-शरण जी[12] ने भी यही पाठ स्वीकार किया है।

यद्यपि कविप्रयोग की दृष्टि से नागरी प्रचारिणी सभा का ही पाठ प्रमाणित होता है—

---

१. विनय० १३५।३
२. विनय०, पृ० ३२०
३. ,, पृ० १९८
४. ,, पृ० २३३
५. ,, पृ० ९८
६. ,, पृ० २४५
७. ,, पृ० २१४
८. ,, पृ० १४५
९. दूसरा खं०, ना० प्र० सभा, पृ० ४३६
१०. वि० पी०, खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० १३००-१
११. वही
१२. विनय०, सि० ति०, पृ० ८६४

विधि से करनिहार, हरि से पालनिहार,
हर से हरनिहार जपैं जाके नामैं ।[१]
करतार, भरतार, हरतार, कर्म काल,
को है जगजाल जो न मानत इताति है ।[२]

किन्तु पाठालोचन का सिद्धान्त है कि कठिनतर पाठ मूल के अधिक निकट होता है। अतः इस दृष्टि से विनयपीयूष का पाठ कठिनतर और प्राचीनतम है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में यही पाठ है। कतिपय टीकाकारों ने भी 'हरि' से अर्थ न लगा सकने के कारण उसे छोड़कर शेष ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। प्राचीनता पर ध्यान देकर अधिकांश आधुनिक टीकाकारों ने सभा के ही पाठ को प्रामाणिक माना है। किन्तु विनयपीयूष का पाठ प्राचीनतम और कठिनतर है, अतः यही तर्कसंगत और प्रामाणिक प्रतीत होता है।

विनयपीयूष में यह पाठ दिया है—

हरि-हरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहिं दई ।[३]

इसका अर्थ इस प्रकार होगा—'जिसने विष्णु को क्लेशों, पापों के हरण का सामर्थ्य ब्रह्मा को ब्रह्मत्व-पालन का सामर्थ्य, शंकर को सृष्टि-संहार कासामर्थ्य और लक्ष्मी को ऐश्वर्य-दान का सामर्थ्य प्रदान किया है।' वेदान्त-शिरोमणि श्री रामानुजाचार्य ने 'जेहिं' के साथ 'हरि' का अन्वय करके अर्थ किया है—'जिस हरि ने हर को हरत्व…'।[४] किन्तु कवि के प्रयोग से यह अर्थ उचित नहीं है। कवि ने श्रीराम को विष्णु, ब्रह्मा और शिव से भी बड़ा माना है—

जाकें बल बिरंचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दससीसा ॥[५]
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस तें नाना ॥[६]
देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका । अमित प्रभाउ एक तें एका ॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा । बिबिध बेष देखे सब देवा ॥[७]

इस पाठ से 'हरता' में और अधिक गांभीर्य आ जाता है। 'हरता' शब्द से

१. गीता० ५।२५
२ बाहुक ३०
३. वि० पी०, खं० ३, पृ० १३००
४. वही, पादटिप्पणी, पृ० १३०३
५. मानस ५।२१।५
६. वही १।१४४।६
७. वही १।५४।७-८

'हरि' और 'हर' दोनों के हरत्व का बोध होता है। अतः कवि के शब्द-प्रयोग के कौशल का भी आभास होने के साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी यही पाठ प्रामाणिक लगता है। लक्ष्मी जी भी, जिनसे ब्रह्मादि का ऐश्वर्य और शक्ति है इस पाठ में समाविष्ट हो जाती हैं। इससे 'राम' का रामत्व उत्कृष्टतर से उत्कृष्टतम हो जाता है जो कवि का अभीष्ट है। छन्द-विधान की दृष्टि से भी यही पाठ उचित है, अन्यथा मात्राएँ न्यूनाधिक हो जाती हैं।

'मन कुमनोरथ, मनो मनोरथ, मनहु मनोरथ'

काल करम बस मन कुमनोरथ कबहुँ कबहुँ कछु मोतो।
ज्यों मुदमय बसि मीन बारि तजि उछरि भभरि लेत गोतो ॥[1]

यह पाठ नागरी प्रचारिणी सभा का है। पं० गजाधरदास की पोथी, सन् १६०४ की हरिहरप्रसाद की टीका, सं० १८६३ की श्री जमुनादास वैश्य की लिखी पुस्तक, मूल वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई की सं० १६५१, वीरकवि जी की टीका, बाबू शिवप्रकाश की टीका, मुरादाबाद लक्ष्मीनारायण यंत्रालय से सं० १६७० में छपा मूल गुटका, बैजनाथ जी की टीका, रामेश्वर भट्ट जी की टीका, दीन जी की टीका[2], गीता प्रेस की टीका[3], गयाप्रसाद जी की टीका[4], सूर्यदीन शुक्ल की टीका[5] और विनयपीयूष में यही पाठ स्वीकार किया गया है।[6] केवल भागवतदास की प्रतिलिपि में 'मनो मनोरथ' पाठ है।[7] इसी को आधार श्रीकांतशरण जी ने बनाया है।[8] सं० १८७८ की श्री बेनी कायस्थ की लिखी पोथी में 'मनहु मनोरथ' पाठ है।

केवल पं० सूर्यदीन शुक्ल को छोड़कर 'मन कुमनोरथ' पाठ को स्वीकार करने वाले सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'काल और कर्मों के प्रभाव से कभी-कभी कुछ कुमनोरथ मन में होते, (तब) जैसे मछली जल में आनंदमय बसती है, (कभी-कभी) उसे छोड़कर उछलकर फिर भड़भड़ा कर उसी में गोता लगाती है, (वैसे ही मैं) गोता लेता हूँ।'

---

१. विनय० १६१
२. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० २११
३. विनय०, पृ० २६५
४. ,, पृ० ३५६
५. ,, पृ० १८०
६. वि० पी०, खं० ४, पृ० २११
७. वही, पादटिप्पणी, पृ० २११
८. विनय०, सि० ति०, पृ० १०६५

परन्तु गोस्वामी जी स्वयं को महापतित, समस्त कल्मषों और दुराचारों का आगार मानते हैं। अतः वे यह नहीं कह सकते कि मुझमें बुरी वासनाएँ कभी-कभी उठती हैं। इसी गड़बड़ी के कारण श्रीकांतशरण जी ने भागवत-दास की प्रति का 'मनो मनोरथ' पाठ स्वीकार करते हुए 'मनोनुकूल' अर्थ किया है। उनके अनुसार 'कुमनोरथ' पाठ नितांत अशुद्ध है, क्योंकि 'जितो दुराउ...' इस चरण से यहाँ अपने दोष-कथन का प्रसंग है। ऐसा नहीं कि कभी-कभी ही 'कुमनोरथ' हो जाते हैं। 'मनो मनोरथ' पाठ लेकर 'मनो' का अर्थ 'मन से भी' किया है। उन्होंने 'जलदान माँगिबो' पाठ अन्तरा-अन्तरा में रक्खा है और उसका सम्बन्ध 'काल करम...' से लगाकर यह अर्थ किया है—'यह कृपा-अमृत-रूपी जलदान माँगना इसका कैसा है, यह मैं खरा सत्य कहता हूँ कि काल और कर्म के वश में निरंतर रहकर आनंद मनाने वाले मेरे मन से भी वह मनोरथ जो कभी-कभी होता है, वह ऐसा ही है जैसे जल में आनंदपूर्वक रहने वाली मछली कभी...।'[१]

श्री अंजनीनंदनशरण जी भी अर्थ लगाने के लिए कुछ क्लिष्ट कल्पना करते हैं। उनके अनुसार—'मेरी समझ में यदि इस शंका को ठीक मानें और कभी-कभी अन्याश्रय को 'जितो दुराउ' से असंगत मानें तो 'कु' को 'को' या 'का' का अपभ्रंश मानकर अथवा प्रहलाददास वाली हस्तलिखित पोथी का 'को' पाठ ग्रहण कर यह अर्थ कर सकते हैं—'कालकर्म-वशीभूत मन का कभी-कभी ऐसा मनोरथ होता है, तब जैसे मछली जल में आनंदपूर्वक रहकर (कभी-कभी) उसे छोड़कर उछलकर-छटपटाकर (फिर) गोता लेती है।' इस अर्थ में कोई शब्द ऊपर से बढ़ाने नहीं पड़ते। भाव कि वैसे ही मैं तुरंत छटपटाकर फिर अन्याश्रय वा विषय-सुख में डूब जाता हूँ। 'भभरि लेत गोतो' को अन्वय में दो बार लेने से 'ज्यों' का सम्बन्ध पूरा लग जाता है—'ज्यों... ...त्यों मैं भभरि लेत गोतो।'[२] अंजनीनंदनशरण जी पाठ को नहीं बदलना चाहते, किंतु अर्थ में कुछ खींचतान अवश्य करते हैं। केवल दो हस्तलिखित प्रतियों और श्रीकांतशरण जी को छोड़कर समस्त हस्तलिखित प्रतियों एवं टीकाओं में पाठ 'मन कुमनोरथ' ही है। 'मनो मनोरथ' पाठ मान लेने से भी अर्थ सुसंगत नहीं लगता, जैसा कि श्रीकांतशरण जी के अर्थ से स्पष्ट है। अतः सभा के संस्करण का 'पाठ' ही तर्कसंगत और बहुसम्मत है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—'काल व कर्म के वश से मन

१. विनय०, सि० ति०, पृ० १०६६

२. वि० पी०, खं० ४, पृ० २१६

बुरी इच्छा छोड़ कभी-कभी कुछ हुआ, अर्थात् ईश्वरोन्मुख हुआ, तो वह ऐसा ही है जैसे मछली जल में आनंद से रहती हुई कभी-कभी उछलकर-भड़भड़ाकर उसी में गोता लगाती है।'

भारतीय आचार्यों ने अर्थनिश्चय का एक साधन शब्दाध्याहार भी बताया है। इसी आधार पर 'छोड़' शब्द का अध्याहार दृष्टांत के 'उछरि' से कर लिया गया है। पं० सूर्यदीन शुक्ल ने भी लगभग यही अर्थ किया है। गोस्वामी जी ने 'मन' को मछली और 'विषय' को जल कहा है—

'विषय-बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।'[१]

यहाँ पर मछली जैसे जल में सानंद रहती है, वैसे ही कवि कहता है कि मैं भी विषय-सुख को आनंदमय मानकर उसमें लिप्त रहता हूँ। जैसे मछली जल को छोड़ने पर व्याकुल होकर फिर उसी में आ जाती है, वैसे ही मैं भी ईश्वर के भजन, सत्संगादि में मन न लगने के कारण पुनः उसी सांसारिक विषय-वासनादि में लीन हो जाता हूँ।[२] यहाँ पर यही अर्थ प्रासंगिक प्रतीत होता है।

'भौंतुवा भौंर—भुरुटू, भुरुट, भुरूट, भुरुटुआ, भुरुटु-भोर'

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भौंतुवा भौंर को हौं।[३]

यह नागरी प्रचारिणी सभा का पाठ है।

हरिहरप्रसाद जी की टीका, वीरकवि जी की टीका, सं० १९१५ की श्री रामरतनदास-लिखित पोथी, लाला भगवानदीन जी की टीका और वियोगी हरि जी की टीका में 'भौंतुआ भौंर' पाठ है। रामेश्वर भट्ट जी की टीका में 'भौंतुवा भोंर' पाठ है।[४] देवनारायण द्विवेदी[५] और गीता प्रेस[६] की टीका में भी 'भौंतुआ भौंर' पाठ है। पं० गजाधरदास की पोथी में 'भरुटू भोर' पाठ है। मुरादाबाद लक्ष्मीनारायण यंत्रालय की सं० १९७० में छपा मूल गुटका और बाबू शिवप्रकाश की टीका में 'भुरुट भोर' पाठ है। बैजनाथ जी की टीका में 'भुरुट भौंर' पाठ है। भागवतदास जी की प्रतिलिपि और मूल वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९५१ में 'भुरुटुआ भोर' पाठ है।

---

१. विनय० १०२
२. विनय० सटीक, पृ० १८०
३. विनय० २२९
४. वि० पी०, खं० ५, पादटिप्पणी, पृ० ७०६
५. विनय० सटीक, पृ० ३१६
६. " " पृ० ३६५

सं० १६६६ की भगवान ब्राह्मण की लिखी प्रति[1], गयाप्रसाद जी की टीका[2] और विनयपीयूष में 'भुरुटु भोर' पाठ है।

पं० महावीरप्रसाद मालवीय के अतिरिक्त 'भौंतुवा भौंर' पाठ स्वीकार करने वाले सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'भँवर का चक्कर खाने वाला एक प्रकार का काले रंग का कीड़ा जो प्रायः वर्षा ऋतु में जलाशयों आदि में जलतल के ऊपर और नावों के पास भी चक्कर काटता हुआ चलता है।' मालवीय जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'यह युक्त प्रान्त के अधिकांश किसानों का व्यावहारिक शब्द है। रस्सी बनाने के लिए लकड़ी का एक यंत्र।'[3] बैजनाथ जी ने 'भुरुट भौंर'[4], पं० रामकुमार ने 'भुरुटो भौर'[5] और भट्ट जी ने 'भुरुटु भौंर'[6] पाठ देकर वही 'काला कीड़ा' अर्थ किया है।

उक्त पंक्ति के पद्य को पढ़ने से 'भौंर' पाठ असंगत लगता है। 'भौंतुवा भौंर को हौं' पाठ स्वीकार करने वाले संपादकों और टीकाकारों ने भी इस पद के ऊपर की पंक्ति में 'जोर को हौं', 'घोर को हौं' पाठ माना है। प्राचीनतम पाठ—'ओर को हों, कोर को हों, जोर को हों, घोर को हों, भोर को हों, ठोर को हों' है। ओकारबहुल पाठ में 'भोर को हों' पाठ ही तर्कसंगत लगता है। टीकाकारों ने 'भोर' से 'भौर' और 'भौर' से 'भौंर' कर लिया। 'भौंर' के तौल से आगे की पंक्ति में 'ठौर' कर लिया है। किन्तु 'भौंर' का तौल 'ठौर' नहीं 'ठौंर' होना चाहिए। 'ठौंर' पाठ किसी भी टीका में नहीं है। अतः 'भौंर' पाठ तर्कसंगत नहीं। यहाँ पर तर्कसंगत और प्राचीनतम पाठ 'भोर को हों' है। 'भुरुट, भुरुटो और भुरुटु' पाठ मानने वालों ने भी 'भौर' और 'भौंर' पाठ दिया है। 'भुरुट' का अर्थ 'काला कीड़ा' किया है। किन्तु किसी भी कोश में मुझे 'भुरुट' शब्द का अर्थ 'काला कीड़ा' नहीं मिला। 'हिन्दी शब्दसागर' में 'भौंतुवा' का अर्थ 'काला कीड़ा' दिया है। अर्थ न लगने के कारण टीकाकारों ने 'भुरुट' को 'भौंतुवा' और 'भोर' को 'भौंर' करके इसका अर्थ 'भँवर का भौंतुआ' (काला कीड़ा) किया है। प्राचीनतम पाठ 'भुरुट' है क्योंकि

---

१. वि० पी०, खं० ५, पादटिप्पणी, पृ० ७०६
२. विनय० सटीक, पृ० ३२३
३. विनय कोश, पृ० १७८
४. बिनय० सटीक, पृ० ४३७
५. वी० पी०, खं० ५, पृ० ७१०
६. बिनय० सटीक, पृ० ३१५

सं० १६६६ की भगवान ब्राह्मण की लिखी प्रति में यही पाठ मिलता है। टीकाकारों ने इसी 'भुरुट' को भुरुट्ट, भुरुट, भुरूट और भुरुटुआ कर लिया है। इससे भी 'भुरुटु' पाठ ही प्रामाणिक सिद्ध होता है। प्राचीनतम हस्त-लिखित प्रतियों एवं प्राचीन टीकाकारों ने भी भुरुट, भुरुट्ट, भुरूट आदि पाठ ही स्वीकार किया है। 'भुरुटु' कठिनतर पाठ भी है। अतः पाठालोचन के सिद्धान्त के अनुसार यही मूल के अधिक निकट और तर्कसंगत प्रतीत होता है।

अर्थ की दृष्टि से भी 'भौंतुवा भौंर' का जो अर्थ टीकाकारों ने किया है, वह उचित नहीं प्रतीत होता। उनका अर्थ इस प्रकार है—'भाव यह है कि जैसे भौंतुवा जल में रहता हुआ भी जल के ऊपर ही तैरता रहता है, उसमें डूब नहीं सकता, वैसे ही कलि ने यद्यपि मुझे भव-नदी में डाल दिया है, तथापि मैं आपके प्रताप से इस विषय-प्रवाह में बहूँगा नहीं, ऊपर-ही-ऊपर तैरता रहूँगा।' किन्तु 'तुलसिदास सीतल नित एहि बल बड़े ढेकाने ठोर को हों' से स्पष्ट होता है कि कवि अपने को इसके ऊपर की पंक्ति में 'नितांत असमर्थ' व्यक्त कर चुका है। यदि ऐसा न मानें तो ऊपर की पंक्ति और इस पंक्ति में भावार्थ की पुनरावृत्ति हो जाती है। 'कहा भयो जों' से भी यही सूचित होता है। लोग कहते हैं कि कोई हानि नहीं यदि अमुक ने मुझे धोखा दिया। मेरा तो आश्रयदाता जगत्पिता है। गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है—

कुमया कछु हानि न औरन की जो पै जानकीनाथ मया करिहै।[१]

अतएव यहाँ पर विनयपीयूष का पाठ प्रामाणिक लगता है। प्राचीनतम तो है ही। विनयपीयूषकार ने यह पाठ स्वीकार किया है—

कहा भयो जों मन मिलि कलिकालहिं कियो भुरुट भोर को हों।[२]

'भुरुट भोर' का अर्थ बाबू शिवप्रकाश[३] और गयाप्रसाद जी ने 'एक पौधा' किया है जिसका काँटा प्रातःकाल असमर्थ रहता है, गड़ता नहीं। गोण्डा जनपद में इसे 'बरैय्या कोटा' कहते हैं।

'भोर का भुरुट होना' मुहावरा है जिसका अर्थ है—'नितांत असमर्थ होना'। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'क्या हुआ अर्थात् कोई हानि नहीं जो मेरे मन ने कलिकाल से मिलकर मुझे नितांत असमर्थ कर दिया।'

---

१. कविता० ७।४७

२. वि० पी०, खंड ५, पृ० ७०६

३. विनय० सटीक, पृ० २८०

'तनु तजेउ, तनु तजऊ, तनु जनेउ, तनु जन्यो, तनु जनतेउ, त्वच तजत, त्वचा तजत और तनुज तऊ'

तनु-जन्यों कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ ।[१]

यह पाठ नागरी प्रचारिणी सभा का है ।

श्री भागवतदास की प्रतिलिपि में 'तनु तजेउ' पाठ है। 'त्वचा तजत' पर हरताल देकर यह पाठ बनाया गया है। रामेश्वर भट्ट जी ने भी यह पाठ स्वीकार किया है ।[२] श्री गजाधर व्यास की पोथी में 'तनुज तऊ' और 'तनु तजऊ' है जिसे त, ज की लिपिशैली के अनुसार दोनों प्रकार पढ़ सकते हैं, परन्तु स्पष्ट 'तनु तजऊ' ही पढ़ेंगे । 'तनु जनेउ' पाठ श्री भगवानदीन जी का है । वियोगी हरि[३], गीता प्रेस[४] और तुलसी-ग्रंथावली[५] में 'तनु जन्यो' पाठ है। 'तनु जनतेउ' पाठ मूल बेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई, मुरादाबाद लक्ष्मीनारायण यंत्रालय के सं० १६७० में छपे मूल गुटका और गीता प्रेस की टीका[६] में स्वीकृत है। बाबू शिवप्रकाश[७], देवनारायण द्विवेदी जी[८] और गयाप्रसाद जी[९] ने 'तनु जन्यो' पाठ स्वीकार किया है । 'त्वच तजत' पाठ महावीरप्रसाद मालवीय जी का है। 'त्वचा तजत' पाठ श्री बेनी कायस्थ की लिखी पोथी[११] और बैजनाथ जी[१२] और पं० सूर्यदीन शुक्ल[१३] ने अपनी टीकाओं में दिया है। सं० १६६६ की श्री भगवान ब्राह्मण की लिखी प्रति, सं० १८६३ की श्री जमुनादास वैश्य की लिखी पुस्तक और विनयपीयूष में 'तनुज तऊ' पाठ दिया है ।[१४] श्रीकांत-

१. विनय० २७५
२. विनय० सटीक, पृ० ३६८
३. वि० पी०, खं० ५, पादटिप्पणी, पृ० १०४५
४. विनय० सटीक, पृ० ४३०
५. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ८०५
६. वि० पी०, खं० ५, पादटिप्पणी, पृ० १०४५
७. विनय० सटीक, पृ० ४३०
८. ,, ,, पृ० ३२७
९. ,, ,, पृ० ४४६
१०. ,, ,, पृ० ३७५
११. वि० पी०, खं० ५, पादटिप्पणी, पृ० १०४५
१२. विनय० सटीक, पृ० ५१७
१३. ,, ,, पृ० ३६३
१४. वि० पी०, खं० ५, पादटिप्पणी, पृ० २७५

शरण जी ने भी यही पाठ स्वीकार किया है।[1]

टीकाकारों ने मनमाने ढंग से उक्त पंक्ति के पाठ के सम्बन्ध में अटकल-पच्चियाँ लगाई हैं। सं० १६६६ की श्री भगवान ब्राह्मण की लिखी प्रति में हरताल और काट-छाँट नहीं के बराबर है। इसमें कुल १७४ पद हैं। १७४ ही पद होने के कारण ना० प्र० सभा और गीता प्रेस के संपादकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ। यह विनयपत्रिका की सबसे प्राचीतम हस्त-लिखित प्रति है। इसमें 'तनुज तऊ' पाठ दिया हुआ है। प्राचीनतम होने के कारण यही पाठ प्रामाणिक प्रतीत होता है। कतिपय टीकाकारों ने भी इसी पाठ को मूल के अधिक सन्निकट स्वीकार किया है। अतः यही पाठ मान्य है। कुटिल कीट का अर्थ कुछ लोग केकड़ी करते हैं जो बच्चा देते ही मर जाती है क्योंकि केकड़ी के बच्चे पेट फाड़कर निकलते हैं। तुलसीदास को तो उनके माता-पिता दोनों ने छोड़ दिया था। यदि केवल माता छोड़ती, तब तो 'केकड़ी' अर्थ लग सकता था, पर माता-पिता के साथ केकड़ी अर्थ कैसे लग सकता है? यही बात 'सर्पिणी' अर्थ करने से भी फँसती है। 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय कुटिल कीट का अर्थ 'जूँ, पेट के केंचुए' आदि करते हैं।[2] मेरे विचार से भी इसका अर्थ 'जूँ, चिल्लड़' आदि है। रक्त चूसने के कारण इनको 'कुटिल कीट' कहते हैं। अतः विनयपत्रिका की पंक्ति—

तनुज तऊ कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिताहूँ।

का अर्थ इस प्रकार होगा—

'मैं उनके तन से उत्पन्न पुत्र था, तब भी उन्होंने मुझे जूँ-चिल्लड़ आदि कुटिल कीड़े की भाँति त्याग दिया।' 'तनुज तऊ' पाठ में उक्त अन्य पाठों से अधिक भाव-गांभीर्य है।

'बैरिखा, बैरिं, बेर और बीर'

गहन उज्जारि पुर जारि सुत मारि तव,
कुसल गो कीस बरबेर जाको।[3]

श्रीकांतशरण जी भागवतदास की प्रति का पाठ 'बर बैरिसा' बताते हैं और स्वयं 'बर बैरिषा' पाठ स्वीकार करते हैं। 'बर बैरिषा' का अर्थ उन्होंने तुर्की शब्द 'बैरक' के आधार पर 'श्रेष्ठ पताका' किया है।[4] 'बर बैरिषा' से भी

१. विनय०, सि० ति०, पृ० १५६४
२. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ८०५
३. कविता० ६।२१
४. कविता०, सि० ति०, पृ० १८६

अर्थ न स्पष्ट होने के कारण 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय ने 'बर बैरिखा जाको' पाठ कर दिया है और अर्थ किया है—'राम के जिस पहले दूत (हनुमान) के श्रेष्ठ यश की पताका फहरा रही है।'[१] हरिहरप्रसाद जी[२], बैजनाथ जी[३] और इन्द्रदेवनारायण जी[४] ने 'बर बैरि' पाठ स्वीकार करके इसका अर्थ 'श्रेष्ठ वैरी या प्रबल शत्रु' किया है।

ना० प्र० सभा, दीन जी[५], देवनारायण द्विवेदी जी[६], चम्पाराम मिश्र जी और चन्द्रशेखर द्विवेदी जी[७] ने 'बरबेर' पाठ मानकर 'बड़े शरीर वाला या बड़ा बलवान' अर्थ किया है।

'बर बैरिषा' से अर्थ स्पष्ट नहीं होता और 'बर बैरिखा जाको' पाठ से छन्द के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है। अतः अर्थ और प्रवाह की दृष्टि से यह पाठ संगत नहीं प्रतीत होता। शत्रु को 'श्रेष्ठ वैरी' कहना भी अच्छा नहीं लगता और 'बर' का अर्थ प्रबल भी नहीं होता। 'बेर' शब्द का अर्थ मुझे शरीर कहीं नहीं प्राप्त हुआ। अतः उक्त दोनों पाठ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होते हैं।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'बरबीर' पाठ निर्धारित किया है।[८] पं० राम-प्रताप त्रिपाठी ने भी यह पाठ स्वीकार किया है।[९] अन्य पाठों की अपेक्षा मुझे डॉ० गुप्त द्वारा निर्धारित पाठ विषयानुसंगत लगता है। इस पाठ से अर्थ भी उपयुक्त लग जाता है। डॉ० गुप्त का पाठ इस प्रकार है—

गहन उज्जारि पुर जारि सुत मारि तव, कुसल को कीस बर बीर जाको ॥

इसका अर्थ होगा—'जिसका श्रेष्ठ वीर कपि हनुमान तुम्हारा अशोक वन उजाड़कर, नगर जलाकर और तुम्हारे पुत्र (अक्षकुमार) को मारकर सकुशल यहाँ से चला गया।'

---

१. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २२५
२. कवित्त रामा०, पृ० ८१
३. ,, ,, पृ० ११२
४. कविता०, सटीक पृ० ७६
५. ,, ,, पृ० ८१
६. ,, ,, पृ० ६७
७. ,, ,, पृ० ४१
८. कविता०, पृ० २६
९. कविता० सटीक, पृ० ६५

'भाग—भाँग'

नाम तुलसी पै भोंडे भाग सो कहायो दास,
किए अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को ।[1]

'भोंडे भाग' पाठ नागरी प्रचारिणी सभा, हरिहरप्रसाद जी[2], चन्द्रशेखर शास्त्री[3], चम्पाराम मिश्र और तुलसी-ग्रंथावली[4] का है। लाला भगवानदीन जी[5], श्रीकांतशरण जी[6], देवनारायण द्विवेदी जी[7], बैजनाथ जी[8] और गीता प्रेस[9] ने 'भोंड़े भाँग' पाठ स्वीकार किया है।

यहाँ 'भाँग' पाठ अपेक्षाकृत अधिक व्यंजनापूर्ण है। कहाँ तो तुलसी-जैसा पवित्र और कहाँ भाँग-जैसी नशीली। जैसे काशी का विलोम मगध, गंगा का कर्मनाशा और ब्राह्मण का कसाई[10] है, उसी प्रकार तुलसी का विलोम भाँग है। उक्त दोनों तुलसी-ग्रंथावलियों से स्पष्ट है कि काशी वाले 'भाँग' को बुरा नहीं कह सकते। यद्यपि आधुनिक तुलसी-ग्रंथावली के संपादक ने अन्यत्र 'भाग' के स्थान पर 'भाँग' पाठ ही स्वीकार किया है।[11] चन्द्रशेखर शास्त्री ने 'भाग' के पक्ष में वकालत की है। किंतु यहाँ 'भाँग' पाठ कविप्रयोग की दृष्टि से भी सार्थक लगता है—

नाम राम को कलप-तरु कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदास ॥[12]

यद्यपि यहाँ पर सभा के संस्करण में 'भाग' पाठ है।[13] किंतु बंदन

---

१. कविता० ७।१३
२. कवित्त०, पृ० ११५
३. कविता० सटीक, पृ० २३
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २४१
५. कविता०, पृ० ११६
६. कविता०, सि० ति०, पृ० २७८
७. कविता० सटीक, पृ० १४०
८. कवित्त रामा०, पृ० १५३
९. कविता०, पृ० १११
१०. मानस १।६।८
११. तुलसी-ग्रंथावली, द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ११२
१२. वही, दोहा० ११
१३. दोहा० ११

में बल' किया है। यह अर्थ अधिक तर्कसंगत लगता है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में अक्षर अलग-अलग लिखने की प्रथा थी। इसी कारण से 'बर बाहै' को कुछ लोगों ने 'बरवा है' कर दिया। किन्तु यह पाठ और इसका अर्थ, जैसा कि ऊपर उद्धृत है, दोनों तर्कसंगत नहीं हैं। यहाँ 'बर बाहै' ही विषयानुसंगत और बहुसम्मत है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'लोग मेरे विषय में यही कहते हैं कि विधाता ने भी इसके भाग्य में कुछ (सुख) नहीं लिखा और स्वप्न में भी इसकी अपनी भुजाओं में बल नहीं है।'

'कपि कछू बेलि, कपि कछु बेलि और कपिकच्छु बेलि'

बात तरुमूल, बाहुसूल कपिकच्छु बेलि
उपजी सकेलि, कपि, खेल ही उखारिए ॥[१]

यह पाठ नागरी प्रचारिणी सभा का है।

हरिहरप्रसाद जी ने 'कपि कछू बेलि' पाठ माना है और अर्थ 'बाँदा' किया है।[२] पं० श्री रामबल्लभशरण द्वारा संशोधित एकादश ग्रंथ में 'कपि कछु बेलि' पाठ है।[३] श्रीकांतशरण जी[४], देवनारायण द्विवेदी जी[५], बैजनाथ जी[६], पं० महावीरप्रसाद मालवीय[७], श्री अंजनीनन्दनशरण[८] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक[९] ने 'कपिकच्छु बेलि' पाठ स्वीकार करके 'केवाँच' अर्थ किया है। केवाँच नाम की लता बंदरों को बहुत प्रिय होती है। 'कपि' और 'बेलि' के सान्निध्य से 'कपिकच्छु बेलि' पाठ ही संभव है। हरिहरप्रसाद जी ने 'कपि कछू बेलि' पाठ मानते हुए भी 'कपि कुछ बेली' पाठ की भी संभावना व्यक्त की है और इसका अर्थ 'केवाँच' किया है। इस प्रकार लगभग सभी टीकाकारों ने 'कपिकच्छु बेलि' पाठ और 'केवाँच' अर्थ स्वीकार किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में भी इसका अर्थ 'केवाँच' दिया है।[१०] अतः उक्त पंक्ति का

१. बाहुक २४
२. कवित्त रामा० सटीक, पृ० २५८-५९
३. बाहुक, पी० ब० टीका, टीका० अंजनीनंदनशरण, पादटिप्पणी, पृ० ११०
४. बाहुक, सि०ति०, पृ० ११२
५. बाहुक सटीक, पृ० २१
६. ,, ,, पृ० ३३
७. ,, ,, पृ० २३
८. बाहुक, पी० ब० टीका, पृ० १११-१२
९. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३०४
१०. दे० पृ० ४५१

अर्थ होगा—'(तुलसीदास जी का कथन है कि) मेरे भुजा-रूपी वृक्ष की जड़ में बाहुपीड़ा-रूपी केवाँच की लता उत्पन्न हुई है। उसे एकत्र करके कपि-लीला (कपि-स्वभाव जैसा) ही उखाड़ डालिए।'

'वृंद—बंद'

नगर-रचना सिखन को बिधि तकत बहु बिधि बंद ॥[१]

बैजनाथ जी ने 'वृंद' पाठ मान करके अर्थ किया है कि 'श्री अवध नगर की दिव्य विचित्र रचना सीखबे हेत विधाता नगर को बहुत प्रकार से वृंद-वृंद देखते हैं।'[२] हरिहरप्रसाद जी ने 'बंद' पाठ रखकर अर्थ किया है कि 'नगर रचना सीखने बंद कहे प्रकार बहु विधि ते विधाता तकत हैं।'[३] मुनिलाल जी 'वृंद' पाठ मानकर अर्थ करते हुए लिखते हैं कि 'नगर की रचना सीखने के लिए ब्रह्मा जी उसके तरह-तरह के भेद देखते हैं।'[४] मातादीन शुक्ल जी 'को विधि' के स्थान पर 'कोविद' और 'बंद' पाठ मानकर उसका अर्थ 'रचना के बंद या भेद' किया है।[५] ठाकुर बिहारीलाल जी 'बंद' पाठ स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि 'नगर की विचित्र रचना को विधाता सीखने हेतु बहुत प्रकार से वन्दना करि देखते हैं।'[६] 'वृंद' पाठ संभवतः ऊपर की पंक्ति 'को वृंद' से तुक मिलाने के लिए इस पंक्ति में 'बहु बिधि वृंद' कर दिया है। किन्तु 'वृंद' पाठ मानने से उपयुक्त अर्थ नहीं लगता, जैसा कि हरिहर-प्रसाद जी और गीता प्रेस के टीकाकार के अर्थ से स्पष्ट है। 'बंद' पाठ मानकर भी उपर्युक्त प्रायः सभी टीकाकारों ने मनोनुकूल अनेक अर्थ किये हैं। नागरी प्रचारिणी सभा आदि अनेक संस्करणों में 'बंद'-पाठ ही स्वीकृत है। यहाँ पर यही पाठ प्रासंगिक और विषयानुसंगत प्रतीत होता है। 'तुलसी-शब्दसागर' में इसका अर्थ 'भाग, शाखा' किया गया है।[७] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'श्री अवध की रचना सीखने के हेतु ब्रह्मा जी आकर रचना के अनेक प्रकार के भेद देखते हैं।' लगभग यही अर्थ श्रीकांतशरण जी[८] और 'तुलसी-ग्रंथावली'

---

१. गीता० ७।२३
२. गीता० सटीक०, पृ० ५४६
३. ,, ,, पृ० ३३
४. ,, ,, पृ० ४२६
५. गीता०, पृ० १५८
६. गीता० रामा०, पृ० ३३१
७. दे० पृ० ३२०
८. गीता०, सि०ति०, पृ० ६६६

के संपादक ने[१] भी किया है।

'पय अहार—पय अन्हाइ'

पय 'अहार' फल खाइ जपु राम नाम षट मास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास ॥[२]

नागरी प्रचारिणी सभा और गीता प्रेस[३] ने 'पय अहार' और 'सकल सुमंगल' पाठ स्वीकार किया है। पोद्दार जी के अनुसार—'किसी-किसी प्रति में 'पय अन्हाइ' पाठ मिलता है······पय अहार और खाइ में द्विरुक्ति प्रतीत होती है, उसी के निवारण के लिए संभवतः 'अहार' के स्थान में 'अन्हाइ' संशोधन पीछे से किया गया है। किन्तु इसी प्रकार का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है—देखिये रामचरितमानस, अयोध्या०, दो० १८८—

पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग।
करत राम हित नेम ब्रत परिहरि भूषन भोग ॥[४]

किन्तु यहाँ पर द्विरुक्ति के भय से पाठ-परिवर्तन नहीं किया गया है। रामचरितमानस, वैराग्यसंदीपनी और रामाज्ञा-प्रश्न के अधिकांश दोहे दोहावली में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। उपर्युक्त सम्पादकों ने प्रस्तुत तथ्य पर ध्यान न देने के कारण ही 'पय अहार' और 'सकल सुमंगल' पाठ स्वीकार किया है। प्रस्तुत दोहा रामाज्ञा-प्रश्न का है। रामाज्ञा-प्रश्न में 'नहाइ' और 'सगुन सुमंगल' पाठ मिलता है। पाठालोचन का सिद्धान्त है कि संशोधित पाठ अन्तर्साक्ष्य द्वारा सिद्ध होना चाहिए। रामाज्ञा-प्रश्न का पाठ इस प्रकार है—

पय नहाइ, फल खाइ, जपु रामनाम षटमास।
सगुन सुमंगल सिद्धि सब, करतल तुलसीदास ॥[५]

अतएव यहाँ पर यही पाठ होना चाहिए। पोद्दार जी ने मानस का जो प्रमाण प्रस्तुत किया है, वह संगत नहीं लगता। वहाँ परिस्थिति दूसरी है और युग भी राम का है। लोगों को सीतासहित राम-लक्ष्मण से मिलने की उत्कट लालसा है। आहार तो वे मार्ग पूर्ण करने के हेतु करते हैं। यदि बिना आहार के मार्ग में चलना संभव होता, तो वे इसे भी न ग्रहण करते।

१. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५४०
२. दोहा० ५
३. दोहा०, पृ० २-३
४. वही
५. रामाज्ञा० ७।४।७

गोस्वामी जी के द्वारा बताये हुए समस्त मार्ग सरल हैं। वे जनकवि थे। दूध की समस्या आज भी है और गोस्वामी जी के समय में भी थी। उन्होंने स्वयं कहा है—'जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।'[1] और—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-बिहीन लोग सीधमान सोच-बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी ?'[2]

जिस युग में अन्न न मिलता हो, वहाँ दूध कैसे मिलेगा ? अतः कम-से-कम गोस्वामी जी ऐसा कठिन मार्ग नहीं बतायेंगे। भागवतदास जी की शोधित प्राचीन प्रति में 'अन्हाइ' ही है। श्रीकांतशरण जी ने भी रामाज्ञा-प्रश्न के पाठ को ही स्वीकार किया है।[3]

पं० कालीप्रसाद[4], 'तुलसीदास-ग्रंथावली' के सम्पादक[5] और बंदन पाठक[6] ने भी 'पय अन्हाइ' पाठ स्वीकार किया है। अतः यहाँ पर उक्त रामाज्ञा-प्रश्न का ही पाठ तर्कसंगत है। दोहावली के इस दोहे के पूर्व दोहा संख्या ३-४ में चित्रकूट का ही प्रसंग है। प्रासंगिक दृष्टि से भी यही पाठ तर्कसंगत है। इस प्रकार उक्त व्याख्येय दोहे का पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

पय अन्हाइ फल खाइ, जपु राम नाम षट मास।
सगुन सुमंगल, सिद्धि सब, करतल तुलसीदास॥

इसका अर्थ होगा—'तुलसीदास कहते हैं कि पयस्विनी में स्नान तथा फलाहार करके छह महीने तक (चित्रकूट जाकर) राम के नाम का जप करते रहो। इस शकुन में कल्याण की सिद्धि होगी और सभी सिद्धियाँ हस्तगत हो जायँगी।' मूल रूप 'अन्हाइ' रहा होगा—ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि 'अन्हाइ' से 'अहार' तक पहुँचना 'नहाइ' से 'अहार' तक पहुँचने की अपेक्षा अधिक सुगम और स्वाभाविक है।

'आनन—आपन'

आपन छोड़ो साथ जब ता दिन हितू न कोइ।
तुलसी अंबुज-अंबु बिनु तरनि तासु रिपु होइ॥[7]

---

१. कविता० ७।७३
२. वही ७।९७
३. दोहा०, सि०ति०, पृ० ६
४. दोहा०, कौमुदी टीका, पृ० ४
५. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, दो० ५, पृ० ११२
६. दोहा० सटीक, पृ० २
७. दोहा० ५३४

बंदन पाठक जी[१], पं० कालीप्रसाद जी[२] और श्रीकांतशरण जी[३] 'आनन' पाठ मानते हैं। सभा के संस्करण, 'तुलसी-ग्रंथावली[४] और गीता प्रेस की टीका[५] में 'आपन' पाठ है। यहाँ पर 'आपन' पाठ ही तर्कसंगत लगता है। 'आनन' पाठ रखने से दूसरी पंक्ति से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, क्योंकि पहली पंक्ति में व्यक्त भाव की पुष्टि अन्तिम पंक्ति में आने वाले भाव से नहीं होती। 'आपन' पाठ मानने से प्रथम पंक्ति का भाव दूसरी पंक्ति में प्रतिबिम्बित होता है, अतः यहाँ पर 'आपन' पाठ ही सार्थक और प्रासंगिक प्रतीत होता है। कविप्रयोग की दृष्टि से भी यही पाठ प्रमाणित होता है—

समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते ॥
भानु कमलकुल पोषनिहारा। बिनु जर जारि करै सोइ छारा ॥[६]

'पिरीते' शब्द के लिए ही यहाँ 'आपन' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—'जब अपने (हितैषी) ही अपना साथ छोड़ बैठते हैं, तो उस समय कोई हितकारी नहीं होता। तुलसीदास कहते हैं कि सूर्य है तो कमल का मित्र, पर जलरहित पाकर वह कमल का शत्रु होकर उसे जला डालता है।'

'खूँद सम—बूँद सम'

जथा लाभ संतोष सुख, रघुबर-चरन सनेह।
तुलसी जौ मन खूँद सम, कानन बसहु कि गेह ॥[७]

पोद्दार जी 'खूँद सम' पाठ मानकर अर्थ करते हैं कि—'घोड़ा एक ही स्थान पर खड़ा हुआ टाप चलाता रहता है, परन्तु स्थान नहीं छोड़ता, उस स्थिति को खूँद कहते हैं। इसी प्रकार सब कुछ करते हुए भी जिनका मन श्रीराम-प्रेम में अचल रहता है, उन्हीं के सम्बन्ध में यह बात कही गयी है।'[८] पं० कालीप्रसाद ने 'खूँद सम' ही पाठ मानकर अर्थ किया है—'किन्तु मन यदि घोड़े के समान

१. दोहा० सटीक, पृ० १८०
२. दोहा०, कौमुदी टीका, पृ० २५३
३. दोहा०, सि०ति०, पृ० ६२६
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० १८४
५. दोहा० सटीक, पृ० १८७
६. मानस २।१७।७-८
७. दोहा० ६२
८. दोहा० सटीक, पृ० २१

उछलता-कूदता है, तो चाहे वन में रहें चाहे घर में, दोनों ही तुल्य हैं।'[1] इसी प्रकार श्रीकांतशरण जी ने भी 'खूंद' पाठ स्वीकार करके अर्थ किया है— 'जिनका मन घोड़े की 'खूंद' के समान उछलता-कूदता रहता है, अर्थात् भजन में बैठे रहने पर भी मन उछल-कूद मचाता रहता है, वे चाहे वन में रहें और चाहे घर में (दोनों बराबर हैं), उनके बहिरंग-त्याग का कुछ महत्त्व नहीं है।' 'तुलसी ग्रन्थावली' के सम्पादक महोदय 'खूंद' पाठ मानकर अर्थ करते हैं कि "खुद्दी या पछोरन के समान चाहे घर में पड़ा रहे या वन में फेंक दिया जाय, उसका कोई क्या करेगा।'[3]

पोद्दार जी के अर्थ से स्पष्ट है कि उन्होंने 'खूंद सम' का अर्थ 'अचल' किया है, किन्तु 'हिन्दी शब्दसागर' में 'खूंद' का अर्थ इस प्रकार दिया है— 'थोड़ी जगह में घोड़े का इधर-उधर चलते रहना।' अतः पोद्दार जी का अर्थ असंगत प्रतीत होता है। पं० कालीप्रसाद जी और श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ 'हिन्दी शब्दसागर' के आधार पर 'चंचल' किया है। किन्तु यहाँ पर यह अर्थ उक्त दोहे की प्रथम पंक्ति के विरुद्ध लगता है। इस अर्थ से किसी भाव-विशेष की पुष्टि नहीं होती। दोहे की प्रथम पंक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि किसी तात्त्विक सिद्धांत को अभिव्यक्त करना चाहता है। सटीक अर्थ न लगता देखकर 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक महोदय 'खुद्दी या पछोरन' अर्थ करते हैं। किन्तु यह भी युक्तिसंगत नहीं है। श्री बंदन पाठक जी 'खूंद सम' के स्थान पर 'बूंद सम' पाठ स्वीकार करते हैं।[4] किन्तु इसका कोई आधार नहीं है और न आशय ही स्पष्ट किया गया है। संभवतः उनका भाव इस प्रकार रहा होगा—'पृथ्वी पर गिरने के पूर्व बूंद निर्मल होती है'—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥[5]

गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी कहा है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥[6]

---

१. दोहावली की कौमुदी टीका, पृ० ४०

२. दोहावली, सि० ति०, पृ० ११५

३. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ११६

४. दोहावली सटीक, पृ० १६

५. मानस ४/१४/६

६. वही ५।४४।५

ऐसा ही एक स्थान पर और कहा है—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई ॥[१]

'न मन कुटिलाई' के अर्थ में ही दोहे का तृतीय चरण आया प्रतीत होता है। 'बूँद सम' पाठ मानकर उक्त दोहे का अर्थ होगा—'तुलसीदास कहते हैं कि राम के चरणों से जिसका स्नेह बना रहता है; जो जितना लाभ हो, उसी में सन्तुष्ट रहता है और जिसका मन बूँद की भाँति निर्मल है, वह चाहे घर में रहे या वन में, अर्थात् चाहे गृहस्थ हो या विरक्त, दोनों उचित है।' पूर्ववर्ती दोहे में भी 'कानन बसहिं कि गेह' का प्रयोग है। अतः दोनों के अर्थ पर एकसाथ विचार करना अधिक उचित है। पूर्ववर्ती ६१वाँ दोहा इस प्रकार है—

जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह।
तुलसी ते प्रिय राम को, कानन बसहिं कि गेह ॥

जब तक दोहावली की कोई प्राचीन पांडुलिपि नहीं मिलती, तब तक 'खूँद' या 'बूँद' में से किसी पाठ को अन्तिम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई तीसरा व्यक्ति 'बूँद' की तरह 'दूँद' पाठ भी मान सकता है। मन के द्वंद्व-समन के अर्थ में यह नहीं कहा जायगा। परन्तु अधिकतर 'खूँद' पाठ ही मिला है। अतएव उसी के आधार पर विभिन्न प्रकार से अर्थ करने की प्रक्रिया अपनानी होगी। 'खूँद' का अर्थ 'तेज गति से चलते-चलते घोड़े का अकस्मात् रुक कर धरती खोदने लगना' होता है। इन्द्रिय-निग्रह करने वाले मन की दशा के लिए यह रूपक अग्राह्य नहीं है, तथापि पूरी संगति नहीं लगती; क्योंकि दोहे का पूर्वापर रूपकात्मक नहीं है। इस तरह की असमर्थ अलंकृति तुलसी में प्रायः नहीं मिलती। 'खूँद' शब्द को लाक्षणिक अवश्य माना जा सकता है और तब इसका तात्पर्य होगा—'अकुलाहट', 'उथल-पुथल' आदि। 'मन खूँद सम' का अर्थ होगा—'मन में समत्व की चेष्टापूर्वक स्थापना' जो उचित प्रतीत होता है। गीता में भी कहा गया है—'समत्वंयोगमुच्यते'। 'मन खूँद सम' का तात्पर्य होगा—'मन की विकलता का सम दशा में आना।'

कोमल बानी संत की स्रवै अमृतमय आइ।
तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन होइ जाइ ॥[२]

बंदन पाठक जी[३], नागरी प्रचारिणी सभा और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक

---

१. वही ७।४६।२

२. वै० सं० १६

३. वै० सं० नेह प्रकाशिका, पृ० २४

महोदय ने[1] 'मैन' पाठ स्वीकार किया है। लाला भगवानदीन जी[2] और श्रीकांतशरण जी[3] ने भी 'मैन' पाठ माना है। संभवतः 'मैन' का अर्थ न समझने के कारण बैजनाथ जी ने 'मौन' पाठ कर दिया है।[4] 'मैन' पाठ स्वीकार करने वाले सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ 'मोम' किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में भी इसका एक अर्थ 'मोम' दिया हुआ है।[5] गोस्वामी ने इसका प्रयोग अन्यत्र भी किया है—

मैन के दसन, कुलिस के मोदक कहत सुनत बौराई।[6]

यहाँ पर 'मैन' पाठ ही संगत है और इसका अर्थ 'मोम' है। अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—'तुलसीदास कहते हैं कि संतों की कोमल वाणी अमृत से पूर्ण होकर प्रवाहित होती रहती है। उसे यदि कठोर मन वाला भी सुन ले, तो मोम बनकर पिघल जाय।' जिस प्रकार अमृत प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मोम भी द्रवणशील है। यहाँ पर 'मैन' पाठ ही विषयानुसंगत है।

---

१. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ९
२. तुलसी-पंचरत्न, पृ० २
३. वै० सं०, सि० ति०, पृ० २४
४. वै० सं० सटीक, पृ० १७
५. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ४०२३
६. श्रीकृष्ण० पृ० ५१

५

अर्थ-विपर्यय के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

कहीं-कहीं टीकाकारों ने शाब्दिक अर्थ में उलट-फेर कर दिया है, तो कहीं वाक्यों के अर्थ में खींचतान की है और कहीं-कहीं पूरे पद के अर्थ में विपर्यय कर दिया गया है। कतिपय टीकाकारों ने तो पाठ किसी का स्वीकार किया है और अर्थानुकरण किसी अन्य का किया है। किसी शब्द का अर्थ कुछ है तो उसका स्वरूप कुछ अन्य ही कर दिया गया है। उदाहरणार्थ—'सहरोसा' का अर्थ है—सहर्ष, तो टीकाकारों ने इसका अर्थ 'क्रोध सहन करके' किया है। इसी प्रकार 'बिलखि' का अर्थ 'विशेष रूप से लक्ष्य करके' किया गया है। ऐसे ही साइँदोहाई, पुर, चितेरे और घरबसी' आदि शब्दों के अर्थ में भावभेद, प्रसंगांतर और हेरफेर या विपर्यास (ट्रांसपोजीशन) हो गया है। विनयपत्रिका के १४वें पद सम्पूर्ण चरण में अर्थ-विपर्यय हो गया है। कहीं-कहीं टीकाकारों ने ऊटपटांग अन्वय करके अर्थों में गड़बड़ी उत्पन्न कर दी है। इस प्रकार के असंगत और भ्रामक अर्थों के कारण रसानुभूति में कृत्रिम अतिरेक या अवरोध उत्पन्न होता है। प्रस्तुत अध्याय में तुलसी-साहित्य के ऐसे ही विपर्यस्त अर्थों की समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है।

'सहरोसा'

माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥[१]

प्रस्तुत अर्धाली के 'सहरोसा' पद के अर्थ में विपर्यय हो गया है। श्री रामचरणदास के अनुसार—सहरोष कही सत्य संकल्प करिकै कहत हौं।[२] पंजाबी जी इसका अर्थ करते हैं—सहरोसा सूरता समेत, सहरोसा नाम निश्चै का।[३] बैजनाथ जी के अनुसार—'सहरोष सहितरोष सर्वस्व देउँ रोष क्रोधवाची है तहाँ सब पदार्थ पर जो प्रीति है ताको निरादर अर्थ, रोष करि दृढ़ प्रतिज्ञा

१. मानस १।२०८।३

२. रामा०, पृ० ३२८

३. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० २७६

धारण करि जामें देत समय लोभ न आवै जामें दानवीरता में उत्साह बनी रहै इति सहरोष यथा त्याग वीरता में—राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ कि नाईं। जो राज्य पर प्रीति रहत तौं त्यागवीरता कैसे होती।'[1] ज्वालाप्रसाद जी के मत से—'शूरतासहित वा सत्य संकल्प से कहता हूँ आज सब दे सकता हूँ।'[2] रामनरेश त्रिपाठी जी के मतानुसार—'मैं आज विक्षोभ को सहन करके सर्वस्व दे दूँगा।'[3]

यह अर्धाली उस समय की है जब विश्वामित्र दशरथ के पास आए और उनसे निशाचरों के वध के हेतु सानुज रघुनाथ जी जी याचना की। इसी पर दशरथ जी का कथन है कि हे मुनि! पृथ्वी, गौ, धेनु और कोष माँगिये। मैं सब दे डालूँगा। इस प्रसंग में 'सहरोसा' का अर्थ '(शूर) सूरता समेत, सहित रोष और विक्षोभ को सहन करके या क्रोध को सहन करके' करने से दशरथ के शील पर आघात पहुँचना है। ब्राह्मण संसार के निष्काम सेवक होते थे। वे द्रव्योपार्जन नहीं करते थे। अतएव राजा लोग पूजा के साथ, श्रद्धा से उनको दान देते थे। दशरथ का विश्वामित्र से यह कहना कि मैं 'क्रोध सहन करके' सब देने को प्रस्तुत हूँ, अकृतज्ञता और अमानवीयता है। गीता में कहा गया है कि जो दान क्लेशपूर्वक दिया जाता है, वह राजस दान है।[4] फिर यहाँ क्रोध सहन करने की कोई बात भी नहीं। 'सहरोसा' का 'सत्य संकल्प करके' अर्थ भी समझ में नहीं आता, यह भी मनोनुकूल अर्थ है। इसका अर्थ मुझे किसी भी कोश में नहीं मिला। यहाँ पर 'प्रसन्न होकर' अर्थ ही विषयानुसंगत है।

'सहरोसा' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अरण्यकांड में भी किया है। वहाँ पर भी '**हर्ष के साथ**' की ही अर्थानुसंगति है—

सुनु मुनि तोहि कहउँ 'सहरोसा'। भजहिं जे मोहिं तजि सकल भरोसा॥
करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥[5]

'सहरोसा' का अर्थ निम्नांकित दो प्रकार से समुचित लग सकता है—

(१) सहरोसा = सह + रोसा (रोषा), अर्थात् उमंगसहित, सोत्साह। 'रोस' का एक अर्थ 'शब्दसागर' में 'जोश, उमंग' दिया है। यथा—

---

१. रामा०, बाल०, पृ० ५२३

२. सं० टी०, पृ० २४८

३. मानस सटीक, पृ० २३४

४. 'दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसंस्मृतम्।'—गीता १७।२१

५. मानस ३।४३।४-५

'बिगत जलद नभ नील खड़ग यह रोस बढ़ावत'—हरिश्चन्द्र[१]

अतः 'सहरोसा' का अर्थ हुआ—उमंग के साथ या उत्साह के साथ। दशरथ जी कहते हैं कि पृथ्वी, गौ, धन और कोष माँगिये, मैं उत्साहपूर्वक आज सर्वस्व दे सकता हूँ। विनायकराव जी[२] और विजयानंद त्रिपाठी जी ने[३] 'उत्साह के साथ' अर्थ किया है।

(२) 'सहरोसा' शब्द सहर्ष का अपभ्रंश है। 'सहरष' शब्द ही 'सहरोसा' हो गया है। छन्दानुरोध के कारण 'हरसा' (हर्ष) का 'हरोसा' (हरोषा) हो गया। छन्द बैठाने के कारण 'ए' या 'ओ' प्रायः बढ़ जाता है। सूरदास तथा केशवदास ने भी ऐसे प्रयोग किये हैं—

'की धौं नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही।'

यहाँ बलही (बरही) का 'बरोही' हो गया है। इसी प्रकार—

'कलिकाल महाबीर महाराज महिमेवाने।'

यहाँ 'महिमावान' का 'महिमेवाने' किया गया है। अतएव 'सहर्ष' का 'सहरोसा' हो गया।

पं० विश्वनाथप्रसाद जी 'सहर्ष' का अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'अवध में प्रसन्नतापूर्वक कुछ देते समय 'सहरोस देना' बोला जाता है। अतः 'सहरोसा' सहर्ष का विकृत रूप हुआ और इस अर्थ के ग्रहण करने से अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है।'[४] हरिहरप्रसाद जी लिखते हैं कि—'सहरोसा कहैं हर्षपूर्वक विरोध लच्छना करि रोस का अर्थ हर्ष जानना वा प्राकृत में सहरोसा शब्द हर्षवाची है।'[५] ग्राउस महोदय ने भी 'प्रसन्नतापूर्वक' (ग्लैडली) अर्थ किया है।[६] श्री अवधबिहारी दास[७], रामेश्वर भट्ट[८], श्यामसुन्दरदास[९], पोद्दार जी[१०] और तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक[११] ने भी 'हर्ष के साथ' अर्थ किया है।

---

१. मा० पी०, बाल०, खं० ३, पृ० १२७
२. वि० टी०, पृ० ४७
३. वि० टी०, प्र० भा०, पृ० ३५८
४. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गोसाईं तुलसीदास, पृ० १५४-५६
५. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १४४
६. "आस्क ऑव् मी लैंड, कैटल, गुड्स, एंड ट्रेजर, एंड आई विल ग्लैडली गिव यू आल आई हैव, एटवन्स"—द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० १०४
७. मानस सटीक, पृ० २२८
८. रामा० , पृ० २१८
९. मानस सटीक, पृ० १९७
१०. ,, ,, पृ० २०६
११. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २१२

यहाँ 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी 'प्रसन्नतापूर्वक' अर्थ निश्चित होता है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—

'हे मुनि ! पृथ्वी, गौ, संपत्ति और कोष माँगिये, मैं प्रसन्नतापूर्वक दे दूँ।'

'बिलखि'

सुनहुँ भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ ॥[१]

यहाँ पर 'बिलखि' शब्द के अर्थ में अर्थ-विपर्यय हो गया है। लाला भगवानदीन जी के अनुसार—इस शब्द का अर्थ 'व्याकुल होकर' न होना चाहिए, क्योंकि वशिष्ठ जी व्याकुल होते, तो ऐसे विवेकपूर्ण वचन न कह सकते। 'बिलखि' का अर्थ है—वि+लक्ष्य=विशेष लक्ष्य करके, विवेकपूर्वक।[२] गुरु का अनुसरण करते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद जी अर्थ करते हैं कि 'वसिष्ठ ऐसे विज्ञानी ऋषि का 'रोना' अनुचित भासता है और रोकर 'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु विधि हाथ' ऐसी वैराग्यपूर्ण बात कहना भी संगत नहीं जँचता। अतः 'बिलखि' का 'विशेष रूप से लक्ष्य करके, अर्थात् खूब समझ-बूझकर' अर्थ न किया जाय, तो वशिष्ठ के लिए प्रयुक्त 'मुनिनाथ' विशेषण भी दोषपूर्ण ही समझिए।'[३] पं० विजयानंद त्रिपाठी[४], 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक[५], अवध-बिहारीदास जी[६] और मानसपीयूषकार ने अर्थ की उलझन से बचने के लिए 'बिलखकर' ही शब्द रख दिया है।

'बिलखि' का अर्थ 'विशेष रूप से लक्ष्य करके, विवेकपूर्ण और समझ-बूझ कर' मुझे कहीं नहीं प्राप्त हुआ। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ हिन्दी अथवा संस्कृत वि=(विपरीत)+लक्ष (=दिखाई देना=दुःख प्रकट करना) विलाप करना, रोना; २. दुःखी होना' है। दुःखी होने के अर्थ में उदाहरण-स्वरूप यही दोहा प्रस्तुत किया गया है।

विनायकराव जी[७] और पं० ज्वालाप्रसाद जी ने[८] इसका अर्थ 'व्याकुल

---

१. मानस २।१७०
२. मा० पी०, अयो०, पृ० ६४२
३. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७६
४. वि० टी०, अयो०, पृ० २४०
५. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५०७
६. मानस सटीक, पृ० ५०३
७. वि० टी०, अयो०, पृ० २५५
८. सं० टी०, पृ० ५५६

होकर' किया है। 'व्याकुल' अर्थ के कारण ही दीन जी ने इसका अर्थ 'विशेष लक्ष्य करके, विवेकपूर्वक' किया है। यहाँ पर 'व्याकुल' अर्थ युक्तिसंगत नहीं है। 'व्याकुल' का अर्थ 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में 'घबराया हुआ, विकल; २. बहुत अधिक उत्कंठित' दिया है।[1] गोस्वामी जी भी शोक और व्याकुलता में अन्तर स्वीकार करते हैं। यदि वे शोक और व्याकुलता में अन्तर न मानते, तो 'शोकाकुल' शब्द का प्रयोग कदापि न करते। परन्तु उन्होंने 'शोकाकुल' शब्द का प्रयोग किया है—'जरत सुर असुर नरलोक शोकाकुलं मुकुलचित अजितकृत गरल पानं।'[2] अतः यहाँ पर 'व्याकुल' अर्थ असंगत है। मिश्र जी का तर्क है कि वशिष्ठ ऐसे विज्ञानी ऋषि का ''रोना' अनुचित भासता है। स्मरणीय है कि इस प्रसंग में 'बिलखि' शब्द का अर्थ 'रोना' किसी भी टीकाकार ने नहीं किया है। यदि किसी ने किया भी हो, तो वह 'रोने' के अर्थ में संगत नहीं है। मात्र दुःखी होना ही अभीष्ट अर्थ है।

इसका प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है—

सीता मातु सनेहबस बचन कहै बिलखाइ॥[3]
सबइ सुमन बिकसत रबि निकसत, कुमुद-बिपिन बिलखाई।[4]
भरत मातु पहिं गइ बिलखानी।[5]

आश्चर्य है कि गुरु-शिष्य दोनों ने ऐसे अल्पप्रचलित अर्थों के कारण ही खींचतानपूर्वक अर्थ किया है। अब यदि यह कहा जाय कि मुनिनाथ को दुःखी होने का भी अधिकार नहीं है, तो कृपया इस दोहे के ऊपर की अर्धाली को लें, जिसमें 'ज्ञानी मुनि' को शोक और स्नेह में डूबा हुआ कहा गया है—

बहुरि लषन सिय प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी॥[6]

गोस्वामी जी ने वसिष्ठ जी के लिए ही नहीं, जनक जी के लिए भी 'बिलखाइ' शब्द का प्रयोग किया है—

भोरेहुँ भरत न पेलिहहिं मनसहुँ राम रजाइ।
करिअ न सोचु सनेह बस कहेउ भूप बिलखाइ॥[7]

---

१. दे०, पृ० ६१३
२. विनय० ११
३. मानस १।२५५
४. गीता० १।१
५. मानस २।१३।५
६. मानस २।१७०।८
७. वही २।२८८

वैराग्य या विवेक पूर्ण वाक्य दुःख की स्थिति में ही प्रायः कहे जाते हैं। विशेषतः सान्त्वना देते समय रावण-पक्ष में भी ऐसी स्थितियाँ मिलती हैं—

सुनि दसकंधर बचन तब कुंभकरनु बिलखान।
जगदंबा हरि आनि अब सठु चाहत कल्यान ॥[१]

यहाँ पर 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से 'दुःखी होकर' अर्थ हीं तर्कसंगत है। गौड़ जी का मत है—'बिलखि' का अर्थ 'दुःखी होकर' ही प्रसंगानुसार अधिक उपयुक्त है और साधारण रूढ़ि भी इसी अर्थ की पोषक है। विधाता के पुत्र वशिष्ठ जी की भी एक न चली, वह भी न सँभाल सके, इसके लिए इस प्रसंग पर वह 'बिलख' कर कहते हैं। 'विलक्ष्य' अर्थ करना विलक्षण हैं।[२] प्राचीन टीकाकार श्री रामचरणदास ने भी इसका अर्थ 'शोच करके' किया है।[३] श्री रामेश्वर भट्ट का 'गंभीर होकर' अर्थ भी मनमाना है।[४] पंजाबी जी[५], ग्राउस महोदय[६], श्रीकांतशरण जी[७] और पोद्दार जी ने[८] भी 'दुःखी होकर' अर्थ किया है। बाबा हरिहरप्रसाद जी और अनेक महानुभावों ने भी 'दुःखी होकर' ऐसा अर्थ किया है।[९] अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—

'मुनिनाथ वसिष्ठ जी ने दुःखी होकर कहा—भरत ! सुनो—भावी बड़ी शक्तिशाली है, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, सब विधि के हाथ हैं। अर्थात्, मनुष्य के हाथ में यह बातें नहीं हैं।'

'साँइ दोहाई

संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलउँ तजि ताही ॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पापसिरोमनि साँइ दोहाई ॥[१०]

इस चौपाई के चौथे चरण के अर्थ में विपर्यय हो गया है। विजयानंद

१. मानस ६।६२
२. मा० पी०, अयो०, पृ० ६४३
३. रामा० सटीक, पृ० ६५२
४. मानस सटीक, पृ० ५३५
५. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ११६
६. "दस सैडली स्पोक द प्रिंस ऑव् सेजेज"—द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० २५८
७. मानस, सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० १२१६
८. मानस सटीक, पृ० ४७०
९. मा० पी०, अयो०, पृ० ६४२
१०. मानस २।१८५।३-४

त्रिपाठी जी ने गोल-मटोल शब्द 'स्वामि दोहाई' ही लिख दिया है।[१] मनमाना पाठांतर करने वाले ज्वालाप्रसाद जी ने 'आपशिरोमणि' पाठ स्वीकार करके अर्थ किया है—'मुझको अपने शिरोमणि स्वामी की दोहाई है।'[२] अवध-बिहारीदास जी ने 'दोहाई' अर्थ किया है। उनके अनुसार—मैं स्वामी की दोहाई देकर कहता हूँ कि मैं पापियों में शिरोमणि हो जाऊँगा।[३] रामेश्वर भट्ट जी[४], विनायकराव जी[५], श्यामसुन्दरदास जी[६] और रामनरेश त्रिपाठी जी[७] ने अर्थ किया है कि—'मैं स्वामी की सौगंध खाकर कहता हूँ कि मैं पापियों का सरदार (शिरोमणि) कहलाऊँगा।' श्री रामचरणदास[८] और वीरकवि जी[९] ने दोहाई का अर्थ 'द्रोह' तो किया है, किन्तु 'पापसिरोमनि' का अर्थ 'पापियों का शिरोमणि' किया है। उपर्युक्त टीकाकारों के साथ विनायकी टीकाकार[१०] ने भी 'पापसिरोमनि' का अर्थ 'पापियों में शिरोमणि' किया है। किन्तु 'पापापसिरोमनि' पाठ से यह अर्थ हो सकता है, 'पापसिरोमनि से नहीं। 'पाप सिरोमनि' का अर्थ 'पापों में ऊँचा या बड़ा पाप' होगा।

यहाँ पर 'दोहाई' का अर्थ 'दोहाई (घोषणा) या सौगंध' बिल्कुल असंगत हैं। 'शपथ' का कोई प्रयोजन भी नहीं है। दूसरे यह अर्थ प्रसंग के प्रतिकूल है। 'तौ परिनाम न मोरि भलाई' के पश्चात् यह कहना कि 'मैं स्वामी की सौगंध खाता हूँ, मैं पापियों में शिरोमणि हूँ 'तर्कसंगत नहीं है। यहाँ पर इस भाव की चौपाई होनी चाहिए कि मगर, घोड़े, हाथी, महल और कोषादिकों की बिना सुव्यवस्था किये प्रस्थान करना अनुचित ही नहीं, बहुत बड़ा पाप है। 'करइ स्वामि हित सेवकु सोई' से भी इसी भाव की पुष्टि होती है।

अतः यहाँ 'दोहाई' का अर्थ 'द्रोह' होना चाहिए। 'साँइ द्रोहाई' पाठ कहीं नहीं मिलता है। सभी ने निर्विवाद रूप से 'साँइ दोहाई' पाठ स्वीकार किया

---

१. वि० टी०, अयो०, पृ० २६४
२. सं० टी०, पृ० ५७०
३. मानस सटीक, पृ० ५५५
४. ,, ,, पृ० ४७
५. वि० टी०, पृ० २७८
६. मानस सटीक, पृ० ५१५
७. ,, ,, पृ० ५८५
८. रामा०, पृ० ६६७
९. मानस, पृ० ६४८
१०. मा० पी०, अयो०, पृ० ६८७

है। यह कहना भी समुचित नहीं है कि गोस्वामी जी ने 'साइँ' के साथ 'द्रोह' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। ऐसे प्रयोग कई स्थलों पर प्राप्त हुए हैं—

हौं समुझत साँई-द्रोहि की गति छार-छिया रे ॥[१]
स्वामी की सेवक-हितता सब, कछु निज साँइ-द्रोहाई ॥[२]

गोस्वामी जी ने पयाग और प्रयाग, पेम और प्रेम का दोनों प्रकार से प्रयोग किया है—

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयेउ भूप मनु मनहुँ पयागू ॥[३]
जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिँ तुम्हरे अनुरागा ॥[४]
का कियो जोग अजामिल जू, गनिका कबहीं मति पेम पगाई ?[५]
प्रेम प्रमोद परस्पर प्रगटत गोपहिं।[६]

इसी प्रकार उन्होंने 'द्रोह' और 'दोह' का दोनों प्रकार से प्रयोग किया है। यहाँ 'दोहाई' 'द्रोहाई' का घिसा हुआ रूप है। जिस प्रकार 'क्रोध' से 'कोह' हो गया है, उसी प्रकार 'द्रोह' से 'दोह'। भरत जी ने स्वयं को 'स्वामिद्रोही' कहा भी है—जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही।[७] 'स्वामि-द्रोह' अर्थ से 'पापसिरोमनि' शब्द की भी संगति भी बैठ जाती है। हरिहरप्रसाद जी[८], ग्राउस महोदय[९], पंजाबी जी[१०], पोद्दार जी[११], मानसपीयूषकार[१२] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने[१३] अर्थ किया है कि 'स्वामी की द्रोहाई

१. विनय० ३३
२. वही १७१
३. मानस २।२८५।५
४. वही २।२०७।५
५. कविता० ७।९३
६. जानकी० ९५
७. मानस २।२०४।१
८. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १०५
९. "टू इंज्योर वन्स वोन लार्ड इज क्राउनिंग सिन, पादटिप्पणी में—'दोहाई' हिअर वुड सीम टू वी नाट फार दुहाई, 'लैमेंटेशन', बट फार द्रोह, 'इंज्योरी"—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० २६४
१०. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० २११
११. मानस सटीक, पृ० ४८१
१२. मा० पी०, अयो०, पृ० १८६
१३. गोसाइँ तुलसीदास, पृं० १७७

(स्वामी का वैर-विरोध) सब पापों में बड़ी है।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। अतएव उपर्युक्त चौपाई का अर्थ होगा—'सब सम्पत्ति रघुनाथ जी की है। यदि बिना रक्षा का आयोजन किये त्याग कर चल दूँ, तो अन्ततः मेरा हित नहीं। 'स्वामिद्रोहिता महापाप है।' इसी प्रकार विनयपत्रिका के १४८वें पद में 'साइँ दोहाई' शब्द आया है। यहाँ पर भी वियोगी हरि जी[1], देवनारायण द्विवेदी जी एवं रामेश्वर भट्ट जी[2] ने 'दोहाई' का अर्थ 'शपथ' किया है।

कहौं कौन मुँह लाइ कै, रघुबीर गुसाईं।
सकुचत समुझत आपनी साब साइँ दोहाई।[3]

उक्त पंक्ति का अर्थ करना—कि 'हे रघुवीर! हे गोसाईं (स्वामिन्)! मैं कौन मुँह लगाकर (आप से कुछ) कहूँ? मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि अपनी सब समझ कर सकुचा रहा हूँ' अनर्थ करना है। मानस की उपर्युक्त चौपाई की भाँति प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ भी 'प्रकरण' नामक अर्थविनिश्चय के साधन से इस प्रकार निश्चित होता है—'अपनी सब स्वामिद्रोहिता समझ कर सकुचा रहा हूँ।' यहाँ अर्थसौष्ठव पर ध्यान देने पर 'द्रोहाई' अधिक उपयुक्त मालूम पड़ता है। जब-तक 'दोहाई' का 'द्रोहाई' अर्थ न किया जाय, तब-तक अर्थानुसंगति नहीं होती। श्रीकांतशरण जी[4], लाला भगवानदीन जी[5] और महावीर-प्रसाद मालवीय[6] ने भी 'द्रोह' ही अर्थ किया है। बैजनाथ जी ने 'दोहाई' को ज्यो-का-त्यों रख दिया है।[7]

सम्पूर्ण पद के अर्थ में विपर्यय

देखो देखो बनु बन्यो आजु उमाकंत। मनो देखन तुम्हहिं आई रितु बसंत॥
मानो तनु दुति चंपक कुसुम माल। बर बसन नील नूतन तमाल॥
कल कदलि जंघ पद कमल लाल। सूचति कटि केहरि गति मराल॥
भूषन प्रसून बहु बिबिध रंग। नूपुर किंकिनि कलरव बिहंग॥
कर नवल बकुल पल्लव रसाल। श्रीफल कुच कंचुकि लता जाल॥
आनन सरोज कच मधुर पुंज। लोचन बिसाल नव नील कंज॥

१. विनय०, पृ० २६०
२. ,, पृ० २१८; विनय०, पृ० २१४
३. ,, पृ० १४८
४. सि० ति०, पृ० १००५
५. विनय०, पृ० २६१
६. ,, पृ० २०४
७. ,, पृ० २७७

पिक बचन चरित बर बरहि कीर। सित सुमन हास लीला समीर॥
कह तुलसिदास सुनि सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रचै पंचबान॥
करि कृपा हरिअ भ्रम फंदु कामु। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि रामु॥[१]

बाबू शिवप्रकाश[२], बैजनाथ जी[३], रामेश्वर भट्ट जी[४], देवनारायण द्विवेदी जी[५], वियोगी हरि जी[६], गयाप्रसाद जी[७], वीरकवि जी[८], पोद्दार जी[९], लाला भगवानदीन जी[१०], पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[११] आदि टीकाकारों ने इस पद में शिवजी के अर्द्धनारी नटेश्वर गौरीशंकर रूप की वंदना होना स्वीकार किया है और इसी से उन लोगों ने पार्वती जी का वसंत से रूपक बाँधा है। किन्तु यह अर्थ यहाँ पर सर्वथा असंगत, भ्रमपूर्ण और अनुपयुक्त है। गोस्वामी जी ने पार्वती और सीता का नखशिख-वर्णन अपने मुख से कहीं नहीं किया है। पार्वती और सीता के प्रति जिसका भाव इस प्रकार है—

जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी॥[१२]
सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी॥[१३]

वह माता के जंघा, स्तन आदि अंगों का वर्णन नहीं कर सकता। प्रस्तुत पद को पढ़ने से यही विदित होता है कि यहाँ वसंत को एक नायिका के रूप में विचित्र करके उसके नायक कामदेव से रक्षा करने की प्रार्थना कामारि शिव से की जा रही है। यहाँ बनी-ठनी नायिका वसंत बने-ठने वन को 'देखने' आयी है। वसंत से कामोद्दीपन होता भी है। शिवजी 'कामरि' हैं और काम ने ही भक्त पर आक्रमण किया है। अतः अन्त में कवि प्रार्थना करता है कि

१. वि० पी० १४, खं० १, पृ० २०७
२. विनय०, पृ० १७-१८
३. ” पृ० ३२-३३
४. ” पृ० १८
५. ” पृ० २०
६. ” पृ० ६४
७. ” पृ० १६
८. ” पृ० १७-१८
९. ” पृ० ३०
१०. वि० पी०, खं० १, पृ० २१०-११
११. वही, पृ० २१०-११
१२. मानस १।१०३-४
१३. वही १।२४६।१

कृपया काम को हर लें। यथा—तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भएउ जरि छारा।[१] 'जगत मातु' का नखशिख-वर्णन करके उससे अपने में कामोद्दीपन कहना महापाप है। यहाँ केवल शिव की वंदना है। 'उमाकंत' संबोधन है। 'मनो देखन तुम्हहिं आई रितु बसंत' से भी यही सूचित होता है कि ऋतु वसंत देखने आयी है। 'सुनि सिव सुजान' भी इसी को प्रमाणित करता है। जो देखने आयी है, उसी का नखशिख-वर्णन है। पार्वती जी की वंदना इसके बाद चौथे द्वार पर की गयी है जहाँ वह स्थित हैं। अर्द्धनारीश्वर रूप की वंदना पद १० में है—भस्म सर्वांग अर्द्धांग शैलात्मजा।[२]

गीतावली में भी एक पद इसी प्रकार है। वहाँ भी उपक्रम और उपसंहार लगभग ऐसा ही है। वहाँ भगवान् राम से काम के प्रपंच के विषय में कहा है कि जिसकी रक्षा श्रीराम जी ने की, उसी को कामदेव ने छोड़ा। उदाहरणार्थ—

आजु बन्यो है बिपिन देखो, रामधीर। मानो खेलत फागु मुद मदन बीर॥

× × × ×

कहत तुलसिदास तेहि छाँड़ मैन। जेहि राख राम राजीव नैन॥[३]

ऋतु-पति आए भलो बन्यो बन समाज। मनो भए हैं मदन महाराज आज॥[४]

इसी प्रकार मानस में भी कहा गया है—

भूप बागु बर देखउ जाई। जहँ बसंत ऋतु रही लोभाई॥[५]

अतएव उक्त पद का अर्थ होगा—'हे उमापति! देखिये-देखिये, आज वन कैसा सुशोभित है? ऐसा प्रतीत होता है कि मानो तुम्हारे दर्शन हेतु वसंत ऋतु आयी है। (अब वसंत ऋतु का वर्णन नायिका-रूप में करते हैं।) चंपा के पुष्पों की पंक्तियाँ ही उसके शरीर की कान्ति हैं। नवीन तमाल वृक्ष (मानो उसके चंपक वर्ण पर सुशोभित) श्रेष्ठ श्यामल वस्त्र अर्थात् साड़ी है। सुन्दर केले जंघाएँ हैं। लाल कमल (रक्ताभ तलवे वाले) चरण हैं। कटि सिंह की ओर और गमन हंस की ओर संकेत कर रहे हैं। विभिन्न वर्णों वाले अनेक पुष्प ही उसके आभूषण हैं। (श्रुतिमधुर) सुन्दर शब्द वाले पक्षी पाजेब और क्षुद्र घंटिका हैं। मौलसिरी और आम के नवीन (कोमल चिकने) पत्ते (सुकोमल दोनों) हाथ हैं। बेल या नारियल स्तन हैं और लताओं-का जाल चोली है। कमल मुख है

१. मानस १।८७।६

२. विनय० १०

३. गीता० २।४८

४. वही २।४६

५. मानस १।२२७।३

भ्रमरों का समूह केश है। नवीन नील कमल बड़े-बड़े नयन हैं। कोयल बचन और सुन्दर मोर एवं तोते उसके चरित्र हैं। श्वेत पुष्प हँसी और (त्रिविध) समीर लीला है। (इस प्रकार से बनी-ठनी वसंत-रूपी नायिका आपके दर्शनार्थ पधारी है।) तुलसीदास कहते हैं कि हे सुजान शिवजी! सुनिये— कामदेव ने मेरे हृदय में निवास करके मधुर ऋतु-रूपी रमणी के सौंदर्य द्वारा मेरे मन में जो विकार उत्पन्न किये हैं, कृपया उस काम को हर लें जो कि भ्रम का आदि कारण है जिससे सुखनिधान श्री रामचन्द्र जी मेरे हृदय में निवास करें।'

यहाँ पर यही अर्थ तर्कयुक्त है। प्रसंग और कविप्रयोग आदि की दृष्टि से भी यही उपयुक्त बैठता है। साहित्यवाचस्पति महात्मा अंजनीनंदनशरण जी एवं श्रीकांतशरण जी ने अपनी विचार-प्रक्रिया से यही अर्थ किया है।[1] प्रकरण, औचित्य और युक्तिसंगत नामक अर्थविनिश्चय के साधनों से यही अर्थ निश्चित होता है।

'पीर पराई'

समरथ सुभी जो पावई बीर पीर पराई।
ताहि तकैं सब ज्यों नदी बारिधि न बुलाई॥[2]

बैजनाथ जी[3], रामेश्वर भट्ट जी[4], वियोगी हरि[5] और पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[6] आदि कई टीकाकारों ने 'पीर पराई' का अर्थ—'उसकी सब पीड़ा भाग जाती है' किया है। बाबू शिवप्रकाश[7], गयाप्रसादजी[8], वीरकवि जी[9] और देवनारायण द्विवेदी जी[10] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'यदि समर्थ, मंगलरूप और दूसरों की व्यथा दूर करने में बहादुर स्वामी मिल जाते हैं, तो

---

१. विनय०, सि० ति०, पृ० ६८
२. वि० पी० ३५, खं० १, पृ० १४०
३. विनय०, पृ० ५३
४. ,, पृ० ५१
५. ,, पृ० १३०
६. ,, पृ० ३६
७. ,, पृ० ५३
८. ,, पृ० ५५
९. ,, पृ० ४६
१०. ,, पृ० ६२

उन्हें सब लोग वैसे ही देखते हैं, जैसे नदी बिना बुलाये ही समुद्र की ओर दौड़ती है।' दीन जी के अनुसार—'सच्चा शुभैषी तो वही है जो सामर्थ्यवान् होकर भी दूसरे की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझे।'[1] पोद्दार जी का अर्थ देवनारायण द्विवेदी आदि टीकाकारों की भाँति है।[2] श्रीकांतशरण जी[3] और तुलसी-ग्रंथावली के संपादक महोदय[4] ने 'बीर' को सम्बोधन स्वीकार करके शेष अर्थ लगभग उपर्युक्त टीककारों की भाँति किया है।

यहाँ पर 'पीर पराई' का अर्थ 'उसकी सब पीड़ा भाग जाती है' बिल्कुल असंगत है। ऐसा अर्थ करने वाले टीकाकारों ने सामान्य एवं प्रचलित अर्थ को छोड़कर असामान्य एवं अप्रचलित अर्थ क्यों किया, इसका कोई कारण भी नहीं दिया है जो और भी विचित्र लगता है। कविप्रयोग की दृष्टि से यह अर्थ प्रमाणित नहीं होता। गोस्वामी जी ने लगभग ऐसा ही प्रयोग मानस में भी किया है—

करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराईं।[5]

अतएव यहाँ पर 'पीर पराई' का अर्थ 'दूसरे की पीड़ा' ही है। सम्बोधन मात्र 'वीर!' का ही नहीं, 'हे वीर समर्थ हितकारी!' का होना चाहिए। जैसा कि महात्मा अंजनीनंदनशरण[6] और उपर्युक्त कतिपय टीककारों ने किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'हे वीर समर्थ हितकारी! जो पराई पीर पाता है, अर्थात् दूसरे की पीड़ा देख स्वयं दुःखी हो जाता है, उसकी ओर सब लोग इस प्रकार देखा करते हैं, जैसे नदी समुद्र को।' समुद्र नदी को बुलाता नहीं, अर्थात् जैसे नदियाँ बिना बुलाये अपने से समुद्र की ओर दौड़ी जाती हैं, वैसे ही दयावान् के पास सभी बिना बुलाये दौड़े जाते हैं। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है।

'गारो'

जौं कलिकाल प्रबल अति हो तो तुअ विदेस ते न्यारो।
तौ हरि रोष भरोस दोष गुन तेहि भजते तजि गारो।[7]

---

१. विनय० पृ० २३
२. ,, पृ० ६२
३. वि०, सि० ति०, पृ० १६५
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ६१३
५. मानस २।८५।२
६. वि० पी०, खं० १, पृ० १४२
७. वि० पी०, खं० ३, पृ० ९५६

बैजनाथ जी इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि—'जो कलिकाल अत्यंत प्रबल महाबलवान हो तो तुव निदेश अपनी आज्ञा से न्यारा एवं स्वइच्छित कार्य करता हो तो हम ऐसा करते कि जो आपका भरोसा रख आपके गुण गाते हैं उस पर कलियुग बाधक हुआ इस हेतु उस पर रोष करे उसके दोष कहते हैं सो परिहरि त्यागकर पुनः 'गारो' तजि अपनी गंभीरता छोड़ अमान हो उस कलिकाल ही को भजते फिर आपको क्यों भजते उसी का भरोसा रखते।'[१] हरिहरप्रसाद जी[२] और वियोगी हरि जी[३] ने इसका अर्थ इस प्रकार से किया है—'हम लोग तुम्हारी आशा छोड़ देते, तुम्हारा गुणगान भी न करते और क्रोध कर उस बेचारे को जो भला-बुरा कहते हैं सो भी न कहते बस सब झंझट छोड़-छाड़कर उसका भजन करते हैं।' लगभग ऐसा ही अर्थ रामेश्वर भट्ट का है।[४] मयाप्रसाद जी के मत से—'हे हरि ! लाज छोड़कर उसी के क्रोध भरोसा, दोष और गुणों को मानते।'[५] पं० सूर्यदीन शुक्ल के अनुसार—'हे राम ! क्रोध, भरोसा, दोष-गुण के झगड़े (गारो) छोड़ उसे ही भजता।'[६] देवनारायण द्विवेदी जी के मतानुसार—'हे हरे ! मैं सब प्रतिष्ठा छोड़कर (अर्थात् बदनामी सहते हुए भी) उसके क्रोध करने पर भी उसका भरोसा रखकर तथा उनके दोषों को गुण समझकर उसी को भजता।'[७]

वियोगी हरि की भाँति पोद्दार जी[८] और श्रीकांतशरण जी[९] 'गारो' का अर्थ 'झंझट' करते हुए लिखते हैं कि—'हे हरे ! हम आपका भरोसा और गुणगान छोड़कर तथा उस पर क्रोध करने तथा दोष लगाने का झंझट त्याग कर उसी का भजन करते।' वीरकवि जी के अनुसार—'आपके गुणों का भरोसा छोड़ इसका गर्व त्याग कर उसी का भजन करते।'[१०] लाला भगवानदीन जी के अनुसार—'हे हरि ! मैं अपने गौरव को भूलकर, आपकी आशा को

---

१. विनय० सटीक, पृ० १७६
२. वि० पी०, खं० ३, पादटिप्पणी, पृ० ६५७
३. विनय० सटीक, पृ० २५३
४. ,, ,, पृ० १४१
५. ,, ,, पृ० १५३
६. ,, ,, पृ० १०६
७. ,, ,, पृ० १८०
८. ,, ,, पृ० १६६
९. विनय०, सि० ति०, पृ० ६१३
१०. विनय०, सटीक, पृ० १३९

छोड़कर कलियुग के प्रति जो क्रोध है तथा उसके गुण-दोष को छोड़कर उसी का भजन करता, अर्थात् पापपूर्ण पथ पर चलता।'[1] श्रीकांतशरण जी ने 'हरि' का अर्थ हरण किया है और सब लोगों ने 'हरि' को सम्बोधन माना है।[2]

उपर्युक्त टीकाकारों के अर्थों को देखने से स्पष्ट होता है कि अर्थानुसंगति के लिए लोगों ने मनोनुकूल अन्वय किया है। 'गारो' का अर्थ 'लाज, झंझट और झगड़ा' मुझे कहीं नहीं प्राप्त हुआ। अतएव ये सब आरोपित अर्थ हैं। गारो शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सं० गर्व>प्राकृत गारव>हिन्दी गारो। इसका अर्थ है—गर्व, घमंड और अहंकार।[3] 'औचित्य' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से इसका अर्थ इस प्रकार होगा—'यदि कलिकाल (आपसे) अत्यंत बलवान और आपका आज्ञाकारी न होता, तो हे हरि ! मैं अपने अभिमान को छोड़कर उसके क्रोध को सहन करता, उसी का भरोसा करता, उसके दोषों को भी अंगीकार करता और उसी का गुणगान करता।' भक्त का सारा अभिमान स्वामी के अभिमान में समाहित हो जाता है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें॥[4]

श्री रामचन्द्र का सेवक होना गौरव की बात है—

सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥[5]

अतएव यहाँ पर उपर्युक्त अर्थ ही तर्कसंगत है। विनयपीयूषकार ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।[6]

'प्रभु को परिहर्‌यो'

बिरुदावली बिलोकिए तिन्ह में कोउ हौं हौं।
तुलसी प्रभु को परिहर्‌यो सरनागत सो हौं॥[7]

बैजनाथ जी[8], रामेश्वर भट्ट जी[9], वियोगी हरिजी[10] और दीन जी[11] ने

१. विनय० सटीक, पृ० ७४
२. वि० पी०, खं० ३, पृ० ९६४
३. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० २६६
४. मानस ३।११।२१
५. वही ६।२२।१
६. वि० पी०, खं० ३, पृ० ९५७
७. विनय० १५०
८. विनय० सटीक, पृ० २९१-९२
९. ,, ,, पृ० २१७
१०. ,, ,, पृ० ३६६
११. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० १३७

इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'(कदाचित् विरुदावली में कहीं सम्बन्ध न मिलने से आप मुझे त्याग दें तो) प्रभु का त्याग हुआ तुलसी सामने शरणागत होकर पड़ा रहूँगा (अन्यत्र न जाऊँगा, तब तो कृपा करनी ही पड़ेगी)।' बाबू शिवप्रकाश जी और श्री भगवान सहाय जी ने उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—'प्रभु से त्यक्त होने पर भी तुलसी शरण में प्राप्त होकर सम्मुख ही रहेगा। अथवा, यदि किसी विरुदावली में न स्थान पाने योग्य निश्चित होऊँ, तो मैं बताता हूँ कि मैं तो शरणागत तुलसी हूँ जिसने आपसे प्रभु को छोड़ दिया है, अर्थात् आप जैसे स्वामी से विमुख है।'[१] वीरकवि जी के अनुसार—'दास न सही तो सन्मुख शरण आया हुआ तुलसी आपके द्वारा त्यागा जीव है।' यहाँ सम्बन्ध सूचित करने की व्यंजना है कि दास का सम्मान नहीं प्राप्त है; किन्तु आपसे तिरस्कृत होने का नाता तो अवश्य है। तुलसी आपको छोड़कर अब अन्यत्र नहीं जा सकता। यह गूढ़ व्यंग्य है।[२] गयाप्रसाद जी के अनुसार—'हे प्रभु ! शरणागत सोंहे से (साम्हने से) तुलसीदास को क्यों छोड़ते हो।'[३] देवनारायण द्विवेदी जी का अर्थ वियोगी हरि जी की ही भाँति है।[४] पं० सूर्यदीन शुक्ल के मत से—'(अपनी) कीर्ति-पंक्ति में देखो, उनमें मैं भी कोई हूँ। तुलसी परब्रह्म को छोड़ (तुम्हारे) सामने शरण हैं।'[५]

उपर्युक्त अर्थों से स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने उक्त पंक्ति के शब्दों का अर्थ न करके मनोनुकूल, ऊटपटांग अर्थ किये हैं। समुचित अर्थ की संगति न होने के कारण ही अर्थ-विपर्यय हुआ है। यहाँ पर को=किये, परिहर्यो=त्याग दिया, सरनागत सोहौं=सम्मुख शरण में आए हुए। 'सम्मुख' अर्थ में 'सौहों' का प्रयोग कवितावली में भी हुआ है—तोहिं लाज न गाल बजावत सौहों।[६]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'आप अपनी कीर्ति-पंक्ति पर दृष्टिपात करिये, उसी में मैं भी कोई हूँ। तुलसीदास जी कहते हैं कि सम्मुख शरण में आए हुए किसे प्रभु ने त्याग दिया, अर्थात् किसी को भी तो नहीं। 'युक्ति-

---

१. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० १३७
२. विनय० सटीक, पृ० २०७
३. " " पृ० २२६
४. " " पृ० २६६
५. " " पृ० १६६
६. कविता० ६।१३

संगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत है। श्री रामचन्द्र जी का तो सिद्धान्त है—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि ॥[१]
कोटि बिप्र बध लागहि जाहू। आएँ सरन तजउँ नहि ताहू ॥[२]
सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कौन दुराउ।
सब बिधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाँउ।
आयौ सरन भजौं, न तजौं तिहि, यह जानत रिषिराउ।[३]

भरत जी को भी विश्वास है—

तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ॥[४]

कविप्रयोग की दृष्टि से भी यही अर्थ तर्कसंगत है। विनयपीयूषकार ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।[५]

'गुन गरुआई'

नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई।
ऐसेहुँ पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई ॥[६]

प्रस्तुत पंक्ति के 'गुन गरुआई' के अर्थ में टीकाकारों ने उलटफेर कर दिया है। बैजनाथ जी[७], वियोगी हरि जी[८] और रामेश्वर भट्ट जी[९] इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'ममत्व और शील-गंभीरता दिखाई, अथवा उसके करतब का बड़ा एहसान माना।' पं० सूर्यदीन शुक्ल के अनुसार—'ऐसे भी पिता से ज्यादा जटायु पर ममता की कि उसके गुण गरुवाने लगे।'[१०] पोद्दार जी का अर्थ

---

१. मानस ५।४३
२. वही ५।४४।१
३. गीता० ५।४५
४. मानस २।१८२।४
५. वि० पी०, खं० ४, पृ० १३७
६. विनय० १६४
७. „ सटीक, पृ० ३१५
८. „ „ पृ० ३६०
९. „ „ पृ० २३३
१०. „ „ पृ० १८३

वियोगी हरि जी की ही भाँति है।[१] वीरकवि जी के अनुसार—'अपनता के प्रभाव का भारीपन दिखाया।'[२] लाला भगवानदीन जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'जटायु के प्रति अपने प्रेम और बड़प्पन का भाव दर्शित किया।'[३] हरिहरप्रसाद और पं० रामकुमार जी का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—'उस पर ममता गुण और गरुआई दिखाए।' 'ममता की और पिता से (पिता की अपेक्षा) गुण और गरुआई भी अधिक माना।'[४]

उपर्युक्त अर्थों से स्पष्ट है कि टीकाकारों ने इसके अर्थ मनोनुकूल कल्पना करके किये हैं। उक्त पंक्ति का सीधा-सादा अर्थ इस प्रकार है—'गरुआई' शब्द सं० गुरु से बना है। हिन्दी गरुआ+ई (प्रत्यय)=गुरुता।[५] दशरथ जी ने प्रेम का पालन करके शरीर परित्याग कर चिरस्थायी कीर्ति की स्थापना की—ऐसे भी पिता से अधिक ममता गिद्धराज जटायु पर की। यह श्रीराम जी के गुणों का गुरुत्व है। लगभग यही अर्थ देवनारायण द्विवेदी[६] और विनयपीयूष-कार ने किया है।[७] औचित्य नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ उपयुक्त और संगत प्रतीत होता है।

'बड़े की बड़ाई, छोटे की छोटाई दूरि करै'

राम प्रीति की रीति आप नीके जनियत है॥
बड़े की बड़ाई, छोटे की छोटाई दूरि करै
ऐसी बिरुदावली बलि बेद मनियत है॥[८]

इसका अर्थ बैजनाथ जी इस प्रकार करते हैं—'पुनः सबल प्रतापवन्त कैसे हो कि बड़े जो सबल हैं उनको बड़ाई जो जबरई है तथा छोटे जो निर्बल हैं उनकी छोटाई जो भय शंका है इति दोनों को आपका प्रताप दूर करता है मैं बलि जाऊँ। ऐसी बिरिदावली वेदों में नियत गाई है, यथा—'नियतिर्विधिः' (इत्यमरः), अर्थात् ऐश्वर्य में वेद-विधि है कि ईश्वर के पास कोऊ छोटा बड़ा नहीं है जीव मात्र पर एक दृष्टि है तथा माधुर्य में वेद-विधि से विदित है कि

---

१. विनय० सटीक, पृ० २६८
२. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० २३०
३. वही
४. वही
५. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० २५६
६. विनय० सटीक, पृ० २८७
७. वि० पी०, खं० ४, पृ० २३०
८. विनय० १८३

आपके प्रताप से गाय बाघ एक घाट पर पानी पीते हैं। यथा—'बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥'[१] पं० सूर्यदीन शुक्ल ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'बड़े का महत्त्व, छोटे की निचाई दूर करती ऐसी (तुम्हारी) कीर्ति बलि जाऊँ वेद मानते हैं।'[२] वीरकवि जी ने तो विवाद से बचने के लिए पाठ ही परिवर्तित कर दिया है—'बड़े की बड़ाई करै, छोटे की छोटाई दूरि ऐसी बिरदावली सुब्रेद मनियत है।'[३] वियोगी हरि जी ने इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है—'हे रघुनाथ जी ! प्रीति की रीति आप ही भली-भाँति समझते हैं। बलिहारी ! वेद आपकी विरुदावली को इस प्रकार मान रहे हैं कि आप बड़ों का बड़प्पन, अभिमानियों का गर्व एवं छोटे की छोटाई अर्थात् अकिंचन दीन जनों की दीनावस्था दूर कर देते हैं।'[४] ऐसा ही अर्थ हरिहरप्रसाद जी[५], लाला भगवानदीन जी[६], रामेश्वर भट्ट जी[७], पोद्दार जी[८], देवनारायण द्विवेदी जी[९] और गयाप्रसाद जी[१०] ने किया है। श्रीकांतशरण जी ने बड़े-बड़प्पन से तात्पर्य ईश्वर के बड़प्पन से लिया है। वह भक्तों के निकट इतने छोटे बन जाते हैं कि क्या कहना।[११]

डॉ० वचनदेवकुमार ने पाठ तो नागरी प्रचारिणी सभा का स्वीकार किया है और अर्थ पं० महावीरप्रसाद मालवीय का[१२], जिनका कि भिन्न पाठ है। मालवीय जी का पाठ किसी भी संस्करण में नहीं प्राप्त होता।

उपर्युक्त अर्थों से स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने उक्त पंक्ति का अर्थ दो प्रकार से किये हैं—एक तो यह कि जो हरिविमुख अपने को मोहवश बड़ा मान बैठे हैं, उनके बड़प्पन को मिटा देते हैं। दूसरे अपने बड़े होने की बड़ाई

---

१. विनय० सटीक, पृ० ३४६-५०
२. ,, ,, पृ० २०३
३. ,, ,, पृ० २४२
४. ,, ,, पृ० ४२७
५. ,, ,, पृ० २६३
६. ,, ,, पृ० ३१४
७. ,, ,, पृ० २५५
८. ,, ,, पृ० २६५
९. ,, ,, पृ० ३१०
१०. ,, ,, पृ० २६७
११. विनय०, सि० ति०, पृ० ११७३
१२. तुलसी के भक्त्यात्मक गीता, पृ० १३६

को प्रेमियों के साथ प्रेम निबाहने में दूर कर देते हैं। किन्तु ये अर्थ असंगत हैं, क्योंकि उक्त पंक्ति के नीचे की पंक्तियों में मात्र छोटे की छोटाई का उदाहरण प्राप्त होता है। अतएव इसका अर्थ इस प्रकार होगा—

'हे राम जी ! आपको प्रीति की विधि अच्छी तरह विदित है। छोटे का छोटापन दूर कर देते हैं—यही बड़े का बड़प्पन है। बलिहारी है। ऐसी कीर्ति-पंक्ति वेद मान रहे हैं।' इसी की पुष्टि आगे की पंक्तियों से भी होती है—आपने गृद्धराज जटायु का श्राद्ध किया और भीलनी (शबरी) के फल खाये। यही तो छोटे का छोटापन दूर करना है। गोस्वामी जी जैसा सचेत कवि 'बड़े की बड़ाई, दूरि करैं' कहकर और इसका एक भी उदाहरण न देकर 'छोटे की छोटाई' का उदाहरण देगा, ऐसा असम्भव है। कवि तो इसी 'बड़े के बड़प्पन' पर बलि-बलि जाता है—

> बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना अयन।
> बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बयन ॥[1]
> मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद।
> कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद ॥[2]

रघुनाथ जी ऐसी ही बात अपने पुरजनों से भी कहते हैं—

> नहिं अनीति नहि कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई ॥
> जौ अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई ॥[3]

'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत और उपयुक्त है। पं० सूर्यदीन शुक्ल का अर्थ लगभग इसी प्रकार है।

'क्यों बरहि जात'

> तदपि ह्वै निडर हौं कहौं, करुनासिंधु !
> क्यों बरहि जात सुनि बात बिन हेरे ॥[4]

'ऽब रहि जात' पाठ ना० प्र० सभा, गीता प्रेस एवं अन्य आधुनिक संस्करणों में प्राप्त होता है। 'अब रहि' पाठ सं० १८७६ की श्री प्रह्लाददास की पोथी और सं० १६१५ की श्री रामरतनदास लिखित पोथी का है।[5]

---

१. मानस २।१३५
२. वही ६।११७
३. वही ७।४३।४ और ६
४. विनय० २१०
५. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० ५८४

किन्तु सं० १६६६ वि० की श्री भगवान ब्राह्मण की लिखी प्रति, गजाधरदास की पोथी, श्री भागवतदास की प्रतिलिपि, बैजनाथ जी की टीका, रामेश्वर भट्ट जी की टीका और बाबू शिवप्रकाश की टीका में 'बरहि जात' पाठ है।[1] प्राचीनतम पाठ 'बरहि जात' है। अतः यहाँ पर यही पाठ स्वीकार्य है। 'बरहि जात' पाठ से अर्थानुसंगति न कर पाने के कारण ही 'ऽब रहि' या 'अब रहि' पाठ स्वीकार किया गया होगा। बैजनाथ जी लिखते हैं कि 'अब' शब्द का अकार (एदोतोत:) सूत्र से लोप हो गया है। इससे 'क्यों अब' का 'क्यों ब' रह गया है।[2] संभवतः इसी आधार पर आधुनिक सभी संस्करणों में 'क्योंऽब रहि' पाठ मिलता है। हिन्दी क्रियाविशेषण 'क्यों' के साथ संस्कृत 'ऽ' का प्रयोग कुछ अटपटा-सा लगता है।

'क्योंऽब' पाठ स्वीकार करके लाला भगवान दीन जी[3], पोद्दार जी, देवनारायण द्विवेदी जी और वियोगी हरि जी[4], बैजनाथ जी[5] और श्रीकांतशरण जी[6] ने 'कैसे रहा जाता है' अर्थ किया है। 'बरहि जात' पाठ स्वीकार करके गयाप्रसाद जी[7], रामेश्वर भट्ट जी[8] और विनयपीयूषकार[9] ने 'बहरा जाते हो या आनाकानी की जाती (बराया जाता) है' अर्थ किया है।

पं० सूर्यदीन शुक्ल जी 'बरहि' का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि 'तो भी मैं निर्भय हो कहता हूँ कि हे राम ! क्या मोर (बरहि) से हुई (आँखें) बिना देखने वाली की बात सुनी जा सकती है ?'[10]

'बरहि' का अर्थ 'बहरा' भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'बहरा' शब्द की व्युत्पत्ति सं० वधिर > प्रा० बहिर > हि० बहरा है। 'बहरा' से 'बरहि' शब्द बन ही नहीं सकता। अतः यह अर्थ भी असंगत है। यहाँ पर 'बरहि' का अर्थ 'मोर' भोंड़ी कल्पना है। 'बरहि' शब्द संस्कृत 'वारण' से बना है जिसका अर्थ

---

१. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० ५८४
२. विनय० सटीक, पृ० ४०२
३. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० ५८५
४. विनय० सटीक, पृ० ३४०, ३५३, ४८५
५. ,, ,, पृ० ४०२
६. ,, सि० ति०, पृ० १३०३
७. ,, सटीक, पृ० ३०१
८. ,, ,, पृ० २६४
९. वि० पी०, खं० ४, पृ० ५८४
१०. विनय० सटीक, पृ० २२७

है बराकर, अलगकर।[१] गोस्वामी जी ने मानस में भी इस शब्द का प्रयोग किया है—सीय राम पद अंक बराएँ। लषन चलहिं मगु दाहिन लाएँ ॥[२] अतएव उपर्युक्त आधार पर उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—

'तथापि मैं निर्भीकता के साथ कहता हूँ कि हे करुणासागर! मेरी प्रार्थना सुनकर बिना देखे आप क्यों अलग होते हैं (छोड़ते) हैं?' वीरकवि जी[३] और हरिहरप्रसाद जी ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।[४]

परन्तु यह अर्थ स्वाभाविक और सहज नहीं दिखाई देता। विशेषतः पूर्व पंक्ति की संगति को दृष्टि में रखने पर 'बदन फेरे' उदासीन राम के प्रति यह कहना ज्यादा स्वाभाविक लगता है कि 'हे कृपासिंधु! आपसे मेरी बात सुनकर भी अब क्यों बिना देखे रहा जाता है।' यहाँ अब (ऽब) का प्रयोग आवश्यक एवं साभिप्राय प्रतीत होता है। ब्रजभाषा के कवियों ने ओकारांत और एकारांत पदों के बाद अकार का लोप बहुधा किया है। तुलसी इसके अपवाद नहीं हैं। केशवदास ने ऐसा प्रयोग किया है—

दरसै हमकोऽब नहीं दरशाये।[५]

इस अर्थ को मानने में प्राचीन पाठ कोई असंगति नहीं आती, क्योंकि कहीं-कहीं 'ऽ' का लोप हो गया है और कहीं नहीं।

'जब जब जग जाल ब्याकुल करम काल'

जब जब जग जाल ब्याकुल करम काल
सब खल भूप भए भूतल भरन।[६]

इन पंक्तियों का अर्थ हनुमानप्रसाद पोद्दार जी[७], रामेश्वर भट्ट जी[८], महावीरप्रसाद मालवीय जी[९], लाला भगवानदीन जी[१०] और वियोगी हरि

---

१. तुलसी-शब्दसागर, पृ० ३२८
२. मानस, २।१३२।६
३. विनय० सटीक, पृ० २७४
४. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० ५८५
५. रामचन्द्रिका १४।७६
६. विनय० २४८
७. ,, सटीक, पृ० ३८९
८. ,, ,, पृ० ३९९
९. ,, ,, पृ० ३१०
१०. ,, ,, पृ० ४१७

जी[१] ने इस प्रकार किया है—'जब-जब आपके भक्त जगज्जाल में फँसकर दुखी हुए, काल और कर्म के वश में जा पड़े और पृथ्वी पर भारस्वरूप दुष्ट राजे हुए।' किन्तु उक्त पंक्ति से यह अर्थ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। उसमें कहा गया है—जब जब जगजाल कर्म और काल से व्याकुल हुआ।

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—

'जब-जब सारा विधि-प्रपंच (जग-जंजाल) कर्म और काल के वश में होकर व्याकुल हुआ और पृथ्वी का पालन करने वाले सब राजा दुष्ट और पृथ्वी के भारस्वरूप हुए।' 'जग जाल' का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है—जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू।[२] मानस में अन्यत्र इसी भाव की चौपाई है—

> जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
> करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥[३]

इस अर्थ में विप्र, धेनु और धरणी सभी समाविष्ट हैं। 'युक्ति-संगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निर्धारित होता है। तुलसी-ग्रंथावली के संपादक[४], बैजनाथ जी[५], देवनारायण द्विवेदी जी[६], पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[७], श्रीकांतशरण जी[८] और विनयपीयूषकार[९] ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।

'आजु लौं जो पाए दिन'

> बड़े कुसमाज राज आजु लौं जो पाए दिन
> महाराज केहूँ भाँति नाम ओट लई॥[१०]

---

१. विनय० सटीक, पृ० ५६१
२. मानस २।६२।६
३. वही १।१२१।६-७
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ७८८
५. बिनय० सटीक, पृ० ४६६
६. ,, ,, पृ० ४१०
७. ,, ,, पृ० २७१
८. ,, सि० ति०, पृ० १४७५
९. वि० पी०, खं० ५, पृ० ८४६
१०. विनय० २५२

बैजनाथ ने 'खोये दिन'[१] और लाला भगवानदीन जी ने 'पाये दिन' पाठ स्वीकार किया है।[२] इसके अनुसार उनका अर्थ भी ठीक है। किन्तु ना० प्र० सभा, गीता प्रेस और अन्य सभी आधुनिक संस्करणों में 'पाये दिन' पाठ मिलता है। 'पाये दिन' पाठ मान करके निम्नलिखित समस्त टीकाकारों ने इसका भिन्न-भिन्न अर्थ किया है—

पं० रामकुमार जी के अनुसार—'आज तक जो बचता गया, वह किसी प्रकार आपके नाम की ओट लेकर ही।'[३] रामेश्वर भट्ट जी के अनुसार—'आज तक के दिन तो पाये गए (अर्थात् गए बीते), पर हे महाराज ! ज्यों-त्यों करके अब तुम्हारे नाम का सहारा लिया है।'[४] बाबू शिवप्रकाश और श्री भगवान सहाय इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'आज तक जो जीवित रहा, कुसमाज रूपी शत्रुओं से मारा न गया, सो हे महाराज ! किसी प्रकार से आपके नाम की शरण ली।' 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक[५], वियोगी हरि जी[६], पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[७], श्रीकांतशरण जी[८] और हनुमानप्रसाद पोद्दार जी[९] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'आज तक जितने दिन बीते, वे सब व्यर्थ ही चले गए, अब किसी न किसी तरह आपके नाम का सहारा लिया है।' चरखारी टीकाकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'बड़े कुसमाज का राज्य अर्थात् आधिक्य है। हे महाराज ! जो आज तक मैं निबह आया हूँ सो किसी भाँति से नाम की ओट ली।'[१०]

वियोगी हरि जी, देवनारायण द्विवेदी जी, श्रीकांतशरण जी, पोद्दार जी और 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय आदि टीकाकारों ने बैजनाथ जी के पाठ का तो नहीं, किन्तु उनके अर्थ का अंधानुकरण किया है। इससे टीकाकारों की अनुकरण-प्रवृत्ति का आभास होता है। यह तो निर्विवाद है कि 'पाए

१. विनय० सटीक, पृ० ४७९
२. वि० पी०, खं० ५, पादटिप्पणी, पृ० ८८५
३. वही
४. विनय० सटीक, पृ० ३४२
५. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ७९१
६. विनय० सटीक, पृ० ५७२
७. ,, ,, पृ० २७६
८. ,, ,, पृ० १४९८
९. ,, ,, पृ० ३९७
१०. वि० पी०, खं० ५, पादटिप्पणी, पृ० २५२

दिन' प्राचीन ही नहीं, अपितु बहुसम्मत है। अतः यहाँ पर यही पाठ स्वीकार्य है। उपर्युक्त टीकाकारों के अर्थों को स्वीकार करने पर 'सो तो (वे सब) व्यर्थ ही चले गये'—ये शब्द 'जो' की पूर्ति के लिए अर्थ करने में बढ़ाने पड़ते हैं। रामेश्वर भट्ट जी ने 'जो' का अर्थ 'तो' किया है। 'पाए दिन' कोई बहुत कठिन शब्द नहीं है। किन्तु आश्चर्य होता है कि प्राचीन और अर्वाचीन सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ ऊटपटांग और क्लिष्ट कल्पना करके किया है। 'पाए दिन' का सीधा-सादा अर्थ है—जो दिन प्राप्त हुए या व्यवहार में आये। गोस्वामी जी ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग अन्यत्र किया है—

बिनय सनेह सों कहति सिय त्रिजटा सों

पाये कछु समाचार आरज सुवन के ?

पाये जू ! बँधायो सेतु, उतरे कटक कुलि[1]

अतः उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'हे महाराज ! इस महा कुसमाज के राज्य में आज तक जो दिन प्राप्त हुए (व्यवहार में आए), उनमें किसी तरह से नाम का आश्रय लिये रहा।' विनयपीयूषकार ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।[2]

'अब तें सकुचाहु सिहाहूँ'

तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिना हूँ।
नाम की महिमा सील नाथ को मेरो भलो
बिलोकि अब तें सकुचाहु सिहाहूँ ॥[3]

वियोगी हरि जी[4], पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[5], पोद्दार जी[6], रामेश्वर भट्ट जी[7], लाला भगवानदीन जी, हरिहरप्रसाद जी, वीरकवि जी[8], देवनारायण

---

१. कविता० ६।३
२. वि० पी०, खं० ५, पृ० ८८५
३. विनय० २७५
४. ,, सटीक, पृ० ६१८
५. ,, ,, पृ० २६४
६. ,, ,, पृ० ४३०-३१
७. ,, ,, पृ० ३६६
८. वि० पी०, खं० ५, पृ० १०४६

द्विवेदी जी,[1] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय[2], के अनुसार—'यह देखकर अब मैं (आपके सामने मन ही मन) संकोच और लज्जा का अनुभव करता हूँ और सिहाता हूँ।' दीन जी, वियोगी हरि जी और पोद्दार जी ने 'अब तें' का अर्थ 'अब' किया है। भट्ट जी ने 'तब से' वीरकवि जी ने 'अब तक' और देवनारायण द्विवेदी जी ने 'अभी से' अर्थ किया है। यहाँ पर यह अर्थ संगत नहीं लगता। इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—बिना प्रेम और विश्वास के भी आपका हो जाने से तुलसीदास सुखी हो गया। हे नाथ ! नाम के प्रताप और आपके शील-स्वभाव से मेरा हित (हुआ) देखकर अब वे लोग (जिन्होंने मेरा निरादर किया था) अब सकुचाते और प्रशंसा करते हैं। युक्तिसंगतता नामक अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ पर यही अर्थ तर्कसंगत लगता है, क्योंकि गोस्वामी जी ने प्रथम अपने कष्टों और उपेक्षा का वर्णन किया है, तत्पश्चात् राम के नाम के प्रताप से अब वे इतना आदरणीय हो गये कि लोग अपने पूर्व निरादरयुक्त वाणी का स्मरण करके संकोच करते हैं। गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी ऐसा ही प्रयोग किया है—

तुलसी से बाम को भी दाहिनो दयानिधान,
सुनत सिहात सब सिद्ध साधु साधको ॥[3]
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच बिधिहू गनक को ॥[4]

बैजनाथ जी[5], श्रीकांतशरण जी[6] और विनयपीयूषकार[7] ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।

'परिमिति पराधीन की'

प्रीति रीति समुझाइबी नतपाल कृपालुहि परमिति पराधीन की ॥[8]

बैजनाथ जी इसका अर्थ करते हैं—'पराधीन कलिप्रेरित कामादिकों के वश में पड़ा जो मैं उसको जो राम नाम में प्रीति की रीति है, उसकी

---

१. विनय० सटीक, पृ० ४४६
२. द्वि० खं०, अ० भा वि० परि०, काशी, पृ० ८० ५
३. कविता० ७।६८
४. वही ७।७३
५. विनय०, सटीक, पृ० ५१६
६. ,, सि० ति०, पृ० १५६४
७. वि० पी०, खं० ५, पृ० १०४६
८. विनय० २७८

परिमिति मर्यादा सो नतपाल कृपाल श्री रघुनाथ जी से समुझाकर कहना।'[१] गयाप्रसाद जी के अनुसार—'मुझ पराधीन को प्रमाण भी समझायबी।'[२] देवनारायण द्विवेदी जी[३], हरिहरप्रसाद जी, रामेश्वर भट्ट जी[४], पोद्दार जी[५] और वियोगी हरि जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'भक्तवत्सल दयालु रघुनाथ जी से मुझ परतंत्र जीव की प्रेम-पद्धति की हद को समझाकर कह देना।' 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय 'परिमित' का अर्थ 'सारी' करते हुए लिखते हैं कि—'मुझ पराधीन की सारी प्रीति-रीति भली-भाँति समझा दीजिएगा।' 'परिमिति' शब्द का प्रयोग पुरानी हिन्दी या काव्य में हुआ है। सं० पर+मिति=परमिति का अर्थ है—चरम सीमा या मर्यादा।[६] इसका 'सारी' और 'प्रमाण' अर्थ कहीं नहीं प्राप्त होता। अतः यह अप्रामाणिक है। यहाँ पर मर्यादा अर्थ भी अग्राह्य है। गोस्वामी जी जैसा दीन भक्त स्वयं अपने मुख से यह नहीं कह सकता कि 'मेरी प्रेम-पद्धति की हद को समझाकर कह देना।' इसके पूर्व जो रीति-प्रीति के साथ 'परिमिति' का प्रयोग है, वह शंकर जी, हनुमान जी, भरत जी और लक्ष्मण जी के लिए है—

> साहिब-सेवक रीति प्रीति परिमिति नीति
> नेम को निबाह एक टेक न टरत॥[७]

यहाँ पर उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'मुझ उच्चकोटि (सर्वाधिक) के परवश की प्रेम-पद्धति को प्रणतपाल दयशील (श्री रामचन्द्र जी) को समझा दीजियेगा।' वीरकवि जी[८], श्रीकांतशरण जी[९] और विनयपीयूषकार[१०] ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ प्रासंगिक और तर्कसंगत विदित होता है। पं० सूर्यदीन

---

१. विनय० सटीक, पृ० ५२४-२५
२. ,, ,, पृ० ३७९
३. ,, ,, पृ० ६२३
४. ,, ,, पृ० ३७२
५. ,, ,, पृ० ४३५
६. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ५८७
७. विनय० २५१
८. ,, सटीक, पृ० ३३८
९. ,, सि० ति०, पृ० १६०८
१०. वि० पी०, पृ० १०६९-७०

शुक्ल ने 'पराधीनता की हद्द' अर्थ किया है।[१] किन्तु उक्त पद में 'पराधीन' विशेषण शब्द है। अतः अर्थ करने में भी यही होगा, न कि संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द 'पराधीनता'। गोस्वामी जी ने इसके पूर्व अपने अत्यन्त कलियुग की अधीनता का वर्णन किया है—

मैं तो दियो छाती पबि, अयो कलिकाल दबि,
सांसति सहत परबस को न सहैगो ?[२]

यही उच्चकोटि की पराधीनता है।

'सापे पाप, नये निदरत खल'

चहत महामुनि जाग जयो।
नीच निसाचर देत दुसह दुख, कृस तनु ताप तयो।
सापे पाप, नये निदरत खल, तब यह मंत्र ठयो।।[३]

उक्ति पंक्ति का सीधा अर्थ है—'महामुनि विश्वामित्र यज्ञ करना चाहते हैं, किन्तु दुष्ट निशाचर असहनीय दुःख देते हैं। इसी संताप के कारण उनका शरीर सूख गया। यदि मुनि उन्हें शाप देते हैं तो पाप के भागी होते हैं और यदि नम्र होते हैं तो वे इनका निरादर करते हैं। इसी कारण मुनि ने विचार किया····।' इस पर बैजनाथ जी कहते हैं कि 'यहाँ शंका होती है कि त्रिशंकु के हेतु वशिष्ठ जी के पुत्रों को शाप देकर जब ऋषीश्वर ने भस्म कर दिया था, तब पाप न बिचारा। बलिदान के लिए अपने पुत्रों को शाप दे भस्म कर दिया, तब न पाप बिचारा। अब दुष्ट राक्षसों को शाप देने से पाप बिचारा। इससे प्रथम अर्थ (उक्त अर्थ) ठीक नहीं। दूसरा अर्थ यह कि 'शापे पापन, पूर्व ही पापों करके शापे हैं। पापों करके शापे गये, इससे राक्षस हुए। उन मरों को कैसे मारिये। और वे निदस्त नित अरत अभिड़ते हैं खल नित्य ही। यहाँ "चपा अबे जबाः" सूत्र से ल और अकार मिलकर दकार हुए जिससे नित अरत का निदरत हुआ। पूर्व पापों के शापे राक्षस खल नित अरत अभिड़ते हैं।'[४] बैजनाथ जी का यह अर्थ बिल्कुल ऊटपटांग है। क्योंकि, आगे विश्वामित्र जी जनक जी से स्वयं इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रीति-के न, पातकी, दिएहूँ साप पाप बड़ो
मख-मिस मेरो तब अवध-गवनु भो।[५]

---

१. विनय० सटीक, पृ० २६६
२. विनय० २५६
३. गीता० १।४५
४. गीता० सटीक, पृ० ११३-१४
५. गीता० ६४

यहाँ पर विश्वामित्र जी शाप देने में पाप से इसलिए डरते हैं, क्योंकि यह यज्ञ ऐसा है जिसमें क्रोध वर्जित है और बिना क्रोध के शाप लगता नहीं—

"न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ॥७॥ तथा भूताहि सा चर्या न शापस्तत्रमुच्यते ।"[1]

अर्थात्, उन पर क्रोध करने की भी इच्छा नहीं होती; उस यज्ञ का समय क्रोध करने और शाप देने का नहीं है। श्रीकांतशरण जी का भी यही मत है।[2]

'सुंदरकाण्ड के पद ४ की एक पंक्ति'

सोध बिनु, अनुरोध ऋतु के, बोध बिहित उपाउ
करत हैं सोइ समय साधन फलति बनत बनाउ ॥[3]

बैजनाथ जी, ठाकुर बिहारीलाल जी और हरिहरप्रसाद जी ने पाठ-परिवर्तन करके ऊटपटांग अर्थ किये हैं। प्रस्तुत तीनों टीकाकारों ने यह पाठ स्वीकार किया है—'सोध बिनु अवरोध रिपु को बोध बिहित उपाउ।' हरिहर-प्रसाद जी ने 'अनुरोधु' शब्द ही रखा है और 'ऋतु' का 'रिपु' कर दिया है। संभवतः यह पाठ-परिवर्तन अर्थ की संगति न लगा पाने के कारण ही किया गया है। 'ऋतु' के स्थान 'रितु' पाठ भी मिलता है।[4] लेख-प्रमाद के कारण 'रितु' का 'रिपु' हो सकता है अथवा 'रितु' को अनावश्यक समझकर 'रिपु' कर दिया गया होगा। बैजनाथ जी इसका अर्थ करते हैं—'रिपु को बोध कहे युद्ध कर जीत लेना सो सोध कहे खबर विना पाये रिपु के बोध को अवरोध कहे रोक रहा है। विहित कहे वर्तमान में रिपु के बोध का जो उपाय है, उसी समय के साधन की कर्तव्यता, उसका वही जो वानर-रीक्ष हैं, वे करते हैं। उनका बनाव बनते ही कहे खबर तुम्हारी पाते ही फलत कहे रिपु को बोध होता ही है। इसमें वानर सी विहित पद से वर्तमान काल हुआ। इस हेतु फलत कहा। इसका अर्थ रिपु को बोध होता है। लंका भस्म इति निश्चय।'[5] लगभग इसी प्रकार का अर्थ करते हुए ठाकुर बिहारीलाल जी लिखते हैं—'तुम्हारा शोध नहीं पाया, इस कारण विहित कही वर्तमान उपाय में रिपु के बोध कही समझाने अर्थात् जीति लेने में अवरोध कही रुकाव रहा। उसी समय के साधन की कर्तव्यता को वानर-रीक्ष करि रहे हैं तिनका बनाव

१. वाल्मी० १।१६
२. गीता०, सि० ति०, पृ० १५६
३. ,, ६।४
४. तु० ग्रं०, द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि, काशी, पृ० ४६५
५. गीता० सटीक, पृ० ३६२

बनते ही अर्थात् तुम्हारी सुधि पाते ही फलति कहि रिपु का बोध होता ही है। विलम्ब कुछ नहीं है।'[१] हरिहरप्रसाद जी के मत से 'रिपु को खबर पाए बिना अनुरोध कहैं रोक रहत हैं अर्थात् कुछ बात नाहीं तब रिपु के बोध में जो विहित उपाय ताको लोक करत हैं सोई उपाय रूप साधन समय पाय के फलति हैं और बनाव बनत है एही न्याय के अनुसार प्रभु ने रिपु के जानिबे हेतु दसो दिसा में बानरों को पठए। ते बानर प्रभु के काज में कुटिल कोऊ नहीं हैं।'[२] पाठालोचन के सिद्धांत के अनुसार कठिन पाठ मूल के अधिक निकट होता है। अतः यहाँ ना० प्र० सभा का ही पाठ स्वीकार्य है। उपर्युक्त अर्थों को देखने से विदित होता है कि टीकाकारों ने क्लिष्ट कल्पना करके मनोनुकूल अर्थ किये हैं। उक्त पंक्ति का सरलार्थ इस प्रकार है—'वर्षा ऋतु के व्यवधान के कारण आपकी खोज न हो सकी। जो विवेक से सुव्यवस्थित उपाय करते हैं, वही यथासमय यदि साधन करते बन गया तो सफल होता है।' कोश में अनुरोध का एक अर्थ रुकावट, बाधा[३] और विहित का अर्थ सुव्यवस्थित, नियोजित[४] दिया है। श्रीकांतशरण जी ने इसके अर्थ में 'अनुरोध' शब्द ही रख दिया है और 'बनत बनाउ' का अर्थ नहीं किया है।[५] मुनिलाल जी[६] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय[७] भी सटीक अर्थ नहीं कर पाये हैं।

'सकल साज समाज साधन समउ कहै सब कोइ'

बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ।
सकल साज समाज साधन समउ कहै सब कोइ ॥[८]

ठाकुर बिहारीलाल[९] और बैजनाथ जी[१०] इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'बुद्धि, निश्शंकता, पराक्रम सब वर्तमान हैं, परन्तु हनुमान जी छिपाई राखे

१. गीता० रामा०, पृ० २२३
२. ,, सटीक, पृ० १६
३. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ४२
४. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम, पृ० ६६५
५. गीता०, सि० ति०, पृ० ६६८
६. ,, सटीक, पृ० २६०
७. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ ४६५
८. गीता० ६।५
९. ,, रामा०, पृ० २२४
१०. ,, सटीक, पृ० ३६३

काहे ते सब कोऊ यह कहत है कि जैसी समय की समाज होइ तैसे साधक होबे को चाही यह विचार हनुमान जी बुद्धि के बल से साहस पराक्रम को छिपाए राखे।' यहाँ पर यह अर्थ कि 'समाज के अनुकूल साधक को होना चाहिए तथा बुद्धि के बल से साहस को छिपा रखा' बिल्कुल असंगत अर्थ है। यहाँ ठाकुर बिहारीलाल और बैजनाथ जी दोनों के अर्थों में भ्रांति दिखलाई पड़ती है।

उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—'उन्होंने (हनुमान जी ने) बुद्धि-बल, साहस और पराक्रम की उपस्थिति में भी उसे (क्रोध को) छिपा रखा, क्योंकि सब लोग कहते हैं कि सभी उपाय समय पर ही सफल होते हैं।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ उपयुक्त और तर्कसंगत लगता है। मुनिलाल जी[1], हरिहरप्रसाद जी[2], श्रीकांतशरण जी[3], और 'तुलसी ग्रंथावली' के संपादक महोदय[4] ने लगभग यही अर्थ स्वीकार किये हैं।

'पुर'

देख्यो जात जानि निसिचर बिनु फर सर हयो हियो है।
पर्‌यो कहि राम, पवन राख्यो गिरि पुर तेहि तेज पियो है ॥[5]

'पुर' शब्द को लेकर उपर्युक्त पंक्ति के अर्थ में उलट-फेर हो गया है। ठाकुर बिहारीलाल जी[6] और बैजनाथ जी[7] इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'भरत जी निशाचर जानि बिना गाँसी को बाण हृदय में हयो कही मारे ताके लागत राम-राम कहि हनुमान जी गिरि परे अरु पर्वत को पवन देव ने रोकि राख्यो जाने अवधपुर दबि जाइ ताही पवन के सहायता ते पर्वत गिरिबे को जो वेग तेहि तेज को पुरपिर्या कही पान करि गयी भाव यथा कोऊ चोट मारे ताको कछू न माने सोई पी जाबो है यथा घोड़ा को कोड़ा मारो सो पी गयो।' इसी प्रकार मुनिपाल जी[8] और 'तुलसी ग्रंथावली' के संपादक[9] ने भी ऐसा ही

---

१. गीता० सटीक, पृ० २६२
२. ,, ,, पृ० २०
३. ,, ,, पृ० ६७१
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४६६
५. गीता० ६।१०
६. ,, रामा०, पृ० २७८
७. ,, सटीक, पृ० ४५६
८. ,, ,, पृ० ३६२
९. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५०५

अर्थ किये हैं —'मानो नगर ने उसका तेज पी लिया हो।' अयोध्या नगरी तेज को कैसे पी जायगी, यह बात समीचीन नहीं लगती। 'संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर'[१] और 'तुलसी शब्दसागर'[२] में 'पुर' का अर्थ 'पूर्ण' दिया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार हो सकता है—'उन्हें (हनुमान जी को अयोध्या के ऊपर से होकर) जाते हुए देखकर राक्षस जानकर भरत जी ने उनके हृदय में बिना गाँसी का बाण मारा। वे (हनुमान जी) 'राम-राम' कहकर गिर पड़े। पवन देव ने (अयोध्या के रक्षार्थ) पर्वत को ऊपर ही रोक लिया और उस बिना फल के बाण ने ही हनुमान जी के पूर्ण तेज को पी लिया।' 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' के अनुसार 'पुर' अरबी शब्द है, किंतु यह संस्कृत 'पूर्ण' से विकसित है। हरिहरप्रसाद जी[३] और श्रीकांतशरण[४] ने भी यही अर्थ किया है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ प्रासंगिक विदित होता है, क्योंकि संज्ञा के उपरान्त ही सर्वनाम का प्रयोग होता है। संज्ञा 'बाण' के लिए ही सर्वनाम 'तेहि' का प्रयोग हुआ है। चरणान्त में प्रयुक्त 'हियो' शब्द भी संज्ञा ही है, परन्तु बाण की तुलना में तेज के साथ उसकी संगति कम बैठती है। अतः 'हियो' की अपेक्षा 'बाण' के लिए ही 'तेहि' शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा माना जा चुका है।

एक अर्थ यह भी संभव है—यदि कर्ता रूप में 'पवन' को पर्वत सँभालने के अतिरिक्त तेज पान करने का श्रेय भी दिया जाय, तो अर्थ होगा—उन्होंने ही या 'पवन ने' हनुमान की प्राणरक्षा के निमित्त बाण के सारे तेज को अपने में आत्मसात् कर लिया। किन्तु यह अर्थ भी संदिग्ध नहीं है, क्योंकि जब पवन ने बाण के तेज को पी लिया, तो हनुमान जी बाण लगने पर बेहोश क्यों हुए? इस प्रकार स्थिति अंततः संदिग्ध ही है। संभव है वर्तमान पाठ ही अशुद्ध हो। यहाँ पर पूर्व अर्थ ही संगत प्रतीत होता है।

'चितेरे'

तुलसी बिलोकि कै तिलोक के तिलक तीनि,
रहे नरनारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं ॥[५]

---

१. दे० पृ० ६३०
२. दे० पृ० ३०२
३. गीता० सटीक, पृ० ६०
४. ,, सि० ति०, पृ० ८३२
५. कविता० २।१४

हरिहरप्रसाद जी[१], बैजनाथ जी[२], इन्द्रदेव नारायण जी[३], श्रीकांतशरण जी[४] और तुलसी-ग्रंथावली के सम्पादक महोदय[५] आदि टीकाकारों ने 'चितेरे' का अर्थ 'चित्र' किया है। नागरी प्रचारिणी सभा की तुलसी-ग्रंथावली में भी 'चितेरा' का अर्थ 'चित्र' दिया है।[६] चंपाराम मिश्र ने इसका अर्थ 'तस्वीर में खिचे'[७] और लाला भगवान दीन जी ने 'चित्रलिखित तसवीरों की तरह' अर्थ किया है।[८] किन्तु यहाँ पर 'चितेरे' का अर्थ चित्र नहीं हो सकता। यदि 'चितेरे' का अर्थ चित्र किया जाय तो सँपेरे का अर्थ 'साप' करना चाहिए। गोस्वामी जी ने 'चित्रकार' अर्थ में 'चितेरे' शब्द का प्रयोग किया है—

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ॥[९]

मंगलमय मंदिर सब केरें। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरें ॥[१०]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'तुलसीदास कहते हैं कि तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ इन तीनों (श्रीराम, लक्ष्मण और सीता) को देखकर स्त्री-पुरुष ऐसे मुग्ध हैं, जैसे चित्रकार (मनोहर कलापूर्ण) चित्रशाला को देखकर।'

डॉ० माताप्रसाद गुप्त[११], चन्द्रशेखर जी[१२] और देवनारायण द्विवेदी जी[१३] ने भी 'चितेरे' का अर्थ 'चित्रकार' किया है। युक्तिसंगतता नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

---

१. कवित्त रामा०, पृ० २७
२. कविता० सटीक, पृ० ५०
३. ,, ,, पृ० २६
४. ,, सि० ति०, पृ० ३४
५. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २०२
६. कविता० २।१४, पादटिप्पणी।
७. ,, सटीक, पृ० २२
८. ,, ,, पृ० २६
९. विनय० १११
१०. मानस १।२१३।५
११. कविता०, पृ० १०३
१२. ,, सटीक, पृ० २८-२९
१३. ,, ,, पृ० ६५

'गुसाईं सुसाईं सदा अनुकूलो'

राम गुलाम तुही हनुमान,
गुसाईं सुसाईं सदा अनुकूलो ।[1]

'गुसाईं सुसाईं' विशेषण कोई हनुमान जी का मानते हैं, तो कोई श्रीराम जी का। पं० महावीरप्रसाद मालवीय इसका अर्थ करते हैं—'हे गोस्वामी हनुमान जी ! आप श्रेष्ठ स्वामी और सदा श्री रामचन्द्र जी के सेवकों के पक्ष में रहने वाले हैं।'[2] श्रीकांतशरण जी के अनुसार—'श्री हनुमान जी ! श्रीराम जी के सेवक एक आप ही हैं, आप मेरे सदा अनुकूल रहने वाले इन्द्रियजित और अच्छे स्वामी हैं।'[3] बैजनाथ जी का अर्थ भी लगभग ऐसा ही है—'गुसाईं साधारण जीव मात्र के पालने वाले सुसाईं सुसेवकन के हेत सुन्दर स्वामी हे हनुमान राम गुलाम पै तुही सदा अनुकूलो अर्थात् रामदासन के रक्षा करनहारे एक आप ही हैं।'[4] 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय ने अपने अर्थ में 'सुसाईं' शब्द को ही छोड़ दिया है—'हे हनुमान ! आप ही राम के सच्चे सेवक हैं। आप सदा मुझ पर कृपा किए रहने वाले गोस्वामी हैं।'[5] किन्तु प्रासंगिक दृष्टि से यह अर्थ संगत नहीं है। यहाँ पर गोस्वामी जी कहते हैं कि हे हनुमान जी ! श्रीराम जी के सच्चे सेवक आप ही हैं। क्यों आप ही सेवक हैं ? क्योंकि प्रभु (गुसाईं), सुस्वामी श्रीराम जी आप पर सदा अनुकूल रहते हैं। जिस पर स्वामी सर्वदा अनुकूल रहते हों, वही सच्चा सेवक होता है। सीता जी ने हनुमान को वरदान भी दिया है—

सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहुँ हनुमंत ।
सानुकूल कोसलपति रहहुँ समेत अनंत ॥[6]

श्रीराम जी सुस्वामी तो हैं ही—स्वामि गोसाइँहि सरिस गोसाईं।[7] यहाँ 'गुसाईं-सुसाईं सदा अनुकूलो' विशेषण श्रीराम जी का है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'हे हनुमान जी ! एक आप ही श्रीराम जी के वास्तविक सेवक

---

१. बाहुक ३६
२. बाहुक सटीक, पृ० ३२
३. ,, सि० ति०, पृ० १५५
४. ,, सटीक, पृ० ४४
५. द्वि० खंड, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३०८
६. मानस ६।१०७
७. मानस २।२९७।४

हैं। प्रभु, सुस्वामी श्रीराम जी आप पर सर्वदा अनुकूल रहते हैं।' परमेश्वरी-दयाल जी का अर्थ कुछ उपयुक्त है, किन्तु 'हे दयालु प्रभु !' सम्बोधन तो अयुक्तिसगत प्रतीत होता है।[१] श्री हरिहरप्रसाद जी मेरे ही अर्थ के पक्ष में हैं।[२] 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत लगता है।

'घर बसी'

ललित लालन निहारि, महरि ! मन बिचारि,
डारि दे घरबसी लकुटि बेगि कर तें ॥[३]

'घरबसी' का अर्थ रामायनसरन जी[४] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय[५] ने क्रमशः 'घर में रहने वाली' और 'घर बसाने वाली' किया है। गीता प्रेस की टीका में 'भली औरत' अर्थ किया गया है।[६] किंतु यहाँ पर यह अर्थ बिल्कुल असंगत हैं। 'घरबसी' का अभिधेयार्थ—सं० गृह + वास, अर्थात् 'घर बसाने वाली' है और व्यंग्यार्थ 'घर उजाड़ने वाली'।[७] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'(कोई वयोवृद्धा यशोदा से कहती है—) अरी महरि ! किंचित् इस कोमल लाल की ओर देख और कुछ तो अपने हृदय में विचार कर। अरी घर उजाड़ने वाली ! तुरंत अपने हाथ से छड़ी दूर फेंक दे।' श्रीकांतशरण जी ने भी यही अर्थ किया है।[८] 'वक्ता की भावना' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ निश्चित होता है।

'कान्ह-पहँ, नीके-ई लागत मन रहत समाने'

तुलसीदास इहे अधिक कान्ह पहिं नीकेई लागत मन रहत समाने।[९]

इसका अर्थ रामायनसरन जी करते हैं कि 'कान्हई मो मेरो मन लगोई रहतु है। समाने नाम कान्ह के रूप में समाइ गयो है।' यह अर्थ कि 'कान्ह में मन समा गया है' बिल्कुल असंगत है। कान्ह में मन क्या समायेगा। यहाँ मन में कान्ह का समाना उपयुक्त है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'तुलसीदास कहते

१. बाहुक सटीक, पृ० ५१
२. कवित्त रामा०, पृ० २६९-७०
३. श्रीकृष्ण० १७
४. ,, सटीक, पृ० १५
५. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५५९
६. श्रीकृष्ण० सटीक, पृ० २०
७. तुलसी-शब्दसागर, पृ० १३५
८. श्रीकृष्ण० सि० ति०, पृ० २८
९. श्रीकृष्ण० ३८

हैं कि (कोई गोपी कहती है कि) यही क्या कम है कि कन्हैया अच्छे लगते हैं और मन उन्हीं में मग्न रहता है या वे मन में प्रविष्ट रहते हैं।' श्रीकांतशरण जी[१], गीता प्रेस की टीका[२], वामदेव जी[३] और तुलसी-ग्रंथावली के सम्पादक महोदय[४] ने लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक ने 'नीकेई मन' के मध्य से 'लागत' शब्द को हटा दिया है।[५] युक्तिसंगतता नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है।

'कै ये नई सिखी सिखई हरि निज अनुराग बिछोहीं'

मधुकर कान्ह कहा ते न होहीं।
कै ये नई सिखी सिखई हरि निज अनुराग बिछोहीं ॥[६]

रामायनसरन जी ने इसका अर्थ प्रकार किया है—'जो मधुकर कहत है सो कान्ह की कही नाही है के ए नई सीष ई हैं केछों नई सीष हरि ने सीषी निज अनुराग विछोही जो ज्ञान वैराग है नई सिष सीषी है सो सषी कान्ह को नई सिष सीषी है।'[७] सरन जी ने 'निज अनुराग बिछोहीं' का अर्थ 'ज्ञान-वैराग' किया है और इसी को नई सीख स्वीकार किया है। यह पूर्णरूपेण ऊटपटांग अर्थ है। इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—'हे भ्रमर ! तुम्हारी ये (ज्ञानोपदेश की बातें) कन्हैया की कही हुई नहीं हैं। अथवा, कन्हैया ने अपनी प्रेम-वियोगिनी गोपियों के लिए ये नई वातें (कूबरी की) सिखाई हुई सीखी हैं।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। श्रीकांतशरण जी[८], नरोत्तम स्वामी और विद्याधर जी[९], वामदेव जी[१०] और पोद्दार जी[११] ने लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय का अर्थ सटीक नहीं है।[१२] उन्होंने 'नई' शब्द को अपने अर्थ में समाविष्ट नहीं किया

१. श्रीकृष्ण० सी० ति०, पृ० ६२
२. ,, सटीक, पृ० ४६
३. ,, ,, पृ० ४४
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५७१
५. वही
६. श्रीकृष्ण० ४१
७. ,, सटीक, पृ० ४१
८. श्रीकृष्ण० सि० ति०, पृ० ६६
९. ,, सटीक, पृ० ८१
१०. ,, सटीक, पृ० ४७
११. ,, ,, पृ० ४६
१२. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५७२

है और 'निज अनुराग बिछोहीं' का अर्थ 'अपना प्रेम समाप्त करके' किया है। 'बिछोही' संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है जिसका अर्थ है—वियोगिनी।

'परमेस्वर न सहैगो'

'तुलसी' परमेस्वर न सहैगो, हम अबलनि सब सही है।[१]

श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ कुछ विचित्र-सा किया है—'श्री तुलसीदास कहते हैं कि (वह गोपी कहती है—) परमेश्वर भी (ऐसे प्रतिकूल बर्ताव को) सहन नहीं करेगा। किन्तु हम अबलाएँ सब सह रही हैं।' पुनः व्याख्या में 'सहन नहीं करेगा' की व्याख्या करते हैं कि 'कुब्जा के अन्याय का दण्ड परमात्मा भी उसे देगा।'[२] पोद्दार जी के अर्थ से भी लगभग यही भाव अभिव्यक्त होता है।[३] यहाँ पर परमेश्वर के दण्ड देने की बात कुछ अटपटी-सी लगती है। व्यर्थ की खींचतान से ऐसा अर्थ निकाला गया है। उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—'हम अबलाओं ने (बलहीना होते हुए भी कृष्ण के विरह में) जैसा वियोग-दुःख सहा है, वैसा तो (सर्वशक्तिमान्) परमेश्वर भी नहीं सह सकेगा।' 'औचित्य' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। रामायनसरन जी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।[४]

'तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई'

ए हठ-निरत दरस लालच-बस, परे जहाँ बुधि बल न बसाई।
तुलसिदास इन्ह पर जो द्रवहि हरि तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई॥[५]

इस अन्तिम पंक्ति का अर्थ रामायनसरन जी ने लिखा है—'बैर बिसरावनो की गोपी लोग हमारे उपदेश को खंडन किया तो हमने ऊधो के साथ भेजा सो नहीं अंगीकार किया तातें मेरी बैरी हें सो नयन के नाते हरि हम लोगों के मिलहिंगे बैर बिसराइगो।'[६] इसी प्रकार पोद्दार जी अर्थ करते हैं—'तुलसीदास कहते हैं कि यदि श्रीहरि इन पर (अपनी ओर से ही) द्रवित हों, तो विरोध भुलाकर पुनः आकर मिल लें (इन्हें दर्शन दे दें)।'[७] 'तुलसी-ग्रंथावली'

१. श्रीकृष्ण० ४२
२. ,, सि० ति०, पृ० १०२ और पृ० १०४
३. श्रीकृष्ण० सटीक, पृ० ५०
४. श्रीकृष्ण० सटीक, पृ० ४३
५. श्रीकृष्ण० ५६
६. श्रीकृष्ण० सटीक, पृ० ६५
७. " " पृ० ७०

के संपादक महोदय ने भी ऐसा ही अर्थ किया है—'कृष्ण इन पर दया करें तो पिछला बैर (उनकी निष्ठुरता) भुलाकर (ये नेत्र) फिर उनसे जा मिलें।'[१] उपर्युक्त टीकाकारों ने 'हरि के विरोध' की बात पता नहीं कहाँ से सम्बद्ध कर दी है। यहाँ उक्त सभी अर्थ अप्रासंगिक हैं। इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—'ये नेत्र दर्शन के लोभ के वशीभूत होकर अपने हठ में निमग्न हैं और ऐसे स्थान में अवस्थित हैं जहाँ बुद्धि-बल का भी (कुछ) वश नहीं चलता। तुलसीदास जी कहते हैं कि (गोपी कहती है) ऐसे इन नेत्रों पर यदि श्रीकृष्ण जी द्रवीभूत हों (दर्शन से कृतार्थ हों) तो पुनः इनसे (नेत्रों से उपर्युक्त) वैर भुलाकर मिलूँ, अर्थात् इन नेत्रों को शत्रु न मानूँ।' श्रीकांत-शरण जी[२], नरोत्तम और विद्याधर जी[३] और वामदेव जी[४] ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ निश्चित होता है, क्योंकि उक्त पंक्ति के ऊपर की पंक्तियों में गोपियों ने नेत्रों के वैर की चर्चा की है—

मोको नयन भए रिपु माई।

हरि-बियोग तनु तजेहि परम सुख, ए राखहिं सोइ है बरियाई ॥
बरु मन कियो बहुत हित मेरो, बारहिं बार काम दव लाई।
बरषि नीर ये तबहिं बुझावहिं, स्वारथ निपुन अधिक चतुराई ॥
ज्ञान-परसु दै मधुप पठायो, बिरह-बेली कैसेहु कठिनाई।
सो थाक्यो बरह्यों एकहि तक, देखत इनकी सहज सिंचाई ॥
हारत हू न हारि मानत, सखि! सठ सुझाव कंदुक की नाँई।

———

१. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५८२
२. श्रीकृष्ण० सि० ति०, पृ० १५७
३. " सटीक, पृ० ६०
४. " " पृ० ६५

६

अनेकार्थी शब्दों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

अनेक अर्थों वाले शब्द को अनेकार्थी शब्द कहा जाता है। तुलसी-साहित्य में बहुत से अनेकार्थी शब्द प्राप्त हुए हैं जिनके कारण भी अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होने से टीकाकारों को मनोनुकूल क्लिष्ट कल्पना करके अर्थ की संगति बैठाने का अवसर मिला है। उदाहरणार्थ—बसन, भरनी, पतंग, हरि, कूट और सिखी आदि शब्द। किसी ने 'बसन' का अर्थ 'बसेगी नहीं', 'स्वामी', 'पति' और 'करधनी' किया है, तो किसी ने 'वस्त्र'। 'भरनी' का अर्थ कोई 'भरणी नक्षत्र, गारुड़ी मंत्र, पक्षी-विशेष' करते हैं, तो कोई 'मोरनी'। इसी प्रकार 'पतंग' शब्द का अर्थ किसी ने 'पक्षी, गुड्डी, अरुण, तम्बूरा, चिनगारी और सूर्य की ओर हाथ हिलाना' किया है, तो कुछ ने 'गेंद'। 'हरि' का अर्थ कोई 'कामदेव', 'विष्णु भगवान्' करते हैं, तो कोई 'घोड़ा'। ऐसी अर्थ-समस्याओं का मुख्य कारण प्रसंग पर ध्यान न देना है। प्रस्तुत अध्याय में इस प्रकार के विवादास्पद स्थलों की अर्थ-समस्याओं का निदान भारतीय आचार्यों द्वारा बताये हुए संयोग-प्रकरणादि अर्थविनिश्चय के साधनों के आधार पर करने का प्रयास किया गया है।

'बसन'

विधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी ॥[१]

'हिन्दी शब्दसागर' में बसन (सं० वसन) का अर्थ है—१. वस्त्र; २. ढकने की वस्तु, आवरण, छादन; ३. घेरा, अवरोध, परिवेष्टन।[२] संभवतः 'घेरा' अर्थ के आधार पर ही 'बृहत् हिन्दी कोश' में इसका अर्थ 'स्त्रियों का एक गहना, रसना' और दूसरा 'निवास, मकान' दिया है।[३] 'तुलसी-शब्दसागर' में इसका अर्थ 'कपड़ा, वस्त्र; बसने वाले' दिया है।[४] इससे स्पष्ट है कि

---

१. मानस १।१०।४

२. दे० पृ० ४३६७

३. दे० पृ० ११६६

४. दे० पृ० ३३२

'बसन' शब्द अनेकार्थी है। उक्त अर्धाली के 'बसन' शब्द के अर्थ के विषय में समीक्षकों ने अनेकानेक क्लिष्ट कल्पनाएँ करके मनोनुकूल और अनेक ऊट-पटांग अर्थ किये हैं। रामकथा के विश्वविश्रुत विद्वान् डॉ० कामिल बुल्के कहते हैं कि 'बिना बसन' का अर्थ 'नग्न' किया जाना अशोभन तथा आपत्तिजनक है, क्योंकि तुलसी-जैसे मर्यादा-पालक भक्त कवि कभी ऐसा संकेत शब्दों से भी नहीं कर सकते।

भारतीय मनीषा के प्रकांड विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २ मार्च, १६५८ के अंक में उक्त प्रश्न को रखा जिस पर अगले अंकों में कुछ विद्वानों के उत्तर पढ़ने को मिले थे। उनमें से किसी ने 'बसन' का अर्थ 'रहना', किसी ने 'सुहागसिंदूर' और किसी ने 'पति' किया था। हिन्दी के विख्यात कवि डॉ० हरिवंश राय 'बच्चन' के अनुसार उक्त चौपाई में 'बस' का अर्थ 'बसना, सुव्यवस्थित होना, सुस्थिर होना' और 'बर' यहाँ क्रिया है, विशेषण नहीं। 'वर' का जो अवधी में 'बर' उच्चारण किया जायगा, वह होगा—'बरा हुआ, वरण किया हुआ, ब्याहा हुआ'। आगे नारी है तो अर्थ होगा—'बरी हुई, ब्याही हुई'। अतः अब चौपाई का अर्थ इस प्रकार हुआ—'सब भाँति सँवारी, वस्त्रालंकार से विभूषित विधुबदनी भले ही हो, पर वह सोहेगी नहीं; शोभित वह थोड़ी देर के लिए हो भी ले, पर वह **बसेगी नहीं, सुव्यवस्थित** नहीं होगी जब तक वह बरी न हो, परिणीता न हो।'

और फिर सब के बाद डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जिस अर्थ का प्रतिपादन किया, वह यह था—'गोसाईं जी व्यंजना से भी नग्न स्त्री की कल्पना नहीं कर सकते। इस शंका में कुछ सार है। अतः 'बसना' का अर्थ वस्त्र न होकर '**पति**' होना चाहिए। अतएव चौपाई का अर्थ होगा—'चन्द्रमुखी और सब भाँति अलंकृत स्त्री भी बिना पति के शोभा नहीं पातीं।'[1]

डॉ० बुल्के और डॉ० अग्रवाल के पथ का अनुसरण करते हुए डॉ० अम्बा-प्रसाद सुमन लिखते हैं कि "तुलसी मर्यादावादी तथा शुद्ध एवं संयत शृंगाररस के स्रष्टा थे। राम-नाम हीन कविता के उपमान के रूप में आए हुए 'बसन बिना बर नारी' का प्रयोग तुलसी के लिए लज्जास्पद है। वे नंगी नारी की कल्पना कभी नहीं कर सकते। हमारा विचार है कि यहाँ 'बसन' शब्द का **अर्थ 'स्वामी या पति'** है। नारी जिसके यहाँ निवास करती है या आश्रय पाती है, वह 'वसन' अर्थात् 'पति' हुआ। बिना पति के वह नारी की शोभा नहीं पा सकती जो चन्द्रमा के समान मुख वाली हो और सब प्रकार से साजी-सँवारी गई हो।

१. तुलसी-परिशीलन, पृ० १६३

'बसन बिना' का अर्थ 'वस्त्ररहित' किया जाएगा, वदतोव्याघात दोष भी इस अर्द्धाली में आ जायगा, क्योंकि पूर्वार्द्ध में कहा गया है कि जो चन्द्रबदनी सब प्रकार से सुसज्जित की गई हो। जब सब प्रकार से सुसज्जित है, तब वह नारी वस्त्रहीन कैसे कही जा सकती है। अतः अर्थ इस प्रकार किया जाना चाहिए—अच्छे कवि द्वारा रची हुई कविता भी रामनाम के बिना इस प्रकार शोभा नहीं पाती जिस प्रकार कि चन्द्रबदनी सुन्दर नारी बिना पति (स्वामी) के सुशोभित नहीं होती।'[1]

श्री देवदत्त शास्त्री लिखते हैं कि "तुलसीदास जी का कहना है कि नारी रूप-लावण्ययुक्त हो, चन्द्रमुखी हो, सभी प्रकार के शृंगार से सुसज्जित हो, किन्तु यदि वह वसनरहित हो, तो सुशोभित नहीं होती। तुलसीदास जी का 'बसन' शब्द का तात्पर्य कमर की 'करधनी' से रहा है, किन्तु मानस के टीकाकारों ने उसे 'वस्त्र' समझ लिया और यह नहीं सोचा कि 'सब भाँति सँवारी' कहने मात्र से वस्त्र और अलंकार से सुसज्जित नारी का बोध होता है, न कि नग्न नारी का।

व्यावहारिक दृष्टि से यह सर्वथा असंगत है कि सुघर स्त्री आभूषण से सजने के बाद वस्त्ररहित कैसे रह सकती है। 'बसन' शब्द का अर्थ 'वस्त्र' परंपरागत मान लिया गया और किसी ने इसके अर्थतत्त्व पर विचार नहीं किया।..........'बसन' शब्द का अर्थ 'वस्त्र' या 'पति' किये जाने का मुख्य कारण तुलसीदास जी की जन्मभूमि तथा उसके आसपास के क्षेत्र की बोली से अपरिचित होना ही जान पड़ता है। 'बसन' शब्द की जोड़ का एक शब्द 'बसनी' भी पूर्वी पांचाली भाषा में प्रचलित है जो बाँदा, फतेहपुर, रीवाँ और पश्चिमी इलाहाबाद जिलों में व्यवहृत होता है। बसनी कपड़ों की बनती है, उसमें रुपये (सिक्के) भरकर कमर में बाँध लिया जाता है।......बसन—'करधनी' भारतीय नारी का पुरातन आभूषण है। वैदिक काल से लेकर अब तक इसका प्रचलन अविच्छिन्न चला आ रहा है। अजन्ता, एलोरा के नारी-चित्र, प्राचीन मृण्मयी-प्रस्तरमयी नारी-मूर्तियों के आकर्षण का केन्द्र कमर की करधनी ही है। तुलसीदास जी का अशय यही रहा है कि विधुबदनी सब भाँति सँवारी नारी यदि **बसन**—'करधनी' से रहित हो, तो वह सुशोभित नहीं होती, क्योंकि गले का हार वक्ष की ही शोभा बढ़ाता है, किन्तु करधनी शरीर के मध्य भाग को घेरकर स्त्री को चतुर्दिक् सुन्दर बना देती है।"[2]

---

१. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० १८२-८३

२. तुलसी-परिशीलन, सं० बाबूलाल गर्ग, श्री देवदत्त शास्त्री का लेख, पृ० १६२-१६६

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समीक्षकों ने 'बसन' शब्द के तीन अर्थ किये हैं—(१) बसेगी नहीं, सुव्यवस्थित नहीं होगी; (२) स्वामी या पति और (३) करधनी।

बच्चन जी का अर्थ कि 'वह बसेगी नहीं, सुव्यवस्थित नहीं होगी जब तक वह बरी न हो, परिणीता न हो' संगत नहीं लगता। गोस्वामी जी के समय से लेकर आज तक ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं कि बिना परिणीता स्त्री आजीवन सुव्यवस्थित रही, बसी रही और परिणीता स्त्री के साथ जीवन-निर्वाह करना दूभर हो गया। फलस्वरूप उनका निष्कासन आवश्यक हो गया। मुसलमान लोग हिन्दू-कन्याओं का बिना वरण के ही अपहरण कर लेते थे और उन्हें आजीवन अपने हरम में सुव्यवस्थित रखते थे। आजकल का 'लव मैरिज' भी प्रायः बिना वरण के होता है और अधिकांशतः सफल भी होता है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से अव्यवस्थित तथ्य को गोस्वामी जी स्वीकार नहीं कर सकते।

डॉ० बुल्के, डॉ० अग्रवाल और डॉ० सुमन का यह कथन कि गोस्वामी जी मर्यादा-पालक, भक्त कवि और संयत शृङ्गाररस के स्रष्टा थे। अतः वे व्यंजना से भी नग्न स्त्री की कल्पना नहीं कर सकते थे। एतदर्थ निवेदन है कि वे गोस्वामी जी के निम्न उदाहरणों पर भी ध्यान दें—

जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चंद चकोरू ॥[1]
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित हानी ॥[2]
श्रीफल कुच, कंचुकि लता जाल।[3]
ज्यों जुबती अनुभवति प्रसव, अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल, बिसारि सूल सठ, पुनि खल पतिहिं भजै ॥[4]
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ गई किन च्वै।[5]
बार-बार कह्यों मैं पुकारि दाढ़ीजार सों।[6]

जो भक्त कवि श्रेष्ठ जंघाओं, बालों, बिआनी, कुच, चोली, गर्भ का चूना और दाढ़ीजार जैसे शब्दों का प्रयोग कर सकता है, उसको 'बिना वस्त्र की'

---

१. मानस २।२६।४
२. वही २।७५।२
३. विनय० १४
४. वही ८६
५. कविता० ७।४०
६. वही ५।११

कहने में क्या संकोच होगा ? डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जी कहते हैं कि गोस्वामी जी व्यंजना से भी नग्न स्त्री की कल्पना नहीं कर सकते, तो 'पुनि खल पतिहिं भजै' की क्या व्यंजना है ? गोस्वामी जी ने अनेक बार 'स्वामी, पति' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। यहाँ 'बसन' शब्द का प्रयोग 'पति' अर्थ में करने से कोई विशेष अर्थ-गरिमा नहीं आ जाती। 'बसन' शब्द का 'पति' अर्थ क्लिष्ट कल्पनापरक अर्थ है। 'तुलसी-शब्दसागर' में 'बसन' का अर्थ 'बसने वाले' दिया है। देवदत्त शास्त्री जी कहते हैं कि "हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'मानक हिन्दी कोश' के संपादक ने 'बसन' का अर्थ 'पति' किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'बसने वाले' के आधार पर ही 'बसन' का अर्थ 'पति' किया गया है।" 'पति' अर्थ के विषय में शास्त्री जी का तर्क संगत नहीं लगता है। उनके अनुसार—पतिविहीन नारी दो प्रकार की मानी जाती है : एक तो विधवा; और दूसरी, वेश्या। विधवा विधुबदनी तो हो सकती है, किन्तु सब भाँति सँवारी नहीं। इसलिए पतिविहीन विधवा की कल्पना यहाँ उचित नहीं। रह गई वेश्या; तो यह सर्वविदित है कि उसकी शोभा-सजावट, उसका शृंगार-आकर्षण भी तो लोगों को आकृष्ट और प्रभावित करता है। इसलिए 'वसनहीन—पतिविहीन' अर्थ की संगति यहाँ नहीं बैठती।[1] वेश्या यदि किसी पति-विशेष का चयन कर ले, तो उसकी शोभा बढ़ने के बजाय घट जायगी। 'बसन' शब्द का 'करधनी' अर्थ देवदत्त शास्त्री जी की कोई नवीन खोज नहीं है। बृहत् हिन्दी कोशकार को चाहे गोस्वामी जी की जन्मभूमि के शब्दों का ज्ञान न रहा हो, किन्तु उन्होंने भी इसका अर्थ 'स्त्रियों का एक गहना, रसना' किया है। कवि की जन्मभूमि के शब्दों का डंका पीटकर किसी शब्द के अर्थ का अनर्थ करना उसके भावों का गला घोटना है। गोस्वामी जी की जन्मभूमि का विषय अभी निर्विवाद नहीं है। अतः यह कहना कि अमुक शब्द अमुक क्षेत्र में बोला जाता है, अतः वह गोस्वामी की जन्मभूमि से सम्बद्ध है। गोण्डा, फैजाबाद आदि जिलों में प्रयुक्त अनेक शब्द भी तो तुलसी-साहित्य में प्राप्त होते हैं। 'बसनी' उस थैली-विशेष को कहते थे जो रुपये आदि रखकर कमर में बाँधी जाती थी। शास्त्री जी ने भी 'बसनी' की चर्चा की है। स्वयं गोस्वामी जी इसे थैली कहते थे—

अब आनिअ ब्यवहरिआ बोली। तुरन्त देउँ मैं थैली खोली ॥[2]

'करधनी' अर्थ में गोस्वामी जी ने अपने साहित्य में इस शब्द का प्रयोग

---

१. देवदत्त शास्त्री का लेख, तुलसी-परिशीलन, पृ० १६२-६६

२. मानस १।२७६।४

किया है, ऐसा मुझे कहीं नहीं प्राप्त हुआ। यहाँ पर 'करधनी' अर्थ बिल्कुल निरर्थक है। गोस्वामी जी ने इसी प्रकार का प्रयोग अन्यत्र भी किया है—

बसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी।[1]
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।[2]

'वस्त्र' अर्थ में 'बसन' का प्रयोग गोस्वामी जी ने सैकड़ों बार किया है।[3] डॉ० सुमन जी कहाँ तक वदतोव्याघात का दोषारोपण करेंगे? उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'सब भाँति सँवारी' का अर्थ आभूषणों से है। 'संत्सग-विलास' में भी इसी प्रकार का प्रयोग हुआ है—

'शरच्चन्द्रवक्त्रा लसत्पद्मनेत्रा स्वलंकार युक्तापि वासो विमुक्ता।
सुरूपापि योषिन्न वै शोभमाना हरेर्नामहीना सुवाणी तथैव॥[4]

अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'चन्द्रमा के समान मुखवाली स्त्री सब प्रकार से सुसज्जित रहने पर भी वस्त्र के बिना शोभा नहीं पाती।' हरिहरप्रसाद जी[5], पंजाबी जी[6], शुकदेवलाल जी[7], विनायक राव जी[8], अवधविहारीदास जी[9], ग्राउस महोदय[10], विजयानंद त्रिपाठी जी[11] और रामनरेश त्रिपाठी जी[12] आदि समस्त टीकाकारों ने 'बसन' का अर्थ 'वस्त्र' किया है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ निश्चित होता है।

---

१. मानस ५।२३।४
२. वही २।१७७।४
३. दे० मानस १।१३३।८, १।३२६।३, विनय० ५०, ४४, श्रीकृष्ण० ६० आदि।
४. मा० पी०, खं० १, पृ० १६६
५. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १८
६. मा० भा०, पृ० ३४
७. रामा०, पृ० ११
८. वि० टी०, पृ० ५२
९. मानस, पृ० १६
१०. द रामा० ऑव तुलसीदास, पृ० ८
११. मानस वि० टी०, प्र० भा०, पृ० ३०
१२. ,, ,, ,, पृ० ४१७

'भरनी'

रामकथा कलि पन्नग भरनी। पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी ॥[१]

'भरनी' अनेकार्थी शब्द है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ इस प्रकार है—

(१) संज्ञा स्त्री० (हिन्दी भरना) १. करघे की ढरकी। नार। उदा०— सुरति ताना करै पवन भरनी भरै, माँडी माँडी प्रेम अंग अंग भीनै। पलटू, बानी, पृ० २५।

(२) संज्ञा स्त्री० (अनिश्चित व्युत्पत्ति) १. छछूँदर। २. मोरनी। ३. गारुड़ी मंत्र। ४. एक प्रकार की जंगली बूटी।

(३) काव्यप्रयोग, पुरानी हिन्दी—संज्ञा स्त्री० (सं० भरणी) भरणी नक्षत्र।[२] श्यामसुंदरदास जी[३] और बाबूराम मिश्र जी ने[४] इसका अर्थ 'भरणी नक्षत्र' किया है।

'गारुड़ी मंत्र' को भी 'भरणी' कहते हैं जिससे सर्प के काटने पर झाड़ते हैं, तो साँप का विष उतर जाता है। 'मानस तत्त्व-विवरण' में लिखा है— 'वह मंत्र जिसे सुनकर सर्प हटे तो बचे नहीं और न हटे तो जल-भुन जावे।' यथा—'किलो सर्पा तेरे बानी' इत्यादि। बाबा हरीदास जी कहते हैं कि झाड़ने का मंत्र पढ़कर कान में 'भरणी' शब्द कहकर फूंक डालते हैं और पाँड़े जी कहते हैं कि भरणी झाड़ने का मंत्र है। सुधाकर द्विवेदी जी कहते हैं कि 'राजपूताने की ओर सर्प-विष झाड़ने के लिए भरणी गान प्रसिद्ध है। फूल की थाली पर सरफुलई से तरह-तरह की गति बजाकर यह गान गाया जाता है।'[५] पं० विजयानंद त्रिपाठी जी ने भी 'भरणी' का अर्थ 'भरणी-मंत्र' किया है।[६]

बैजनाथ जी[७] और जानकीशरण जी[८] लिखते हैं कि ब्रज देश में एक सर्पनाशक जीव-विशेष होता है जो मूसे का-सा होता है। यह पक्षी सर्प को

---

१. मानस १।३१।६
२. दे० पृ० ३६२३
३. मानस, पृ० ३६
४. रामा०, पृ० ३५
५. मा० पी०, खं० १, पृ० ४५१
६. मानस, वि० टी०, प्र० भा०, पृ० ७६
७. रामा० बाल०, पृ० १८४
८. मानस मार्तण्ड टीका, प्र० खं०, पृ० ३१२

देखकर सिकुड़कर बैठ जाता है। साँप उसे मेढक (दादुर) जानकर जीता ही निगल जाता है, तब वह अपनी काँटेदार देह को फैला देता है जिससे सर्प का पेट फट जाता है और साँप मर जाता है। यथा—

'तुलसी क्षमा गरीब की पर घर घालनिहारि।
ज्यों पन्नग भरनी ग्रसेउ निकसत उदर बिदारि ॥ (तुलसी-सतसई)

व्यास-शैली के टीकाकारों ने इसके तीन-तीन, चार-चार अर्थ किये हैं। श्री रामचरणदास जी ने 'गरुड़ मंत्र, मयूरी और एक विशेष जन्तु आदि' अर्थ किये हैं।[1] हरिहरप्रसाद जी के अनुसार—'कोऊ कहत रामकथा कलिरूपी सर्प को भरनी कहैं झारिबे को मंत्र है वा पक्षी सर्पनाशक वा भरनी एक मूसा जंतु वा भरनी नामा नक्षत्र है भाव भरनी नक्षत्र का जल सर्पनाशक है ज्योतिष में लिखा है वा भरनी मयूरी।'[2] पंजाबी जी लिखते हैं—'भरनी कंडहिरे को कहते हैं सो साँपों को मारते हैं अरु जैपुर के देश में जिससे सर्प की विष उतरे उस मन्त्र को भरनी कहते हैं। सों कलि रूपी सर्प की विष उतारने को श्री रामचन्द्र की कथा भरनी सम है।'[3]

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने इसके लगभग चार अर्थ किये हैं—'भरणी नक्षत्र, गारुड़ी मंत्र, एक पक्षी-विशेष और मयूरी।'

मोरनी और सर्प का विरोध प्रसिद्ध है। अतः 'विरोधिता' अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ 'भरनी' का अर्थ 'मोरनी' होगा। उपर्युक्त 'हिन्दी शब्द-सागर' और 'मेदिनी कोश' में 'भरणी' का अर्थ मोरनी है—'भरणी मयूरपत्नी स्यात् वरदा हंसयोषिति।'[4]

वीरकवि जी[5], रामनरेश त्रिपठी जी[6], श्रीकांतशरण जी[7], रामेश्वर भट्ट जी[8], पोद्दार जी[9], विनायक राव जी[10], अवधबिहारीदास जी[11], 'तुलसी-

१. रामा०, पृ० ६४
२. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० ३६
३. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ६६
४. मा० पी० बाल०, खंड १, पृ० ४५१
५. रामा०, पृ० ५०
६. मानस, पृ० ४३
७. ,, सि०ति०, प्र० खं०, पृ० १७४
८. ,, पृ० ४६
९. ,, पृ० ६३
१०. रामा० बाल०, वी० टी०, पृ० ११६
११. मानस, पृ० ४६

ग्रन्थावली' के सम्पादक महोदय[१] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी[२] ने भी इसका अर्थ 'मोरनी' किया है।

गोस्वामी जी जहाँ-जहाँ भव-ब्याल से त्रस्त हुए हैं, वहाँ उन्होंने उरग-रिपुगामी का स्मरण किया है—

ग्रसित-भवव्याल अतिभास तुलसीदास माहि श्रीराम उरगरियानम्।[३]
तुलसीदास भव-ब्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ॥[४]
परम-कठिन भाव-ब्याल-ग्रसित हौं, त्रसित भयो अति भारी ॥
चाहत अभय मेक सरनागत खगपति नाथ बिसारी ॥[५]

तात्पर्य यह है कि गोस्वामी जी ने सर्प के नाश के लिए 'मोरनी' और 'उरगरिपुगामी' का ही प्रयोग किया है, भरणी नक्षत्र, गारुड़ी मंत्र, एक पक्षी-विशेष कहीं नहीं कहा है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'रामकथा कलिरूपी सर्प के लिए मोरनी के समान है और विवेकरूपी अग्नि (उत्पन्न करने) के लिए लकड़ी है।' अर्थात्, जैसे मोरनी सर्प को खा जाती है, उसी प्रकार रामकथा सुनने से पाप नष्ट होता है।

'पतंग'

करहिं गान बहु तान तरंगा। बहु बिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा ॥[६]

'पतंग' अनेकार्थी शब्द है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसके अनेक अर्थ दिये हैं—

पतंग—सं० पु० [सं० पतङ्ग] १. पक्षी, चिड़िया; २. शलभ, टिड्डी; ३. पाँखी, भुनगा, फतिंगा; ४. कोई परदार कीड़ा, उड़ने वाला कीड़ा; ५. सूर्य; ६. एक प्रकार का धान, ज़ड़हन; ७. जलमहुआ, जलमधूक वृक्ष; ८. एक प्रकार का चंदन; ९. कंदुक, गेंद; १०. पारद, पारा; ११. जैनियों के एक देवता जो वाणव्यतर नामक देवगण के अन्तर्गत हैं; १२. एक गंधर्व का नाम; १३. एक पहाड़ का नाम; १४. तन, शरीर, जिस्म (अने०); १५. नौका, नाव (अने०); १६. चिनगारी; १७. कृष्ण या विष्णु (को०); १८. अश्व, घोड़ा (को०)।[७]

१. प्र० खं०, प्र० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४७
२. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १४५
३. विनय० ६१
४. वही ११७
५. वही ९२
६. मानस १।१२६।५
७. दे० पृ० २७८४

विजयानन्द त्रिपाठी जी[१] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक[२] महोदय ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'जलपक्षी अनेक प्रकार की कीड़ाएँ कर रहे हैं।' श्यामसुन्दरदास के अनुसार—'जल में अनेक प्रकार के पक्षी क्रीड़ा करने लगे।'[३] बैजनाथ जी के मत से—'पाणि कहे हाथ कैसे चंचल चलत यथा वायुवश पतंग आकाश में चलत।'[४] रामेश्वर भट्ट जी ने इसका अर्थ 'सूर्याकार' किया है।[५] विनायक राव जी लिखते हैं कि—'हाथों को अनेक प्रकार से गुड्डी की नाईं नचाती थीं।'[६]

श्रीकांतशरण जी कहते हैं कि 'बहुत तरह की पाणि-पतंग आदि क्रीड़ाएं कर रही हैं।'[७] बाबूराम मिश्र जी अर्थ करते हैं कि 'अपने गुलाबी हाथों से बहुत तरह की क्रीड़ाएँ करने लगीं।'[८] अवधबीहारीदास जी इसका अर्थ करते हैं कि 'हाथ को पतंग की तरह भाव देखा करके नाच नाचने लगीं।'[९] ग्राउस महोदय लिखते हैं कि (वे) 'स्वयं नृत्य में आमोद-प्रमोद करती हुई हाथ हिला रही थीं।'[१०] व्यास-शैली के टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। श्री रामचरणदास जी लिखते हैं कि 'पाणि कही हाथ के भावते पतंग नृत्य करती हैं···किन्तु पतंग नाम तम्बूरा को है सो पाणि में लिहे वजावती हैं नृत्य क्रीड़ा करती हैं।'[११] पं० ज्वालाप्रसाद जी के अनुसार—'बहुत प्रकार से हाथ ऊँचाकर गेंद उछालती हुई नाचने लगीं जिससे अंग दीखे अथवा पतंग नृत्य करती हैं, हाथों में गेंद उछालकर क्रीड़ा करती हैं।'[१२] हरिहरप्रसाद जी अपनी टीका में इसके इतने अर्थ दिये हैं—'पतंगा-अरुन रंग (रा०प०) हेतु अरुनोदय काल के सब रंग सूर्य से औ पतंग नामो (रा० प० प०) सो बहु प्रकार करि गान करति हैं····

१. मानस वि० टी०, प्र० भा०, पृ० २३५
२. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० १४६
३. मानस, पृ० १२६
४. रामा०, बाल०, पृ० ३८३
५. मानस, टीका० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १०
६. रामा० बाल० वि० टी०, पृ० २८८
७. मानस सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ४२४
८. रामा०, पृ० १३२
९. मानस, पृ० १५०
१०. "डिस्पोर्टिंग देमसेल्व्स इन द डान्स विद वेविंग हैंड्स" द—रामायन ऑव तुलसीदास, पृ० ६५
११. रामा०, पृ० २३१
१२. ,, सं० टी०, पृ० १७२

औ हाथरूपी पतंग को नचावति हैं, अर्थात् जैसे पतंग उड़त है वा अग्नि से जैसे पतंगा कहैं चिनगारी शीघ्र निकसति वैसे हाथ सो भाव अति शीघ्र बतावति हैं वा कोउन अस कहत हैं कि पतंग नाम कंदुक का है ताको क्रीड़हिं कहैं उच्चारति हैं।'[१] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि टीकाकारों ने इसके लगभग दस अर्थ किये हैं—पक्षी, पतंग-गुड्डी, पाणि-पतंग क्रीड़ा, अरुन या गुलाबी रंग, हाथ हिलाना, पतंग नृत्य, तम्बूरा, हाथ-रूपी पतंग, चिनगारी और कंदुक (गेंद)।

कुछ लोग पतंग का अर्थ 'सूर्य' करके यह अर्थ करते हैं कि 'सूर्य की ओर हाथ उठाकर क्रीड़ा करती हैं। ऐसा करके अपने अंगों को दिखाती हैं जिससे मन में विक्षेप हो।'[२]

जल में पक्षी या जलपक्षी की क्रीड़ाओं से समाधिस्थ नारद जी पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? इससे उद्दीपन विभाव की कल्पना असंगत प्रतीत होती है। 'पतंग नृत्य' अर्थ करने से 'पानि' शब्द व्यर्थ हो जाता है। 'अरुन रंग, हाथ हिलाना, तम्बूरा, चिनगारी और हाथ-रूपी पतंग को नचाना' आदि अर्थ ऊटपटांग और मनमाने हैं। अतः ये सभी अर्थ अग्राह्य हैं। सूर्य की ओर हाथ उठाकर कौन-सी क्रीड़ा है, इस प्रकार के खेल का उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त हुआ। 'पतंग' का 'गुड्डी' अर्थ भी अप्सराओं के प्रसंग में असंगत है। यह अर्थ साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रतिकूल है। ग्रीक लोगों में चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व में पतंग खिलौने के प्रचलन का अनुमान लगाया गया है। चीन में छठी शताब्दी में इसका प्रचलन हुआ माना जाता है और जहाँ से संभवतः सातवीं शताब्दी में इसका प्रचलन मुस्लिम देशों में हुआ। डॉ० पी० के० गोड़े ने विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्यों से उद्धरण देते हुए और कई विद्वानों के विचार प्रकट करते हुए अपना यह मत प्रस्तुत किया है कि 'भारत में खिलौने के रूप में पतंग (गुड्डी) उड़ाने का प्रचलन १५०० ई० के पश्चात् हुआ।'[३] उतने प्राचीन काल में पतंग (गुड्डी) अर्थ में इसका प्रयोग अनुचित लगता है। वस्तुतः 'पतंग' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—'उड़ते हुए अथवा उछलते हुए जाने वाला (पतन्-उत्प्लवन गच्छतीति)। पक्षी, शलभ आदि उड़ने अथवा उछलने वाले जीव होते हैं। सूर्य को भी प्राचीन काल में आकाश में चलता हुआ माना जाता था। गेंद भी उछलती है। अतः संस्कृत

१. रामा० परिशिष्ट प्र०, पृ० ६८

२. मा० पी० बाल०, खं० २, पृ० ५५२

३. डॉ० केशवराम पाल, हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थ-परिवर्तन, पृ० ६१-६२

में पक्षी, शलभ, सूर्य और गेंद आदि के लिए 'पतंग' शब्द प्रचलित हुआ। इनमें से 'पक्षी' अर्थ में 'पतंग' शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है।'[१] हिन्दी साहित्य में कहीं भी 'गेंद' अर्थ में इसका प्रयोग नहीं मिला। संस्कृत में भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अधिक नहीं मिलता।

उक्त अर्धाली उस समय की है जिस समय नारद तपस्या में तल्लीन थे और इन्द्र ने अपने इन्द्रासन छीने जाने के भय से उन्हें तपस्या से विचलित करने के लिए अप्सराओं को भेजा था। भागवत में भी ठीक ऐसा ही एक प्रसंग मिलता है। एक बार राजा आग्नीध्र मंदराचल की एक घाटी में तपस्या में तल्लीन होकर श्री ब्रह्मा जी की आराधना करने लगे। ब्रह्मा जी उनकी अभिलाषा जानकर अपनी सभा की गायिका 'पूर्वचित्ति' नामक अप्सरा को उनके पास भेज दिया। राजा आग्नीध्र उसकी कामकला को देखकर पागल की भाँति इस प्रकार कहने लगे.......

'योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतंगो
दिक्षु भ्रमन भ्रमत ए जयतेऽक्षिणी मे।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्र जरावरूथं
कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एषनीवीम्॥'[२]

अर्थात्, 'तुम जब अपने कर-कमलों से थपकी मारकर इस गेंद को उछालती हो, तब यह दिशा-विदिशाओं में जाती हुई मेरे नेत्रों को तो चंचल कर ही देती है। साथ-साथ मेरे मन में भी खलबली पैदा कर देती है। तुम्हारा बाँका जटाजूट खुल गया है, तुम इसे सँभालती नहीं? अरे, यह धूर्त वायु कैसा दुष्ट है जो बार-बार तुम्हारे नीवी-वस्त्र को उड़ा देता है।'

'भागवत' में अन्यत्र भी ऐसे ही प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग 'गेंद' अर्थ में हुआ है —

'नैं कम ते जयति शालिनि पादपदमं हनन्त्या-
मुहुः करतलेन पतत्पतंगम् मध्यं विषीदति बृहत्स्तन भारभीतं।
शान्तेव दृष्टिरमला-सुशिखासमूहः।'[३]

अर्थात्, 'सुन्दरि! जब तुम उछलती हुई गेंद पर अपनी हथेली की थपकी मारती हो, तब तुम्हारे चरण-कमल एक जगह नहीं ठहरते, तुम्हारा कटि-प्रदेश स्थूल स्तनों के भार से थक-सा जाता है और तुम्हारी निर्मल दृष्टि से भी थकावट झलकने लगती है।'

---

१. डॉ० केशवराम पाल, हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में परिवर्तन' पृ० ६१-६२
२. स्क० ५, अ० २, श्लोक १४
३. भा० ३।२०।३६

नवयौवना सुन्दर स्त्रियों अथवा अप्सराओं-नायिकाओं का कन्दुक-क्रीड़ा करना अनेक स्थलों पर 'भागवत' में प्राप्त हुआ है—

'यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमाना-
द्विलोक्य सम्मोह विमूढ़चेताः ॥'[1]

अर्थात्, 'हे महाराज ! एक बार वह अपने महल की छत पर गेंद खेल रही थी । गेंद के पीछे इधर-उधर दौड़ने के कारण उसके नेत्र चंचल हो रहे थे तथा पैरों के पायजेब मधुर झनकार करते जाते थे । उस समय उसे देखकर विश्वावसु गंधर्व मोहवश अचेत होकर अपने विमान से गिर पड़ा था ।'

जब भगवान् ने शंकर जी को मोहिनी रूप दिखाया था, उस प्रसंग में कन्दुक-क्रीड़ा का उल्लेख लगभग पाँच बार हुआ है ।[2]

गोस्वामी जी ने कई प्रसंग—जैसे वर्षा और शरद के वर्णन (किष्किधाकांड) में भागवत का अनुसरण किया है । बहुत संभव है कि उक्त अर्धाली के 'पतंग' शब्द को भी उन्होंने भागवत से ही ग्रहण किया हो, क्योंकि उक्त उद्धरणों में मानस और भागवत का प्रसंग ज्यों-का-त्यों मिलता है । अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'वे (नवयौवना अप्सराएँ) बहुत प्रकार की तानों की तरंग के साथ गाने लगीं और हाथ में कन्दुक (गेंद) लेकर अनेक प्रकार के खेल खेलने लगीं ।' एक ही शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं । प्रसंगानुसार यथास्थान उन अर्थों की संगति हुआ करती है । 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ 'कन्दुक' अर्थ ही पूर्ण संगत, उचित एवं प्रासंगिक प्रतीत होता है । भागवत के उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि 'पाणि पतंग क्रीड़ा' से देवता एवं ऋषियों के मन मोहित हो गये थे ।

शुकदेवलाल जी[3], पंजाबी जी[4], गुरुसहायलाल जी, लाला भगवानदीन जी, मानसपीयूषकार[5], रामश्याम जी[6], रामनरेश त्रिपाठी जी[7] और

---

१. भा० ३।२७।१७

२. वही ८।१२

३. रामा०, पृ०८१

४. 'अरु पतंग कहिये गेंदु तिन संग क्रीड़ा करतीआं विचारतीआं'—मा० भा० प्र० भा०, पृ० २०२

५. मा० पी० बाल०, खं० २, पृ० ५५२

६. रामा०, बाल०, पृ० ११३

७. मानस, पृ० १५१

पोद्दार जी[1] आदि टीकाकारों ने भी 'पतंग' का अर्थ 'कन्दुक' (गेंद) ही किया है।

'सुधा'

तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करै का सुधा तड़ागा ॥[2]

'हिन्दी शब्दसागर' में 'सुधा' शब्द के ये अर्थ दिये हैं—(१) अमृत, पीयूष, अमी, (२) मकरंद, (३) गंगा, (४) जल, (५) दूध, (६) रस, अर्क, (७) मूर्चिका, मरोड़ फली, (८) आँवला, आमलकी, (९) हर्रे, हरीतकी, (१०) सेंहुड़, थूहर, (११) सरिवन, शालपर्णी, (१२) बिजली, (१३) पृथ्वी, (१४) विष, जहर, हलाहल, (१५) चूना, (१६) ईंट, इष्टका, (१७) गिलोय, गुडुची, (१८) रुद्र की स्त्री, (१९) एक प्रकार का वृत्त, (२०) पुत्री, (२१) वधू, (२२) धाम, घर, (२३) मधु, शहद।[3]

मानसपीयूषकार ने उलझन से बचने के लिए अपने अर्थ में 'सुधा' शब्द को ही ज्यों-का-त्यों रख दिया है।[4] संत उन्मनी टीकाकार ने 'सुधा' के और भी अर्थ 'पर्यन्त' एवं 'गंगा' किये हैं। वे लिखते हैं कि—'सुधा' मागधी भाषा में 'पर्यन्त' अर्थ का वाचक है, अर्थात् थोड़े से जल की कौन कहे, तड़ाग-भरा जल भी हो तो क्या? वा सुधा गंगा, यथा—'सुधा गंगेष्टिकास्नह्योर्मवाले-पाऽमृतेषु च'। अर्थात् 'गंगा या तालाब ही फिर किस काम का? प्रोफेसर लाला भगवानदीन जी कहते हैं कि—'सुधा' का अर्थ 'जल' लेने से पुनरुक्ति दोष आ जाता है; दूसरे 'तड़ाग' शब्द से तो जल का बोध हो ही जाता है, 'सुधा' शब्द की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः इसका अर्थ यों करना चाहिए कि शंकर जी कहते हैं कि हे सुधा (पार्वती जी)! मरने पर तालाब भर पानी क्या कर लेगा? 'सुधा' पार्वती जी का नाम है—'जयन्ती मंगला काली भद्र काली कपालिनी। दुर्गा क्षमा शिवाधात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तुते ॥'

श्री रामबख्श पांडे जी, वीरकवि जी, पं० रामकुमार जी और श्रीमान् गौड़ जी ने 'सुधा' का अर्थ 'अमृत' ही किया है। पांडे जी लिखते हैं कि—'मुए को तालाब क्या करेगा, क्या अमृत का तालाब है जो जिला लेगा?' वीरकवि जी

१. मानस, पृ० १४२

२. मानस १।२६१।२

३. दे० पृ० ३५९०

४. मा० पी० बाल०, खं० ३, पृ० ४८३

कहते हैं कि 'अमृत का तालाब प्यास के दुःख से मरे हुए को जिला देगा, परन्तु प्यास की भीषण यंत्रणा से तड़प-तड़प कर जो उसके प्राण निकले हैं, उस पीड़ा को नहीं भुला सकता।'

श्रीमान् गौड़ जी लिखते हैं कि "यहाँ सीता जी धनुषभंग की प्यासी हैं। इतनी छोटी बात के तुरंत न हो जाने से यदि अत्यन्त अधीरता के कारण अमंगल हो जाय, तो पीछे धनुषभंग (साधारण जल तो क्या) सुधा-तड़ाग (स्वयं सरकार) का उनके समक्ष मौजूद हो जाना भी क्या करेगा ? कोई पानी का प्यासा तो मर जाय, पर उसके पास ही अमृत का तालाब भरा हो जो उसके शव तक स्वयं न पहुँच सके, तो मुए को उस तड़ाग का होना मात्र क्या लाभ पहुँचायेगा ? जब सारी खेती सूख ही गयी, निष्प्राण हो गयी तो पानी बरस के उसे हरा न कर सकेगा, क्योंकि पानी रगों में पहुँच न सकेगा। अवसर चूक जाने पर पछताना ही हाथ लगता है। यहाँ सरकार मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं—'प्रभु चह त्रिभुवन मारि जिआई।' परन्तु इन्द्र के पूछने पर ही जिलाने की बुराई उसे दी जाती है। यहाँ अमंगल होने पर 'सुधा-समुद्र' भी कुछ नहीं कर सकता। 'सुधा-समुद्र' भगवान् के रूप को अन्यत्र भी कहा है। [सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृग जल निरखि मरहु कत धाई। (२४६।५)] यहाँ अत्यन्तानुप्रास के लिए 'सुधा-तड़ाग' कहा। इसमें कोई दोष नहीं।'[१] श्री अवधबिहारीदास जी ने कुछ अंतर के साथ गौड़ जी के ही मत का समर्थन किया है। श्रीकांतशरण जी[२], रामबहादुर साहित्याचार्य और जगन्नाथ प्रसाद भानु[३] ने श्री अवधबिहारीदास जी के तर्क एवं भाव को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है। भानु जी के कुछ भाव मानसपीयूषकार की टीका से उद्धृत किये हुए लगते हैं। श्री अवधबिहारीदास जी लिखते हैं कि 'जानकी प्यासी हैं, श्रीराम जी के हाथों से धनुष टूटने की आशा प्यास है—'आस पिआस मनोमल हारी।' धनुष टूटने का सुख जल है (यथा—'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी') और श्रीराम जी अमृत का तड़ाग हैं।' यह भाव गौड़ जी के भाव से साम्य रखता है। आगे वे कहते हैं कि अमृत का गुण जिलाने का नहीं है, अमरत्व करने का है, 'सुधा सराहिअ अमरता···' देह से बाहर निकल गई हुई आत्मा को फिर उसमें बुलाकर अथवा किसी दूसरी आत्मा को तैयार करके उस देह में प्रवेश करा देने का गुण वा सामर्थ्य अमृत

---

१ मा० पी० बाल०, खं० ३, पृ० ४८४

२. मानस सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ७१४

३. तुलसी-तत्त्वप्रकाश, पृ० ४६-५०

में नहीं है।...जिन्दा अमृतपान करने से शरीर में आत्मा अमर हो जाती है फिर शरीर में से नहीं निकलती है।......यदि कहिए कि लंका में मरे हुए वानरों को इन्द्र ने अमृत की वर्षा करके जिलाया है, तो उसका समाधान यों है कि यदि अमृत में जिलाने का गुण होता तो निश्चरों पर भी अमृत की वर्षा हुई थी। निश्चरों को भी जीना चाहिए था, पर वे नहीं जीवित हुए। यदि कहिए कि फिर वानर-भालु क्यों जीवित हुए ? तो वे श्रीराम जी की इच्छा से जीवित हुए थे—(प्रमाण) 'जिए सकल रघुपति कीं ईछा।' पुनः यदि कहिए कि श्रीराम जी ने इन्द्र से जिलाने को क्यों कहा है—(उत्तर) इन्द्र को श्रीराम जी ने केवल बड़ाई दिया है—(प्रमाण) केवल 'सक्रहि दीन्ह बड़ाई', नहीं तो 'प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई'। अतः इन्द्र और अमृत से वानर-भालु नहीं जिये हैं। वे श्रीराम जी की इच्छा से जिये हैं। यह तो शब्दार्थ हुआ। '...जो सुधा का अर्थ जल-तड़ाग का करते हैं वह महा अयोग्य हैं, क्योंकि शब्द-विरोध, उपमा-विरोध, दोऊ विरोध उपस्थित हो जाते हैं। उपमा-विरोध यह है कि जब 'सुधा तड़ागा' का उपमेय करना पड़ेगा कि सुधा-तड़ाग क्या है, तब विरोध पड़ेगा। अतः यहाँ सुधा-तड़ाग का अर्थ जल-तड़ाग नहीं हो सकता।'[१] शब्द-विरोध दीन जी की ही भाँति माना है। ज्वालाप्रसाद जी[२], ग्राउस महोदय[३], तुलसी-ग्रंथावली के सम्पादक[४], श्यामसुंदरदास जी[५], रामनरेश त्रिपाठी जी[६] और पोद्दार जी ने[७] 'सुधा' का अर्थ 'अमृत' ही किया है।

संतसिंह पंजाबी जी लिखते हैं कि —'सामान्य जल की इच्छा करता हुआ कोउ त्रिषावंत जो मर जाय तो पुनः सुधा-सरोवर की प्राप्ति सों उसको क्या सिद्ध होता है। 'सुधा' पद इहाँ अमृत का बाचिक नहीं लेना जाते, अति

१. मानस, पृ० २७९-८०
२. रामा०, पृ० ३१०
३. "इफ ए मैन डाई ऑव् थर्स्ट फॉर वांट ऑव् वाटर, ह्वेन ही इज वन्स डेड, ऑव् ह्वाट यूज टु हिम इज ए लेक ऑव् नेक्टर"—द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० १२७
४. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २५६
५. मानस, पृ० २५१
६. " " पृ० २८७
७. ,, ,, पृ० २४८

दूषन आवता है, ताते लछना कर अति बिमल अरु मिष्ट जल का वाचक जानना अथवा सुधा नाम चूने का जौ किसू तृषित कों पोखर की जल भी न मिला अरु उसी मुए हुए को चूने गच तालाब सों डारिए तौ क्या सिद्ध है ? 'सुधा लेपो मृतस्नुही इत्यमरा तृतीये कांडे नानार्थ वर्गे टीका दारव्यपियेनदेव गृहादिकं लिप्यतेत लेपचूरणं सुधा तैसे तृषावंत ।' सीता जो तिसने जीवते पोखर जलवत चाप का उठावना न किआ अरु मृत्यु भई पीछे धनुष को तोड़ दिया तो उसके किस काम का। टिप्पणी—मुए को सुधा का तड़ाग अर्थात् जल का तालाब क्या करैगा वा कहने वाला कहता है कि मुए को तालाब क्या करेगा, क्या अमृत का तालाब है वा यह कि जो मर गया सो मुए पर जल के तलाव को क्या करेगा।'[1]

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने 'सुधा' के लगभग छह अर्थ किये हैं—पर्यन्त, गंगा, पार्वती, चूना, अमृत और मिष्ट जल।

'पर्यन्त, गंगा और चूना' अर्थ बिल्कुल अनर्गल हैं। सुधा का अर्थ 'पार्वती' भी नहीं हो सकता, क्योंकि आगे के 'अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी।'[2] से ये श्रीराम जी के हृदय के विचार लगते हैं।

यहाँ पर 'सुधा' का अर्थ विचारणीय है। 'सुधा' का 'अमृत' अर्थ कवि के विचारों के प्रतिकूल है, क्योंकि षष्ठ सोपान में गोस्वामी जी ने कहा है कि—

सुधा बरषि कपि भालु जिआए। हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए ॥[3]

तात्पर्य यह है कि अमृत का गुण मृतक को जिलाना है। फिर वे यह कैसे कह कहते हैं कि 'मरने के बाद अमृत का तालाब किस काम का।' दीन जी, श्री अवधबिहारीदास जी, भानु जी आदि का यह कथन कि 'सुधा' का 'जल' अर्थ लेने से पुनरुक्ति दोष आ जाता है और 'तड़ाग' शब्द से तो जल का बोध हो ही जाता है—संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उक्त अर्धाली में दो वाक्य हैं। अतः प्रत्येक में 'सुधा' का प्रयोग हो सकता है। पुनः 'तड़ाग' बिना जल का भी होता है। गर्मियों में तालाबों का जल प्रायः सूख जाता है, फिर भी लोग उसे 'तड़ाग' (ताल) कहते हैं। गोस्वामी

---

१. मा० भा०, प्र० भा०; पृ० ३४४

२. मानस १।२६१।४

३. वही ६।११४।५

जी ने भी 'बिना जल की नदी' कहा है—'नदी बिनु बारी ।'[1] अतः यहाँ पर पुनरुक्ति दोष की कल्पना निरर्थक है।

श्रीकांतशरण जी और अवधबिहारीदास जी कथन कि 'बाहर निकल गई हुई आत्मा को फिर उसमें बुलाकर अथवा किसी दूसरी आत्मा को तैयार करके उस देह में प्रवेश करा देने की सामर्थ्य अमृत में ही है ।...यदि अमृत में जिलाने का गुण होता तो निश्चरों को भी जीना चाहिए था ।'

किन्तु उक्त कथन तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। अमृत का स्वाभाविक गुण है जिलाना। 'रघुवंश' में राजा अज का कथन है—

मृता जीवन्ति पीयूषैर्न तु मोक्षगताः क्वचित् ॥[2]
स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहित न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरैच्छया ॥[3]

अर्थात्, मरे हुए अमृत से जीवित हो जाते हैं, पर मोक्ष पाये हुए नहीं जीवित होते। राजा अज कह रहे हैं कि यह माला यदि प्राणहारक है तो मैं अपने हृदय पर धारण करता हूँ तो मेरे प्राण क्यों नहीं लेती। कभी-कभी विष भी अमृत की तरह से आचरण करता हूँ और कभी अमृत विष की तरह, ईश्वर की इच्छा से ही ऐसा होता है। बिना मुक्त हुई आत्मा अमृत से पुनः आ सकती है, जैसा कि 'रघुवंश' के उद्धरण से स्पष्ट है। यह सुनिश्चित है कि जल के बिना तड़प-तड़पकर मृत व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता। अत. वह अमृत से जी सकता है। गोस्वामी जी ने भी कहा है—

सुधा बृष्टि मैं दुहूँ दल ऊपर। जिए भालु कपि नहिं रजनीचर ॥
रामाकार भए तिन्ह के मन। मुक्त भए छूटे भव बंधन ॥[4]

यदि 'रजनीचर', 'रामाकार' और 'मुक्त' न हुए होते, तो वे भी सुधा-वृष्टि से जीवित हो जाते। अतः यह कहना कि 'सुधा' मृतक को नहीं जिला सकता, असंगत है। भालु-कपि सब देवांश थे। देवता लोग मोक्ष नहीं चाहते, वे सगुणोपासक हैं—सगुणोपासक मोक्ष न लेहीं; सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोक्ष सुख त्यागि।[5] अतः स्पष्ट है कि भालु-कपि मुक्त नहीं हुए थे, इसी कारण

---

१. मानस २।६५।७
२. मा० पी० लंका०, पृ० ५८०
३. रघुवंश ८।४६
४. मानस ६।११४।५-६
५. वही ४।२६

वे अमृत-वृष्टि से जीवित हो गये। अतएव उक्त अर्धाली में आए हुए 'सुधा' शब्द का अर्थ जल ही होगा—'प्यासे ने यदि जल के बिना शरीर त्याग दिया, तो मर जाने पर जल का ताल ही (मिल जाय तो) क्या करेगा (क्या लाभ)?'

'हिन्दी शब्दसागर' आदि हिन्दी कोशों के अतिरिक्त संस्कृत कोशों में 'सुधा' का एक अर्थ 'जल' दिया हुआ है।[1] प्रकरण नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी 'सुधा' का अर्थ जल ही होगा। उक्त अर्धाली सीता जी के पक्ष की है और आगे स्वयं कवि ने सीता जी के लिए लिखा है कि—

सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती॥[2]

अतः स्पष्ट है कि इसके पूर्व कवि ने सीता के पक्ष में 'जल' शब्द का प्रयोग किया है। प्रज्ञानन्द स्वामी ने भी 'जल' ही अर्थ स्वीकार किया है। श्री राम-बख्श पांडे ने भी मुख्य अर्थ 'जल का तालाब' किया है।[3] वीरकवि जी ने अर्थ में तो 'अमृत का तालाब' ही लिखा है, पर टिप्पणी में लिखा है कि—'सुधा अमृत और जल दोनों को कहते हैं, यह सुधा शब्द से जल का ग्रहण है, अमृत का नहीं है। क्योंकि बिना जल के प्राण त्यागे हुए को सुधा-तड़ाग मिले तो क्या हो सकता है? वारिक संयोग से 'सुधा' शब्द में एक मात्र जल की अभिधा है।'[4] इनके अतिरिक्त श्री रामचरणदास[5], हरिहरप्रसाद जी[6], बैजनाथ जी[7], शुकदेवलाल जी[8], विनायक राव जी[9], रामेश्वर भट्ट जी[10] और विजयानन्द त्रिपाठी जी[11] आदि टीकाकारों ने 'सुधा' का अर्थ 'जल' ही किया है।

गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी 'अमी' शब्द का प्रयोग 'जल' अर्थ में किया है—

१. दे० संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, पृ० ११११५
२. मानस १।२६३।६
३. मा०पी० बाल०, खं० ३, पृ० ४८४
४. मानस, पृ० ३०६-३०७
५. रामा०, पृ० ३६०
६. रामा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १८०
७. ,, बाल०, पृ० ६२१
८. ,, पृ० १५६
९. वि० टी०, पृ० १४९
१०. मानस, पृ० २७०
११. वि०टी०, प्र० भा०, पृ० ४३७-३८

अरघ देइ मनि आसन बर बैठायउ।
पूजि कीन्ह मधुपर्क अमी अँचवायउ ।।[1]

यहाँ पर भी अयोध्याप्रसाद और रामबहोरी जी[2] 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक महोदय[3] और रामनारायण वाली प्रति[4] में इसका अर्थ 'अमृत' दिया है, किन्तु लाला भगवानदीन जी[5], सद्गुरुशरण अवस्थी जी[6] और अच्युतानन्द जी[7] ने 'अमी' का अर्थ 'जल' ही किया है। 'संस्कृत-हिन्दी कोश' में 'अमृत' का अर्थ 'जल' दिया है—अमृताध्मातजीमूत।[8] ब्राह्मण लोग भोजन के पूर्व और अंत में आचमन करते हुए यह मंत्र पढ़ते हैं—अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा, अमृतापिधानमसि स्वाहा।[9] इसमें आये हुए 'अमृत' शब्द का अर्थ 'जल' है। यद्यपि 'सुधा' और 'अमृत' का प्रसिद्धार्थ अमृत या पीयूष ही है, किन्तु गोस्वामी जी ने 'जल' अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। पार्वती-मंगल की उक्त पंक्ति में भी आये हुए 'अमी' का अर्थ 'जल' ही है।

'हरि'

हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे ।।[10]

'हिन्दी शब्दसागर' में 'हरि' शब्द के ये अर्थ दिये हैं—(१) विष्णु, (२) इन्द्र, (३) घोड़ा, (४) बन्दर, (५) सिंह, (६) सिंह राशि, (७) सूर्य, (८) किरण, (९) चन्द्रमा, (१०) गीदड़, (११) शुक, सुआ, तोता, (१२) मोर, मयूर, (१३) कोकिल, कोयल, (१४) हंस, (१५) मेढक, मंडूक, (१६) सर्प, साँप, (१७) अग्नि, (१८) वायु, (१९) विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण, (२०) श्री राम, (२१) शिव, (२२) यम, (२३) शुक्र, (२४) गरुड़ के एक पुत्र का नाम,

---

१. पा० मं० १३५
२. पा० मं०, पृ० ४२
३. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३४
४. पा० मं०, पृ० ३१
५. तुलसी-पंचरत्न, पृ० ११
६. तुलसी के चार दल, पृ० १४४-४५
७. पा० मं०, पृ० ३८
८. उत्तररामचरित ६।२१
९. दे० संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, पृ० ८५
१०. मानस १।३१७।३

(२५) एक पर्वत का नाम, (२६) एक वर्ष या भू-भाग का नाम, (२७) अठारह वर्णों का एक छन्द या वृत्त, (२८) बौद्ध शास्त्रों में एक बड़ी संख्या का नाम।[१]

मयंककार जी 'हरि' का अर्थ **कामदेव** करते हुए कहते हैं कि—'जब रामचन्द्र जी ने हित सहित 'हरि' (कामदेव) को उसके पूर्णार्थ अवलोकन किया तो रमा रमेश मोहित हो गये। काम को अवलोकना श्रृंगार रस को धारण करना जानना चाहिए।'[२]

श्री रामचरणदास[३], हरिहरप्रसाद जी[४], बैजनाथ जी[५], ज्वालाप्रसाद जी[६], ग्राउस महोदय[७], श्यामसुन्दरदास जी[८], विजयानंद त्रिपाठी जी[९], रामनरेश त्रिपाठी जी[१०], पोद्दार जी[११], श्रीकांतशरण जी[१२], तुलसी-ग्रंथावली के संपादक महोदय[१३], रामबख्श पांडे जी, पं० रामकुमारदास जी और प्रोफेसर रामदास गौड़ जी[१४], आदि अधिकांश टीकाकारों ने 'हरि' का अर्थ 'विष्णु' ही किया है।

तुलसी-साहित्य में 'हरि' शब्द का अर्थ अनेक स्थलों पर विष्णु भगवान् है, किंतु मानस के चतुर्थ सोपान में 'हरि' का अर्थ बंदर है—

कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा॥[१५]

---

१. दे० पृ० ३७८४
२. मा० पी० बाल०, खं० ३, पृ० ७३४
३. रामा०, पृ० ४४३
४. ,, परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० २१३
५. ,, पृ० ६६६
६. सं० टी०, पृ० ३५१
७. द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० १५२
८. मानस, पृ० ३०२
९. वि० टी०, प्र० भा०, पृ० ५२३
१०. मानस, पृ० ३४३
११. ,, पृ० २६१
१२. ,, सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ८६४
१३. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३०८
१४. मा० पी० बाल०, खं० ३, पृ० ७३४
१५. मानस ४।१२।७

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से जहाँ जो अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, वहाँ वही ग्राह्य होता है। 'प्रकरण' से यहाँ 'हरि' का अर्थ 'घोड़ा' है। श्रीकांतशरण जी आदि कतिपय टीकाकार 'हरि' का 'विष्णु' अर्थ के संबंध में ये तर्क प्रस्तुत करते हैं—'इसमें कोई-कोई 'हरि' का अर्थ घोड़ा करते हैं, वह ठीक नहीं, क्योंकि शंकर, विधि, सुरेश एवं 'देवगन' को घोड़े सहित देखना न कहकर राम-रूप ही देखना कहा गया है—'राम रूप अनुरागे', 'निरखि राम छबि', 'रामहि चितव', 'रामहि देखी' इत्यादि वाक्य इसी प्रसंग में कहे गये हैं, तो विष्णु भगवान् पर क्या केवल राम-रूप का असर नहीं पड़ा कि उन्हें घोड़े सहित देखने पर मोह हुआ? इस अर्थ में राम-छवि का अपकर्ष है।'[1] किंतु ये तर्क बहुत संगत नहीं हैं। शंकर, ब्रह्मा, इन्द्र और देव-समाज को उनकी पत्नियों सहित देखने को न कहकर केवल रमापति को 'रमा समेत' क्यों कहा गया?

उमा जी और अन्य देवताओं की स्त्रियाँ भी तो साथ में थीं। फिर ब्रह्मा जी की स्त्री 'शारदा' जी तो उस घोड़े की छवि का वर्णन करने में असमर्थ थीं—'जेहि बर बाजि रामु असवारा। तेहि सारदउ न बरनै पारा॥'[2] यदि कवि केवल एक ही अंश का वर्णन करे, तो उसकी विशिष्टता क्या होगी? कवि की दृष्टि अंशतः नहीं, अपितु समग्रतः होनी चाहिए। अतः घोड़े सहित राम के वर्णन से राम-छवि का अपकर्ष नहीं, उत्कर्ष होता है—ऐसा भी कहा जा सकता है। व्याख्येय पंक्ति के ऊपर की पंक्तियों में कवि ने 'घोड़े' की छवि का जमकर वर्णन किया। विष्णु भगवान् को अपने वाहन गरुड़ पर गर्व था। वे समझते थे कि हमारे गरुड़ के समान किसी देवता का वाहन नहीं है। किन्तु उनका वाहन गरुड़ अभी ऊपर की पंक्तियों में लज्जित हो चुका है—

जेहि तुरंग पर रामु बिराजे। गति बिलोकि खगनायकु लाजे॥[3]

इसी कारण जब विष्णु भगवान् ने श्रीराम जी को घोड़े समेत देखा जो गरुड़ से करोड़ों गुना वेग-बलादि से युक्त था, तब वे मोहित हुए। श्रीराम जी दूल्हा रूप में बंधु समेत घोड़े पर सवार होकर श्री जनक-द्वार पर जा रहे हैं। अतः यहाँ पर 'घोड़े सहित' अर्थ अप्रासंगिक नहीं है। राम की रम्यता पर संभवतः कवि ने बल देते हुए सबको अपने में रमाने वाली रमा और उनके पति को विमुग्ध चित्रित किया है। इस अर्थ से 'विष्णु भगवान्' की पुनरुक्ति का भी

---

१. मानस सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ८१५

२. मानस १।३१७।१

३. वही १।३१६।७

परिहार हो जाता है। उपर्युक्त 'हिन्दी शब्दसागर' और 'संस्कृत-हिन्दी कोश'[1] में 'हरि' का एक अर्थ 'घोड़ा' भी दिया है। मयंककार का 'हरि' का अर्थ 'कामदेव' नहीं हो सकता, क्योंकि अभी कवि ने 'घोड़े' के लिए 'काम' की उत्प्रेक्षा की है। वीरकवि जी ने 'हरि हित सहित' का अर्थ 'भले घोड़े के सहित' किया है, किंतु यह संगत नहीं है। 'हित' शब्द का प्रयोग 'प्रेम' के अर्थ में गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है—

जो कह रामु लखनु वैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही ॥[2]

अतः यहाँ पर 'हित' का अर्थ 'प्रेम' ही होगा। रामेश्वर भट्ट जी ने अर्थ किया है—'जब प्रेम से श्री रामचन्द्र जी को और घोड़े को देखा, तब लक्ष्मी समेत विष्णु मोहित हो गये।'[3] किंतु यहाँ पर 'घोड़े सहित प्रेमपूर्वक राम को देखा' अर्थ ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। विनायक राव जी का अर्थ तो उपयुक्त है, किंतु उन्होंने 'राम समेत' का अर्थ नहीं किया है— 'लक्ष्मीपति विष्णु जी ने जब घोड़े समेत रामचन्द्र जी के रूप को प्रेम से देखा तो मोहित हुए। भाव यह कि हमारे ही रूपांतर रामचन्द्र जी की इस समय घोड़े पर कैसी अनुपम छटा है।'[4] बाबू श्यामलाल जी का अर्थ तो ठीक है, किंतु 'हरि हित सहित' का अर्थ 'योग्य घोड़ा' कुछ खटकता है।[5] श्री अवधबिहारी दास जी का अर्थ बिल्कुल असंगत है—'श्रीराम जी ने जब प्रेम के सहित घोड़ों को देखा अर्थात् चलाया, तब श्रीराम जी की ऐसी शोभा बढ़ी कि लक्ष्मी के सहित जो विष्णु हैं सो मोहित हो गये।'[6] इस अर्थ के स्वीकार करने में 'तब श्रीराम जी की ऐसी शोभा बढ़ी कि' वाक्य अलग से जोड़ना पड़ता है। मानसपीयूषकार ने तो 'हरि' का अर्थ 'विष्णु भगवान्' और 'घोड़ा' दोनों करके विलक्षण समन्वय कर दिया है—'विष्णु भगवान् ने जब श्रीराम जी को प्रेमसहित एवं घोड़े सहित देखा तो लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु (मूर्तिमान् रमणीयता के पति) लक्ष्मीसहित मोहित हो गये।'[7]

---

१. आप्टे, पृ० ११६६
२. मानस २।१४२।७
३. ,, पृ० ३२३
४. वि० टी०, पृ० २३८
५. बालकांड का नया जन्म, पृ० १७१
६. मानस, पृ० ३३१
७. मा० पी० बाल०, खं० ३, पृ० ७३३

श्रीकांत जी[1] और गौड़ जी[2] पुनरुक्ति दोष का परिहार करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत करते हैं—'हरि और रमापति में पुनरुक्ति नहीं है। 'राम', 'रमापति', 'रमा' साभिप्राय है और 'हरि' की ठीक अभिधा का परिचायक है। रमा=रमणीयता की मूर्ति लक्ष्मी। रमापति=रमणीयता की मूर्ति के पति। इस तरह 'रमापति' 'हरि' का विशेषण है।' किंतु यह अर्थ बलपूर्वक किया हुआ लगता है। 'रमापति' का अर्थ 'रमणीयता के पति परम रम्यरूप विष्णु भगवान्, यहीं नहीं, बल्कि सर्वत्र होता है। अतएव इस अर्थ से 'पुनरुक्ति दोष' का निराकरण नहीं होता। अत: यहाँ पर उपर्युक्त अर्थ ही तर्कसंगत प्रतीत होता है। अतिव्याप्ति मिटाने के लिए भी 'रमापति' का प्रयोग संगत नहीं लगता। यह भी क्लिष्ट कल्पना है। इस तरह के सभी अर्थों में अन्वय की अस्वाभाविकता प्रतीत होती है, क्योंकि 'हित' शब्द बीच में आ जाने पर 'हरि सहित' की स्वाभाविकता को खंडित कर देता है। किंतु 'हरि' शब्द का 'विष्णु' अर्थ मानने पर यह अन्वयगत कठिनाई दूर हो जाती है। पुनरुक्ति की समस्या अवश्य कठिनाई उपस्थित करने लगती है। किंतु ऐसे प्रयोग मानस में अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं। यहाँ शब्दगत पुनरुक्ति भी नहीं है, क्योंकि 'हरि' शब्द पुन: नहीं आता और समानार्थी शब्दों के द्वारा पुनरुक्ति उतनी आपत्ति-जनक नहीं कही जा सकती। इस प्रकार दोनों ही अर्थ ग्राह्य कहे जा सकते हैं।

'कूट'

कमठ पीठ पबि कूट कठोरा। नृप समाज महु सिवधनु तोरा॥[3]

'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में 'कूट' शब्द के ये अर्थ दिये हैं—

(१) पहाड़ की ऊँची चोटी, जैसे हेमकूट; (२) सींग; (३) (अनाज आदि की) ऊँची और बड़ी राशि, ढेरी, जैसे अन्नकूट; (४) छल, धोखा, फरेब; (५) मिथ्या; (६) गूढ़ भेद, रहस्य; (७) वह जिसका अर्थ जल्दी न प्रकट हो, जैसे सूर का कूट, पहेली; (८) वह हास्य या व्यंग्य जिसका अर्थ गूढ़ हो।[4] आप्टे के 'संस्कृत-हिन्दी कोश में' हथौड़ा, घन और हलकी फली आदि अर्थ भी दिये हैं।[5]

रामनरेश त्रिपाठी जी लिखते हैं कि 'कूट' शब्द प्राय: पर्वत के अर्थ में आता है, पर यहाँ लौह के अर्थ में आया जान पड़ता है। आप्टे ने 'कूट' का अर्थ 'ए हैमर, एन आइरन मेटल' भी किया है।

---

१. मानस, सि० ति०, प्र० खंड, पृ० ८१५
२. मा० पी० बाल०, खंड ३, पृ० ७३४
३. मानस १।३५७।४
४. दे० पृ० २१६
५. दे० पृ० २८१

इस प्रकार उन्होंने 'कूट' का अर्थ 'लोहा' किया है।[१] श्री रामचरणदास जी पुनरुक्ति की चिंता न करते हुए पाठ ही परिवर्तित कर दिया है—कमठ-पीठ पबि कठिन कठोरा।'[२] रामेश्वर भट्ट जी[३], विनायक राव जी[४], श्यामसुन्दरदास जी[५] और ग्राउस महोदय[६] ने 'कूट' शब्द का अर्थ ही छोड़ दिया है। रामनरेश त्रिपाठी जी की भाँति वीरकवि जी ने कूट का अर्थ 'लोह-दण्ड'[७], विजयानंद त्रिपाठी जी ने 'निहाई'[८] और संतसिंह पंजाबी ने 'लोह'[९] किया है। बाबू श्यामलाल[१०] और बैजनाथ जी ने[११] 'वज्र-शिखा' अर्थ किया है। हरिहरप्रसाद जी[१२] और श्रीकांतशरण जी[१३] ने 'वज्र-समूह' अर्थ किया है।

किंतु यहाँ पर उक्त सभी अर्थ अग्राह्य हैं, क्योंकि गीतावली की इस पंक्ति, 'पन पिनाक, पवि मेरु तें गुरुता कठिनाई।'[१४] से 'कूट' का अर्थ यहाँ 'पर्वत' ही सिद्ध होता है। 'सामर्थ्य' नामक अर्थ:निश्चय के साधन से यहाँ कच्छप भगवान् की पीठ और वज्र के समकक्ष 'पर्वत' की ही संगति उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि 'पर्वत' गुरुता और काठिन्य की दृष्टि से 'लोह' से गुरुतर और कठिनतर है, अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'कच्छप भगवान् की पीठ, वज्र और पर्वत से भी कठोर शिव-धनुष को तुमने तोड़ दिया।'

१. मानस, पृ० ३६२
२. रामा०, पृ० ४६२
३. मानस, पृ० ३६७
४. वि० टी, पृ० ३११
५. मानस, पृ० ३४४
६. "इन द एसेम्बली ऑव् प्रिंसेज यू ब्रोक शिवाज बो, थो हार्ड टार्टस-शेल आर ए थन्डरबोल्ट" दे० रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० १७४
७. मानस, पृ० ४२५
८. वि० टी०, प्र० भा०, पृ० ५६०
९. मा० भा०, पृ० ४४३
१०. बालकांड का नया जन्म, पृ० २११
११. रामा०, बाल०, पृ० ७५८
१२. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० २३७
१३. मानस, सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ८८०
१४. गीता० १।१०१।३

हनुमानप्रसाद पोद्दार[१], अवधबिहारीदास जी[२], तुलसी-ग्रंथावली के संपादक महोदय[३] और मानसपीयूषकार[४] ने 'कूट' का अर्थ 'पर्वत' ही किया है। शुकदेवलाल जी ने 'वज्र का पर्वत' अर्थ किया है।[५] समझ में नहीं आता 'वज्र का पर्वत' क्या है? 'वज्र का पर्वत' का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अतः यह अर्थ बिल्कुल अग्राह्य है।

'सेष-सयन'

गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो तब हिय हरषाने जाने सेष-सयन।[६]

'सेष और सयन' अनेकार्थी शब्द हैं। 'सेष' का अर्थ है—(सं० शेष) (१) बाकी, शेष; (२) सर्पराज; (३) थोड़ा, न्यून। 'सेष' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने 'बाकी' और शेषनाग, दोनों अर्थों में किया है।

'बाकी' अर्थ में—

सप्त सप्त तजि सेष को, राखै सब बिलगाना।[७]

'सर्पराज' अर्थ में—

शेष सर्वेश आसीन आनंदवन, प्रणत तुलसीदास त्रासहारी॥[८]

जिन्ह के बिमल बिवेक, सेष महेस न कहि सकत॥[९]

'सयन' के कई अर्थ हैं—(१) सोने वाला, (२) सोना, शयन, (३) शय्या। यह 'सयन' सं० 'शयन' से विकसित है। इस अर्थ में श्री गोस्वामी जी ने 'सयन' शब्द का प्रयोग किया है—

करौ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन।[१०]

सयन किएँ देखा कपि तेही। मंदिर महु न दीखि बैदेही॥[११]

संस्कृत 'संज्ञपन' से विकसित 'सयन' का अर्थ है—इशारा, संकेत। इस अर्थ में भी गोस्वामी जी ने 'सयन' शब्द का प्रयोग किया है—

१. मानस, पृ० ३२६
२. ,, पृ० ३७४
३. प्र० खं, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३५१
४. मा० पी०, बा०, खं० ३, पृ० ८६१
५. रामा०, पृ० २१०
६. गीताप्रेस, गीता० ५१
७. रामाज्ञा०, आरंभिक दोहा।
८. विनय० ११
९. वैराग्य० ३४
१०. दे० तुलसी-शब्दसागर, पृ० ४४ और मानस १।१ सो० ३
११. वही ५।५।७

सयनहिं रघुपति लखनु नेवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे ॥[1]
सैनहिं कह्यो चलहु सजि सैन ॥[2]

सभा के संस्करण में 'जाने' शब्द नहीं है। यहाँ पर 'जाने' शब्द की अनुपस्थिति से उपर्युक्त अर्थानुसंगति नहीं होती। क्योंकि वार्ता दशरथ जी से हो रही है, इस बीच में उन्हीं का हर्षित होना संगत है, न कि शेषशायी राम जी का। हर्ष के उपरान्त दिया हुआ दान ही सात्त्विक दान है। दशरथ जी ने इसी प्रसंग में मानस में भी हर्षसमेत दान देने को कहा है—

माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा ॥[3]

अतः 'हिय हरषाने जाने सेष-सयन' पाठ ही तर्कसंगत लगता है। इसी कारण मैंने यहाँ पर गीता प्रेस का पाठ स्वीकार किया है। अन्य आधुनिक संस्करणों में भी लगभग यही पाठ है। अनेकार्थी शब्दों के कारण बैजनाथ जी ने भ्रामक अर्थ किया है। उन्होंने 'शेष' का अर्थ 'बाकी' और 'सैन' के अर्थ से प्रकट होता है कि इसका अर्थ 'संकेत' किया है। उनके अनुसार—'वशिष्ठ समुझायो कि विश्वामित्र द्वारा विवाह होनहार यज्ञ की रक्षा इनहीं करि होई अरू इनको मनुष्य न मानिये गो द्विज सुर साधु के रक्षक हैं इतनी बात प्रकट कहे साकेत विहारी परात्पर रूप को प्रसिद्ध नहीं कहे यह शेष कहे बाकी राखे ताको सैन बुझाइ समुझाइ हिये तब जानि रघुनाथ जी के ये रूप पर रूप है ताते हर्षाने हृदय में।'[4] हरिहरप्रसाद जी ने इस पंक्ति का अर्थ सरल जानकर छोड़ दिया है।

ठाकुर बिहारीलाल जी[5], मुनिलाल जी[6], श्रीकांतशरण जी[7] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय[8] ने 'शेष-सयन' का अर्थ 'शेषशायी भगवान् विष्णु' ही किया है। 'साहचर्य' अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ यही अर्थ होगा, क्योंकि शेषनाग जी और भगवान् विष्णु का साहचर्य देखा गया है। श्रीमन्नारायण को शेषशायी कहा जाता है, ऐसा प्रसिद्ध है। अतएव उक्त

१. मानस १।२५४।४
२. गीता० ५।२१
३. मानस १।२०८।३
४. गीता०, पृ० ११८-११९
५. विनय०, पृ० ६६
६. ,, पृ० ८१
७. ,, सि० ति०, पृ० १६८
८. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३५४

पंक्ति का अर्थ होगा—'जब गुरु वशिष्ठ जी ने (राम की महिमा) दशरथ जी को समझाकर बतायी, तब वे प्रसन्न हुए और समझ गये कि ये राम ही शेषशायी श्रीमन्नारायण हैं।' गोस्वामी जी यह मानते हैं कि क्षीरसमुद्र शेषशायी श्रीमन्नारायण और शेष जी ही श्रीराम और श्री लक्ष्मण के रूप में अवतार लिये हैं—

पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई ॥[1]

'सिखी सी'

कबहुँ समुझि बन गवन राम को रहि चकि चित्र लिखी सी।
तुलसिदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी सी ॥[2]

'सिखी' शब्द के अनेक अर्थ हैं--सीखी हुई, संस्कृत 'शिखिन्' से विकसित 'शिखी' का अर्थ है--मोर, आग[3], मुर्गा, बैल, साँड़, घोड़ा, केतु, बाण, तीर आदि।[4]

'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक महोदय 'सिखी' का अर्थ 'बाण' करते हुए लिखते हैं--'तुलसीदास कहते हैं कि उस समय की (उनकी) प्रीति का वर्णन करने से तो वह प्रीति ऐसी कसक उत्पन्न करती है, जैसे किसी ने (हृदय में) बाण खींच मारा हो।'[5] किन्तु यहाँ पर यह अर्थ संगत नहीं लगता। गोस्वामी जी ने 'सिखी' शब्द का प्रयोग 'सिखी हुई' अर्थ में अन्यत्र किया है—

रामहि चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से ॥[6]
कै ये नई 'सिखि' सिखई हरि निज अनुराग बिछोहीं ॥[7]

स्मरणीय है कि प्रथम उदाहरण में यदि 'चित्र लिखे से' और 'सिखे से' है तो उक्त पंक्ति में 'चित्र लिखी सी' और 'सिखी सी' है। यह शब्द-साम्य आश्चर्यजनक है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—

फिर तत्काल ज्योंही (कौशल्या जी को) राम के वन-गमन का स्मरण होता है, त्योंही विस्मित (भौंचक्की) होकर चित्र में बनी हुई-सी स्तब्ध रह

१. मानस २।१३८।५
२. गीता० २।५२।४
३. तुलसी-शब्दसागर, पृ० ४५६
४. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६२४
५. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४२६
६. मानस २।३०।३
७. श्रीकृष्ण० ४१।

जाती हैं। तुलसीदास कहते हैं कि उस समय का वर्णन करने से तो प्रीति सीखी हुई-सी प्रतीत होती है (क्योंकि वास्तविक प्रीति की उपस्थिति में उसका वर्णन ही असंभव है।)' श्रीकांतशरण जी[१], मुनिलाल जी[२], बैजनाथ जी[३], ठाकुर बिहारीलाल जी[४] और हरिहरप्रसाद जी[५] ने भी ऐसा ही अर्थ किया है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'सगुन'

सीता लषनु समेत प्रभु सोहत तुलसीदास।
हरषत सुर, बरषत सुमन सगुन सुमंगल बास ॥[६]

'सगुन' शब्द भी अनेकार्थी है। संस्कृत 'सगुण' से विकसित 'सगुन' का अर्थ है—परमात्मा का वह रूप जो सत, रज, तम आदि गुणों से युक्त रहता है। अवतार लेने पर या साकार होने पर भगवान् 'सगुण' कहे जाते हैं। यह रूप निर्गुण का उल्टा है।

संस्कृत 'शकुन' से विकसित 'सगुन' का अर्थ है—शकुन, शुभ लक्षण, शुभ।[७]

उक्त दोहे के 'सगुन' शब्द का अर्थ पं० कालीप्रसाद जी[८] और पोद्दार जी[९] ने 'सगुन रूप' किया है। किंतु यहाँ पर 'सगुण' अर्थ असंगत है, क्योंकि यह दोहा रामाज्ञा ३।१।७ का है। वहाँ के प्रसंगानुसार खर-दूषणादि पर विजय प्राप्त करके लक्ष्मणसहित श्री सीताराम विराजमान हुए हैं, उसी समय का यह ध्यान है। रामाज्ञा प्रश्न में इस शकुन को सुमंगल का स्थान कहा गया है। श्रीराम जी विजयी हैं, इससे लक्ष्मण जी और सीता जी भी अत्यन्त प्रसन्न हैं। दोहावली में भी यह ध्यान शकुन और सुमंगल का स्थान है। अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—'तुलसीदास कहते हैं कि जानकी जी और लक्ष्मण जी के

---

१. विनय०, सि० ति०, पृ० ५०६
२. गीता०, पृ० ५२
३. ,, पृ० २६०
४. ,, पृ० १७३
५. ,, अयो०, पृ० ३५
६. दोहा २
७. दे० तुलसी-शब्दसागर, पृ० ४४०
८. दोहा०, कौमुदी टीका, पृ० २
९. ,, पृ० २

साथ प्रभु श्रीराम जी शोभित हो रहे हैं। देवता प्रसन्न होकर उन पर पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। यह (ध्यान) शकुन एवं सुमंगल का निवास-स्थान है।' श्रीकांतशरण जी[1] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय[2] ने भी यही अर्थ किया है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ प्रासंगिक विदित होता है।

'सोहर'

लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर।
भए सुंदर सतकोटि मनोज मनोहर॥[3]

'सोहर' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) एक प्रकार का मंगल गीत जो बच्चा पैदा होने के समय गाया जाता है।[4] गोस्वामी जी ने इसे 'सोहिलो' कहा है—सहेली सुनु सोहिलो रे।[5] इस अर्थ में 'सोहर' हिन्दी सोहना, सोहला से विकसित है।

(२) शोभा दिखाने का समय। संदिग्ध व्युत्पत्ति मानते हुए भी 'तुलसी-शब्दसागर' में इस 'सोहर' का विकास संस्कृत 'शोभन' से माना गया है।[6] 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक ने 'सोहर' का अर्थ 'गलचौर' किया है।[7] गीता प्रेस की टीका में इसका अर्थ 'कोलाहल' किया गया है।[8] अच्युतानंद जी ने इसका अर्थ 'उत्सव' किया है।[9] यहाँ पर 'सोहर' का अर्थ 'शोभा या सौंदर्य दिखाने का समय', जैसा कि 'तुलसी-शब्दसागर' से स्पष्ट है, ही तर्कसंगत है, क्योंकि परिणय के समय सभी लोग चाहते हैं कि वर सुन्दर हो। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—

'लोकाचार की दशा देखकर (कि संसार में लोग वर को रूपवान चाहते हैं) तथा शोभा-प्रदर्शन का उपयुक्त समय समझकर शिव जी सौ करोड़ काम-

---

१. दोहा०, सि० ति०, पृ० ५-६
२. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० १११
३. पा० मं० १२४
४. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३६६४
५. गीता० १।२
६. दे० पृ० ४६८
७. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३३
८. पा० मं०, पृ० ३२
९. ,, ,, पृ० ३५

देवों के समान सुन्दर बन गये।' प्रकरण नामक अर्थनिश्चय के साधन से यह अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

लाला भगवानदीन जी[१], सद्गुरुशरण अवस्थी[२] और अयोध्याप्रसाद, रामबहोरी जी ने[३] भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

'अरगानी'

कहिबे कछू-कछू कहि जैहै, रहौ, आलि! अरगानी।[४]

सं० 'अलग्न' से विकसित 'अरगाना' या 'अंरगाई' का अर्थ है—अलग हुआ या अलग करके।[५] इस अर्थ में भी गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग किया है—

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥[६]

संस्कृत 'अलं गानम्' से विकसित 'अरगाई' या 'अरगानी' का अर्थ है—चुप होकर, चुप हुई, चुप। इस अर्थ में भी इसका प्रयोग गोस्वामी जी ने किया है—

भरतु कहहिं सोई किये भलाई। अस कहि रामु रहे अरगाई॥[७]
सुनि प्रिय बचन मलिन मनु जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी॥[८]

वहाँ पर 'अरगानी' शब्द का अर्थ रामायनसरन ने 'चुप रहु या अलग रहु' लिखा है।[९] किंतु यहाँ इसका दूसरा अर्थ 'चुप रहना' है। 'अलग रहने' की यहाँ संगति नहीं है, क्योंकि 'अरगानी' के पूर्व वाक्य का अर्थ है—'(एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है) हम कहना कुछ चाहती हैं और मुँह से न जाने क्या निकल जाय', इसके बाद 'इसलिए सखी! चुप रहो' की ही संगति लगती है। पोद्दार जी[१०], श्रीकांतशरण जी[११] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय[१२] ने भी यही अर्थ किया है।

१. तुलसी-पंचरत्न, पा० मं०, पृ० १०
२. तुलसी के चार दल, पृ० १३९
३. पा० मं०, पृ० ३८
४. श्रीकृष्ण० ४७
५. तुलसी-शब्दसागर, पृ० २६
६. मा० पी०, अरण्य० ४३।६, पृ० ३५०
८. मानस २।२५८।८
७. मानस २।१४।७
९. श्रीकृष्ण०, पृ० ४९
१०. " " पृ० ५५
११. श्रीकृष्ण०, सि० ति०, पृ० ११६
१२. द्वि० खं०, ना० प्र० वि० परि०, काशी, पृ० ५७६

'हरि'

अति अनन्य गति इन्द्री जीता । जाको हरि बिनु कतहुँ न चीता ।।
मृगतृष्ना सम जग जिय जानी । तुलसी ताहि संत पहिचानी ।।[१]

'हरि' शब्द के — विष्णु, इन्द्र, घोड़ा, बंदर, सिंह, सूर्य, किरन, चन्द्रमा, मोर, शिव, यम आदि अनेक अर्थ हैं ।[२] किन्तु 'विप्रयोग' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ 'भगवान् विष्णु' ही अर्थ तर्कसंगत है, क्योंकि जितेन्द्रिय संतों के चित्तों से वियोग होना इसी अर्थ को निश्चित करता है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'तुलसीदास जी कहते हैं जो जितेन्द्रिय और भगवान् में भली-भाँति तल्लीन हो, जिसके हृदय में हरि के अतिरिक्त और कोई न हो और जो इस संसार को मृगतृष्णा की तरह मिथ्या मानता हो, उसी को संत समझना चाहिए ।'

'रघुनाथ'

राम अहहिं दसरथ कै लक्षिमन आन कहो ।
भरत सत्रुहन भाई तौ श्री रघुनायक हो ।।[३]

'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय इसका अर्थ करते हैं कि—'राम तो दशरथ के हैं, लक्ष्मण किसी और के हैं । हाँ, भरत और शत्रुघ्न तो दोनों राम के ही छोटे भाई हैं।'[४] यहाँ 'रघुनाथ' शब्द का अर्थ 'राम' संगत नहीं लगता। वैसे 'रघुनाथ' श्रीराम के लिए प्रसिद्ध हो चुका है । 'रघुनाथ' शब्द अनेकार्थी है । इसके अर्थ दशरथ हैं—१. राम, २. दशरथ । यहाँ पर रघुनाथ का अर्थ दशरथ है । यहाँ भरत-शत्रुघ्न को श्रीराम जी का भाई कहना उचित नहीं प्रतीत होता । 'संयोग' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भरत और शत्रुघ्न ही परस्पर भाई हैं । भरत का शत्रुघ्न के साथ प्रसिद्ध संबंध है । गोस्वामी जी के शब्दों से भी यही प्रकट होता है—

बारेहि तें निज हित पति जानी । लछिमन रामचरन रति मानी ।।
भरत सत्रुहन दूनौ भाई । प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ।।[५]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'राम तो दशरथ जी के पुत्र अवश्य

१. वैं० सं० १४
२. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३६८४
३. नहछू १२
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३
५. मानस १।१९८।३-४

हैं, परन्तु लक्ष्मण उनके नहीं, किसी अन्य के हैं। हाँ, भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई तो महाराज दशरथ के ही हैं।' मानस के उपर्युक्त उद्धरण में 'दूनौ भाई' शब्द आया भी है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ निश्चित होता है, क्योंकि किसी महिला ने प्रथम कहा कि 'राम दशरथ के पुत्र हैं और लक्ष्मण किसी अन्य के। इसके उपरांत आना चाहिए कि भरत और शत्रुघ्न किसके हैं? राम की तरह से ये दोनों भाई सीधे थे, अतः उनका मजाक न करके स्पष्ट कह दिया कि 'श्री दशरथ जी के' ही सुपुत्र हैं।' श्रीकांत-शरण जी[1] और भी सद्गुरुशरण अवस्थी जी[2] ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।

'जेठि'

कौशल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन हो।
नहछू जाइ करावहु बैठि सिंहासन हो ॥[3]

'जेठि' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) जेठानी, जेठ या पति के बड़े भाई की स्त्री, (२) बड़ी, गुरु-स्त्रीगण (पद वा उम्र में बड़ी)। कुछ लोगों ने 'जेठि' का अर्थ जेठानी (पति के बड़े भाई की स्त्री) किया है। परन्तु यह अर्थ असंगत है, क्योंकि दशरथ जी की पत्नियों में 'कौशल्या' जी ही सबसे बड़ी पत्नी थीं। अतः यहाँ पर 'जेठानी' अर्थ बिल्कुल असमीचीन है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—

'किसी वयोवृद्धा (गुरु-पत्नी, पद में भी बड़ी) ने कौशल्या जी को आदेश दिया कि जाओ, सिंहासन पर बैठकर (बालक राम का) 'नहछू' कराओ।'

लाला भगवानदीन जी[4], श्रीकांतशरण जी[5], सदगुरुशरण अवस्थी-जी[6] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक[7] महोदय ने भी यही अर्थ किया है।

———

१. नहछू, सि० ति०, पृ० १३
२. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० १२-१३
३. नहछू ६
४. तुलसी-पंचरत्न, पृ० ३
५. नहछू, सि० ति०, पृ० ११
६. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० ६
७. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २

७

मुहावरों एवं लोकोक्तियों की अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है। संस्कृत एवं हिन्दी में इस शब्द का तात्त्विक अर्थज्ञान कराने वाला समानार्थी कोई शब्द नहीं है। श्री रामचन्द्र वर्मा 'मुहावरा' के स्थान पर 'रूढ़ि' शब्द को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार 'मुहावरा' के स्थान पर प्रयुक्तता, वाग्रीति, वाग्धारा, भाषा-सम्प्रदाय, वाग्योग, वाक्पद्धति, वाग्-व्यवहार, वाक्-सम्प्रदाय, विशिष्ट स्वरूप, वाक्प्रचार, वाक्-वैचित्र्य और इष्टयोग आदि अनेक शब्द विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। किंतु जब 'मुहावरा' शब्द एक प्राइमरी के छात्र से लेकर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर तक, दोनों ही उसे एकसाथ और एक ही अर्थ में समझते हैं, तो उसके स्थान पर किसी दूसरे शब्द को रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः उर्दू और हिन्दी दोनों के लिए 'मुहावरा' शब्द ही सर्वोपयुक्त है।

अब तक बहुत लोगों का विश्वास था कि हिन्दी में 'मुहावरे' उर्दू और फारसी से आये हैं और संस्कृत में मुहावरों का प्रयोग नहीं हुआ है। किंतु संस्कृत में मुहावरा के लिए इसका समानार्थी कोई शब्द प्रयुक्त न होने का यह कारण कदापि नहीं है कि इसमें मुहावरे नहीं हैं। संस्कृत-वाङ्मय मुहावरों से ओतप्रोत है। किंतु उनका वर्गीकरण और विश्लेषण शब्दशक्तियों और अलंकारों के अन्तर्गत ही कर दिया गया है। डॉ० ओमप्रकाश गुप्त ने ऋग्वेद से लेकर अब तक के मुहावरों की संक्षिप्त सूची और उनकी परंपरा का इतिहास देकर[1] यह सिद्ध कर दिया कि संस्कृत-साहित्य में आदिकाल से ही मुहावरों का प्रयोग हुआ है।

'मुहावरा' अरबी शब्द है, यह 'हौर' शब्द से निर्मित है। 'गयासुल्लुगात' में इस शब्द के संबंध में लिखा गया है—'महावरा विज्जम मीम वफतेह बाब वा मकदीगर कलाम करदन व पासुखदादन चकदीगर अज से राह बक न ज बगेरआँ।'[2]

---

१. मुहावरा-मीमांसा, पृ० १५-१८

२. गयासुल्लुगात—गयासुद्दीन (अनु० मुंशी गुलाबसिंह), पृ० ४४५, प्रका० लाहौर—दिल्ली, १८९५।

अर्थात् 'मुहावरा' मीम पर पेश और बाब पर जबर है। उसका अर्थ परस्पर बातचीत और एक-दूसरे से सवाल-जवाब करना है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ इस प्रकार है—'मुहावरा : संज्ञा पुल्लिग (अरबी मुहावर्‌ह) लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य या प्रयोग जो किसी एक ही बोली या लिखी जाने वाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष (अभिधेय) अर्थ से विलक्षण हो। रूढ़ लाक्षणिक प्रयोग। किसी एक भाषा में दिखाई पड़ने वाली असाधारण शब्दयोजना अथवा प्रयोग। जैसे—'लाठी खाना' मुहावरा है, क्योंकि इसमें 'खाना' शब्द अपने असाधारण अर्थ में नहीं आया है, लाक्षणिक अर्थ में आया है। लाठी खाने की चीज नहीं है। पर बोलचाल में 'लाठी खाना' का अर्थ 'लाठी का प्रहार सहना' लिया जाता है। इसी प्रकार 'गुल खिलाना', 'घर करना', 'चमड़ा खींचना', 'चिकनी-चुपड़ी बातें' आदि मुहावरे के अन्तर्गत हैं। कुछ लोग 'रोजमर्रा' या 'बोलचाल' भी कहते हैं। २. अभ्यास, आदत। जैसे आजकल मेरा लिखने का मुहावरा छूट गया है।'[१] डॉ० ओमप्रकाश गुप्त लिखते हैं कि मुहावरे की अधिक से अधिक सर्वाङ्गीण परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—'प्राय: शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों, कहानी और कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुकरण या आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देने वाले किसी भाषा के गढ़े हुए रूढ़ वाक्य, वाक्यांश अथवा शब्द इत्यादि को मुहावरा कहते हैं। जैसे, हाथ-पैर मारना, सिर धुनना, हीं-हीं करना, गटागट निगल जाना, टेढ़ी खीर होना, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना, दूध के जले होना, नौ की लकड़ी पर नब्बे खर्च करना, अंगारों पर लोटना, आग से खेलना इत्यादि।'[२]

लोकोक्ति बिना वक्ता की उक्ति है। लोकोक्ति शब्द का अर्थ है—'लोक+उक्ति', अर्थात् लोक में प्रचलित कथन। 'कहावत' का अर्थ है—कह+आवत= कहने में जिसकी आवृत्ति होती रहती है। लोकोक्ति एवं कहावत को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। जयनारायण वर्मा के शब्दों में 'लोकोक्ति वह रूढ़ वाक्य है जो संक्षिप्त, सारगर्भित, वक्र तथा तुकसाम्ययुक्त अनुभव की अभिव्यक्ति हो। यह वाक्य व्याकरण के नियमों से जकड़ा नहीं होता। अत: इसे स्वतंत्र रूढ़ वाक्य भी कहा जा सकता है।'[३] डॉ० ओमप्रकाश गुप्त के

१. दे० पृ० ३९८६

२. मुहावरा-मीमांसा, पृ० ३७६

३. हरियाणा की लोकोक्तियाँ—शास्त्रीय विश्लेषण, पृ० ५५; प्रका० आदर्श साहित्य प्रकाशन, १२६/६, वैस्ट सीलमपुर, दिल्ली—३१, प्र० सं० अगस्त, १९७२

शब्दों में—'भाषा की दृष्टि से मुहावरे और लोकोक्तियाँ दोनों ही बड़े महत्त्व की चीजें हैं। दोनों से ही भाषा के सौंदर्य में वृद्धि होती है, किंतु फिर भी दोनों एक ही नहीं। दोनों में भेद है और काफी भेद है। रूप-विचार अथवा व्याकरण की दृष्टि से भी दोनों एक नहीं हैं। न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्येक वाक्य में दो पद—उद्देश्य और विधेय और एक विधान-चिह्न—संयोजक, तीन बातें होनी चाहिए। लोकोक्ति में उद्देश्य और विधेय, इन दोनों का विधान न रहने के कारण उसका अर्थ समझने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती, जबकि मुहावरे का जब तक किसी वाक्य में प्रयोग न किया जाय, अर्थ ठीक तरह से समझ में नहीं आ सकता। अर्थ की दृष्टि से लोकोक्तियाँ अपने में पूर्ण होती हैं, मुहावरे नहीं; लोकोक्तियाँ सब की सब लोकोक्ति अलंकार के अन्तर्गत आ जाती हैं। किंतु मुहावरों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है, वे लक्षणा और व्यंजना पर अवलंबित होने के कारण किसी एक ही अलंकार में सीमित नहीं रहते।'[१] लोकोक्तियों के पीछे कोई न कोई कथा रहती है। इसका संबंध अतीत में लोकजीवन में घटी किसी घटना-विशेष से होता है। प्रभावपूर्ण होने के कारण जनमानस पर इसका अमिट प्रभाव पड़ता है। भविष्य में वैसा ही कोई प्रसंग आने पर उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती है। मुहावरों में प्राय: क्रिया का प्रयोग होता है, लेकिन लोकोक्तियों में अधिकतर क्रिया का लोप रहता है। दोनों ही रोचक होती हैं। अर्थगांभीर्य के कारण लोकोक्तियाँ गागर में सागर वाली कहावत को चरितार्थ करती हैं। लोकोक्तियाँ प्राय: जनभाषा में होती हैं। इनका वाक्य अपरिवर्तनीय होता है, जब कि मुहावरे वाक्यों के अनुसार परिवर्तित कर लिए जाते हैं। लोकोक्तियाँ स्वतंत्र होती हैं, जब कि मुहावरों को दूसरे वाक्यों की आवश्यकता पड़ती है। मुहावरों एवं लोकोक्तियों, दोनों का सृजन प्राय: जनता करती है।

हरिऔध जी ने मुहावरों में लक्षणा और व्यंजना, दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। रामचन्द्र वर्मा भी मुहावरों में 'व्यंजना' के 'तत्त्व' को स्वीकार करते हैं। डॉ० ओमप्रकाश गुप्त कहते हैं कि 'तात्पर्याख्य वृत्ति ही मुहावरों की मूल शक्ति है। तात्पर्यार्थ से ही मुहावरों का बोध होता है।'[२] कुछ भी हो, किंतु मुहावरों से गंभीर अर्थ-प्रकाशन होता है। इनके द्वारा भाषा को वक्रता एवं चुटीलापन प्राप्त होता है। एक तरह से मुहावरे अनुभवोक्तियाँ हैं। प्रभावपूर्ण अर्थव्यंजना ही मुहावरों का प्राण है। इसमें थोड़े शब्दों में

१. मुहावरा-मीमांसा, पृ० ३८२

२. मुहावरा-मीमांसा, पृ० ३८२

अमित अर्थ होता है। पाठक को 'मुहावरे' के उचित अर्थ को ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

साहित्य जब-जब जनता के निकट आता है, भाषा मुहावरेपन की ओर झुकती है। तुलसी-साहित्य इसका प्रमाण है। गोस्वामी जी ने प्रभावपूर्ण अर्थ-व्यंजना के लिए अपने साहित्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। उन्होंने मुहावरों का प्रयोग प्रभावशाली अर्थव्यंजना और अपने मंतव्यों को उत्कृष्ट एवं ओजपूर्ण बनाने के लिए किया है। इसके विपरीत लोकोक्तियों का प्रयोग किसी बात के समर्थन, पुष्टिकरण अथवा विरोध एवं खंडन के लिए किया है। गोस्वामी जी मुहावरों एवं लोकोक्तियों के आचार्य हैं। मानस में ही नहीं, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, दोहावली, कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्ण-गीतावली और विनयपत्रिका में भी मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में जहाँ मुहावरों एवं लोकोक्तियों से अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, ऐसे ही विवादपूर्ण स्थलों की अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है। तुलसी-साहित्य के टीकाकाकारों ने मुहावरों एवं लोकोक्तियों के अर्थ करने में बड़ी गड़बड़ी की है। कहीं-कहीं मुहावरों एवं लोकोक्तियों को न समझकर उसके अभिधेयार्थ की अभिव्यक्ति में अपनी पूरी शक्ति लगा दी है। उदाहरणार्थ—'नहारू के लिए गाय मारना' का अर्थ कोई तृण के लिए, कोई वंधन लगी हुई, कोई बाज के लिए, कोई ताँत के लिए और कोई 'सिंह के लिए गाय मारना' अर्थ करके छोड़ दिया है। यह किसी ने नहीं कहा है कि 'सिंह के लिए गाय मारना' मुहावरा है जिसका लाक्षणिक अर्थ कुछ अन्य ही है। इसी प्रकार 'दीप की बत्ती टालने को न कहना', 'धुआँ देखना', 'बाँस की जड़ में घमोई होना' और 'बाघ के सम्मुख जाने पर न खाना' आदि मुहावरों एवं लोकोक्तियों का अर्थ किया गया है। 'बारह बाट घालना' के अर्थ की खोज में लोगों ने मानस से अपनी बुद्धि के अनुसार नष्ट होने वाले १२ मार्गों को खोज निकाले हैं। 'बाल की खाल निकालना' का अर्थ 'निर्दयी नाई बाल के साथ खाल भी निकाल लेते हैं' किया गया है। यत्र-तत्र अर्थ की संगति न लगा पाने के कारण पाठ परिवर्तित कर दिये हैं। 'नहाते समय बाल भी न खसना' नामक मुहावरे का अर्थ 'स्नान करने में समय न बिताओ' किया गया है। ऐसे ही मुहावरों एवं लोकोक्तियों की अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है। मुहावरों एवं लोकोक्तियों की अर्थ-समस्याओं का निदान पृथक्-पृथक् नहीं किया गया है, बल्कि उनका यथास्थान निर्देश कर दिया गया है। दोनों की कोई वास्तविक विभाजक रेखा न होने के कारण ही ऐसा किया गया है।

'चाड़ नहिं सरई'

तोरे धनुषु चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहि कुअँरि को बरई ॥[1]

'चाड़' शब्द का अर्थ न समझने के कारण श्री रामचरणदास[2] और बैजनाथ जी[3] ने 'काज नहिं सरई' पाठ कर दिया है। पं० ज्वालाप्रसाद ने 'चाह' पाठ माना है।[4] विनायकराव जी[5], रामनरेश त्रिपाठी जी[6], अवधबिहारी-दास जी[7] और मानसपीयूषकार[8] ने पाठ तो 'चाड़' ही माना है, किंतु 'काज' पाठ के प्रभाव के कारण 'काम न चलेगा' ऐसा अर्थ किया है। श्रीकांतशरण जी ने मानसपीयूष के शब्दार्थ 'स्वार्थ' अर्थ को ग्रहण कर लिया है।[9] 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय ने 'चाड़' शब्द से तटस्थ होकर अर्थ किया है—'धनुष तोड़ने भर से क्या होता है।'[10] शुकदेवलाल जी ने 'चाँढ' पाठ मान कर अर्थ किया है—'कुछ अटक नहीं सरती है' अर्थात् पूरी नहीं परती है।'[11] विजयानंद त्रिपाठी जी ने अर्थ किया है—'धनुष टूटने से चाट नहीं मिटेगी।'[12] समझ में नहीं आता कि यहाँ 'चाट' शब्द का अर्थ क्या है? त्रिपाठी जी ने 'चाड़' शब्द के अर्थ को स्पष्ट नहीं, बल्कि अस्पष्ट कर दिया है। डॉ० अम्बाप्रसाद जी ने 'चाड़' शब्द का समर्थन करके अर्थ किया है—'धनुष तोड़ने से बलवत्ता सिद्ध नहीं होती।'[13]

'हिन्दी शब्दसागर' में 'चाँड़' शब्द को संस्कृत 'चंड' से विकसित मानकर अर्थ किया गया है—प्रबल, बलवान, उग्र, उद्धत, बढ़ा-चढ़ा, श्रेष्ठ, तृप्त, संतुष्ट, अघाया हुआ।[14] दोहावली में 'चाड़' शब्द आया है—

१. मानस १।२६६।४
२. रामा०, पृ० ३६६
३. ,, पृ० ६३०
४. सं० टी०, पृ० ३१५
५. वि० टी०, पृ० १४६
६. मानस, पृ० २६२
७. ,, पृ० २८६
८. मा० पी०, बाल० खं०, पृ० ५१२
९. मानस, सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ७२३-२४
१०. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, १।२६६।४
११. रामा०, पृ० १५६
१२. वि० टी०, प्र० भा०, पृ० ४४६
१३. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० ८४
१४. दे० पृ० ६६४

हित पुनीत सब स्वारथहि, अरि असुद्ध बिनु चाड़ ।
निज मुख मानिक सम दसन, भूमि परे ते हाड़ ॥[१]

'दोहावली के 'चाड़' शब्द से 'चाड़' पाठ ही प्रामाणिक लगता है और इसमें 'स्वार्थ' अर्थ स्पष्ट होता है। टीकाओं पर आधारित होनें कारण 'तुलसी-शब्दसागर' में 'चाड़' का अर्थ 'प्रबल इच्छा' किया गया है।[२] इसके अतिरिक्त 'चाड़' शब्द का अभिधेयार्थ—'इच्छा' किसी भी कोश में नहीं प्राप्त हुआ।

'चाँड़ सरना' मुहावरा है जिसका अर्थ है—इच्छा पूरी होना।[३] यहाँ पर 'चाड़ नहिं सरई' (चाड़ न सरना) का अर्थ होगा—'अभिलाषा नहीं पूरी होगी।' उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—

'धनुष तोड़ देने (मात्र) से अभिलाषा नहीं पूरी होगी। हमारी जीविता-वस्था में राजकुमारी से कौन विवाह कर सकता है?'

हरिहरप्रसाद जी[४], पंजाबी जी[५], रामेश्वर भट्ट जी[६], वीरकवि जी[७], श्यामसुन्दरदास जी[८] और पोद्दार जी[९] आदि टीकाकारों की दृष्टि चाहे मुहावरे पर न रही हो, किन्तु अर्थ 'इच्छा न पूरी होगी' ही किया है। 'औचित्य' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'मारसि गाइ नहारू लागी'

फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारू लागी ॥[१०]

सं० १७६२ वि० की प्रति, छक्कनलाल की प्रति, सं० १७०४ वि० की काशि-राज वाली प्रति, बालकाण्ड—श्रावणकुंज की प्रति, अयोध्याकाण्ड—राजापुर की प्रति में और भागवतदास के सं० १६४२ वाली प्रति में 'नहारू' पाठ है।[११] पं० रामगुलाम द्विवेदी, पं० रामकुमार जी की प्रतियों में भी यही पाठ है।[१२]

---

१. दोहा० ३३०
२. दे० पृ० १४५
३. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६६४
४. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १८३
५. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ३४६
६. मानस, पृ० २७५
७. ,, पृ० ३१४
८. ,, पृ० २५७
९. ,, पृ० २५२
१०. ,, २।३६।८
११. शंभूनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० ८२
१२. मा० पी०, अयो०, पादटिप्पणी, पृ० १६६

डॉ० माताप्रसाद गुप्त और काशिराज संस्करण में भी 'नहारू' पाठ है। ना० प्र० सभा के संस्करण, रघुनाथदास की प्रति, वंदन पाठक की प्रति और बाबा हरिदास की प्रति में 'नहारुहि' पाठ है।[1] छक्कनलाल जी की प्रति में 'नहारू' पाठ है और मानस-मयंक में 'नाहरू' और 'नहारू' दोनों पाठों का भावार्थ दिया गया है।[2] यहाँ पर 'नहारू' पाठ ही तर्कसंगत लगता है, क्योंकि अधिकांश प्राचीनतम प्रतियों, डॉ० माताप्रसाद गुप्त और आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र जैसे सुयोग्य संपादकों ने भी यही पाठ स्वीकार किया है।

पुरुषोत्तम रामकुमार जी—'नहारू' तृण को कहते हैं, अर्थात् तू तृण के लिए गाय को मारती है। बाबा रामदास जी ने टिप्पणी में लिखा है कि 'नहारू' किसी देश में बंधन को कहते हैं। 'नहारू लागी', अर्थात् बंधन लगी हुई, बँधी हुई। भाव यह कि छुटी हो तो चाहे भाग भी जा सके, बँधी हुई भाग भी नहीं सकती कि जान बचा ले। यहाँ राजा गाय हैं जो प्रतिज्ञा में बँध गये हैं। बैजनाथ जी भी लगभग ऐसा ही अर्थ करते हुए लिखते हैं—'नहारू' नसों की होती है, उसका बंधन दृढ़ होता है। अर्थ हुआ कि ऐसी नहारू लगी हुई गाय को मारती है। भरत राज्य-रक्षा हेतु राम-वनवास (का वर) नहारू है, राजा गाय हैं। बैजनाथ जी ने मुख्य अर्थ 'बंध' ही स्वीकार किया है।[3] बाबा हरिदास जी इसका अर्थ करते हैं कि 'हार के लिए गाय को न मार। जैसे गाय हीरा का हार लीले तो उसका पेट न फाड़ना चाहिए, यत्न से ले लेना उचित है, वैसे ही मैं तेरी गाय-रूप हूँ और अवध का राज्य हार-रूप है। सो मैं तो राम हेतु पहले ही न्यास कर चुका। अब राम जी न सही, भरत ही को वह हार-रूप राज पहिना दूँगा। जो राम जी वन को चले जायँगे तो भरत जी राज्य न ग्रहण करेंगे, तब तू अंत में पछतावेगी। कश्मीर में 'नहारू' बाज को कहते हैं, बाज गोमांस नहीं खाता।'[4] बाबूराम मिश्र जी ने भी यही अर्थ किया है कि 'बाज के लिए तू गाय को मारती है।'[5] 'नहारू' का अर्थ कुछ लोग 'जूता या चमडे का टुकड़ा' करते हैं।[6]

वीरकवि जी के अनुसार—'अरी अभागिनी, गाय मारने में तुझे पीड़ा नहीं

---

१. मा० पी०, अयो०, पादटिप्पणी, पृ० १६६ और शंभुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० ८२
२. मा० पी०, अयो०, पादटिप्पणी, पृ० १६६
३. वही, पृ० १६७
४. वही, पृ० १६६
५. रामा०, पृ० ३२
६. मा० पी०, अयो० पृ० १६६

लगती है ? उन्होंने 'न हारू' पाठ माना है और 'हारू' का अर्थ 'पीड़ा' किया है ।[१]

व्यासों की प्रणाली की 'अनेकार्थ-प्रधान व्याख्या-पद्धति' के सहारे व्यासीय शैली के टीकाकारों एवं अन्य कतिपय टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं । 'नाहरू' मानकर श्री रामचरणदास जी इसका अर्थ करते हैं—'पुनि तैं बार-बार पछिताइगी अन्त विषे तैं नाहरू कहे नस चारि अंगुल के हेतु गऊ वध करती है किंतु नाहरू कही खेत अंकुर एक ग्रास गऊ कहूँ लियो है त्यहि हेतु वध करति है । इहाँ राजा गऊ है अरु श्री रामचन्द्र को संकल्प मात्र भयो है सोई अंकुर भयो अरु राजा कै वासना मुख ते लेत सल्ते कैकेयी किसानिनि जीव मारती है अरु भरत के लिए राज्य को चाहना सोई खेत है अरु तामें कैकेयी के सुख की वासना सोई बीज सूखि जाइगो धर्म रूप जलते हीन है ।'[२]

हरिहरप्रसाद जी की टीका में ये अर्थ दिये हैं—रा० प०—जैसे कोऊ बाघ के तृप्ति हेतु गोबध करे तैसे सवति के हेतु अनरथ । काष्ठजिह्वा स्वामी जी के अनुसार—'नाहर बाघ नहारू बच्चा बुंदेलखंड आदि की भाषा । कोऊ अस अर्थ करत नहारू ताँत को बनत है । बरवट रोग झारिबे हेतु नहारू जूता को कहत है, कोऊ बिता भर चाम को कहत हैं, कोऊ अन्नादि के अंकुर को कहत हैं भाव अल्प स्वारथ साधन हेतु कहा अनर्थ करसि कोऊ नहारू बाज को कहत हैं भाव बाज गोमांस को नहीं खात तस भरत राज्य को नहीं स्वीकार करहिंगे कोऊ बे-आँख खुले बाघ के बच्चा को नहारू कहत हैं भाव तेहि के अर्थ बाघिनि व्यर्थ गाय मारेसि कोऊ कहत कि बाघ को लागी अर्थात् धोखा से जैसे गाय मारेसि तस फेरि पछिताइ है कोऊ निहारू पाठ कर कुहेसा अर्थ करत हैं ।'[३]

मानस-मयंककार इसका अर्थ करते हैं—

> धेनु पियारे धेनु है, आमिष कैसो राज ।
> भरत नाहरू सिंह है, केश नहारू भ्राज ।।

इस चौपाई का मयंककार तीन अर्थ करते हैं—प्रथम—राजा कैकेयी से कहते हैं : हे अभागी ! तू फिर पछतायगी । तू अकारण सिंह के लिए गाय को मारकर महापातकी हुई । तात्पर्य यह कि धेनु पियारे रामचन्द्र-रूपी धेनु को

१. मानस, पृ० ४७७

२. रामा०, पृ० ५३६-३७

३. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० २३

मारकर तूने राजरूपी आमिष भरत-रूपी सिंह के लिए निकाल लिया जो कदापि इस राज को ग्रहण नहीं करेंगे, जैसे सिंह दूसरे के मारे हुए पशु का मांस नहीं खाता। अतएव तुमको महापातक ही हाथ लगा जिसके फल को भोगकर पछतायगी। द्वितीय तूने 'नहारू', अर्थात् सुरा गाय की पूँछ के केश के लिए नाहक गोहत्या की, इसके लिए तू फिर पछतायगी।

बर दाने मो आदि ह्वै, भरत मिलाए अन्त।
धेनु नाह तू मारि है, कह शिशु भरत सुसंत ॥५०॥

तृतीय अर्थ—राजा कहते हैं कि हे अभागी ! तूने पुत्र भरत-रूपी सिंह के के लिए अपने पति-रूपी गऊ को मारा। यद्यपि गऊ मार करके जो तुम चाहती हो, सो नहीं होगा; तुम्हारा वर माँगना तुम्हारी कामना का आदि है और भरत-भेंट अंत है और कुछ परिणाम नहीं है, क्योंकि भरत राज कदापि ग्रहण न करेंगे, तुमको पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा।'[१]

पं० ज्वालाप्रसाद जी इसका अर्थ करते हैं—'जैसे कोई सिंह को तृप्त करने को गाय मारे, वैसे सवति के हेतु यह अनर्थ करती है। कोई कहते हैं, नाहरू ताँत का वनता है। उसके अर्थ जैसे कोई गाय मारे, ऐसे पछतायेगी। विना आँख खुले बाघ के बच्चों को भी नाहरू कहते हैं, बाज को भी कहते हैं। इनके अर्थ गोवध करना अनर्थ है। ऐसे भरत जी राज्य नहीं लेंगे, फिर तू पछतायगी।'[२] श्यामसुन्दरदास[३] और रामनरेश त्रिपाठी जी[४] ने 'नहारू' का अर्थ सिंह और बाज दोनों किया है।

श्री रामदास गौड़ जी 'नाहरू' पाठ मानकर इसका अर्थ नहरुआ रोग करते हुए लिखते हैं—'इसका अर्थ करने में लोग व्यर्थ वागाडम्बर से काम लेते हैं, प्रसंग का ध्यान नहीं रखते। नाहरू नामक एक रोग होता है जिसे नहरुआ भी कहते हैं। यह एक प्रकार का व्रण है जिसमें सूत-सरीखे लम्बे कीडे निकलते हैं और इसे गाय के ताँत से झाड़ना एक टोटका है। साधारणतया टोटकों की जैसे दशा होती है, इस टोटके से भी कोई लाभ वस्तुतः नहीं होता। ग्रंथकार ने अन्यत्र भी इस रोग की चर्चा की है—

अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ॥

यहाँ प्रसंग से यह अर्थ स्पष्ट है कि कैकेयी अन्त में उसी तरह पछतायेगी,

१. मानस-मयंक, वर्तिककार श्री इन्द्रदेवनारायण, पृ० १६६
२. सं० टी०, पृ० ४५८
३. मानस, पृ० ३८४
४. वही, पृ० ४३६

जैसे वह रोगी पछताता है जो नाहरू झाड़ने को ताँत के लिए गोवध करता है और नाहरू अच्छा भी नहीं होता और गोहत्या ऊपर से लगती है। यहाँ रोगी कैकेयी है जिसे सवतिया डाह-रूपी नाहरू हो गया है। इसे दूर करने को राज्य-रूपी ताँत को वह जरूरत समझती है और राजा दशरथ-रूपी गाय की राम-वनवास-रूपी हत्या से यह ताँत-रूपी राज्य प्राप्त होगा। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या राज्य के मिल जाने से सवतिया झाल रोग मिट जायगा ? क्या यह टोटका सफल होगा ? क्या इस ताँत से नहरुआ दूर हो जायगा ? राजा दशरथ का अभिप्राय यही है कि प्रयत्न विफल होगा और कैकेयी को अन्त में पछताना ही पड़ेगा।[१]

संतसिंह पंजाबी[२], शुकदेवलाल जी[३], विनायक राव जी और पोद्दार जी[४] 'नहारू' का अर्थ 'ताँत' करते हैं। विजयानंद जी भी 'नहारू' का अर्थ ताँत करते हुए कहते हैं कि 'अभिधानप्पदीपिकायाम्' (श्लो० २७६) में नहारू को ताँत कहा गया है—'पुमे नहारू च सिरा धमन्यथ रसागसा।'[५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'नहारू' के लगभग १२ अर्थ टीका-कारों ने किये हैं—(१) अन्नादि का अंकुर (तृण), (२) बंधन, (३) हार, (४) बाज, (५) (बरवट रोग झाड़ने के लिए नहारू) जूता, (६) पीड़ा (हारून), (७) कुहेसा (निहारू), (८) सुरा गाय की पूँछ के केश के लिए (नहारू लागी), (९) नहरुआ रोग, (१०) ताँत या चमड़े का टुकड़ा, (११) सिंह या बाघ का बच्चा, (१२) बाघ के धोखा से। 'ताँत, नहरुआ रोग और सिंह या बाघ' अर्थ अधिकांश लोगों के हैं।

हिन्दी शब्दसागर में 'नहारू' शब्द नहीं मिला। नाहरु—सिंह या बाघ, **नहरुआ=एक प्रकार का रोग।**[६] बृहत् हिन्दी कोश में—'नाहरू' का अर्थ—'नहरुवा, **नारू रोग** 'सिंह' अर्थ दिया है।[७] तुलसी-शब्दसागर में इसका अर्थ 'ताँत' ही दिया है।[८]

---

१. रामचरितमानस की भूमिका, पृ० ५३-५४
२. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ४६
३. रामा० पृ० २०
४. वि० टी०, पृ० ६२; मानस, पृ० ३६३
५. वि० टी०, द्वि० भा०, पृ० ५६
६. दे० पृ० २६००-२६०१
७. दे० पृ० ६७६
८. दे० पृ० २५६

यहाँ पर 'नहारू' का अर्थ बाज असंगत है क्योंकि बाज का विरोध गाय से नहीं, अपितु लवा (बटेर) से है—जनु सचान बन झपटेउ लावा ।[१] लेइ लपेट लवा जिमि बाजू ॥[२] अवधबिहारीदास जी का यह तर्क भी संगत है कि गाय चर्बी (ताँत) से यदि (नहरुआ) रोग अच्छा हो गया तो पछताना सिद्ध नहीं होता ।[३] कैकेयी तो आगे भरपेट पछतायी है—

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई । कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥[४]

अतः यह अर्थ भी उचित नहीं है । 'हारू' का अर्थ पीड़ा कहीं नहीं प्राप्त होता । अतः यह भी अप्रामाणिक है । जिसको गाय मारना ही है, वह क्या खुली हुई गाय को नहीं मार सकता ? जैसे बँधी गाय मारने से पाप लगेगा, वैसे खुली हुई गाय से । अतः 'नहारू' का 'बंधन लगी हुई' अर्थ भी असंगत है। अंकुर, जूता, हार, कुहेसा, गाय की पूँछ का केश आदि अर्थ बिल्कुल ऊट-पटांग और अविचाणीय हैं । मयंककार आदि कतिपय टीकाकार 'धेनु पियारे रामचन्द्र-रूपी धेनु को मारकर' अर्थ किया है । किंतु यह अर्थ अनुपयुक्त है, क्योंकि 'प्राण लेना' सिद्ध होना चाहिए । ऐसा राम के लिए नहीं हुआ । अतः 'गाय' दशरथ के लिए ही आया है ।

अवधबिहारीदास जी आदि कतिपय टीकाकारों के द्वारा अभिव्यक्त रूपक अतिव्याप्ति दोष से युक्त है—'दशरथ जी गाय हैं, श्रीराम जी उनके प्राण हैं जिनके वियोग में मृत्यु हुई और राज्य ही उनका शरीर (मांस) है जिसे भरत नाहरू अर्थात् सिंह के लिए कैकेयी ने भोगार्थ रखना चाहा, परन्तु भरत सिंह-रूप जब राज्य (मांस-रूप) नहीं स्वीकार किया, तब पछिताना ही पड़ा है ।'[५] यहाँ भरत जी सिंह और दशरथ जी गाय हैं, यही उक्त अर्धाली से स्पष्ट होता है । शेष सभी आरोपित प्रतीत होते हैं । मयंककार और पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र जी[६] भी कहते हैं कि 'सिंह दूसरे का किया शिकार नहीं खाता । भरत नाहर अथवा नाहर का बच्चा है । वह तेरे दिलाने से राज्य न लेगा ।' विचारणीय है कि उपर्युक्त वाक्यों से यही स्पष्ट होता है कि 'राज्य ही गाय है' और कैकेयी भरत-सिंह के लिए मार रही है, किंतु ऐसा पूर्वोक्त अर्धाली से स्पष्ट

१. मानस २।२९।५
२. वही, २।२२९।६
३. मानस, पृ० ४१४।१५
४. मानस २।२५१।५
५. मानस, पृ० ४१४-१५
६. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १७०-७१

नहीं होता। अतः यहाँ पर 'दशरथ जी' को ही गाय मानना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

श्री रामदास जी गौड़ कहते हैं कि—'भरत जी के लिए व्याघ्र, सिंह या बाज की उपमा देना और भगवान् रामचन्द्र व राजा दशरथ के लिए गाय की उपमा देना मेरे निकट सर्वथा असंगत है। वीर रस का कोई प्रसंग नहीं है, इसलिए 'नाहर' की उपमा असंगत है। गाय स्त्रीलिंग है, इसलिए पुरुषों की उपमा इससे असंगत है। इसके सिवा सिंह या व्याघ्र के अर्थ में कोई चमत्कारिक रूपक भी नहीं घटता।'[१]

भरत जी को 'बाज' और रामचन्द्र जी को गाय की उपमा अनुपयुक्त है। इस तर्क को ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है। दशरथ जी के लिए गाय की उपमा असंगत नहीं है, क्योंकि कवि अभी ऊपर उन्हें अबला के समान कह चुका है—जनि अबला जिमि करुना करहू॥[२] कवि अन्यत्र कौशल्यादि सासुओं के लिए सर्पों की उत्प्रेक्षा कर चुका है—

सुन्दर बधू सासु लै सोई। फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोई॥[३]

अतः दशरथ जी को 'गाय' से उपमित करना असंगत नहीं। यहाँ रूपक लिंग का नहीं, अपितु किंचित् परिस्थितियों का है। जैसे गाय कसाई के हाथ में पड़कर विवश और असहाय हो जाती है, वैसे राजा दशरथ कैकेयी को वरदान देकर विवश और असहाय हैं। वे उससे बार-बार प्राण के लिए भिक्षा माँगते हैं। श्रीराम जी के वनवास वाले वर को वापस लेना ही दशरथ जी को प्राण प्रदान करना है। इन परिस्थितियों के साम्य के कारण उन्हें गाय से उपमित किया गया। दशरथ जी ने अनेक बार कहा कि मैं नहीं जिऊँगा—

मारेसि मोहि कुठायँ।[४] सत्य कि जीवन लेइहि मोरा॥[५]
जीवनु मोरि राम बिनु नाहीं।[६] तिय मिस मीचु सीस पर नाँची।
राम बिरह जनि मारसि मोही।[७] कालु कहावत मोर।[८]

---

१. मा० पी०, अयो०, पृ० १९८
२. मानस २।३५।७
३. वही १।३५८।४
४. वही २।३०
५. वही २।३१।३
६. वही २।३३।२
७. वही २।३४।५ और ७
८. वही २।३५

दशरथ जी को कैकेयी के शब्दों से यह आभास हो गया कि अब मेरा जीवित रहना असंभव है। इसीलिए उन्होंने बार-बार कैकेयी से कहा कि राम के बिना मेरा जीवन असंभव है। इन बातों से जब उस पर कोई प्रभाव पड़ता न दीख पड़ा, तब राजा दशरथ ने कैकेयी से कहा कि 'अयोध्या पुनः सुहावनी होकर बसेगी, राम की प्रभुता होगी। सभी भाई उनकी सेवा करेंगे। तीनों लोकों में श्री रामचन्द्र जी की बड़ाई होगी। किंतु तेरा कलंक और मेरा पछतावा मरने पर भी न मिटेगा। अब तुझे जो अच्छा लगे, सो कर। मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि जब तक जीवित रहूँ, तब तक फिर कुछ मत कहना।' इन बातों का भी जब उस पर किंचित् प्रभाव न पड़ा, तब पुनः उन्होंने अन्तिम यह वचन कहा—'अरी अभागिनी! तू अंत में पछतायेगी कि सिंह के लिए तूने गाय को मारा।' 'गाय को मारना' इस आशा से कहा था कि अब भी कदाचित् उस पर कुछ प्रभाव पड़ जाय, क्योंकि सूर्यवंश में गाय पर शूरता नहीं दिखाई जाती। लक्ष्मण जी कहते हैं—

सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥[1]

क्योंकि इनको मारने से पाप लगता है—'बधें पाप।'[2] कवि ने आगे 'राम के त्याग' को गोवध के समान बताया है। सुमंत्र जी भी सीता-राम-लक्ष्मण को वन में पहुँचा आने के उपरांत अयोध्या-प्रवेश के समय संकुचित हो रहे हैं—

पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुर बाँभन गाई॥[3]

स्मरणीय है कि दशरथ जी की मृत्यु का कारण 'राम-वनवास' ही था। अतः यहाँ दशरथ जी को 'गाय' कहना अनुपयुक्त नहीं है। **यहाँ 'नाहर' से तात्पर्य पराक्रमी या उद्यमी से है। 'नाहरू' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है—**

सुनि हँसि उठ्यो नंद को नाहरु, लियो कर कुधर उठाइ॥[4]

कर्ता-कर्म एक वचन में 'नाहर' में अपभ्रंश का 'उ' है। अकारांत पुल्लिंग को गोस्वामी जी ने उकारांत कर भी दिया है। जैसे राम > रामु, बन > बनु आदि। 'नाहर' का 'नाहरु', जैसा कि उक्त उद्धरण से स्पष्ट है, हो जाता है। छंदानुरोध के कारण 'नाहरु' का 'नाहरू' या 'नहारू' हो सकता है।

---

१. मानस १।२७३।६

२. वही १।२७३।७

३. वही २।१४६।३

४. श्रीकृष्ण० १८

'नाहरु' का विकास संस्कृत 'नरहरि' से हुआ है।[1] गोस्वामी जी के प्रत्यक्ष शिष्य रामू द्विवेदी 'नहारू' का अर्थ 'शार्दूल' करते हैं—

मृते मयि स्वयं पश्चात्ताप मे वाचरिष्यसि।
गां मारयसि शार्दूल हेतवे कि 'फल' तव ॥[2]

ग्राउस महोदय[3], रामेश्वर भट्ट जी[4], अवधविहारीदास जी[5], श्रीकांत-शरण जी[6], रायबहादुर साहित्याचार्य जगन्नाथप्रसाद भानु जी[7], 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक महोदय[8], काष्ठजिह्वा स्वामी, मयंककार लाला भगवानदीन जी[9] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी[10] आदि अधिकांश टीकाकारों ने 'नहारू' का अर्थ 'सिंह' और दशरथ जी को गाय स्वीकार किया है। गाय और सिंह का वैर प्रसिद्ध भी है। स्वयं गोस्वामी जी ने ही कहा है—'देखिहैं हनुमान गोमुख नाहरनि के न्याय।'[11] 'विरोधिता' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से भी यहाँ 'नहारू' का अर्थ 'सिंह' ही होगा। अतः भरत जी को 'सिंह' की उपमा देना अनुचित नहीं है।

गौड़ जी कहते हैं कि 'सिंह या व्याघ्र' अर्थ में कोई चामत्कारिक रूपक नहीं है। किन्तु यह असंगत है, क्योंकि 'सिंह और गाय' का विरोध प्रसिद्ध है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ हुआ—'तू सिंह के लिए गाय को मार रही है।' यह अभिधेयार्थ हुआ। उपर्युक्त अधिकांश टीकाकार अभिधेयार्थ के ही चक्र में फँसे रहे। किन्तु इस कथन में मुख्यार्थ का बाध है। वास्तव में सिंह के लिए 'गाय मारना' मुहावरा है। मुहावरे में मुख्यार्थ का बाध होता है। इसमें लक्ष्यार्थ प्रधान होता है। डॉ० प्रतिभा अग्रवाल ने भी इसे मुहावरा माना है।

१. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० २६००-२६०१
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गोसाईं तुलसीदास, पृ० ३०३
३. "यू टू विल रिपेंट एट द लास्ट, ओ माइजरेबल वुमन, हू एमिंग एट द टाइगर, हैव दस शाट डेड द काऊ"—दे० रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० १६८
४. मानस, पृ० ४११
५. मानस, पृ० ४१४-१५
६. मानस, सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० १७५-७६
७. तुलसी-तत्त्व-प्रकाश, पृ० ५८५६
८. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३६१
९. मा० पी०, अयो०, पृ० १६७
१०. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १६६-७१
११. विनय० २२०

किन्तु उनके मस्तिष्क में 'नहारू' का अर्थ 'ताँत' था, इसलिए उन्होंने इसका अर्थ किया—'तुच्छ आवश्यकता के लिए बड़ा नुकसान करना'।[१] परन्तु यह अर्थ, जैसा कि उक्त विवेचन से स्पष्ट है, उपयुक्त नहीं है। अतएव **'सिंह के लिए गाय मारना' इस मुहावरे का अर्थ होगा—'पराक्रमी व्यक्ति के लिए महापाप करना**।'[१] तात्पर्य यह है कि कोई अकर्मण्य के लिए पापपूर्ण आचरण से भी उसके जीवन-यापन के लिए सुव्यवस्था करे, तो कुछ सीमा तक उचित भी है, क्योंकि पापी बनकर भी यदि किसी का उपकार हो जाय तो उतना बुरा नहीं है। किन्तु एक पराक्रमी या उद्योगी व्यक्ति के लिए पाप करने से तो अन्ततः पछताना ही पड़ेगा। पराक्रमी व्यक्ति अपने सुख-सुविधा की व्यवस्था स्वयं कर लेगा। अतः उसके लिए पाप करने का प्रतिफल पछताना ही है, क्योंकि पराक्रमी व्यक्ति उस पापपूर्ण आचरण से आभारी न होकर उसे अपकारी ही समझेगा, जैसा कि भरत ने किया। कैकेयी ने भरत से कहा कि—तात बात मैं सकल सँवारी। भइ मंथरा सहाय बिचारी॥[२] भरत ने आगे कहा कि—जब तें कुमति कुमत जियँ ठयेऊ। खंड-खंड होइ हृदय न गयेऊ॥ बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुह परेउ उन कीरा॥[३] अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'अरी अभागिनी! अन्त में तू पश्चात्ताप करेगी, क्योंकि तू **पराक्रमी व्यक्ति के लिए महापाप** कर रही है।'

'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ'

जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ।[४]

रामेश्वर भट्ट जी[५], ग्राउस महोदय[६] और पोद्दार जी[७] ने इसका अर्थ किया है कि 'कभी दीपक की बत्ती हटाने को भी नहीं कहती।' मानस-तत्त्वान्वेषी पं० रामकुमारदास जी भी इसी अभिधेयार्थ को प्रमाणित करते हुए कहते हैं कि 'जहाँ पर मणि के दीपक (मणि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं) थे, वहाँ दीपक की क्या आवश्यकता? देवपूजन, अनुष्ठान, दीपमालिका आदि समय पर धर्मशास्त्र की आज्ञानुसार नित्य दीप जलाना आवश्यक है।

---

१. हिन्दी मुहावरे, पृ० ४०३

२. मानस २।१५९।२

३. वही १०२।१६१।१-२

४. मानस २।५९।६

५. मानस, पृ० ४३२

६. द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० २०६

७. मानस, पृ० ३८१

बड़े-बड़े भारतीय नगर में जहाँ कृत्रिम विद्युत्-प्रकाश रात को दिन बनाये रहते हैं, वहाँ आज भी तत्तदवसरों पर धार्मिक हिन्दुओं के घर में घृत-तैलादि के ही दीप जलाये जाते हैं, बिजली के बल्ब से धार्मिक कृत्यों में दीप का काम नहीं लिया जाता। वैदिक धर्मशास्त्र के अनुसार 'नित्य सायंकाल में दीप जलाना प्रत्येक गृहस्थाश्रमियों का कर्तव्य है, और वहाँ पुरुषों का दीप-निर्वापण दोष बतलाया गया है और वह दीप-निर्वापण कार्य कुलदेवियों को ही करना चाहिए—

> दीपनिर्वापणात्पुंसः कूष्माण्डच्छेदनात्स्त्रियः ।
> अचिरेणैव कालेन वंशनाशो भवेद् ध्रुवम् ॥
>
> —शार्ङ्गधर पद्धति : ६५१

अतः प्रकाशनार्थ नहीं, अपितु स्वगार्हस्थ्य-धर्मपालनार्थ भी अवधेश के राजसदन में दीप नित्य जलाया जाता था और उसका निर्वापण कार्य बाती उसकाकर (टारकर) गृहिणी ही कर सकती थी। परन्तु कभी कौशल्या जी ने सुकुमारि सीता से उस अत्यन्त सुगमातिसुगम कार्य दीप-निर्वापण-कालीन बाती भी टारने के लिए अपने मुख के नहीं कहा।···सभी जानते हैं कि सरसों आदि तेल का दीपक यदि वायु देकर बुझा दिया जाता है तो कुछ देर तक उससे अप्रिय गन्ध आती रहती है। अतः बुझाने वाले को चाहिए कि जलती हुई बत्ती को ढार (खिसकाकर) तेल में डुबा दे। इससे दुर्गंध भी नहीं आती।'[1]

यद्यपि यह तथ्य पूर्णरूपेण अस्वीकार्य नहीं है, किन्तु वस्तुतः 'दीप की बत्ती टालने को न कहना' लोकोक्ति है। लोकोक्ति का सम्बन्ध किसी प्रभाव-पूर्ण कथा से होता है। मानसमयंककार और मुंशी रोशनलाल लिखते हैं कि—'शम्बासुर अयोध्या में पत्थर की वर्षा कर उपद्रव मचाये रहता था। नारद, वशिष्ठ आदि महर्षियों ने विचार कर कहा कि इसके शमन के लिए यज्ञ किया जाय। पर उस यज्ञ की पूर्ति तभी होगी जब सीताजी अपने हाथ से उस के दीपक की बत्ती उसकावें। इतना उत्पात हो रहा था, प्रजा को दुःख था, तब भी कौशला जी ने यह अंगीकार न किया कि जानकी जी को इतना भी कष्ट दिया जाय। गणपति उपाध्याय जी कहते हैं—पाहन वर्षा देखि कै कहि नारद बहु भाँति। दीपशिखा सिय ढारहीं होइ विघ्न तब शान्त।[2]

श्री अवधबिहारीदास जी कहते हैं कि 'किसी पुराण में कहा है कि एक

---

१. मानस-शंका-समाधान-रत्नावली, भाग २, पृ० ३६-४०

२. मा० पी०, अयो०, पृ० २२८

दैत्य श्री अवध में आ-आकर उपद्रव करता रहता था। उसकी मृत्यु इस प्रकार थी कि मिट्टी के घड़े में छिद्र करके उसमें दीपक जलाकर यदि जानकी जी उस दैत्य को दिखा दें, तो उसकी मृत्यु हो जाय। पर कौशल्या जी इस विचार से कि सीताजी को कष्ट होगा, यह कार्य उनको नहीं करने देती थीं। राजा दैत्य के कारण बड़े दुःखी थे। जब राजा को यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने कौशल्या जी से कहा कि जानकी से यह काम करा दो। ऐसा किया गया, जानकी जी ने उसे ज्यों ही बत्ती दिखायी, उसकी मृत्यु हो गयी।'[1]

इन कथाओं की सत्यता पर संदेह भले ही किया जाय, किंतु यह तर्क अकाट्य है कि 'दीप की बत्ती टालने को न कहना' इस लोकोक्ति का आधार उपर्युक्त कथाएँ ही हैं, अथवा इसी प्रकार की कोई अन्य कथा अवश्य रही होगी, क्योंकि लोकोक्तियों का सम्बन्ध अतीत में लोकजीवन में घटी किसी घटना से होता है जो किसी कारणवश विशेष प्रभावपूर्ण होने के फलस्वरूप लोकमानस पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है और कभी भी तथैव प्रसंग आने पर उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती है।

विजयानंद त्रिपाठी[2] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय[3] ने इस 'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ' का अर्थ 'अत्यंत साधारण काम' किया है। डॉ० प्रतिभा अग्रवाल[4] और श्रीकांतशरण जी[5] ने इसे मुहावरा कहा है। किंतु कथा पर आधारित होने के कारण यह लोकोक्ति के अधिक सन्निकट है। अतः 'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ'—'दीप की बत्ती टालने को न कहना' का अर्थ है—'अत्यन्त सुगम कार्य के लिए भी न कहना।' इस प्रकार उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—(कौशल्या जी कहती हैं कि) मैं संजीवनी बूटी की भाँति उनकी (सीता जी की) रक्षा करती रहती हूँ। मैंने उनसे अत्यन्त सुगम कार्य के लिए भी नहीं कहा।

'घालेसि सबु जगु बारह बाटा'

मोहि लगि येहु कुठाटु तेहिं ठाटा। घालेसि सबु जगु बारह बाटा ॥[6]

---

१. मानस, पृ० ४३६

२. वि० टी०, अयो०, पृ० ६१

३. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४११

४. हिन्दी मुहावरे, पृ० ३६७

५. मानस, सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० १०२४

६. मानस २।२११।५

'घालेसि सबु जगु बारह बाटा' का अर्थ करते हुए श्री रामचरणदास जी कहते हैं कि—'सब जगत बारह बाट घालेउ है बारह बाट कही लौकिक वाणी है निषिद्ध मार्ग है दरिद्र निरादर भय शोक, अधिभूत ते हैं, मूर्खत्व परिणाम, वर्तमान चिन्ता, संकल्प, उद्वेग ये चारि अधिदैवत ते हैं। कफ, वात, पित्त, रोगादिक, ये चारि अध्यात्म ते हैं। ये ते बारह बाट आमर्ष में कहे जाते हैं। वहाँ करुण रस है, किन्तु बारह बात कही अष्टदिशा अरु चारिउ फल तामें सर्व जगत् की घात्विक ही प्राप्त कियो है। श्री रामचन्द्र को वनगमन कारण देव, मुनि इत्यादि सबको सकाम बाट में प्राप्त कियो है।'[1]

काष्ठजिह्वा स्वामी का मत है कि 'सब जग तहस-नहस भा, बारह बाटा जैसे पूर्ण आत्मा, दस इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि—यह बारह बाट में बिखरि कै जन्म-जन्म खराब होत है।' व्यासों की अनेकार्थ-प्रधान व्याख्या-पद्धति के आधार पर अर्थ करते हुए हरिहरप्रसाद जी लिखते हैं कि—'घालेसि सबु जगु बारह बाटा' का यह भाव कोऊ कहत हैं कि राजा पर प्रयोग किहेसि, पर राजा का सब देस है, ताते सब पर परा बारह बाट कहैं आपदा, यह लोकोक्ति है। कोऊ अस कहत मोह, दैन्य, ह्रास, हानि, ग्लानि, क्षुधा, तृषा, छोभ, मृत्यु, व्यथा, अकीर्ति, मोह आदि।'[2] विनायक राव जी इसका अर्थ करते हैं कि—'उसने ये सब बुरा साज मेरे लिए ही तैयार किया था, (जिसके द्वारा) उसने सब संसार को दीन-दुखिया कर दिया।' इसके उपरांत राव जी[3] पादटिप्पणी में और पं० ज्वालाप्रसाद जी[4] ने १२ मार्गों का उल्लेख किया है जिससे लोग नष्ट-भष्ट हो जाते हैं, 'मोहो दैन्यं भयं ह्रासो हानि ग्लानिः क्षुधा तृषा। मृत्युः क्षोभो व्यथाकीर्तिर्वाटो ह्येते हि द्वादशः।' रामायणी श्री रामसुन्दरदास जी ने इनके उदाहरण राजा-रानी, परिजना-प्रजा, रिपु में विभिन्न स्थलों से दिया है। उनके भावानुसार—'१. मोह, २. दीनता, ३. हानि, ४. ग्लानि अवध-वासियों को; ५. भय रावण को; ६. ह्रास जनक महराज आदि को; ७-८. क्षुधा-प्यास लक्ष्मण-जानकी को; ९-१०. क्षोभ देवताओं को, मृत्यु महाराज को; ११. व्यथा कुबरी आदि को और १२. अकीर्ति कैकेयी को प्राप्त हुई।'[5]

अंजनीनंदनशरण जी ने मानसपीयूष में बारह बाट इस प्रकार लिखा है—

---

१. रामा०, पृ० ६९३
२. रामा० परि० परिशिष्ट० प्र०, पृ० १२०
३. वि० टी०, पृ० ३१६
४. सं० टी०, पृ० ५८६
५. मा० पी०, अयो०, पृ० ७६१-६२

लखन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा ॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोकु संतापू ॥
मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्हि कइकेईं सबकर काजू ॥[१]

'(१) राम को वन का रास्ता, (२) सीता को वन का रास्ता, (३) लक्ष्मण को वन का रास्ता, (४) दशरथ को अमरपुर का रास्ता, (५) अपने को विधवापन का रास्ता, (६) अपयश का रास्ता, (७) प्रजा को शोक का, (८) संताप का (९-१०-११), मुझको सुख का, सुयश का, सुराज का रास्ता और (१२) सब को सुकाज का रास्ता।'[२]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी अर्थ क्लिष्ट कल्पना करके किये गये हैं। 'बारह बाट घालना' मुहावरा है। मुहावरे में अभिधेयार्थ का नहीं, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होता है। अर्थव्यंजना ही मुहावरों का प्राण है। अतः यह कहना कि अमुक पंक्तियाँ ही बारह बाट हैं, असंगत अर्थ है। 'बारह बाट' में कैकेयी के समस्त कुकृत्य आ गये। थोड़े में बहुत कुछ कह देना, यह मुहावरों के द्वारा ही संभव है। गोस्वामी जी ने भरत जी के वाक्यों की विशेषता बताते हुए कहा भी है—'अरथु अमित अति आखर थोरे।'[३]—थोड़े शब्दों में अधिक कहना भरत जी की विशेषता है। मुहावरे की भी यही विशेषता है। अतः सिद्ध है कि 'बारह बाट घालना' मुहावरे के रूप में गोस्वामी जी ने प्रयुक्त किया है। 'बारह बाट घालना' मुहावरे की व्युत्पत्ति 'मोहो दैन्यं भयं ह्रासो' नामक उक्त श्लोक से मानी जा सकती है।

गोस्वामी जी के 'बारह बाट घालना' नामक मुहावरे का अर्थ है—'नष्ट-भ्रष्ट करना' और 'बारह बाट जाना' का अर्थ है—'नष्ट-भ्रष्ट होना'।[४] इस अर्थ में उन्होंने इसका प्रयोग किया है—

लंक असुभ चरचा चलति, हाट, बाट, घर, घाट।
रावन सहित समाज अब, जाइहि बारह बाट ॥[५]

इसी प्रकार दोहावली में इसका प्रयोग हुआ है।[६]

---

१. मानस २।१७९।३-५

२. मा० पी०, अयो०, पृ० ६६९

३. मानस २।२९३।२

४. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३४६३

५. रामाज्ञा० ५।६।२

६. दोहा० ५०१ एवं ४१६

'औचित्य' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। यहाँ पर 'जग' का तात्पर्य परिचित या सम्बन्धित जन-समुदाय से है। जैसे लोग कहते हैं कि 'आप मरे तो जग मरा।' अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'उसने (कैकेयी ने) यह सब (उक्त) अभिचार मेरे लिए रचा और सारे संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।' विजयानंद त्रिपाठी जी[१], अवधबिहारीदास जी[२], ग्राउस महोदय[३], रामेश्वरभट्ट जी[४], पोद्दार जी[५], 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक[६] और श्रीकांतशरण जी[७] ने भी 'बारह बाट घालना' को मुहावरा स्वीकार करके उक्त अर्थ ही किया है। रामनरेश त्रिपाठी जी मुहावरे का अर्थ मुहावरे में करते हुए 'बारह बाट घालना' का अर्थ 'तीन तेरह करना' किया है।[८]

'बाज सुराग कि गाँडर ताँती'

सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥[९]

टीकाकारों ने 'गाँडर' शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। वीरकवि जी[१०] और विजयानंद त्रिपाठी जी[११] ने 'गाँडर ताँती' का अर्थ 'भेंड़ की ताँत' किया है। विनायक राव जी के अनुसार—'कहीं गड़रिये के पींजन से सुरावट के शब्द निकल सकते हैं।'[१२] 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक ने भी 'भेड़ की ऊन धुनने की ताँत' अर्थ किया है।[१३] श्री रामबख्श पाण्डेय ने भी यही अर्थ किया है।[१४] श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'ऊन की ताँत' अर्थ किया है।[१५]

१. मानस, वि० टी०, अयो०, पृ० ३०५
२. ,, पृ० ५८०
३. द रामायन ऑव् तुलसीदास, पृ० २७६
४. रामा०, पृ० ५७४
५. मानस, पृ० ५०२
६. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५४१
७. मानस, सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० १२६७
८. मानस, पृ० ६११
९. मानस २।२४०।६
१०. मानस, पृ० ७११
११. वि० टी०, द्वि० भा०, पृ० ३५०
१२. वि० टी०, पृ० ३४१
१३. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५६५
१४. मा० पी०, अयो०, पृ० ८५८
१५. मानस, पृ० ६४०

ज्वालाप्रसाद जी[१], श्यामसुन्दरदास जी[२], शुकदेवलाल जी[३], अवध-बिहारीदास जी[४], ग्राउस महोदय[५], श्रीकांतशरणजी[६] और श्री रामदास गौड़ जी[७] 'गाँडर' को 'तालाबों और झीलों से उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास' मानते हैं। पं० रामकुमार जी ने इसका अर्थ 'मूँज की डोरी' किया है।[८]

व्यासीय टीकाकारों ने भी इसके अनेक अर्थ किये हैं। श्री रामचरणदास जी लिखते हैं कि—'गाडर के तार ते कहूँ सुराग बाजै है नहीं बाजै गाड़र कही गड़रिया के ऊन को सूत, किंतु गाड़र कही तृण तेहि की रज्जु तेहि ते राग नहीं निकसत है।'[९] हरिहरप्रसाद जी के मत से 'गाडर कहैं भेड़ की ताँत ते बाजत है अर्थात् नहीं बाजत है। कोऊ अस कहत गाँडर घास विशेष, खस का भेद।'[१०] पंजाबी जी के अनुसार—'गाँडर ताँती कह्यो भेड़ की स्थूल नाड़ी, किंवा ब्रज में गाडर पन्ही को कहिते हैं जिससे छान छाइती है तिसकी तंत से बहु कैसे बाजै।'[११]

रामेश्वर भट्ट जी, पोद्दार जी और मानस-पीयूषकार ने अपने अर्थ में ज्यों का त्यों 'गाँडर की ताँत' ही लिख दिया है।[१२]

इस प्रकार टीकाकारों ने इसके लगभग ५ अर्थ किये हैं—१. भेड़ की ताँत, २. गड़रिये के पींजन या भेड़ की ऊन धुनने की ताँत, ३. ऊन की ताँत, ४. मूँज, ५. एक प्रकार की घास। 'भेड़ की ताँत' और 'एक प्रकार की घास'

१. सं० टी०, पृ० ६१
२. मानस, पृ० ५६६
३. रामा०, पृ० १२६
४. मानस, पृ० ६०८
५. "इफ एन इन्सट्रूमेंट इज वनली स्ट्रंग विद ग्रास कैन इट मेक स्वीट म्यूजिक"—दे० रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० २६०
६. मानस, सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० १३५०
७. मा० पी०, अयो०, पृ० ८५६
८. वही, ८५८
९. रामा०, पृ० ७२४
१०. रामा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १३७
११. मा० भा०, पृ० २८२
१२. दे० क्रमशः रामा०, पृ० ६०१; मानस, पृ० ५२५ और मा० पी०, अयो०, पृ० ८५७

अर्थ कई लोगों ने किये हैं। कोशों में गाडर और गाँडर दोनों भिन्न शब्द हैं। 'गाडर' शब्द का प्रयोग प्रांतिक है। यह संस्कृत 'गड्डरी वा गड्डरिका' से विकसित है। इसका अर्थ है भेड़।[1] 'गाँडर' का अर्थ इस प्रकार दिया है—संज्ञा स्त्री० (सं० गंडाली)=मूँज की तरह की एक घास, जिसकी पंक्ति बहुत पतली और हाथ-सवा-हाथ लंबी होती है। जड़ से इसके अंकुर गुच्छों में निकलते हैं। यह घास तराई में तथा ऐसे स्थानों पर होती है जहाँ पानी इकट्ठा होता है। नैपाल की तराई में तालों और झीलों के किनारे यह बहुत उपजती है। इसकी सूखी जड़ जेठ-असाढ़ में पनपती है और उसमें से बहुत से अंकुर निकलते हैं जो बढ़ते जाते हैं। क्वाँर के महीने में बीच से पतली-पतली सींकें निकलती हैं जिनके सिरे पर छोटे जीरे लगते हैं। किसान सींकों को निकाल कर उससे झाड़ू, पंखे, टोकरियाँ इत्यादि बनाते हैं और पौधों को काटकर उनसे छप्पर छाते हैं। इस घास की जड़ सुगंधित होती है और उसे संस्कृत में 'उशीर' तथा फारसी में 'खस' कहते हैं। यह पतली, सीधी और लंबी होती है और बाजारों में 'खस' के नाम से बिकती है। खस से इत्र निकाला जाता है और इसकी टट्टियाँ भी बनती हैं। खस से नेचे भी बाँधे जाते हैं, बीरन, खस। और उदाहरण-स्वरूप यही अर्धाली प्रस्तुत है।[2]

स्मरणीय है कि पाठ 'गाँडर' ही है, अतः यहाँ पर यही अर्थ संगत है। गोण्डा जनपद में इसे 'गँड़रा' कहते हैं। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से 'एक प्रकार की घास' अर्थ ही निश्चित होता है, क्योंकि भेड़ आदि की ताँत से कुछ न कुछ राग निकल ही सकता है। जैसा कि गोस्वामी जी मानते हैं कि ताँत से राग निकलता है—

'सेइ साधु गुरु, सुनि पुरान स्रुति बूझ्यो राग बाजी ताँति।'[3]

किन्तु गाँडर—एक प्रकार की घास की ताँत से कुछ भी राग नहीं बज सकता। अतः 'क्या गाँडर (एक प्रकार की घास) की ताँत से सुंदर राग बज सकता है?' यह 'बाज सुराग की गाँडर ताँती' का अर्थ हुआ। मानस के सभी टीकाकार इसी अभिधेयार्थ में फँसे रहे। 'क्या गाँडर (एक प्रकार की घास) की ताँत से सुन्दर राग बज सकता है?' यह एक प्रकार का मुहावरा है। मुहावरे में लक्षणा या व्यंजना की प्रधानता होती है। अतः उक्त अर्थ पूर्वोक्त अर्धाली

---

१. दे० हिन्दी शब्दसागर, पृ० ७६३; बृहत् हिन्दी कोश, पृ० ३६२ और तुलसी-शब्दसागर, पृ० १२३

२. दे० हिन्दी शब्दसागर; पृ० ७८६ और तुलसी-शब्दसागर, पृ० १२२

३. विनय० २३३

का साहित्यिक अर्थ नहीं है। इसका अर्थ होगा—'क्या नगण्य (बहुत ही साधारण, गये-बीते अथवा नितांत असमर्थ व्यक्ति या वस्तु) से उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) कार्य हो सकता है?' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'भरत और राम के जिस अगम प्रेम का वर्णन ब्रह्मा, विष्णु और महेश (त्रिदेव) भी करने में असमर्थ हैं, उस प्रेम को मैं दुर्बुद्धि किस प्रकार कहूँ? क्या नितांत असमर्थ (नगण्य) व्यक्ति या वस्तु से उत्कृष्ट कार्य हो सकता है?'

इसी प्रकार का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है।

'भूमिनागु सिर धरै कि धरनी'

सो मैं कहौं कवन विधि बरनी। भूमिनागु सिर धरै कि धरनी ॥[1]

यहाँ पर भी बैजनाथ जी[2], शुकदेवलाल जी[3], ग्राउस महोदय[4], अवधबिहारीदास जी[5], श्यामसुन्दरदास जी और हरिहरप्रसाद जी[6] ने 'भूमिनाग' का शाब्दिक अर्थ 'पृथ्वी का साँप' किया है। 'किन्तु हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ 'केंचुआ' दिया है और उदाहरण-स्वरूप यही अर्धाली प्रस्तुत है।[7] मानस-पीयूषकार कहते हैं कि 'केंचुआ के सिर नहीं होता। अतः 'पृथ्वी का सर्प' अर्थ भी अच्छा घट जाता है।'[8] किंतु नितांत असमर्थता सूचित करने के लिए कोश-प्रोक्त अर्थ 'केंचुआ' ही उपयुक्त है। श्री रामचरणदास, विनायक राव जी, वीरकवि जी, श्रीकांतशरण जी[9], पोद्दार जी, रामेश्वर भट्ट जी, विजयानंद त्रिपाठी जी, रामनरेश त्रिपाठी जी[10], 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक और मानस पीयूषकार[11] ने 'केंचुआ' अर्थ ही किया है।

---

१. मानस १।३५५।६
२. रामा०, पृ० ७५६
३. ,, पृ० २०६
४. "अर्थली सर्पेंट"—दे० रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० १७३
५. मानस, पृ० ३७३
६. ,, पृ० ३४३; रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० २१६
७. दे०, पृ० ३३८५
८. मा० पी०, बाल०, खं० ३, पृ० ८८७
९. दे० क्रमशः रामा०, पृ० ४६०; वि० टी० पृ० ३०६; मानस, पृ० ४२३; सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ८७७०
१०. दे० क्रमशः मानस, पृ० ३२७; रामा०, पृ० ३६५; वि० टी०, बाल०, पृ० ५८७; मानस, पृ० ३६०
११. प्र० खं०, अ० भा० 'वि० परि०, काशी, पृ० ३५० और मा० पी०, बाल०, खं० ३, पृ० ८८७

'क्या केंचुआ पृथ्वी को सिर पर धारण कर सकता है ?' यह उक्त अर्धाली के दूसरे चरण का अभिधेयार्थ हुआ। यह भी मुहावरा है जिसका अर्थ है 'क्या नितांत असमर्थ जीव उत्कृष्ट कार्य कर सकता है ?' वहाँ भरत और राम के अगम स्नेह के वर्णन की असमर्थता जैसे व्यक्त की गयी थी, वैसे ही यहाँ गोस्वामी जी कहते हैं कि चारों भाई (राम-लक्ष्मण, भरत-शत्रुघ्न) परिणय के उपरांत जब अयोध्या में आये, उस समय के प्रेम, परम आनन्द, विनोद, बड़ाई, समय, समाज और मनोहरता को सैकड़ों शारदा, शेष, वेद, ब्रह्मा, महेश और गणेश जी (भी) नहीं कह सकते। 'उसका मैं किस प्रकार से वर्णन करके कहूँ ? क्या नितांत असमर्थ जीव उत्कृष्ट कार्य कर सकता है ?' 'औचित्य' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'धुआँ देखि'

धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखा रावनु प्रेरा।[1]

'धुआँ देखि' के अनेक तरह से अर्थ किये गये हैं। रामनरेश त्रिपाठी जी ने इसका शाब्दिक अर्थ 'धुआँ देखकर' किया है।[2] ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि खरदूषण की मृत्यु देखकर या बाणों से जलने का धुआँ देखकर।[3] हरिहरप्रसाद जी कहते हैं कि धुवाँ बुन्देलखंड की भाषा है जिसका अर्थ है मृतक शरीर।[4] कुछ लोग कहते हैं कि 'धुवाँ' पंजाबी शब्द है जिसका अर्थ 'लाश' होता है। विजयानन्द त्रिपाठी जी ने हरिहरप्रसाद जी के अर्थ को स्वीकार किया है। 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक ने इसका अर्थ 'शव' और पादटिप्पणी में 'खरदूषण के जलने का धुआँ' अर्थ किया है।[5]

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि 'शब्द-प्रयोग में इतना सावधान कवि हिन्दी में दूसरा नहीं दिखायी देता। मानस के तृतीय सोपान में 'शव' के लिए 'धुआँ' शब्द का व्यवहार हुआ है। कवि ने इसीलिए रामचरित-मानस में अन्यत्र कहीं 'धुआँ' शब्द का व्यवहार (अग्नि-कारण के कार्य-रूप धूम के लिए) नहीं किया। उस अर्थ में सर्वत्र 'धूम' शब्द का ही व्यवहार है। अपने अन्य ग्रन्थों में अग्नि से निकलने वाले धूम के लिए जब 'धुएँ' का व्यवहार किया, तब वहाँ 'शव' के अर्थ में इस शब्द को कहीं भी व्यवहृत नहीं किया।'

१. मानस ३।२१।५
२. ,, पृ० ७७१
३. सं० टी०, पृ० ७७१
४. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० २३
५. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ६६६

किसी-किसी ने 'धुआ' और 'धुआँ' में अन्तर करके 'धुआ' का अर्थ 'शव' और 'धुआँ' का अर्थ 'धूम' किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में उक्त अर्धाली में 'धुआँ' का अर्थ 'धुर्रा, धज्जी' किया गया है। पर यह शब्द आज भी अवधी-क्षेत्र में व्यवहृत होता है और उसका अर्थ मुर्दा ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द 'धूम' से विकसित न होकर 'ध्वंस' से विकसित हुआ है। इसी ध्वंस से 'धुआँस' शब्द का भी विकास है, ऐसा लगता है। क्योंकि 'धुआँस' शब्द का व्यवहार उरद के आटे के लिए होता है, इसलिए 'हिन्दी शब्दसागर' में 'धूर+माष=उरद' इसका विकास माना गया है। विकल्प में 'धूमसी' शब्द भी दिया है। ध्वंस से विकास की अधिक सम्भावना इसलिए प्रतीत होती है कि वही उरद की दाल जब भिगोकर पीसी जाती है, तब 'पीठी' कहलाती है। पीठी, अर्थात् पिष्ट, पीसी हुई। पर चने की छिलके-रहित दाल का आटा 'बेसन' कहलाता है जो 'पेषण' से विकसित जान पड़ता है। 'हिन्दी शब्दसागर' ने इस बेसन को देशज माना है। शब्द-श्रवण मात्र से अर्थान्तर का बोध हो जाय, इसलिए एक ही शब्द से विकसित शब्दों में अर्थान्तर कर लिया जाता है।[1]

अनेकार्थ-प्रधान टीकाओं में इसका अर्थ इस प्रकार है—श्री रामचरणदास के अनुसार 'खरदूषण आदिक वीर से दग्ध भये, तिनको धुआँ देखि कै या धुआँ अस बुति गये।'[2] मानस-मयंककर के मत से—

> धूँध उरा हर सेन से, वा सहगामिनि धूम।
> धुआँ तुंग पुनि रुधिर ते, निकसी चहुँ दिशि धूम ॥६४॥

धुआँ के धरोहर ऐसे खरदूषण को देखकर, भाव धुआँ के धरोहर ऐसे नाश होते देखकर अथवा स्त्रियाँ जो अपने पति के साथ सती होती थीं, उनकी चिता से निकला हुआ धूम को देखकर वा मुर्दों के रुधिर से (भाफ) धुआँ ऊँचा कर चारों ओर फैल गया। इसको देखकर सूपनखा रावण के पास गई।[3]

उपर्युक्त टीकाकारों ने इसके ये अर्थ किये हैं—मृत्यु, मृतक शरीर, लाश, शव अथवा मुर्दा; बाणों से खरदूषण के जलने का धुआँ; धुआँ जैसे बुतना; धुआँ धरोहर जैसे नाश होते देखकर और पति के साथ सती होने वाली की चिता से निकला हुआ धूम। यहाँ 'मुर्दा' या 'शव' अर्थ 'धुआँ' का अभिधेयार्थ

१. सरस्वती विशेषांक, अगस्त १९७४, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का लेख, पृ० १३१
२. रामा०, पृ० ८५४
३. मा० मं०, वार्तिक० श्री इन्द्रदेवनारायण, पृ० ३२४-२५

सकता है। शेष सभी अर्थ काल्पनिक होने के कारण अग्राह्य हैं। वास्तव में 'धुआँ देखना' मुहावरा है। लोग क्रोधावेश में कहते हैं कि हम तुम्हारा धुआँ देखेंगे, अर्थात् विनाश देखेंगे। अतएव 'धुआँ देखना' का अर्थ हुआ विनाश देखना। उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'खरदूषण का विनाश देखकर शूर्पणखा ने जाकर रावण को प्रेरित किया।'

श्री रामवल्लभशरण ने यही अर्थ स्वीकार किया है। वाल्मीकि-रामायण में कहा गया है कि 'नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि। आचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां संप्रदृश्यते।' अर्थात्, स्वप्न में जो मनुष्य गधे पर सवार जाता दीख पड़ता है, उसकी चिता से धुआँ उठता दिखायी पड़ता है।[1] इससे भी 'विनाश' अर्थ का ही आभास होता है।

पंजाबी जी, वीरकवि जी[2], विनायक राव जी, अवधबिहारीदास जी, पोद्दार जी[3], श्रीकांतशरण जी[4] और ग्राउस महोदय[5] ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ स्वीकार किया है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'बेनुमूल सुत भएहु घमोई'

अब ही तें उर संसय होई। बेनुमूल सुत भएहु घमोई॥[6]

मानस-पीयूषकार और श्रीकांतशरण जी ने 'घमोई' का अर्थ 'घमोई' ही ज्यों-का-त्यों रख दिया है।[7] 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक के अर्थ से भी इसका अर्थ अस्पष्ट ही रहता है। उनके अनुसार 'तू तो बाँस की जड़ में (उसे नष्ट कर डालने वाला) घमोय बनकर उत्पन्न हो उठा है।'[8] पोद्दार जी कहते हैं कि 'तू बाँस की जड़ में घमोई हुआ (तू मेरे वंश के अनुकूल या अनुरूप नहीं हुआ)।'[9] पंजाबी जी के अनुसार—'घमोई नाम का एक घास बाँस के मूल ढिग उपजता है, सो उसका आकार लघु होता है। परन्तु बाँस के वृक्ष को

१. मा० पी०, अरण्य०, पृ० २१६; वाल्मीकि २।६६।१८
२. दे० क्रमशः मा० भा०, पृ० ३८, मानस, पृ० ८४७
३. दे० क्रमशः वि० टी०, पृ० ७६; मानस, पृ० ७२५; मानस, पृ० ६२३
४. मानस, सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० १६०२
५. द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० ३४८
६. मानस ६।१०।३
७. दे० मा० पी०, लंका०, पृ० ७०; सि० ति०, तृ० खं०, पृ० ५३
८. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ७६६
९. मानस, पृ० ७४८

नष्ट कर देता है, तैसे अब ही ते कहिये तेरी बालक अवस्था में ही मुझे सन्देह भया है। क्या जानिये हमारी मूल का तू विनासक उपज्या है।'[१] डॉ० रामनाथ त्रिपाठी जी लिखते हैं कि 'कुल कलंक के लिए बाँस की जड़ में घमोइ (कीट) होना।'[२] ग्राउस महोदय ने नरकुल या सरकंडा (रीड) अर्थ किया है।[३] किसी टीकाकार का कथन है कि 'घमोई' नाम का एक कल्ला बाँस का होता है जो निकलते ही मुड़-मुड़ा कर सूखकर रह जाता है।[४] अनेकार्थ-प्रधान टीकाओं के टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। हरिहरप्रसाद जी के अनुसार 'घमोय रोग वंशनाशक लोकप्रसिद्ध वृक्ष-विशेष पैदा भयो बाँदा-सा।'[५] उन्होंने इसका अर्थ 'कँटीला', 'सत्यानाशी' और 'भड़भड़ा' भी किया है। वे कहते हैं कि बैसवाड़ा प्रदेश में इसे कड़ुवा कहते हैं।[६]

विनायक राव जी के अनुसार—'अरे लड़के! तू बाँस की जड़ में नरसल की नाईं उत्पन्न हुआ (भाव यह है कि लड़ने का संशय तो पराक्रमहीन को होना चाहिए, मुझ-सरीखे योद्धा के कुल मे तू ऐसा कुपूत हुआ, जैसे बाँस की जड़ का घमोई, जो बाँस की समता कुछ भी नहीं रखता, वरन् उसका नाशक हो जाता है।)[७] मानस-मयंककार के मत से—

> ना बेनुज नासक सही, ना तिस गुण को लेश।
> इमि मम निज को जानु सठ, सो कहु यह तू देश॥६३॥

रावण ने प्रहस्त से यह कहा कि अरे दुष्ट! जैसे घमोय न तो बाँस से पैदा होता है, न बाँस का कुछ गुण उसमें रहता है, परन्तु वह बाँस का नाशक सत्य है, तैसे न तो तू मुझसे पैदा हुआ है, न हमारा कुछ गुण तुझमें है, परन्तु तू हमारा नाश करने वाला है।[८]

पं० ज्वालाप्रसाद जी पाठ-परिवर्तन करके—'वेणु वंश सुत भयसि घमोई' अर्थ करते हैं कि तू बाँस के वंश में जलाने को घमोई (अग्नि) अथवा बाँस ही

---

१. मा० भा०, लंका० पृ० १४
२. रामचरितमानस और पूर्वांचलीय रामकाव्य, पृ० ४४९
३. "फ्राम दि टाइम आई हैव ए डाउट इन माई माइंड; कैन ए बैम्बू रूट हैव प्रोड्यूस्ड सच ए मियर रीड"—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० ४२६
४. मा० पी०, लंका०, पृ० ७०
५. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० ११
६. मा० पी०, लंका०, पृ० ७०
७. रामा०, वि० टी०, पृ० २६
८. मा० मं०, वा० ३; दे० मा०, पृ० ४९५-९६

के वंश के बिगाड़ने को तू घुन हुआ, अथवा घमोई घास है जिसके होते ही बाँस जड़ से सूख जाता है।'[1] श्यामसुन्दरदास जी इसका अर्थ 'मकोय का पेड़ या एक रोग' करते हैं।[2]

अवधबिहारीदास जी, रामनरेश त्रिपाठी जी और रामेश्वर भट्ट जी ने 'घमोई' का अर्थ 'बाँस का एक रोग' किया है।[3] 'घमोई' का अर्थ रोग करते हुए भी रामदास गौड़ जी लिखते हैं कि 'घमोई कटंगी बाँस का एक प्रकार रोग है जिसके पैदा होने से उस बाँस में नये कल्ले नहीं निकलने पाते। दूसरे बाँस की जड़ों में बहुत से पतले और घने अंकुर निकलते हैं जो बाँस की बाढ़ और नये कल्लों की उत्पत्ति रोक देते हैं।'[4]

'घमोई' शब्द के टीकाकरों ने लगभग नौ अर्थ किये हैं—(१) एक घास जो बाँस के मूल में उत्पन्न होकर उसे नष्ट कर देती है। (२) कीट या घुन। (३) नरसल, नरकुल या सरकंडा। (४) घमोई नाम का एक कल्ला जो निकलते ही गुड़मुड़ाकर सूख कर रह जाता है। (५) बाँदा। (६) अग्नि। (७) मकोय का पेड़। (८) बाँस का एक प्रकार का रोग। (९) सत्यानाशी, भड़भड़ा।

'हिन्दी शब्दसागर' में 'घमोई' और 'घमोय' दो भिन्न शब्द हैं। 'घमोई' का अर्थ है—संज्ञा स्त्री० (देशज)=कटंगी बाँस का एक प्रकार रोग जिसके पैदा होने से उस बाँस में नये कल्ले नहीं निकलने पाते। इससे बाँस की जड़ों में बहुत से पतले और घने अंकुर निकलते हैं जो बाँस की बाढ़ और नये कल्लों की उत्पत्ति रोक देते हैं। उदाहरण-स्वरूप उक्त अर्धाली प्रस्तुत की गयी है।

'**घमोय**'—संज्ञा स्त्री० (देशज)=एक छोटा पौधा जो गोभी की तरह का होता है। इसके पत्ते कटावदार तथा काँटों से भरे होते हैं। पत्तों के पीछे तथा कटाव की नोकों पर काँटे होते हैं। इसमें केवल एक डंठल ऊपर की ओर जाता है, इधर-उधर टहनियाँ नहीं फैलतीं। फूल पीले और प्याले के आकार के होते हैं। फूलों के झड़ जाने पर कँटीले बीजकोश रह जाते हैं। डंठल और पत्तों से एक प्रकार का पीला रस निकलता है जो आँख के रोगों में उपकारी माना जाता है। यह पौधा उजाड़ स्थलों में आप से आप बहुत-सा उगता है।[5]

---

१. सं० टी०, दे० मा० लं० १०।३

२. मानस, टी०, पृ० ८२८

३. दे० क्रमशः मानस, पृ० ८७३; मानस, पृ० ९२७ और रामा०, पृ० ८९५

४. मा० पी०, लंका०, पृ० ७०

५. दे० पृ० ८७७

'बृहत् हिन्दी कोश, में 'घमोई' और 'घमोय' का उपर्युक्त अर्थ ही दिया है।[1] 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में 'घमोई' और 'घमोय' को एक ही शब्द स्वीकार करके 'कँटीले पत्तों का एक पौधा, सत्यानाशी, भँड़भाँड़' अर्थ दिया है।[2] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी तुलनात्मक ढंग से विवेचन करके दोनों को एक ही शब्द स्वीकार किया है। उनके अनुसार—'बाँस की जड़ में घमोय होने का यह अर्थ क्यों न लगाया जाय कि कहाँ मार करने वाला बाँस और कहाँ उसकी जड़ में उसी थाले में, उसके चरणों में उत्पन्न 'घमोय' सी तुच्छ वस्तु जो बाँस की छड़ी गिरने से भी नष्ट हो जाय। सत्यानाशी पेड़ काँटेदार तो होता है, पर होता बहुत कोमल है।'[3] गोस्वामी जी ने 'घमोय' शब्द का प्रयोग 'भँडभाँड़' के अर्थ में किया है—

करत कछू न बनत हरि हिय हरष सोक समोइ।
कहत मन तुलसीस लंका करहुँ सघन घमोइ॥[4]

जायसी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है—

देखउँ तोरे मंदिल घमोई। माता तोरि आँधरि भइ रोई।[5]

वस्तुतः 'घमोय' और 'घमोई' दोनों एक ही शब्द हैं जिसका अर्थ है—'भँड़भाँड़, सत्यानाशी।' 'हिन्दी शब्दसागर' में 'घमोई' का अर्थ—'बाँस का एक रोग' उपर्युक्त कतिपय टीकाकारों के आधार पर किया गया है जो कि संगत नहीं लगता। इसके अतिरिक्त शेष सभी अर्थ काल्पनिक और अप्रामाणिक हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'घमोई' की व्युत्पत्ति पर विचार करते समय यह संकेत किया है कि यह शब्द संस्कृत 'गर्मुत' से निकला जान पड़ता है।[6] मोनियर विलियम्स के 'संस्कृत-अंग्रेजी कोश' में गर्मुत, गर्मुटिका, गर्मुद्, गर्मूटिका, गर्मूटी तथा गर्मोटिका आदि शब्दों का प्रयोग हिन्दी 'घमोई' आदि के अर्थ में मिलता है। डॉ० पूर्णसिंह कहते हैं कि मेरे विचार से हिन्दी 'घमोई' का विकास इन्हीं रूपों से हुआ है। विकास-क्रम इस प्रकार से दिखाया जा सकता है—

---

१. दे० पृ० ३६३
२. दे० पृ० २८६
३. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २२२-२५
४. गीता० ५।५
५. पद्मावत, ३६८।२
६. पद्मावत, पृ० ३७०

सं० गर्मुत्, गर्मूद्, गर्मोटिका > प्रा० घम्मोडी, घमोई (पाइअं० ३०५-३) > हि० घमोई (घमोइ, घमोय)—पाइअसद्द-महण्णवो)'[१]

विजयानंद त्रिपाठी जी और वीरकवि जी भी 'घमोई' का अर्थ 'भँड़भाँड़' करते हैं।[२] गोण्डा जनपद में इसे 'भड़भड़वा' कहते हैं। आज भी इलाहाबाद जिले के करछना आदि तहसीलों में 'घमोई' उसी 'भँड़भाँड़' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। लोगों का यह भी विश्वास है कि इसके खाने से 'पीलपाँव' नामक रोग हो जाता है।

'बाँस की जड़ में घमोई होना' मुहावरा है जिसका अर्थ 'योद्धा के कुल में कायर (भीरु) होना'। इसके पूर्व प्रहस्त ने रावण से कहा भी है—

तात बचन मम सुनु अति आदर। जनि मन गुनहु मोहि करि कादर ।।[३]

रावण ने उसकी एक भी बात स्वीकार नहीं की। प्रहस्त ने कहा कि मुझे भीरु न समझियेगा। रावण ने उसे भी सही माना। विभीषण ने भी रावण से ऐसी ही बात कही थी—

प्रहस्त	विभीषण
तात बचन मम सुनु अति आदर	मति अनुरूप कहौं
बचन परम हित सुनत कठोरे	हित ताता
सीता देइ करहु पुन प्रीती	सीता देहु राम कहुँ
सुनत नीक आगे दुखु पावा	जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना
सुजग जग तोरा	जो आपन चहहु कल्याना।
	सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना ।।
जेहिं बारीस बँधाएउ हेला	तात रामु नहि नर भूपाला ।।
सुत सै कह दसकंठ रिसाई ।।	सुनत दसानन उठा रिसाई ।।
असि मति सठ केहिं तोहि सिखाई।	जियसि सदा सठ मोर जिआवा ।।[४]

रावण प्रहस्त को भी लात मारकर निकाल देता किंतु उसे भय है कि इससे गृह में ही कलह हो जायगा। मंदोदरी तो राम के पक्ष की बात करती ही है, वह भी प्रतिकूल हो जायगी। यह भी संभव है कि उसके सभी लड़के भी प्रतिकूल हो जायँ। अतः रावण नीति से 'परुष गिरा' कहकर ही रह गया।

---

१. हिन्दी में देशज शब्द, डॉ० पूर्णसिंह डबवास, पृ० २१४-१५

२. वि० टी०, तृ० भा०, पृ० १६८; मानस, पृ० १०२७

३. दे० क्रमशः मानस ६।६।७, ८, १०, ४; ६।१०।१, ६।६।५, ६।१०।२

४. दे० क्रमशः मानस ५।३८।४, ५।४०, ६, ५।३८।५, ५।३६।१, ५।४१।२-३

रावण ने विभीषण को 'भीरु सभीत' कहा भी है—

सहज भीरुकर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई ।।
सचिव सभीत बिभीषन जाकें। बिजय बिभूति कहाँ जग ताकें ।।[1]
अनुज हमार भीरु अति सोऊ।[2]

अतः रावण का प्रहस्त को 'भीरु' मानना असंगत नहीं है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी 'भीरु' अर्थ ही तर्कसंगत प्रतीत होता है। अतएव उक्त अर्द्धाली का अर्थ होगा—'अभी से मन में संदेह होने लगा है। अरे पुत्र ! तू योद्धा के कुल में भीरु उत्पन्न हुआ।' 'बाँस की जड़ में घमोई होना' मुहावरा वैसे ही है, जैसे गाँवों में लोग कहते हैं कि—'सिंहिनी की कोख में सियार पैदा हुआ'। 'मयंककार इसका अर्थ करते हैं कि 'तू मुझसे पैदा नहीं हुआ।' इसी आधार पर कुछ लोग अर्थ करते हैं कि 'बाँस की जड़ में घमोई होना' गाली है। किंतु रावण प्रहस्त को स्वयं 'सुत' सम्बोधन कर रहा है। अतः यह अर्थ बिल्कुल असंगत है। यहाँ पर पूर्वोक्त अर्थ ही तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'बाघौ सन्मुख गए न खाई'

नाथ दीनदयाल रघुराई। बाघौ सन्मुख गए न खाई ।।[3]

श्यामसुन्दरदास जी ने इसका अर्थ किया है कि 'बाघ की चाल होती है कि वह टेढ़ा और पीछे फिर कर खाता है। सामने वाले को नहीं खाता। सामने वाले को भी तिरछा होने पर स्वयं तिरछा होकर खाता है।'[4] 'मानस-पीयूष' में किसी का मत है कि 'बाघ के विषय में यह प्रख्यात है कि उसके सम्मुख देखते रहने से वह हमला नहीं करता, वरन् राह छोड़कर बचा जाता है कि दृष्टि इधर-उधर होने पर ही वह मारता है।'[5] रामेश्वर भट्ट जी ने तो अद्भुत अर्थ किया है—'हे नाथ ! राम जी दीनों पर दया करने वाले हैं। वे सामने जाने पर बाघ की तरह खा नहीं जायेंगे।'[6]

यह अर्थ कि बाघ के सम्मुख देखते रहने से या नेत्र मिलाये रहने से वह नहीं मारता, असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि सर्वदा देखते रहना असंभव है। कभी-न-कभी तो दृष्टि इधर-उधर हो ही सकती है। फिर सम्मुख आगत

---

१. मानस ५।५६।५ और ७
२. मानस ६।२३।३
३. मानस ६।७।१
४. मानस, पृ० ८२५
५. मा० पी०, लंका०, पृ० ५३
६. मानस, पृ० ८६१

का जीवित रहना असंभव हो जायगा। अतः उपर्युक्त अर्थ असमीचीन है। भट्ट जी का अर्थ तो बिल्कुल असंगत है—वस्तुतः 'बाघ के भी सम्मुख जाने पर न खाना' लोकोक्ति है। लोकोक्ति के पीछे कोई न कोई कथा रहती है। लोक में यह प्रसिद्ध है कि बाघ के सम्मुख लम्बा चित्त लेट जाने पर वह नहीं खाता। बाघ और सिंह मुर्दाखोर नहीं होते। अतः इस मुद्रा में लेटने से वे सूँघकर चले जाते हैं। हम लोगों को प्रारम्भिक कक्षाओं में बताया गया है कि यदि भालू, सिंह या बाघ सामने आ रहा हो और उस समय बचने का कोई उपाय न हो तो तत्काल जमीन पर चित्त लेट जाना चाहिए। ऐसी अवस्था में वह नहीं खायेगा। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि भेड़िया से बचने के लिए बालू या धूल हो तो उस समय उसके सामने झोंकना चाहिए। भेड़िया धूल आँखों में पड़ने के भय से सम्मुख नहीं आयेगा। श्रीकांतशरण जी के शब्दों से उक्त बात की पुष्टि और हो जाती है। उनके अनुसार 'नैपाल राय मिथिला देश के पँडौल ग्राम में एक बार जमीन का सरकारी बंदोबस्त हो रहा था। लोगों ने दिन में ही एक भारी बाँस की आड़ में छिपे हुए दो बड़े-बड़े बाघों को देखा। शीघ्र ही उन्होंने बंदूक वाले राज्य कर्मचारियों से आकर कहा। उन्होंने आधे फर्लांग की दूरी से उन पर गोलियाँ चलायीं, पर बाँसों के कारण निशाना चूक गया। निदान दोनों बाघ उधर को ही वेग से टूट पड़े। वहाँ कुल ४-५ कर्मचारी और करीब २५ मजदूर वगैरह थे। उनमें कुछ भाग कर बच गये। दो-तीन मरे और छह-सात घायल हुए, परन्तु एक कुली मारे डर के घबड़ाकर चार अंगुल गहरी नाली में लम्बा गिर पड़ा। बाघों ने औरों को झपट-झपट कर मार डाला। पीछे एक आकर इसकी पीठ पर अपने अगले पाँव (हलके से) रखकर खड़ा हो हाँफने लगा। फिर दोनों जंगल की ओर (जो वहाँ से ५ मील दूर था) भाग गये। उस पड़े हुए मजदूर को एक नख भी नहीं गड़ा और न उस पर कुछ दबाव ही पड़ा। उसी ने मुझसे कहा और वहाँ के रईसों ने भी कहा कि हम लोगों ने भी इसे प्रत्यक्ष देखा है।'[1] इसी प्रकार की कोई घटना अतीत में लोकजीवन में घटी होगी। उसी के आधार पर उक्त लोकोक्ति की प्रसिद्धि हो गयी होगी। कालांतर में गोस्वामी जी ने इसका साहित्यिक प्रयोग करके इसे चिरजीवन प्रदान कर दिया। अतएव 'बाघ के भी सम्मुख जाने पर न खाना' नामक लोकोक्ति का अर्थ हुआ—'बाघ-जैसे हिंसालु जीव भी शरणागत होने पर हिंसा नहीं करते।' उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'हे नाथ! श्री रघुनाथ दीनदयालु हैं। बाघ जैसा हिंसालु जीव भी शरणागत होने पर हिंसा नहीं करता।' इस पंक्ति के

१. मानस, सि० ति०, तृ० खं०, पृ० २०४३-४४

पूर्व के दोहे में—'रामहिं सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ'[1] और बाद में—'सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी'[2] कहा भी गया है। अतः 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

'पानी भरी खाल है'

तुलसी को भलो पै तुम्हारे ही किये, कृपालु !
कीजै न बिलंब, बलि, पानी भरी खाल है ॥[3]

हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ किया है कि 'पानी भरी षाल है पानी भरी षाल सम फूलों शरीर है वा फफोला सारे तन में पड़ी है भाव अति दुषी हैं।'[4] बैजनाथ जी के अनुसार—'पानी भरी खाल है, यह उपखान कहनूति है यथा यह पानी भरी खाल रहि नहीं सकती है शीघ्र ही सरि जाती है तथा देह को ठेकाना नहीं तहाँ ईश्वर की भलाई तौ' जीव के हेतु है देह अनित्य की क्यों सन्देह करें याको यह भाव कि जो कहे हैं कि तुलसी को भलो पै तुम्हारे ही किये कृपालु तहाँ तुलसी नाम देह मात्र को है ताते देह अपनो गुलाम करि लीजै जामें दूसरी देह न धरिवे परै।"

हरिहरप्रसाद जी का भी अर्थ तर्कसंगत नहीं लगता। वस्तुतः 'पानी भरी खाल है' यह शरीर के लिए एक मुहावरा है। लोग शरीर की अनित्यता को द्योतित करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। इसी अर्थ में गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—(तुलसीदास जी कहते हैं कि) 'हे दयालु ! तुलसी का हित तो आपके ही द्वारा हो सकता है। बलिहारी जाता हूँ। देर न कीजिये क्योंकि यह शरीर अनित्य या क्षण-भंगुर है।' 'औचित्य' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। 'मानक हिन्दी कोश'[5] और 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में[6] 'पानी भरी खाल है' का यही अर्थ दिया है। लाला भगवानदीन जी[7], इन्द्रदेवनारायण जी[8], श्रीकांतशरण जी[9], पं० चन्द्रशेखर जी[10], देवनारायण द्विवेदी[11],

---

१. मानस ६।६
२. मानस ६।७।५
३. कविता० ७।६५
४. कवित्त०, पृ० १४६
५. दे० तीसरा खं०, पृ० ४७६
६. दे० पृ० ६१०
७. कविता०, पृ० १४६
८. ,, पृ० १४२
९. ,, सि० ति०, पृ० ३२०
१०. ,, पृ० १०७
११. ,, पृ० १७८

चम्पाराम मिश्र[1], 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक[2], आदि टीकाकरों ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। नश्वर से नष्टप्राय अर्थ लेना भी अनुपयुक्त नहीं है।

'भेंट पितरन कों न मूड़हूँ में बारु है'

तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम, न तु
भेंट पितरन कों न मूड़हूँ में बारु है ॥[3]

हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ किया है कि 'इहाँ मूँड़ मों बार तक नहीं है धन को कहै वा पालनहारे पितर माता-पिता आदि तिन सो भेंट तक नहीं है और नष्ट इहाँ तक है कि सिर में चोटी तक नहीं है' अर्थात् हिन्दुन का चिन्ह चोटी है सोऊ नहीं है तो देवता कैसे कृपा करेंगे।'[4] चम्पाराम जी के अनुसार—'नहीं तो पितरों से भेंट होती, अर्थात् मर जाता और सिर में एक बाल न रहता (इतना मारा जाता) अथवा न पितृकर्म ही करा सकता, न देवकर्म ही के लिए सिर में बाल (धन) है।'[5]

बैजनाथ जी कहते हैं कि 'यह कहनूति उपखान है यथा पितरन को भेंट देबे को वृषोत्सर्ग तेरही नित्य कुम्भ वरषी श्राध्य, गया पीछे क्षौर कर्म भी पितृ काज ही हैं तहाँ और कर्म की को कहै पितृ भेंट देबे को मूड़ में बार भी नहीं है कि क्षौरकर्म भी तौ[6] कराय डारिये वैसे हरिशरणागत को उपाय मो मैं एक हू नहीं हैं।' श्रीकांतशरण जी भी बैजनाथ जी के अर्थ से पूर्णतया प्रभावित हैं।'[7] इन्द्रदेवनारायण[8] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक[9] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'अन्यथा इसके पास तो पितरों को भेंट चढ़ाने के लिए सिर पर बाल भी नहीं हैं।' चन्द्रशेखर जी और देवनारायण द्विवेदी जी ने भी ऐसा ही शाब्दिक अर्थ किया है।

---

१. कविता०, पृ० १२२
२. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २५६
३. कविता० ७।६७
४. कविता०, पृ० १४८
५. कविता०, पृ० १२४
६. कवित्त,० पृ० २१४
७. कविता०, पृ० ३७५
८. ,, पृ० १४४
९. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २५

हरिहरप्रसाद जी और चम्पाराम जी का अर्थ तो बिल्कुल असमीचीन है। शेष सभी टीकाकारों ने अभिधेयार्थ किया है। 'पितरों को भेंट करने के लिए सिर में बाल न होना' लोकोक्ति है जिसका अर्थ है 'कुछ भी न होना।' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—

'तुलसीदास की प्रतिष्ठा तो राम-नाम के कारण ही बची हुई है, नहीं तो इसके पास तो कुछ भी नहीं है।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से इसका यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त पंक्ति के कवित्त में कवि ने स्वयं कहा है कि मैं लोक-व्यवहार के योग्य नहीं हूँ। मेरे पास नौकरी, खेती, व्यापार, कोई धंधा और कारीगरी नहीं है। मात्र राम-नाम का ही भरोसा है। इसके उपरांत निष्कर्षतः यही भाव होना चाहिए कि मेरे पास कुछ भी नहीं है। लाला भगवानदीन जी ने भी इसे कहावत स्वीकार किया है और अर्थ भी लगभग ऐसा ही किया है।[१]

'बार खाल को कढ़ैया'

> ज्ञान को गढ़ैया, बिनु गिरा को पढ़ैया, बार
> खाल को कढ़ैया सो बढ़ैया उर साल को ॥[२]

बैजनाथ जी इसका अर्थ करते हैं कि 'निर्दयी नाऊ बारन के साथ खाल काढ़ि लेत हैं।'[३] हरिहरप्रसाद जी के अनुसार 'औ बाल सहित बाल को काढ़निहारो है।'[४] श्रीकांतशरण जी[५], पं० चन्द्रशेखर जी[६], देवनारायण द्विवेदी जी, चम्पाराम मिश्र जी, इन्द्रदेवनारायण जी[७], 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक[८] और लाला भगवानदीन जी[९] ने अभिधेयार्थ 'बाल की खाल खींचने वाला' किया है। वास्तव में 'बाल की खाल निकालना' मुहावरा है जिसका अर्थ है—'व्यर्थ की माथा-पच्ची करना।' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'(एक

१. कविता०, पृ० १५२
२. कविता० ७।१३५
३. कवित्त०, पृ० २७५
४. वही, पृ० १६५
५. कविता०, पृ० ५०३
६. वही, पृ० २१०
७. वही, पृ० १६२
८. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २७६
९. कविता०, पृ० २०२

भ्रमर को संकेतित करती हुई कहती है कि यह) ज्ञान की बातें बनाने वाला, बिना वाणी के पढ़ने वाला, व्यर्थ की माथा-पच्ची करने वाला और हृदय की पीड़ा बढ़ाने वाला है।' डॉ० प्रतिभा अग्रवाल ने[१] भी 'बाल की खाल निकालने' को मुहावरा स्वीकार करती हुई अर्थ करती हैं कि 'व्यर्थ की बहुत छानबीन करना।' किन्तु यहाँ इसका अर्थ 'व्यर्थ की माथा-पच्ची करना' अधिक संगत लगता है। हरिहरप्रसाद जी और बैजनाथ जी का अर्थ बिल्कुल असंगत और अप्रासंगिक है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से पूर्वोक्त अर्थ ही तर्क-संगत प्रतीत होता है।

'जड़ जाहिंगे चाटि दिवारी को दीयो'

कासी में कंटक जेते भए ते गे पाइ अघाइ कै आपनो कीयो।
आजु कि काल्हि परौं कि नरौं जड़ जाहिंगे चाटि दिवारी को दीयो ॥[२]

हरिहरप्रसाद जी इसका अर्थ करते हैं कि 'इहाँ देवारी को दीपरूप पर द्रव्य चाटने वाले मसकदंश-रूप परधनहर्ता हैं।'[३] बैजनाथ जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है कि 'देवारी कैसो दिया चाटि कै जरि जाहिंगे, यथा पावस में मशाडंशादि उपद्रवी जीव बढ़ते हैं तिनको वादा देवारी तक है जहाँ देवारी को दिया चाटे तहाँ हिम की प्रबलता से नाश भये। यहाँ पाप उदय होना देवारी को दीप है शंकर का कोप हिम है।'[४] श्रीकांतशरण जी का अर्थ बैजनाथ जी के ही जैसा है।[५] इन्द्रदेवनारायण[६] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक[७] ने मूलानुगामी अर्थ किया है—'दिवाली की दीया चाटकर चलते बनेंगे।' यथार्थतः 'दीवाली का दीया चाटकर जाना' लोकोक्ति है। 'लोगों का विश्वास है कि दीपावली के दिन दीये चाटकर कीट-पतंग, सर्पादि चले जाते हैं।' इसी आधार पर 'दीवाली का दीया चाट कर जाना' लोकोक्ति बनी है जिसका अर्थ है—'समयानुसार स्वयं नष्ट हो जाना।' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'काशी में जितने भी कंटक (विरोधी) हुए हैं, वे अपनी करनी का फल भरपेट पा गये हैं। सम्प्रति जितने मूर्ख (नासमझ) हैं, वे भी आज या कल, परसों या नरसों तक समयानुसार

१. हिन्दी मुहावरे, पृ० ५२६
२. कविता० ७।१७६
३. कवित्त०, पृ० २३३
४. ,, पृ० ३१७
५. कविता०, सि० ति०, पृ० ५६८-६६
६. ,, पृ० २२६
७. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २६४

स्वयं नष्ट हो जायेंगे।' लाला भगवानदीन जी[१], पं० चन्द्रशेखर शास्त्री जी[२], देवनारायण द्विवेदी जी[३] और चम्पाराम मिश्र जी[४] ने लगभग उचित ही अर्थ किया है। यहाँ रूढ़िलक्षणा है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'हाथ कपिनाथ ही के चोटी चोर साहु की'

साम दान भेद बिधि, बेदहु लबेद सिद्धि
हाथ कपिनाथ ही के चोटी चोर साहु की ॥[५]

हरिहरप्रसाद जी[६], श्रीकांतशरण जी[७] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक महोदय[८] ने इसका अर्थ किया है कि 'चोर की चोटी साहु के हाथ है।' किंतु यह अर्थ संगत नहीं है। गोस्वामी जी ने कहा है कि हे नाथ! चोर भी और पहरेदार भी सब आप ही के हाथ हैं—

नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरु।[९]

अतः यहाँ होना चाहिए कि 'चोर और साहु दोनों की चोटी कपिनाथ श्री हनुमान जी के ही हाथ में है।' बैजनाथ जी[१०], पं० महावीरप्रसाद मालवीय[११], श्री अंजनीनंदनशरण जी[१२] और देवनारायण द्विवेदी जी[१३] ने ऐसा ही अर्थ किया है। उपर्युक्त टीकाकारों के अर्थों को देखने से पता चलता है कि लोगों ने 'हनुमान जी के हाथ में चोर और साहु की चोटी है' इसको अस्पष्ट रखा है। 'हाथ में चोटी होना' मुहावरा है जिसका अर्थ है—'वश में होना।' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ हुआ—लोक और वेद से भी प्रमाणित है कि साम, दान

---

१. कविता०, पृ० २३८
२. ,, पृ० २७४
३. ,, पृ० २६७
४. ,, पृ० १८८
५. बाहुक २८
६. कवित्त०, पृ० २६२-६३
७. बाहुक, सि० ति०, पृ० १२७
८. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३०६
९. विनय० २५०
१०. बाहुक, पृ० ३७
११. ,, पृ० २६
१२. ,, पीयूषवर्षिकी टीका, पृ० १२४; बाहुक, पृ० २५

और भेद का विधान तथा दुष्ट और सज्जन, दोनों ही कपिनाथ श्री हनुमान जी के ही हाथ हैं।' परमेश्वरीदयाल जी ने मुहावरे का अर्थ ऐसा ही किया है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। परमेश्वरीदयाल जी, बैजनाथ जी और बाबा जयरामदास जी[1] ने 'लबेद' का अर्थ 'दण्ड' किया है। किन्तु, यह वेद का अनुकरणबोधक शब्द है जिसका अर्थ है—अवैदिक[2], लौकिक।

'मींजो गुरु पीठ'

मींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक सुखद सदा विरद बहत हौं ॥[3]

बैजनाथ जी ने इसका अर्थ किया है कि 'यह सुनकर करुणासिंधु, शरणपाल प्रभु ने मेरी पीठ में 'गुरु मींजे' यह कहावत लोकविदित है, अर्थात् निर्हेतु मेरा भला किया।'[4] लाला भगवानदीन जी ने 'गुरु' का अर्थ 'गुड़' किया है और लिखा है कि 'पीठ में गुड़ मींजो'=अत्यन्त सुख दिया।[5] गुरु के अर्थ का समर्थन करते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि यहाँ 'मींजो गुरु पीठ' का अर्थ पुराने टीकाकारों ने 'गुरु ने पीठ मींजो', अर्थात् 'पीठ ठोंकी' किया है। उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि विनयपत्रिका ब्रजभाषा में है, इसलिए उसमें सकर्मक क्रिया के साथ भूतकाल में कर्तरि प्रयोग नहीं होगा। 'मींजो' का सम्बन्ध पीठ से नहीं हो सकता, इसलिए कि वह स्त्रीलिंग है। वैसी स्थिति में 'मींजी गुरु पीठ' होना चाहिए। वास्तविकता यह है कि 'पीठ में गुड़ मींजना' बैसवाड़े का प्रसिद्ध मुहावरा है और आज भी वहाँ प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है 'किसी को अत्यधिक सुख पहुँचाना।' अतः इसका यहाँ अर्थ हुआ कि उन्होंने अत्यन्त सुख दिया (मेरी पीठ पर गुड़ मींजा), मुझे अपनाया।[6]

सामान्यतया उनका अर्थ ग्राह्य प्रतीत होता है, परन्तु एक तो उन्होंने बैस-बाड़े प्रयोग के कोई साहित्यिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किये। दूसरे प्राचीन पाठ 'गुरु' है, 'गुरु' नहीं और 'गुरु' का अर्थ किसी कोश में 'गुरु' नहीं माना गया

---

१. बाहुक पीयूषवीर्षिणी टीका, पादटिप्पणी, १२४
२. दे० तुलसी-शब्दसागर, पृ० ४१५
३. विनय० ७६
४. ,, पृ० १४६
५. ,, पृ० ६४
६. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २७२

है। 'गुरु' पाठ मानते हुए इस कठिनाई की ओर उन्होंने इंगित नहीं किया। अतः जब तक इन बातों का परिहार नहीं होता, तब तक उनका अर्थ सर्वथा स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि बैसवाड़े में 'पीठ में गुड़ मींजना' कोई मुहावरा हो, किंतु यहाँ तो 'गुरु' पाठ है।

'गुर' पाठ होने पर भी 'गुरु' अर्थ की संगति हो सकती है। स्वयं मिश्र जी ने ही अपने मानस के संस्करण में 'गुरु' के स्थान पर 'गुर' पाठ माना है। यथा बंदौं गुरपद पदुम परागा[१]; श्री गुरुपद नख मनिगन जोती[२]; गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन[३]। वस्तुतः 'पीठ मींजना' मुहावरा' है जिसका अर्थ है—किसी कार्य की प्रशंसा करना। शाबाशी देना।[४] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'इह पर गुरु रूप श्रीराम जी ने बुला, हाथ पकड़ और अपनाकर मेरे इस (गुलाम होने अथवा शरणागत होने के) कार्य की प्रशंसा की।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। गयाप्रसाद जी[५], देवनारायण द्विवेदी जी[६], वियोगी हरि जी[७], पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[८] और श्रीकांतशरण जी[९] ने लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।

'कियो कथिक को दंड'

> बसत हिये हित जानि मैं सबकी रुचि पाली।[१०]
> कियो कथित को दंड हौं जड़ कर्म कुचाली॥

श्रीकांतशरण जी 'कोदण्ड' पाठ स्वीकार करके अर्थ करते हैं कि 'कोदण्ड—सारंगी बजाने वाली कमानी, जिससे रेतकर सारंगी बजाई जाती है।'[११] चरखारी टीकाकार के अनुसार—'कथिक (=कहने मात्र को) दंड (=इन्द्रधनुप) बनाया है जो कहिने ही मात्र है, परन्तु पराक्रम सों वृथा है, ऐसे

१. मानस १।१।१
२. वही १।१।५
३. वही १।२।१
४. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६२४
५. विनय०, पृ० १३४
६. ,, पृ० ५१८
७. ,, पृ० २२५
८. ,, पृ० ६०
९. ,, सि० ति०, पृ० ५१८
१०. विनय १४७
११. विनय०, सि० ति०, पृ० १००१

ही इनने मोको वृथा करो।'[१] बैजनाथ जी के अनुसार—'कथक के दंड के समान मुझे जड़ कर दिया और कुचाली कर दिया। दंड में जड़ता स्वाभाविक होती है।······देहेन्द्रिय कथिक समाज विपमसुख जीविका के लिये देह संग दण्ड सम जीव फिरता है, कामादि व्यापार के कारण कुचाली है।'[२]

'कोदण्ड' का अर्थ 'सारंगी बजाने वाली कमानी' किसी भी कोश में नहीं मिलता। प्रायः सभी लोगों ने पाठ 'कथिक को दंड' माना है, न कि 'कोदण्ड'। अतः यह पाठ कुछ क्लिष्ट कल्पनायुक्त है। 'कथिक को दंड' का अर्थ 'इन्द्रधनुष' भी खींचतान करके किया गया है। बैजनाथ जी का अर्थ भी संगत नहीं प्रतीत होता। यहाँ 'कथिक का दंड' जड़ता नहीं, अपितु अस्थिरता का सूचक है।

बाबू शिवप्रकाश जी के अनुसार—'नाचने वाले कत्थक डण्डे में घुँघरू बाँधकर लड़के को नाच सिखाते हैं। लड़का इस लकड़ी (के इशारे) के अनुसार नाचता है।'[३] भगवान सहाय जी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।[४] इसी अर्थ के आधार पर वीरकवि जी लिखते हैं कि—'कथक लोग बालकों को राग सिखाने के लिए डंडे में घुँघरू लगाते हैं और उससे ताल का संकेत करते हैं, अर्थात् वह डंडा स्थिर नहीं रहने पाता। छन ऊपर छन नीचे धावत, जैसे नट का बेटा।'[५] देवनारायण द्विवेदी जी ने ज्यों-का-त्यों ऐसा ही अर्थ किया है।[६] लाला भगवानदीन जी, वियोगी हरि जी और पोद्दार जी का भावार्थ भी वीरकवि जी के ही समान है। 'जैसे कत्थक अपनी लकड़ी के इशारे से नाच नचाते हैं, वैसे ही ये मुझे नाच नचाते रहते हैं। जिधर चाहते हैं, उधर ही ले पटकते हैं।'[७] पोद्दार जी का 'कत्थक' का अर्थ 'जादूगर' कुछ खटकता है।[८] रामेश्वर भट्ट जी के अर्थ से भी 'चांचल्य' का भाव झलकता है—'जैसे गाने वाला एक लकड़ी में घुँघरू बाँधकर लड़के को नाचना सिखाता है और लड़का

---

१. वि० पी०, खं० ४, पृ० ११८
२. विनय०, पृ० २८६
३. वि० पी०, खं० ४, पृ० ११८
४. वही
५. विनय०, पृ० २०३
६. ,, पृ० २६४
७. वि० पी०, खं० ४, पृ० ११८
८. विनय०, पृ० २४६

उस लकड़ी के अनुसार नाचता है, वैसे ही ये मुझे लकड़ी बनाकर मेरे मन को नचाते हैं।'[१]

यथार्थतः 'कथिक को दंड बनाना' लोकोक्ति है जो बाबू शिवप्रकाश और वीरकवि जी आदि उपर्युक्त टीकाकारों के अर्थों के आधार पर 'अस्थिरता' द्योतित कराने के लिए प्रयुक्त हो सकता है। अत, 'कथिक को दंड बनाना' लोकोक्ति का अर्थ हुआ 'अस्थिर या चंचल करना'। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'हृदय में निवास करने के कारण मैंने उन सब (कामादि) की रुचि पूरी की, अर्थात् उनकी इच्छानुसार उनका भोग किया। परन्तु इन जड़ कर्म वाले कुचालियों ने मुझे चंचल कर दिया।' 'औचित्य' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। गयाप्रसाद जी ने 'कथिक' के स्थान पर 'पथिक' की कल्पना करके व्यर्थ की खींचतान की है।[२]

'पूतरो बाँधिहै'

अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि जात न मोपै परिहास एते ॥[३]

गयाप्रसाद जी ने इसका अर्थ किया है—'अब तो तुलसीदास दिन ही को मसाल उजियार है, क्योंकि मुझसे जे इतने ठट्टा नहीं सहे जाते (कि रामदास होकर भी सुखी न भयो)'[४]। सूर्यदीन शुक्ल के अनुसार—'अब तुलसी पुतला बाँधेगा, मुझसे इतनी हँसी सही नहीं जाती। यदि आप मेरी न सुनेंगे तो तुम्हारी नकल का पुतला ले तुम्हारी हँसी उड़ाता फिरूँगा कि मैं आपका सेवक हूँ और सुनते नहीं हैं।'[५] गयाप्रसाद जी का अर्थ तो असंगत है। शुक्ल जी का अर्थ 'हँसी उड़ाना' भी यहाँ संगत नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः 'पुतला बाँधना' मुहावरा है जिसका अर्थ है 'किसी की निंदा करते फिरना, किसी की अपकीर्ति फैलाना'। मध्ययुगीन भारत में, भाट आदि जिससे असंतुष्ट होते थे, उसकी कपड़े की आकृति बनाकर गली-गली उसका उपहास और निंदा करते फिरते थे। इसी से यह मुहावरा बना है।[६]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'(कि अब) मुझसे इतने परिहास (लोगों

---

१. विनय०, पृ० २१३
२. ,, पृ० २२५
३. ,, पृ० २४१
४. ,, पृ० ३३५
५. ,, पृ० २६५
६. मा० हि० को०, ती० खं०, पृ० ५३०

के उपालंभ कि यह अपने को राम का दास कहता है, किंतु राम इसकी ओर ध्यान ही नहीं देते) सहे नहीं जाते। अतः अब यह तुलसीदास आपकी अपकीर्ति फैलाएगा। लाला भगवान दीन जी ने यही अर्थ स्वीकार किया है।'[१] वियोगी जी[२], देवनारायण द्विवेदी जी[३], वैजनाथ जी[४] और श्रीकांतशरण जी[५] ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है। 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत लगता है।

'बड़े खाए'

कहा भौ चढ़ाए चाप, ब्याह ह्वैहै बड़े खाए।[६]

हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ किया है कि 'विवाह बड़े खाए ते होइगो।'[७] इसी प्रकार ठाकुर बिहारीलाल जी लिखते हैं कि 'विवाह बड़े खाए होगा।'[८] वास्तविकता यह है कि 'बड़े खाए' मुहावरा है जिसका अर्थ है—'बड़ी कठिनता से।' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—

'अरे धनुष चढ़ा लेने से क्या हुआ, अभी विवाह बड़ी कठिनाई से होगा।' औचित्य नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत लगता है। मुनि-लालजी[९], श्रीकांतशरण जी[१०], वैजनाथ जी[११] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक[१२] महोदय ने लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।

'भलो न भूमि पर बादर छीबो'

ग्वालि बचन सुनि कहै जसोमति भलो न भूमि पर बादर छीबो।[१३]

---

१. विनय०, पृ० १७१
२. ,, पृ० ५४६
३. ,, पृ० ३६८-६६
४. ,, पृ० ४५५
५. सि० ति०, पृ० १४३६
६. गीता० १।६३।१
७. ,, पृ० १०४
८. ,, पृ० ११०
९. ,, पृ० १४३
१०. ,, पृ० ३२२
११. ,, पृ० १८५
१२. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३८६
१३. श्रीकृष्ण० ६

श्रीकांतशरण जी[१], नरोत्तम स्वामी एवं विद्याधर जी[२], वासुदेव जी[३] और पोद्दार जी[४] ने इसका अर्थ किया है कि 'भूमि पर पड़े हुए या भूमि से बादल छूना अच्छा नहीं है।' नरोत्तम जी ने इसका स्पष्टीकरण किया है—बढ़-बढ़कर इतनी बातें बनाना अच्छा नहीं। पोद्दार जी कहते हैं कि 'दूधमुँहे बच्चे पर ऐसा असंभव दोष लगाना अच्छा नहीं।'

यथार्थतः 'भूमि पर से बादल छूना' मुहावरा है जिसका अर्थ है—असंभव बात कहना, या असंभव कार्य करना। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'ग्वालिनि के वचन सुनकर श्री यशोदा जी कहती हैं कि ऐसी (दूध, दही, मक्खन गिराना आदि) असंभव बातें कहना उचित नहीं है।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। गोस्वामी जी ने इस मुहावरे का प्रयोग अन्यत्र भी किया है—

भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग बिलासा॥[५]

'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय का अर्थ—'देखो धरती पर बादल उतारना (झूठी बातें बताना) अच्छा नहीं होता'[६] यहाँ असंगत प्रतीत होता है।

'धान को गाँव पयार तें जानिय'

धान को गाँव पयार तें जानिय ज्ञान बिषय मन मोरे।[७]

रामायनसरन जी ने इसका अर्थ किया है कि 'धानु का गाँवु पयार से जानि परतु है सो या बातें सो ज्ञान की सकल जानि परो कि कान्ह बड़े ज्ञानी हैं ज्ञान विषय मन मोरे अब विषय सों मन मोरि लिए अब ज्ञानी बने वा मोरे मन ज्ञान ओ अपने मन विषय ऐसो कान्ह को चाही सी सषी अधिक हेर सजा ही रहत है।'[८]

---

१. श्रीकृष्ण० सि० ति०, पृ० १६
२. ,, पृ० ६८
३. ,, पृ० ११
४. ,, पृ० ११
५. मानस ५।५७।२
६. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५५६
७. श्रीकृष्ण० ४४
८. ,, पृ० ४५

श्रीकांतशरण जी[1], नरोत्तम स्वामी और विद्याधर जी[2], 'तुलसी-ग्रंथावली' संपादक[3] और पोद्दार जी[4] ने इसका अर्थ किया है कि—'जिस गाँव में धान होता है, उसका पता पुआल देखने से ही लग जाता है।'

सरन जी का अर्थ असमीचीन है। उक्त पंक्ति का प्रयोग उद्धव-भ्रमर के लिए हुआ है, न कि कृष्ण के लिए। अन्य टीकाकारों ने इसका मूलानुगामी अर्थ किया है। यथार्थतः 'पयाल को देखने से धान का गाँव जानना' लोकोक्ति है जिसका अर्थ है—'बाह्य स्वरूप या बाह्याचार से तात्त्विकता का अनुमान होना।' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'(एक सखी कहती है कि—) जैसे बाह्य स्वरूप को देखने से वास्तिकता का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही किसी व्यक्ति में कितना ज्ञान है, इसका पता इसी से लग जाता है कि उसका मन विषयों से कितना मुड़ा है (भ्रमर के ज्ञान का अनुमान उसके कमल-मकरंद लोलुपता से ही लग जाता है।) 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कयुक्त लगता है।

'खाजी खाइ'

सानुज सगन ससचिव सुजोधन भए मुख मलिन खाइ खल खाजी।[5]

रामायनसरन ने इसका अर्थ किया है—'षाइ षल षाजी नाम क्रोध षाइ मुष मलिन भयो दूसरो कछु नहीं बसाती ताते षल रहि गयो षाजी षाइ।'[6] यह अर्थ पूर्णरूपेण असंगत है। 'खाजी खाना' मुहावरा है जिसका अर्थ है—'मुँह की खाना, बुरी तरह परास्त होना।'[7] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार हो सकता है—

'भाइयों, अनुचरों एवं मंत्रियों के साथ दुष्ट दुर्योधन का मुँह की खाकर अथवा बुरी तरह परास्त होकर मुख धूमिल हो गया।' श्रीकांतशरण जी[8], नरोत्तम स्वामी और विद्याधर जी[9], पोद्दार जी[10] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के

१. श्रीकृष्ण० सि० ति०, पृ० १०७
२. ,, पृ० ८३
३. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५७४
४. श्रीकृष्ण०, पृ० ५२
५. श्रीकृष्ण०, पृ० ६१
६. ,, पृ० ६८
७. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० २४१
८. श्रीकृष्ण० सि० ति०, पृ० १६८
९. ,, पृ० ९०
१०. ,, पृ० ७२

सम्पादक[१] ने ऐसा ही अर्थ किया है। 'औचित्य' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत लगता है।

'करत गगन को गेंडुआ'

लोगनि भलो मनाव जो भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुआ सो सठ तुलसीदास ॥[२]

प्रायः सभी लोगों ने 'गेंडुआ' पाठ माना है, किंतु सभा का पाठ 'गेंदुआ' है। अर्थ में कोई अंतर नहीं है। मैंने भी यहाँ 'गेंडुआ' पाठ माना है। श्रीकांतसरण जी[३] और पोद्दार जी[४] ने इसका अभिधेयार्थ 'आकाश को तकिया बनाना' किया है। वास्तविकता यह है कि 'आकाश को तकिया' बनाना मुहावरा है जिसका अर्थ है 'अस्वाभाविक कार्य के लिए प्रयत्न करना।' अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—'तुलसीदास जी कहते हैं कि जो व्यक्ति किसी (किसी के द्वारा) अपना भला होने की आशा से (ईश्वर को छोड़कर) लोगों को रिझाता रहता है; वह मूर्ख अस्वाभाविक कार्य के लिए प्रयत्न करता है।' 'तर्कसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ संगत प्रतीत होता है।

'नारद-नारदी'

मोरेहु मन अस आव मिलिहि बर बाउर।
लखि नारद-नारदी उमहि सुख भाउर ॥[५]

इसका अर्थ लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। लाला भगवानदीन जी के अनुसार 'नारदी' का अर्थ है—नारदपन (सत्य भी कहना और झगड़ा लगा देना)।[६] सद्गुरुशरण अवस्थी के मत से 'नारद जी की टेढ़ी बात, अर्थात् उनके लक्षणात्मक चमत्कारयुक्त वाक्य। नारद जी के ऐसे रहस्ययुक्त वाक्य सुनकर पार्वती जी के हृदय में प्रसन्नता हुई।'[७] डॉ० माताप्रसाद गुप्त जी ने इसका अर्थ किया है—'नारद की विशेष चतुरतापूर्ण बातें'।[८] अयोध्या-

---

१. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, ५८३
२. दोहा०, गीताप्रेस, दोहा ४६१
३. ,, सि० ति०, पृ० ५८३
४. ,, पृ० १७१
५. पा० म० १६
६. तुलसी-पंचरत्न, पृ० २
७. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० ८७
८. पा० मं०, पृ० १६

नाथ एवं रामबहोरी जी के अनुसार—'नारदत्व; नारद घुमा-फिराकर सत्य बात कहने के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी बात स्पष्ट नहीं हुआ करती।'[१] 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय ने 'अटपटी, रहस्य-भरी बात' अर्थ किया है।[२] उपर्युक्त टीकाकारों के भाव उपयुक्त हैं, किन्तु वस्तुतः 'नारद-नारदी' मुहावरा है जिसका अर्थ है—'नारद की इधर की उधर लगाने वाली प्रकृति।'[३] अतः उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'मेरी समझ में भी यही आता है कि इस कन्या को वही बावला वर मिलेगा। नारद की इधर की उधर लगाने वाली प्रकृति को देखकर पार्वती जी के हृदय में प्रसन्नता हुई।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत लगता है।

'न्हात खसै जनि बार'

ईस मनाइ असीसहि जय जस पावहु।
न्हात खसै जनि बार गहरु जनि लावहु॥[३]

'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक ने इसका पूर्णरूपेण असंगत अर्थ किया है। उनके अनुसार—'शंकर को मनाकर वे आशीर्वाद देते हुए कहने लगे—तुम विजयी और यशस्वी होओ। स्नान करने में समय न बिताओ। विलम्ब न करो।'[४] वस्तुतः 'नहाते समय बाल भी न खसना' मुहावरा है जिसका अर्थ है—'कुछ भी कष्ट या हानि न पहुँचना।' अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'ईश्वर को मनाकर वे (राजा, रानी और पुरवासी लोग) आशीर्वाद देते हुए कहने लगे—'तुम विजय और यश प्राप्त करो'। तुम्हें कुछ भी कष्ट न हो, देरी न लगाओ।' लाला भगवानदीन जी[५], सदगुरुशरण अवस्थी जी[६], श्रीकांतशरण जी[७] और गीता प्रेस के टीकाकार[८] ने ऐसा ही अर्थ किया है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ तर्कयुक्त लगता है। सूरदास जी ने भी इस मुहावरे का प्रयोग किया है—

सूर असीस जाइ दहीं जनि न्हातहु बार खसै।[९]

---

१. पा० मं०, पृ० ७
२. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २३
३. पा० मं० ३२
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४१
५. तुलसी-पंचरत्न, पृ० २
६. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० १७५
७. पा० मं० सि० ति०, पृ० २४
८. वही, पृ० १२
९. सूरसागर—३७८८

८

आरोपित अर्थों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

अपने अर्थ को कवि का अर्थ मानकर या कवि के अर्थ को हटाकर उसकी जगह अपना अर्थ स्थापित करने की क्रिया को आरोपित अर्थ कहते हैं। निराधार, ऊपर से मढ़ा हुआ अर्थ आरोपित अर्थ है। 'आरोपित' अर्थ उस समय होता है जब विद्वान् अपने पांडित्य के बल पर विशेष मनोरंजक, चमत्कारपूर्ण और कौतूहलोत्पादक अर्थ निकालते हैं। रामचरितमानस के व्यास या कथावाचक और कहीं-कहीं साहित्यिक भी ऐसे असाहित्यिक, चामत्कारिक और कल्पनाप्रसूत अर्थों की उद्भावना करते हैं जो गोस्वामी जी की कल्पना में कदाचित् ही रहे होंगे। उदाहरणार्थ, 'सरस' का अर्थ 'बढ़ना', 'मासदिवस कर दिवस' के अर्थ में अधिक मास की कल्पना, 'कुमार' का अर्थ दुष्टों को मारने वाले; जिसके रूप के समक्ष कामदेव (मार) कुत्सित (कु) है, कुए=पृथ्वी पर मार (कामदेव) के समान, आदि अर्थ आरोपित अर्थ के ही अन्तर्गत आते हैं।

कथावाचकीय शैली के व्यास टीकाकारों ने अभीष्ट अर्थ निकालने के लिए व्याख्यातव्य पंक्तियों के पदों को तोड़-मरोड़ अथवा वर्णविच्छेद-चातुरी से विचित्र-विचित्र अर्थों की उद्भावना की है। इस विषय में 'तुलसी सूक्ति सुधाकर भाष्य' के भाष्यकार श्री बाबूराम शुक्ल का नाम अग्रगण्य है। शुक्ल जी ने मानस की एक अर्धाली का अर्थ पौने सत्तरह लाख से भी अधिक किया है। ऐसे ही 'सीता चरन चोंच हति भागा' में आए हुए 'सीता चरन' का संधि करके 'सीताचरन' का अर्थ 'सीता के आचरन (स्तन)' में चोंच मारकर वह कौआ भागा' किया गया है। इसी प्रकार 'अंगद को लंका से आने में संदेह वहाँ रूपवती स्त्रियों के कारण था अथवा 'फिर तीबारा'='तीन बार' मैं जाऊँ-आऊँ, जिय संसय कछु=क्या आपको इसमें संदेह है ?' ऐसा अर्थ किया गया है।

'सतपंच चौपाई' का संख्यापरक अर्थ ५१००, ५००, १०५, ७५, ५७,

३५, १२, आदि न जाने कितने रूपों में किया गया है। 'सतपंच' शब्द का एक अर्थ अच्छे पंच भी किया गया है।

समग्रतः टीकाकारों ने अपनी व्याख्या का अचूक प्रभाव डालने के लिए तरह-तरह की कल्पनाओं का आश्रय लिया है जिनको पढ़कर यही ज्ञात होता है कि उन लोगों ने अर्थ तो कम, अनर्थ अधिक किया है। प्रस्तुत अध्याय में टीकाकारों के चामत्कारिक प्रवृत्तिपरक आरोपित अर्थों के कारण उत्पन्न कतिपय प्रमुख अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है।

'सुरुचि, सरस और अनुराग'

बंदौं गुरपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ मूरिमय चूरनु चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥[१]

प्रस्तुत अर्धाली के 'सुरुचि' शब्द का अर्थ कोई 'प्रकाश' व दीप्ति करते हैं, कोई 'सरस' का अर्थ 'सरसना' (बढ़ना), तो कोई 'अनुराग' शब्द का अर्थ रंगीला—'अरुणाई' करते हैं। इस प्रकार इसका अब तक किसी भी टीकाकार ने निर्दोष अर्थ नहीं किया है।

१. **अर्थ**—श्री रामचरणदास[२], पंजाबी जी[३] और बाबा जानकीदास[४] ने इसका अर्थ किया है—'मैं श्री गुरुचरण कमल पराग की वंदना करता हूँ जिस पराग में सुंदर रुचि, उत्तम (सुगंध) और श्रेष्ठ अनुराग है।' श्री रामचरणदास जी ने 'सुवास' का अर्थ 'सुष्ठु वासना' किया है, शेष अर्थ पंजाबी जी से मिलता है।

२. **अर्थ**—बैजनाथ जी[५], महावीरप्रसाद मालवीय[६], रामनरेश त्रिपाठी[७], जानकीशरण[८] और स्वामी प्रज्ञानंद जी ने[९] इसका अर्थ किया है—'मैं गुरुपद पराग कमल की बंदना करता हूँ जिसमें सुरुचिरूपी सुवास और अनुराग-रूपी रस या सम्यक् प्रकार के रस से युक्त है।' श्यामसुंदरदास जी ने ऐसा ही

१. मानस १।१।९-२
२. रामा०, पृ० ७
३. मा० भा०, प्र० भा०, पृ० ११
४. मा० पी० बा०, खं० १, पृ० ७२
५. रामा० बाल०, उक्त अर्धाली का अर्थ।
६. मानस, पृ० ४
७. वही, पृ० ४
८. मानस मार्तण्ड टीका, पृ० २८
९. 'श्रीचरितमानस', गूढ़ार्थ चन्द्रिका, प्र० खं०, पृ० ४९-५०

अर्थ किया है, किन्तु समझ में नहीं आता कि 'सुंदर' किस शब्द का अर्थ है—'मैं गुरु महाराज के चरण-कमलों की सुंदर, सुगंधित और प्रेम से रसयुक्त रज को प्रणाम करता हूँ।'[१]

३. **अर्थ**—रामायण परिचर्याकार और रामायण परिचर्या परिशिष्टकार ने इसका अर्थ किया है—'मैं गुरुपद कमल पराग की वन्दना करता हूँ जो सुरुचि (सुन्दर प्रकाश वा दीप्ति), सुवास और रसयुक्त है और जिसमें रंग भी है।'[२] शुकदेवलाल जी के अनुसार—'अब मैं अपने गुरुदेव के चरण-कमलों की पराग (रज) को वन्दन करता हूँ जो रुचिमन्त है, सुगंधित है, सरस है और चरण-कमलों की अरुणाई की झलक से कुछ अरुण भी है।'[३] विनायक राव के अनुसार—'मैं अपने गुरु जी के कमल-स्वरूपी चरणों की पराग के सदृश धूल की वन्दना करता हूँ जो धूल पराग ही की नाईं रुचिकर, सुगंधित, रसीली और रँगीली है।'[४] शुकदेवलाल जी और विनायक राव जी का अर्थ लगभग रामायण परिचर्याकार के ही जैसा है। ग्राउस महोदय ने भी 'सुरुचि' का अर्थ 'दीप्ति (ब्राइट)' किया है। 'अनुराग' का अर्थ 'कोमल (डेलीकस)' किया है।[५] लगता है, रामेश्वर भट्ट जी ने ग्राउस महोदय के अर्थ का हिन्दी अनुवाद कर दिया है—'गुरु के चरण-कमलों की कान्तियुक्त, सुगंधित और कोमल रज की प्रेम से वन्दना करता हूँ।'[६]

४. **अर्थ**—हरिहरप्रसाद जी के अनुसार 'मैं सुन्दर रुचि, सुन्दर वासना और सरस अनुराग से गुरु जी के चरण-कमलों के पराग की वन्दना करता हूँ।'[७]

५. **अर्थ**—श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार जी ने अर्थ किया है—'मैं गुरु महाराज के चरण-कमलों की रज की वन्दना करता हूँ जो सुरुचि (सुन्दर स्वाद), सुगंध तथा अनुराग-रूपी रस से पूर्ण है।'[८]

६. **अर्थ**—श्री विजयानंद त्रिपाठी इसका अर्थ करते हैं—'गुरुचरण-कमल

१. मानस, पृ० ३
२. मा० पी० बाल०, खं० १, पृ० ७३
३. रामा०, पृ० ४
४. वि० टी०, पृ० १६
५. "आई रेवरन्स द पॉलेन लाइक डस्ट आव् द लोटस फीट आव् माई मास्टर, ब्राइट, फ्रेग्रैन्ट, स्वीट एंड डेलीकस"—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० २
६. मानस, पृ० ५
७. रामा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० ६
८. मानस, पृ० ३१

की धूल की वन्दना करता हूँ जो स्वाद से सुन्दर, गंध से सुन्दर और अनुराग से सरस है ।'[१]

७. **अर्थ**—'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक ने इसके दो अर्थ किये हैं—(क) 'मैं अपने गुरु के उन चरणों की धूल को प्रणाम करता हूँ जो (चरण) कमल के समान (सुन्दर, रंगीन) हैं। जैसे कमल में सुरुचि-सुवास (मन-भावनी सुगंध) और सरस अनुराग (सुहावना लाल रंग) होता है, वैसे ही गुरु के चरणों में भी सुरुचि (अच्छी रुचि या श्रद्धा-भक्ति-भरे मन) का सुवास (मनचाहा या सुखकर निवास) होता है और उनमें सरस अनुराग (आनन्द देने वाला प्रेम) होता है। गुरु के चरणों में निरंतर निवास करते रहने की, उनकी सेवा करते रहने की प्रबल इच्छा होती है और उन चरणों में प्रेम करते रहने में बड़ा आनन्द मिलता है।'

(ख) 'गुरु के चरणों की उस धूल को मैं प्रणाम करता हूँ जिसमें सुरुचि (अच्छी तरह रुचि या भक्ति-भावित मन) का सुवास (सुन्दर या निरंतर वास होता है और जिससे सरस रस से भरा, आनन्द से भरा अनुराग (प्रेम) होता चलता है।'[२]

८. **अर्थ**—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने इसका अर्थ किया है—'मैं तुलसीदास श्री गुरु के चरण-कमलों के पराग की वन्दना करता हूँ जिसमें मेरी सुन्दर रुचि ही सुगंध है जिसके कारण हृदय में अनुराग सरसता (बढ़ता) है।'[३] अवधबिहारीदास जी का अर्थ मिश्र जी से कुछ साम्य रखता है—'प्रथम ग्रन्थकार ने गुरु के चरण-कमलों की वन्दना की। तिसके बाद भी गुरुचरण-रज की वन्दना किये हैं कि गुरु पदुम पराग बन्दौ। वह पद पराग (रज) कैसी है? अच्छी रुचि, अच्छी वासना, पुनः अनुराग—इन तीनों को सरस करने वाली अर्थात् बढ़ाने वाली है (गुरुचरण रज में यह प्रताप है।')[४]

श्रीकांतशरण जी ने 'मानसपीयूष' के चार अर्थ विभिन्न टीकाकारों के अनुकरण करके अपनी टीका में उद्धृत कर दिया है।[५]

अर्थ १ और अर्थ ४ को स्वीकार करने से रूपक समाप्त हो जाता है जो कि उक्त अर्धाली का भूषण है। अर्थ २, ३, ५ और ६ में 'सरस' को 'पराग'

१. वि० टी०, प्र० भा०, पृ० ७
२. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ७
३. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १४०-४२
४. मानस, पृ० ४
५. मानस, सि० ति०, प्र० खं०, पृ० २६

का विशेषण मानकर उसे 'रस से पूर्ण' कहा गया है। किन्तु पंखुड़ियों को छोड़कर 'कमल' में तीन तत्त्व होते हैं—

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥[1]

स्पष्ट है कि 'पराग' और 'मकरंद' अलग-अलग वस्तु हैं। अतः 'मकरंद' को रसयुक्त कहना चाहिए, न कि 'पराग' को।

अर्थ ३ में 'सुरुचि' का अर्थ 'प्रकाश' (दीप्ति) किया गया है। परन्तु गोस्वामी जी ने इसकी तीन अर्धाली के उपरांत श्रीगुरुपदनख-ज्योति (प्रकाश) का विस्तृत वर्णन किया है। अतः 'सुरुचि' का अर्थ प्रकाश करने से पुनरुक्ति दोष हो जाता है। 'सुरुचि' का प्रकाश अर्थ में प्रयोग भी कहीं प्राप्त नहीं होता। अतः यह अर्थ पूर्णरूपेण आरोपित है। अर्थ ७ भी असंगत अर्थ है। इस अर्थ से 'सुरुचि, सुवास और सरस अनुराग' 'पराग' का विशेषण होना चाहिए, किन्तु टीकाकार ने उक्त विशेषणों को खींचतान कर पद-कमल और गुरु-चरण में संयोजित किया है। 'सुवास' का अर्थ सुन्दर वास या सुखकर निवास विशेष खटकता है। समग्रतः यह अर्थ भी पूर्णतः आरोपित अर्थ है।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि—'वस्तुतः इस अर्धाली में 'वन्दौ' के अतिरिक्त कोई क्रिया नहीं है। अगली अर्धालियों से भी इसकी क्रिया का सम्बंध नहीं।...यद्यपि नीचे की सब अर्धालियाँ 'गुरुपद पदुम परागा' का ही विशेषण हैं या उनसे ही सम्बंध रखती हैं, तथापि 'सुरुचि सुबास सरस अनुरागा' का सम्बंध केवल 'गुरुपद पदुम परागा' से है। इसलिए अर्धाली का यह चरण अपने अर्थ के लिए स्वतंत्र है। किंतु इसमें कोई क्रिया नहीं है। क्यों न 'सरस' शब्द को क्रिया मानकर अर्थ किया जाय। 'सरस' का अर्थ होगा 'सरसता है, बढ़ता है'। 'सरसाना' का अर्थ 'बढ़ाना' बराबर होता है। 'सरसना' क्रिया का प्रयोग भी कम नहीं होता है।'[2] किन्तु उपर्युक्त अर्धाली के तो मात्र दूसरे चरण में क्रिया नहीं है। यहाँ कतिपय अर्धालियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं जिनमें एक भी क्रिया नहीं है। उदाहरणार्थ—

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥
सुकृत पुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान बिराग बिचार मराला ॥
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥[3]

अर्थनिश्चय का एक साधन 'शब्दाध्याहार' है जिससे अपूर्ण वाक्यों का

---

१. मानस १।३७।६

२. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १४०-४२।

३. मानस १।३७।६-७-८

अर्थनिश्चय अप्रयुक्त शब्दों के 'अध्याहार' (पूर्ति) से होता है। अतः क्रियाहीन वाक्य में 'क्रिया' का अध्याहार करके अर्थनिश्चय कर लेना चाहिए। 'क्रिया' के अभाव में किसी शब्द की 'खींचतान' करके क्रिया बनाना उपयुक्त नहीं है। दूसरे 'सरस' शब्द का प्रयोग क्रिया रूप में संभवतः कहीं नहीं प्राप्त होता। तुलसी-साहित्य में सर्वत्र 'सरस' शब्द 'रसयुक्त' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

कह रिषिबधू सरस मृदुबानी। नारि धर्म कछु ब्याज बखानी ॥[1]
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू ॥[2]
उत जुवति-जूथ जानकी संग। पहिरे पट भूषन सरस रंग ॥
लिए छरी बेंत सोधैं बिभाग। चाँचरि झूमक कहैं सरस राग ॥[3]

मिश्र जी ने जो यह कहा है कि 'कुछ लोग इस ('पराग' को रसयुक्त कहने के) दोष से बचने के लिए दूसरे ढंग से अर्थ करते हैं, वे 'सरस' का अर्थ 'बढ़कर' लेते हैं। वे कहते हैं कि सीय सासु प्रति वेष बनाई। सादर करइ सरस सेवकाई ॥[4] किन्तु यहाँ 'सरस' पाठ बिलकुल अप्रामाणिक है। स्वयं मिश्र जी ने ही अपने संस्करण में 'सरिस' पाठ स्वीकार किया है।[5] अतः अर्थ ८, जिसमें 'सरस' का अर्थ 'बढ़ना' किया है, पूर्णरूपेण आरोपित अर्थ है।

उपर्युक्त अर्धालियों का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—'मैं तुलसीदास, गुरुपदकमल और उसके पराग की वन्दना करता हूँ। गुरुपदकमल सुन्दर रुचि-रूपी सुगन्धि और प्रेमरूपी रस से युक्त है। गुरुपदकमल का पराग (रज) अमरमूल (संजीवनी जड़ी) का सुन्दर चूर्ण है जो समस्त भवरोग के परिवार का नाश करने वाला है।' इस अर्थ से किसी प्रकार की असंगति नहीं रह जाती। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यह अर्थ तर्कसंगत भी लगता है। प्रथम अर्धाली में रूपक और यथाक्रम अलंकार है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि पंखुड़ियों को छोड़कर कमल में तीन तत्त्व होते हैं—पराग, रस (मकरंद) और सुवास। गोस्वामी जी ने भी इसे स्वीकार किया है—

छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमलकुल सोहा ॥

---

१. मानस ३।५।४
२. वही, २।२७६।४
३. गीता० ७।२२
४. मानस २।२५१।२
५. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १४०

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥[२]

उक्त व्याख्येय अर्धाली में 'पराग' का उल्लेख प्रथम चरण में किया गया, शेष 'सुबासा' और 'रस' (मकरंद) का दूसरे चरण में। जैसे सुगंधि से आकृष्ट होकर भौंरा कमल में प्रवेश करता है, वैसे ही विशेष रुचि होने से शिष्य के हृदय में गुरु के चरणों को स्पर्श करने की प्रबल इच्छा होती है। जिस प्रकार भ्रमर कमल-रस (मकरंद) का पान करके आनन्द प्राप्त करता है, वैसे ही गुरुपद में अनुराग होने से आनन्द होता है। इस प्रकार गौतम की स्त्री श्रीराम जी से स्तुति करती हुई कहती है कि (हे नाथ! आपके) पदकमल-पराग और रसरूपी अनुराग को मेरा मन-मधुप पान करे—

पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ॥[३]

यह रूपकात्मक प्रयोग पूर्वोक्त चौपाई के अर्थ को स्पष्ट करता है, क्योंकि यहाँ भी लगभग वही भाव प्रकट किया गया है।

'मासदिवस कर दिवस भा'

मासदिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोइ।
रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन बिधि होई ॥[४]

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि—'जब राम का जन्म हुआ, तब 'अधिक चैत्र मास' था। इसलिए 'अशुद्ध' चैत्र में कोई शुभ कृत्य नहीं हुआ। एक मास बाद अशुद्ध चैत्र बीत गया, तब कृत्य किए गये। अधिक मास शुद्ध मास के बीच में रहता है। चैत्र अधिक होने से दोनों मास इस प्रकार रहेंगे—शुद्ध चैत्र कृष्ण+अशुद्ध चैत्र शुक्ल+अशुद्ध चैत्र कृष्ण+शुद्ध चैत्र शुक्ल। अधिक मास की जिस तिथि को संतानोत्पत्ति होती है, शुद्ध की वही तिथि मानी जाती है। अन्त में इस प्रकार राम का जन्म अशुद्ध चैत्र को हुआ और उनकी जन्मतिथि का भान हुआ शुद्ध चैत्र शुक्ल ६। पूरा एक मास 'बट्टे-खाते' गया और अशुद्ध चैत्र शुक्ल ६ से शुद्ध चैत्र शुक्ल ६ तक एक मास की गणना एक दिन हुई।[५] लाला भगवानदीन जी के निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट होता है कि उन्होंने इसका पूर्णरूपेण तो नहीं, किन्तु किंचित् समर्थन किया है। उनके अनुसार—'इस अनुमान में सत्यता कहाँ तक है, वह हम नहीं बता सकते।'[६]

१ मानस, २।२५१।२
२. मानस, १।३७।५-६
३. मानस, १।२११। छन्द १२
४. वही १।१९५
५. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १५२-५३।
६. मा० पी० बाल०, खं० ३, पृ० ५८

मिश्र जी के अनुसार अशुद्ध चैत्र शुक्ल ९ से शुद्ध चैत्र शुक्ल ९ तक अधिक मास था। किन्तु अधिक मास अमावस्या के पश्चात् ही लगता है। इस विषय के अधिकारी विद्वानों ने भी बताया कि अधिक मास अमावस्या के पश्चात् प्रतिपदा से लग जाता है। अष्टमी, नवमी आदि तिथियों से यह कभी भी प्रारम्भ नहीं हुआ है। लग्न, मुहूर्त और राशियों के विवरण से अधिक मास की कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती। किसी भी राम-साहित्य में श्रीराम-जन्म के समय में अधिक मास का उल्लेख नहीं मिलता। अतः मिश्र जी का यह अनुमान पूर्णतः असंगत और आरोपित है।

इस प्रकार का वर्णन अन्य कवियों ने भी किया है। वाल्मीकि रामायण में अनुसूया जी के दश रात्रियों की एक रात्रि कर देने का वर्णन आदिकवि ने किया है—देवकार्य्यं निमित्तं च यथा सन्त्वरमाणया। दश रात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥'[1] मानस में 'मासदिवस' कई स्थलों पर आया है—

'मासदिवस' तहँ रहेउँ खरारी। निसरी रुधिर धार तहँ भारी ॥[2]
'मासदिवस' महु कहा न माना। तो मैं मारबि काढ़ि कृपाना ॥[3]
'मासदिवस' महु नाथु न आवा। तौ पुनि मोहि जिअत नहिं पावा ॥[4]

सर्वत्र इसका अर्थ सभी टीकाकारों ने 'एक मास (३० दिन)' ही किया है। अतः यहाँ पर भी 'मासदिवस' का अर्थ एक मास (३० दिन) ही है। वस्तुतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है। कवियों का दूर की उड़ान भरना प्रसिद्ध ही है। सम्भव है, भक्तों को यह बात मान्य न हो, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इस प्रकार का वर्णन अतिशयोक्ति अलंकार के अन्तर्गत ही आता है। यह बात दोहे के उत्तरार्ध से सर्वथा स्पष्ट हो जाती है जिसमें रथसहित सूर्य के भावविभोर होकर रुक जाने का वर्णन कवि ने किया है।

'सीता चरन'

सीता चरन चोंच हति भागा। मूढ़ मंदमति कारन कागा ॥[5]

श्री अवधबिहारीदास जी ने इसका अर्थ किया है कि 'सीता जी को चरण और चोंच से मारकर भागा।'[6] मानसमयंककार ने भी ऐसा ही अर्थ

१. वाल्मीकि २।११७।१२
२. मानस ४।६।७
३. वही ५।१०।९
४. वही
५. मानस ३।१।७
६. मानस, पृ० ६९२

किया है कि 'चरण और चोंच दोनों मारे।'[1] रामायण परिचर्याकार ने अर्थ किया है कि 'सीता के आँचर में चोंच हति कै भागा अँचरा एहि पद से उरोजै का बोध है भक्ति मर्यादा से साक्षात् कुच कै नाम न कहा।' रामायण परि-चर्या परिशिष्टकार के अनुसार—'सीता अचरन दीर्घ भए अकार गुप्त वाल्मीकि के विरोध भय से ई अर्थ औ अन्तरवेद आदि में ऐसे हि बोलै कै रीत।' रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाशकार ने अर्थ किया है कि 'जयन्त सो श्री सीता जू के अचरन में चोंच मारि के भागा। भाव कि श्री रघुनाथ अपने प्यारी वा अपराधी देखि जेतना बल होयगो करैंगे।'[2] श्री रामदास गौड़ जी कहते हैं कि 'अँचरा पिलाना = स्तन पिलाना' यह मुहावरा है। 'अंचल' का प्राकृत रूप 'आँचर और अँचरा' दोनों है। अन्यत्र प्रयोग भी है—'दुहुँ आचरन्ह लगे मनि मोती।' इस प्रकार 'सीताचरन' का विच्छेद, 'सीता-आचरन', इस प्रकार भी हो सकता है।[3]

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि—'यों तो देखने में शब्दावली का सीधा अर्थ सीता के चरणों में चोंच मारना जान पड़ता है, पर ध्यान देने से पता चलता है कि तुलसीदास तथ्य भी कह गए। सीताचरन में यदि सीता और आचरन दो शब्दों की सन्धि मानें तो तथ्य की भी उपलब्धि हो जाती है।......'सीता चरन' का उक्त संधि-विच्छेद किया जा सकता है। ऐसा संधि-विच्छेद करके आचरन का अर्थ कीजिए। यह आचरन का तद्भव नहीं, अपितु 'आँचर' का बहुवचनांत रूप है। 'न' बहुवचन का प्रत्यय है। 'आँचर' शब्द का अर्थ 'स्तन' होता है। अवध ही में नहीं, इस अर्थ में यह शब्द बहुत व्यापक है। यह अंचल का तद्भव रूप है। स्तन का प्रयोग न करके 'अंचल' का प्रयोग करना शीलता के कारण है। आच्छादक का प्रयोग आच्छाद्य के लिए है। इस अर्थ में यह शब्द स्त्रियों में ही अधिक चलता है।

पूरब में 'आचर' या 'आँचर' प्रचलित है और पश्चिम में आँचल। 'अंचल' के पूरब में दो विकृत रूप हुए—'आँचर' और 'अँचरा'। इनमें से पहला स्तन और अंचल दोनों के लिए आता है, पर दूसरा अधिकतर अंचल (दुपट्टे या ओढ़नी अथवा धोती के उस छोर के लिए जो छाती पर पड़ा रहता है) के लिए। क्वचित् विभेद न करके स्तन के लिए 'अँचरा' का भी प्रयोग करते हैं। यदि किसी स्त्री के स्तन में घाव हो जाय तो कहा जायगा कि अमुक

---

१. मा० पी० अरण्य०, पृ० १७

२. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, अरण्य, पृ० २-३

३. मा० पी०, अरण्य०, पृ० १७

के आँचर में घाव हो गया है। इस आँचर या आँचल के अनेक मुहावरे हैं। जैसे 'आँचर दबाना' (स्तन मुँह में डालना, दूध पीना), 'आँचर देना' (दूध पिलाना) आदि। 'आँचर' का प्रयोग स्वयम् तुलसीदास ने मानस में अन्यत्र किया है, पर अंचल के अर्थ में—

पियर उपरना काँखा सोती। दुहु 'आचरन्ह' लगे मनि मोती ।।[१]

विवाद से बचने के लिए मानसमंयककार और अवधबिहारीदास जी ने 'चरण और चोंच दोनों मारे' ऐसा अर्थ किया है। किंतु यह अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'चरण' से प्रहार तो मानव या उसके सदृश कोई जीव करते हैं—

हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुह भर महि करत पुकारा ।।[२]
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहि बारा ।।[३]

पक्षियों के लिए 'चरण' प्रहार अनुचित है। कौए आदि पक्षी 'नख' से प्रहार करते हैं। जैसा कि अध्यात्म रामायण में आया है—

ऐन्द्रः काकस्तदागत्य 'नखै' स्तुण्डेन चासकृत ।।[४]

अतः यहाँ 'चरन से मारा' यह अर्थ आरोपित है। गोस्वामी जी मर्यादा-वादी और आदर्शवादी कवि थे, जबकि आदिकवि वाल्मीकि जी तथ्यवादी या यथार्थवादी थे। वाल्मीक जी ने लिखा है कि वायस ने सीता जी के स्तन में 'चोंच' मारा—

ततः सुप्तप्रबुद्धां मां राघवाङ्कात् समुत्थिताम्।
वायसः सहसागम्य विददार स्तनान्तरे ।।[५]

किन्तु भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जगज्जननी के स्तन में चोंच मारने को कभी नहीं कहेंगे। मर्यादा के प्रतिकूल स्थलों से उन्होंने स्वयं को सर्वदा बचाया है। जिस स्थल को वे आदर्श चरित्र के प्रतिकूल समझते थे, उसे या तो वे संकेत कर देते थे या पूर्णरूपेण उड़ा देते थे। उदाहरणार्थ—लक्ष्मण जी ने जो कटु वचन कहे थे, उनको व्यक्त न करके सुमंत्र से मात्र संकेत करा दिया है—

---

१. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १८८-१८१
२. मानस २।१६२।४
३. वही २।४१।६
४. अध्यात्म रामायण सुं० ३।५४
५. वाल्मीकि० ५।३८।२२-३३

लखन कहे कछु बचन कठोरा ।[1]

इसी प्रकार सीता के मर्म वचन को अभिव्यक्त करना वे मर्यादा के प्रतिकूल समझते थे—

मरम वचन जब सीता बोला । हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ॥[2]

श्रीराम जी ने सीता जी को कौन-सा अपशब्द कहा था, इसे भी आदर्श चरित्र के प्रतिकूल समझकर उन्होंने मात्र संकेत कर दिया है—

तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद ।
सुनत जातुधानी सब लागीं करै विषाद ॥[3]

इसी प्रकार यद्यपि आदिकवि के मत से यह स्पष्ट है कि जयंत ने कौए के वेश में सीता जी के स्तन में चोंच मारा; 'चला रुधिर रघुनायक जाना' से भी इंगित होता है कि स्तन में चोंच मारा गया, क्योंकि श्रीराम जी सीता जी की गोद में सो रहे थे। रक्त की गर्म बूंदों से उन्हें आभास हुआ कि रुधिर गिर रहा है, तथापि भक्ति-संप्रदाय के प्रतिकूल समझकर उन्होंने बिल्कुल परिवर्तन कर दिया है। गोस्वामी जी मानस में अध्यात्म रामायण से विशेष प्रभावित लगते हैं। 'रामायणे निगदितम्' का अर्थ वाल्मीकि रामायण में कथित नहीं, अध्यात्म रामायण में वर्णित है। अध्यात्म रामायण में सीता जी हनुमान जी से कहती हैं कि उसी समय इन्द्र का पुत्र काक-वेश में वहाँ आया और मांस के लोभ से मेरे पैर के लाल-लाल अँगूठे को अपनी चोंच तथा पंजों से फाड़ डाला। तदनंतर जब श्रीरामचन्द्र जी जागे तो मेरे पैर में घाव हुआ देखकर बोले—

ऐन्द्रः काकस्तदागत्य नखैस्तुण्डेन चासकृत ।
मत्पादाङ्गुष्ठमारक्तं विददारामिषाशया ॥
ततो रामः प्रबुद्ध्याथ दृष्ट्वा पादं कृतव्रणम् ।[4]

अतः स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने भक्ति-संप्रदाय के आदर्शवादियों के अनुसार ही परिवर्तन किया है। आनंद रामायणकार ने भी ऐसा ही किया है। आनंद रामायण और अध्यात्म में एक ही श्लोक है। मात्र अध्यात्म के 'मत्पादाङ्गुष्ठमारक्तं' के स्थान पर आनंद रामायण में 'सीताङ्गुष्ठ मृदुं रक्तं' है। गोस्वामी जी शिव-कथित 'रामचरितमानस' की कथा लिखते हैं।

१. मानस २।१५।७
२. वही ३।२८।५
३. वही ६।१०८।०
४. अध्यात्म०, सुं०, स० ३।५४-५५

शिव जी कदापि नहीं कहेंगे कि स्तन में चोंच मारा। उपर्युक्त कतिपय टीका-कारों और समालोचकों ने 'आचरन' का खींचतान करके 'स्तन' अर्थ किया है। 'आचरन' शब्द का 'स्तन' अर्थ में प्रयोग कहीं भी नहीं प्राप्त होता। गोस्वामी जी ने यहीं नहीं, अन्यत्र भी 'सीताचरन' का प्रयोग किया है—

सीताचरन भरत सिरु नावा। अनुज समेत परम सुख पावा।
सीताचरन प्रनामु करि सुमिरि सुनामु सनेम ॥[1]

अतः 'आचरन' शब्द का अर्थ 'स्तन' यहाँ पूर्णरूपेण आरोपित अर्थ है। 'दुहुँ आचरन्ह लगे मनि मोती' के 'आचरन्ह' का अर्थ अंचल है, 'स्तन' से सम्बन्धित नहीं है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ है—'वह मूर्ख, कुबुद्धि का कारण कौआ श्री सीता जी के चरण में चोंच मारकर भागा।' श्री रामचरण दास[2], पंजाबी जी[3], ग्राउस महोदय[4] और विनायकी टीकाकार[5] आदि टीकाकारों ने 'चरण में चोंच मारा' ऐसा ही अर्थ किया है। 'औचित्य' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'कुमार'

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहै कुमार मोर लघु भ्राता ॥[6]

यहाँ 'कुमार' शब्द के अर्थ में टीकाकारों ने विचित्र कल्पनाएँ करके पाण्डित्य-प्रदर्शन किया है। पं० रामकुमार जी के अनुसार—(क) 'पद की मैत्री के लिए कुमार पद दिया। जैसे उसने कहा था कि 'अब लगि रहिउँ कुमारी', वैसे ही प्रभु ने मिलता-जुलता उत्तर दिया कि 'अहै कुमार'। कुमारी का ब्याह कुमार के साथ उचित ही है, दोनों का जोड़ है। (ख) 'कुमार' का अर्थ 'लड़का', 'छोटा' और 'राजकुमार' भी होता है, उस अर्थ में भी ले सकते हैं। यथा—'तुम्ह हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा ॥' में सुग्रीव ने छोटा जानकर ही 'कुमार' शब्द लक्ष्मण जी के लिए प्रयुक्त किया है। वैसा ही यहाँ समझ लें।' [कवि ने भी अभी-अभी 'कुमार' शब्द 'राजकुमार' के अर्थ में प्रयुक्त किया है, यथा—'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।' वैसा ही यहाँ भी समझ लें।]

---

१. मानस ७।६।२ और रामाज्ञा० ३।४।५
२. रामा०, पृ० ८०६
३. मा० भा०, अरण्य०, पृ० २
४. द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० ३३४
५. मानस, पृ० ४७८
६. मानस, ३।१७।११

अभिप्रायदीपकचक्षुकार कहते हैं—'रहित कुआर कुँअर कहि, अनट गिरा केहि हेतु । गत सम्बत रबि जोगरित, जित मन नृप सुत सेतु ॥२५॥' अर्थात्, जो कुँआर नहीं हैं, विवाहित हैं, उनको प्रभु ने कुआँरा कहा, यह मिथ्या कैसे कहा ? वे तो कभी असत्य नहीं बोलते ? और उत्तर देते हैं कि वे असत्य नहीं बोले । रवि अर्थात् बारह संवत् (वर्ष) बीतने पर राजपुत्रों की 'कुमार' पदवी होती है । अथवा 'जोगरित' अर्थात् रति-संयोगरहित और 'विजितमन' । मन के जीतने वालों को कुमार कहते हैं, यह मर्यादा है । लक्ष्मण अभी वैसे ही हैं ।' दीन जी के अनुसार—'यहाँ राजनीति है । नीति के विचार से राजनीति का उत्तर देना अनुचित नहीं ।' श्रीधर मिश्र के अनुसार—'हास्य रस में मिथ्या बोलना दोष नहीं है । पुनः, छली के साथ छलमयी वार्ता करना नीति है—'शठं प्रतिशाठ्यं कुर्यात् ।' व्यापक जी के मत से—'इस चरण का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए 'कुमार मोर लघु भ्राता अहै', अर्थात् वह कुमार मेरा लघु भ्राता है । भाव यह कि तुम यह न समझो कि वह हमारा कोई नौकर है, उसके साथ विवाह करने से नौकरानी बनना पड़ेगा । वह रघुवंशी है, हमारा भाई है ।' अन्य अनेक लोगों के कतिपय भाव इस प्रकार हैं—'कुमार से जनाया कि ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये हैं वा ब्रह्मचारी और इन्द्रियजित् हैं ।' 'कुमार' स्वामी कार्तिक को भी कहते हैं, उनके ये मोर हैं । तू सर्पिणी है । विवाह सजातीय में होता है ।' कु=दुष्ट । कुमार=दुष्टों को मारने वाले, कुमार=जिसने कामदेव को भी अपने रूप से कुत्सित बना दिया । यथा—'कोटि काम उपमा लघु सोऊ', 'जय सरीर छबि कोटि अनंगा ।' स्वामी प्रज्ञानंद सरस्वती के अनुसार—'शूर्पणखा को तो सुन्दर मनोहर पुरुष चाहिए । विवाहित व अविवाहित का प्रश्न वा विचार ही उसके आगे नहीं है । प्रभु भी यह स्पष्ट नहीं कहते कि हम ब्याहे हैं ।'[1]

श्री रामचरणदास जी के मत से—'देश काल अवसर विषे कहा है यह आरण्य देश राक्षसन कै राज्य अरु विरोध को काल अरु आप श्री जानकी संयुक्त हैं अरु लक्ष्मण जू अकेल हैं तहाँ जो स्त्री रहित पुरुष विदेश में होइ ताकी एक देश में 'कुमार' संज्ञा है जो वह पुरुष विवाह करि लेइ तौ दोष नहीं है, तहाँ ऐसे कहिबे को अवसर हैं ताते 'कुमार' है किन्तु श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि हे सुन्दरी ! मोर भ्राता ऐसो सुन्दर है । कु कही कुत्सित है मार कही काम जेहि के रूप के आगे···ताते उनकर विवाह करु ताते कुमार कहा'[2] श्री करुणासिंधु जी ने भी श्री रामचरणदास के प्रथम

१. मा० पी०, अरण्य०, पृ० १८५

२. रामा०, पृ० ८४६

अर्थ से मिलता अर्थ किया है ।[1] हरिहरप्रसाद जी ने यह अर्थ दिया है—'कुमार कहिबे को भाव कि इहाँ इनकी पत्नी नहीं है, कोऊ 'कुत्सितो मारो यस्मात् सः कुमारः कुत्सित है काम जेहिते ताको कुमार कहिए अर्थात् परम सुन्दर है···वा कुमार युवराजरीति राजकुमार······'कुमार' शब्द अविवाहितै में रूढ़ि नहीं है—तथाहि कुमारः स्याच्छेदके स्कन्धे युवराजे श्ववारके । बालके वरुणाद्रौ नद्ययोजीत्व काञ्चन इति मेदिनी । अहै कुमार को मोर देवो वाला लघु भ्राता औ कुमार कार्त्तिकेय को भी पराभव करै वाला लघु भ्राता है इहो अर्थ होते हैं ।'[2]

पंजाबी जी के अनुसार—'सौमित्र को कुमार कथन का भाव यह उसने जो कहा था मैं अब लौं कुमारी हौं ताते प्रभो ने पद मैत्री हेतु कहा वुह कुमार है अथवा हमारे निकट तो नारी है अरु वह कुमार कहे युवती रहित है···। नारियों के हास मों किंचित झूठ का दोष नहीं । ······कुमार पद प्रत्यक्ष स्त्री के अभाव विषे है अथवा कुमार जिसकी अवस्था है । किंवा कु कहे पृथ्वी तिस विषे मार कहे मदन तिस रम सुन्दर है ।'[3]

श्रीकांतशरण जी लिखते हैं कि—'वह विधवा है, पर छल से कुमारी बन रही है । श्रीराम जी राजनीति के अनुसार उत्तर दे रहे हैं कि मेरा भाई भी (ऐसा ही) कुमार है । भाव यह कि घर में विवाहिता स्त्री होने पर भी वैसा ही कुमार है । छली से छल-भरी बात करना नीति है—'शठे शाठ्यं समाचरेत् ।'[4] शुकदेवलाल[5] और रामबहादुर साहित्याचार्य जगन्नाथप्रसाद[6] ने भी ऐसा ही अर्थ किया है ।

मानसमर्यंककार इसका अर्थ इस तरह करते हैं—

'मार शब्द लौकिक बिना, लाजत द्वादस बीत ।
दार संग न संभवै, हाँस अंत रसनीति ॥५६॥

'कुमार' कहने का यह भाव है कि (मार) कामदेव जिसके अलौकिक द्वादश वर्ष के व्रत को देखकर लजाता है, जिसके संग स्त्री भी नहीं है । यहाँ

१. मा० पी०, अरण्य०, पृ० १८५
२. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १८
३. मा० भा०, अरण्य०, पृ० २६
४. मानस, सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० १५८६
५. रामा०, पृ० १६
६. श्री तुलसी-तत्त्व-प्रकाश, पृ० ७२

हास्यरस के अन्तर्गत नीति का उपदेश किया कि तुम्हारा तोष करने वाला कोई नहीं है, मुझे पत्नी विद्यमान ही है और मेरे भाई ने काम को द्वादश वर्ष के कठिन व्रत से निरादर ही किया है।'[1]

अवधबिहारीदास का अर्थ आवेशपूर्ण है—'मानसपीयूष के लेख से यह सूचित किया गया है कि श्रीराम जी ने शूर्पणखा से हास्य और झुठाई किया है। परन्तु मानसपीयूष का यह लेख सर्वथा झूठ है, क्योंकि श्रीराम जी मर्यादा-पुरुषोत्तम अवतार हैं, कभी भी असत्य भाषण नहीं किये। (वाल्मीकी रामायण में प्रमाण है कि 'सत्य वाक्यो दृढ़व्रतः।' पुनः मानसपीयूष में लेख है कि 'जैसे शूर्पणखा झूठ बोली है कि अभी कुवांरी हूँ, वैसे श्रीराम जी ने भी यह कह दिया कि 'अहै कुवांर'। परन्तु जब लेखक को भाषा बनाने का बोध नहीं तो टीका लिखना क्यों प्रारम्भ किये?' उचित है कि प्रथम क्रिया कर्म से पदच्छेद कर ले, तब भाषा लिखे तो यथार्थ होता है। यहाँ 'अहै' शब्द क्रिया है जिसको 'भ्राता' शब्द से संयोग है कि भ्राता अहै, अर्थात् यह कुमार हमारा छोटा भ्राता है। शूर्पणखा के वचन और श्रीराम जी के वाक्य की बराबरी नहीं हो सकती, क्योंकि शूर्पणखा ने जो अपने को कुवांरी कहा तो उसका वचन झूठा है। उसका विवाह हो चुका था। और श्रीराम जी ने जो लक्ष्मण को कुमार कहा है, सो 'कुमार' शब्द कहना इसलिए सत्य वचन है कि राजाओं के लड़के कुमार कहलाते ही हैं। बल्कि कुमार तो श्रीराम जी भी लिखे गये हैं कि 'देखि विकल भइ युगल कुमारा।' 'कुमार' शब्द पदवी है। ब्याहे को भी कहा जाता है। यहाँ सीता जी को चितै कर वर्तमान व्यवस्था मात्र सूचित किया है कि हमारे पास स्त्री है। लक्ष्मण के पास यहाँ नहीं है। अतः श्रीराम जी का झूठ बोलने का लेख मानसपीयूष का सर्वथा झूठा और अनर्थ है।'[2] 'तुलसी-ग्रंथावली के संपादक ने इसका अर्थ किया है कि 'प्रभु राम ने सीता जी की ओर देखकर (कि मैं तो विवाहित हूँ और मेरी पत्नी है) उससे कहा—देखो! मेरा छोटा भाई अवश्य कुमार (इस समय कुमार का व्रत लिये हुए) है।'[3]

टीकाकारों के 'कुमार' शब्द के उपर्युक्त अर्थों से यह स्पष्ट होता है कि परिहास में भी श्रीराम जी को सत्यवादी बनाने के हेतु ऐसा अर्थ किया गया है। अब यहाँ विचारणीय है कि वस्तुतः 'कुमार' शब्द का क्या अर्थ है? अध्यात्म रामायण में कहा गया है कि श्रीराम जी ने सीता जी की ओर संकेत करके मुसकरा कर कहा कि यह कल्याणी मेरी स्त्री है जो मेरे पास सदा रहती

---

१. मानस-मयंक, वार्तिक० श्री इन्द्रदेवनारायण, पृ० ३२२

२. मानस, पृ० ७१७-१८

३. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ६५८

है। तुम दूसरी पत्नी बनकर रहोगी तो सदा संपत्ति के दुःख से दुःखी रहोगी। मेरा भाई लक्ष्मण अत्यन्त सुन्दर है जो बाहर बैठा है। वह तुम्हारे अनुरूप पति होगा। तुम उसी के साथ विहार करो। यथा—

रामः सीतां कटाक्षेण पश्यन् सस्मितमब्रवीत्।
भार्या ममैषा कल्याणी विद्यते ह्यनपायिनी॥
त्वं तु सापत्न्य दुःखेन कथं स्थास्यसि सुन्दरि।
बहिरास्ते ममं भ्राता लक्ष्मणोऽतीव सुन्दरः।
तवानुरूपो भविता पतिस्तेनैव सञ्चरः॥[1]

आदिकवि जी लिखते हैं कि श्रीराम जी ने शूर्पणखा से मधुर स्वर में स्पष्ट हँसकर बोले—हे श्रीमति ! मेरा विवाह हो चुका है। यह मेरी प्रिय स्त्री है और मौजूद है। तुम्हारे समान स्त्रियों के लिए सपत्नी का होना बड़ा ही दुःखदायी है। यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है, सुन्दर शीलवान्, देखने में सुन्दर और सब प्रकार की सम्पत्ति वाला है, इसके स्त्री नहीं है और यह बड़ा वीर्यवान् है। तुम्हारे इस सुन्दर रूप के अनुसार यह तुम्हारा पति हो सकता है। हे विशालाक्षि ! तुम मेरे इस भाई को अपना पति बनाओ। वहाँ तुम बिना सवति के रहोगी, जैसे सूर्य की प्रभा मेरु पर रहती है। यथा—

स्वेच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत्।
कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम।
त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता॥
अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः।
श्रीमान कृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥
अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति॥
एवं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम।
असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कं प्रभा यथा॥[2]

अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण के आधार पर यहाँ 'कुमार' शब्द का अर्थ 'बिना ब्याहा' ही निश्चित होता है।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी के अनुसार—'इस अर्धाली का 'कुमार' शब्द विचारणीय है। लक्ष्मण का विवाह हो चुका था। फिर रामचन्द्र कहते हैं कि मेरा छोटा भाई क्वाँरा है। सीता की ओर देखने का तात्पर्य था कि

१. अध्यात्म०, स० ५।१२-१३-१४
२. वाल्मीकि०, स० १८।१-५

मेरी स्त्री मौजूद है, देख लो। किसी दूसरे अभिप्राय से 'कुमार' शब्द प्रयुक्त नहीं जान पड़ता। कम से कम सूर्पणखा को तो उन्हें अवश्य बताना था कि लक्ष्मण अविवाहित हैं। अतः विवाहित लक्ष्मण को अविवाहित (कुमार) कहने में कोई न कोई रहस्य है, व्यंग्य है। सूर्पणखा ने कहा था कि—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी॥
मम अनुरूप पुरुष जग नाहीं। देखिउँ खोजि लोक तिहुँ माहीं॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी। मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥
—(मानस, अरण्य०; १७।८-१०)

पर कुमारी वह थी कहाँ ? उसका विवाह हो चुका था, वह विधवा थी। यहाँ राम 'कुमार' कहकर 'कुमारी' का जोड़ मिला रहे थे। जिस प्रकार सूर्पणखा कुमारी, उसी प्रकार लक्ष्मण 'कुमार'। उनकी स्त्री यहाँ नहीं थी।'[१]

गोस्वामी ने शूर्पणखा को 'अहिनी' के समान कहा भी है। लक्ष्मण जी अहिराज हैं ही। अतः 'अहिनी' और अहिराज का सम्बन्ध भी सर्वोत्तम है।

वाल्मीकि जी के 'वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत्', अर्थात् श्रीराम जी ने हँसकर उत्तर दिया, इससे परिहास ही विदित होता है। शूर्पणखा तो मिथ्यावादिनी थी अवश्य। किन्तु रावण को जो उसकी नीति[२] और श्रीराम-सीता और लक्ष्मण का परिचय दिया, वह पूर्णतः सत्य है।[३] उसी प्रसंग में उसने कहा है—

तासु अनुज काटे श्रुति नासा। सुनि तव भगिन करहिं परिहासा॥[४]

यहाँ 'परिहासा' शब्द से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि कुछ परिहास हुआ अवश्य था। वाल्मीकि जी ने कहा है कि शूर्पणखा परिहास में प्रवीण न थी, इससे वह लक्ष्मणजी की बात को सत्य समझ गयी—

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी।
मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासातिचक्षणा॥[५]

श्रीराम जी शूर्पणखा को लक्ष्मण जी के पास भेजते हैं और लक्ष्मण जी श्रीराम जी को सर्वसमर्थ बताकर राम जी के पास भेजते हैं। इससे तो

---

१. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १९५-९६
२. मानस ३।२१।८-१२
३. वही ३।२२।३-१०
४. वही ३।२२।१०
५. वाल्मीकि० १८।१३

परिहास का पूर्ण आभास होता है। श्री रामदास गौड़ जी कहते हैं कि—'मीठी चुटकी और लतीफ़ मजाक का यह नमूना है। हास्यरस में, व्यंग्य में, कूट में, काकूक्ति में सत्य के कठिन काँटे पर वाक्यों को नहीं तोलते। उत्तर-प्रत्युत्तर का होना सुसंगत होता है। श्री रघुनाथ जी खूब जानते थे कि शूर्पणखा बूढ़ी विधवा है, पर हमारे सामने आकर सुन्दरी कुमारी बन रही है। इस बनी हुई धृष्टा, निर्लज्जा, अनूढ़ा नायिका को हँसी में ही भगवान् लक्ष्मण जी जैसे क्रोधी, ब्रह्मचर्यव्रती के पास शिक्षार्थ यह कहकर भेजते हैं कि सुन्दरी ! जैसी तू 'कुमारी' है (यद्यपि विधवा है), वैसे ही मेरा छोटा भाई भी 'कुमार' ही है (यद्यपि ब्याहा है), अर्थात् दोनों ही इस समय दाम्पत्य-सुख से वञ्चित हैं)। तुम दोनों से पट जायगी। कुछ लोग यों अर्थ करते हैं कि भगवान् ने 'कुमार' सुन्दर-श्लिष्ट अर्थ में कहा। 'कुमार' अर्थात् कुत्सित है कामदेव जिससे। परन्तु इस श्लेषार्थ का कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता।'[1]

श्रीमद्भागवतकार ने कहा है कि स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिए, हास-परिहास में, विवाह में कन्या आदि की प्रसंशा करते समय, अपनी जीविका की रक्षा के लिए, प्राणसंकट उपस्थित होने पर, गौ और ब्राह्मण के हित के लिए तथा किसी को मृत्यु से बचाने के लिए असत्य भाषण भी उतना निंदनीय नहीं है। उदाहरणार्थ—

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥[2]

यहाँ पर श्रीराम जी के द्वारा लक्ष्मण जी को अविवाहित कहना आपत्तिजनक नहीं है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'सीता जी की ओर देख कर प्रभु श्रीरामजी ने यह बात कही कि मेरा छोटा भाई अविवाहित है।' ग्राउस महोदय ने भी कुमार का अर्थ अविवाहित (बैचलर) किया है।[3] 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'माथ नाइ पूछत अस भएऊ'

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गएऊ। माथ नाइ पूछत अस भएऊ।[4]

---

१. रामचरितमानस की भूमिका, पृ० ६७-६८
२. श्रीमद्भागवत ८।१६।४३
३. ''द लार्ड लुक्ड ऐट सीता एंड सेड इन रिप्लाई : 'माई यंगर ब्रदर इज ए बैचलर।' द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० ३४५
४. मानस ४।१।६

हनुमान जी ने ब्राह्मण का वेश धारण करके क्षत्रियों को प्रणाम क्यों किया, इस विषय में टीकाकारों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं। रामायण परिचर्या-कार के अनुसार—'देवन में शिव विप्र जाति हैं और हनुमान जी रुद्रावतार एहि हेतु विप्र रूप धारे।' रामायण परिचर्या परिशिष्टकार के अनुसार—'भाव अपनै रूप धरि गए रघुनाथ के सतरूप में साँचे रूप ले जाया याही श्रुति में रुद्र ब्राह्मण वर्ण।' रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाशकार के अनु-सार—

शंका—विप्र रूप से गए तो छली रूप को कैसे प्रणाम किए।

उत्तर—दोऊ भाइन के देखि हनुमान के चित्त में जेतने विकल्प भए, सब प्रणाम योग्य स्वरूप में—'की तुम तीन देव मँह कोऊ' इत्यादि।[1] पंजाबी जी के अनुसार—'अपना जो छात्र-वेश है तिस लज्जा कर सुभावक शीश नीचा किया जाते अपने पाप का भय सभों को होता है किंवा उत्तमों की रीति है जो वार्ता श्रेष्ठों के साथ करणी होइ तो मुख नेत्र नीचे कर करणी। अथवा श्रीरामचन्द्र का प्रताप पड़ गया ताते सेवकी अर्थं विवस सिर नम्र भया।'[2] मानसमयंककार के अनुसार—

'पर लघु गुन ए पर रहे, लखे कहे ना आजु।
बिघी बदन दुर लाज हूँ, ऐसे हूँ हर तापु ॥५०॥

श्री हनुमान जी ने माथ नवा कर क्यों पूछा, अर्थात् प्रणाम क्यों किया? इसका कारण मयंककार कहते हैं कि हनुमान जी ने अपने से (पर) श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र को जाना और अपने को लघु समझा, क्योंकि श्रीरामचन्द्र वाण-प्रस्थ और हनुमान जी ब्रह्मचर्य अवस्था में हैं। पुनः यद्यपि श्रीरामचन्द्र ने आप नहीं कहा, तथापि हनुमान जी लख गये कि ये गुण, अर्थात् त्रिदेव से भी रहे हैं। पुनः स्वामी से कपट करने से लाजवश शिर नीचा हो गया। यद्यपि हनुमान जी कपट रूप बनाये थे, तथापि श्रीरामचन्द्र ने ग्रहण किया। कारण यह कि ऐसे ही रूप से अर्थात् कपट रूप ही से हनुमान जी द्वारा उनका ताप शमन होगा, क्योंकि इसी रूप से जानकी जी का पता लगावेंगे और भरतादि के क्लेश को हरेंगे।'[3]

१. श्री रामबख्श पाण्डेय आदि के अनुसार—'ईश्वर जानकर व देवबुद्धि से प्रणाम किया। हनुमान जी के प्रश्न से यह बात स्पष्ट है,...ब्रह्मा, विष्णु,

१. र० परि० परिशिष्ट प्र०, किष्कि०, पृ० २

२. मा० भा०, आरण्य०, पृ० ४

३. मानस-मयंक, वार्तिककार इन्द्रदेवनारायण, पृ० ३५६

महेश, नर-नारायण और अखिल भुवनपति, ये सब प्रणाम करने योग्य हैं। इसी से प्रणाम किया।'

२. श्रीरामचन्द्र जी और श्री लक्ष्मण जी के तेज-प्रताप का यह प्रभाव है कि श्री जनक महाराज और उनके मंत्री भूसुर-वृन्द आदि जो उनके साथ विश्वामित्र जी से मिलने गये थे, सभी ने बिना जाने ही बरबस उनका अभ्युत्थान किया था। यथा—'उठे सकल जब रघुपति आये।' (१।१२५) और उनके चित्त में इनकी ईश्वरता झलक पड़ी, यथा—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा।' (१।२१६) जब 'भूसुर बर गुरु ज्ञाति' शतानंद जी आदि ने अभ्युत्थान दिया, तब यहाँ आश्चर्य क्या? अपने से अधिक तेजस्वी, प्रतापशाली महात्मा को देखकर स्वतः ही ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि जाने ही हमारा मस्तक उनके सामने झुक जाता है। इसके प्रमाण में यह श्लोक भी है—

'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥' (मनुस्मृति, आचाराध्याय)

अर्थात् बूढ़े के आने से जवान के प्राण ऊपर को चढ़ जाते हैं। उठने और अभिवादन से फिर ज्यों-के-त्यों हो जाते हैं। श्रीकांतशरण जी ने यही अर्थ अपनी टीका में दिया है।[१]

प्रणाम करना वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण में भी है। यथा—विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च। (वाल्मी० ४।३।३), 'विनयावनतो भूत्वा रामं नत्वेदमब्रवीत्।' (अ० रा० ४।१।११)। दोनों रामायणों से सिद्ध होता है कि दोनों भाइयों में बड़ा तेज उन्होंने देखा, तभी तो उनके वचन हैं कि 'द्योतयन्तौ दिशः सर्वाः प्रभया भास्कराविव।' (अ० रा० ४।१।१२), 'प्रभया पर्वतेन्द्रोऽसौ...'(वाल्मी० ४।३।११)। अपने शरीर की कान्ति से आपने समस्त दिशाओं को सूर्य के समान प्रकाश मानकर रक्खा है। यह सारा पर्वत आपकी प्रभा से जगमगा गया है। अतः अपने से अधिक तेजस्वी देखकर प्रणाम करना स्वाभाविक है। देखिये महाराज परीक्षित् की सभा में वसिष्ठादि ऋषि भी शुकदेव जी को आते देख उठकर खड़े हो गये थे। रावण की सभा में अंगद के पहुँचने पर सभी सभासद आसनों से उठकर खड़े हो गये थे। तब तेजराशि, तेजनिधान श्रीराम-लक्ष्मण जी को देखकर वटु का मस्तक झुकने में क्या आश्चर्य है? वाल्मीकीय आदि से यही स्पष्ट है कि हनुमान जी इनको देवता ही समझे, यथा—'देवलोकादिहागतौ' (४।३।१२), अर्थात् क्या आप देवलोक से आये हैं। ऐसा प्रभाव पड़ने पर कैसे प्रणाम न करते?'

---

१. मा० सि० ति०, द्वि० खं०, पृ० १६१८

स्वामी प्रज्ञानंद जी के अनुसार—'भगवद् भक्तों की इन्द्रियों का यह सहज स्वभाव हो जाता है कि 'सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी।' उनके मन को ऐसी प्रेरणा प्रकृति से ही मिलती है। उनको ऐसे समय पर तर्क या विचार नहीं करना पड़ता। श्री ज्ञानेश्वर जी महाराज 'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यथा। गीता १४।१९।' इस श्लोक की व्याख्या में कहते हैं कि जब रजोगुण और तमोगुण को जीतने पर सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, तब शरीर में ये लक्षण प्रकट होते हैं—प्रज्ञा हृदय में नहीं समाती, इन्द्रिय-द्वारों से बहने लगती है, समस्त इन्द्रियों में विवेक छा जाता है, मानो हाथों और पैरों में भी दृष्टि आ जाती है, इत्यादि। श्री हनुमान जी को यह प्रेरणा प्रकृति से मिली, उनका मस्तक स्वभावतः झुक गया। (ख) श्री हनुमानजी अभी निश्चय-पूर्वक यह नहीं जानते कि ये क्षत्रिय हैं या नहीं, यह उनके 'छत्री रूप फिरहु बन बीरा' इस प्रश्न से स्पष्ट है। कारण कि वेश तो है मुनियों का और धनुर्बाणादि तथा गति, वीर्यादि क्षत्रिय के लक्षण हैं। ब्राह्मण हुए और प्रणाम न किया तो 'पूज्यति क्रमदोष' रूपी पाप लगेगा। क्षत्रिय होने पर प्रणाम करने से पाप तो लगेगा नहीं। अतः मस्तक नवाने में कोई शंका की बात नहीं है।'

वेदान्तभूषण जी कहते हैं कि 'धर्मशास्त्रों की आज्ञा है कि किसी अपरिचित का अनावश्यक परिचय आदि न पूछना चाहिए। यदि परिचय प्राप्त करना आवश्यक हो, तो उसे नमस्कार करके परिचय प्राप्त करें। परन्तु गोत्रोच्चारणपूर्वक नमस्कार का बंधन नहीं है। हनुमान जी अभी भी राम से अपरिचित हैं। इसलिए वे नमस्कार करके परिचय पूछते हैं।' बैजनाथ जी के मत से वे नित्य पार्षद हैं, इसी से देखते ही ऐश्वर्य इनके हृदय में प्रविष्ट हो गया।'

पं० श्रीधर मिश्र के मतानुसार—'हनुमान जी का भीतर शरीर तो वानर का है और ऊपर से रूप ब्राह्मण का धारण किये हैं, जैसे बहुरूपिया करता है। अतः हनुमान जी ने विचारा कि सम्मुख मुँह करके बात करते ही प्रभु हमको पहचान लेंगे कि यह वानर है, इससे भय से सिर झुकाकर पूछा। [पर जो रूप हनुमान जी ने धारण किया, वह ऐसा नहीं है कि उसको देखकर कोई यह जान लेता कि ये वानर हैं। हनुमान जी को यह सिद्धि प्राप्त थी कि जो रूप चाहते, वे धारण कर सकते थे; यह बात स्वयं उन्होंने श्रीराम जी से (वाल्मीकि० ४।३।२३) कही है—'कामगं कामचारिणम्।']

श्री रामचरणदास जी के अनुसार—'ब्रह्मर्षि को बालक जाना वा देखते ही परमेश्वर बुद्धि आ गयी अथवा यों अन्वय कर लें कि—'विप्ररूप धरि

(सुग्रीव कहँ) माथ नाइ कपि तहँ गयऊ और अस पूछत भयऊ', अर्थात् सुग्रीव को प्रणाम करके कपि वहाँ गये और इस प्रकार पूछने लगे। [पर इस अर्थ का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। प्रायः सभी रामायणों में हनुमान जी का दोनों भाइयों को प्रणाम करना पाया जाता है।]'[1]

मानसमयंककार, पंजाबी जी और श्रीधर स्वामी के भावों से यह संकेतित होता है कि हनुमान जी 'चर' क्रिया के अनुपयुक्त थे। किन्तु लंका में उन्होंने जो 'चर' क्रिया का कौशल प्रदर्शित किया है, उससे यह बात बिल्कुल असंगत प्रतीत होती है। ब्रह्मा जी ने कपि को यह वरदान दिया था कि—'यह इच्छानुसार रूप धारण कर सकेगा और जहाँ चाहेगा जा, सकेगा। इसकी अव्याहत गति होगी।'

यहाँ विचारणीय है कि 'विप्र' शब्द का क्या अर्थ है? वाल्मीकि जी के मत से वानर-रूप मनुष्यों से बातचीत करने के लिए उपयोगी नहीं, अतः भिक्षु रूप धारण करके गये—

कपिरूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः।
भिक्षुरूपं ततो मेजे शठबुद्धितया कपिः ॥[2]

अध्यात्म रामायणकार के अनुसार—

'गच्छ जानीहि भद्रं ते वटुर्भूत्वा द्विजाकृतिः।'[3]

अर्थात्, हे सखे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम ब्राह्मण ब्रह्मचारी बनकर इनके पास जाओ।

श्रीराम जी ने हनुमान जी से कहा कि —

प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई। धरि बटु रूप अवधपुर जाई॥
भरतहि कुसल हमरि सुनाएहु। समाचार लै तुम्ह चलि आएहु ॥[4]

हनुमान जी ने क्या किया—

बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गएउ जनु पोत ॥[5]

यदि 'बटु' और 'विप्र' शब्द के अर्थ में विरोध होता, तो गोस्वामी जी

१. मा० पी०, किष्कि०, पृ० १६-१८—क. वि० पी०, खंड १, पृ० १८
२. वाल्मीकि० ४।३।२
३. अ० रा०, सर्ग १।८
४. मानस ६।१२१। १-२
५. वही ७।१।१८

कदापि ऐसा प्रयोग नहीं करते। इस तरह के प्रयोग से स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन होता है जो हनुमान जी ने कभी नहीं किया। इसी प्रकार सुग्रीव ने कहा कि—

धरि बटु रूप देखु तैं जाई ॥[1]

हनुमान जी ने क्या किया—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गएऊ ॥[2]

फिर वही बात। यहाँ भी यदि अर्थ-विरोध माना जाय, तो स्वामी की अवज्ञा होती है। पूर्व कहा जा चुका है कि गोस्वामी जी अध्यात्म रामायण से सर्वाधिक प्रभावित हैं। अध्यात्म रामायण के उपर्युक्त संदर्भ से यह स्पष्ट है कि सुग्रीव ने हनुमान जी को ब्राह्मण ब्रह्मचारी का रूप धारण कर भी राम के पास जाने को कहा था। अतः यहाँ भी 'विप्र' शब्द का प्रयोग 'ब्राह्मण ब्रह्मचारी' के अर्थ में हुआ है, क्षत्रिय आदि वर्णों के ब्रह्मचारी अर्थ में नहीं। हनुमान जी यत्र-तत्र 'विप्र' रूप धारण करके ही गये हैं—'बिप्ररूप धरि बचन सुनाए।'[3] सीता जी के पास 'विप्र' रूप से इसलिए नहीं गये, क्योंकि सीता जी 'यती' रूप से धोखा खा चुकी थीं। उन्हें इस रूप से अविश्वास हो चुका था। दीन जी कहते हैं कि 'ब्रह्मचारी अवध्य और अबाध्य है, अतः यह रूप धारण किया। यह हर एक को प्रणाम कर सकता है, अतएव यह शंका ही निर्मूल है।'[4]

वेदान्तभूषण जी कहते हैं कि 'स्मृतियों में वेद के विद्यार्थी की संज्ञा 'विप्र' शब्द से बतायी गयी है—'वेदपाठी भवेद्विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।' ब्रह्म अर्थात् वेद के विज्ञाता की संज्ञा ब्राह्मण है। 'विप्र' शब्द की तरह 'वटु' शब्द का अर्थ भी विद्यार्थी ही है। अतः वटु और विप्र पर्यायवाची शब्द हैं। 'महावीरचरितम्' में जब जनक जी ने परशुराम जी को परुषवादी 'द्विज' कहकर पुनः कटु रटने वाला वटु कहा, यथा—'कस्य द्विजे परुषवादिनि चित्तादेः। कर्णे रटन्कटु कथं न वटुर्विसह्यः ॥ ३।३१।', तब परशुराम जी ने क्रुद्ध होकर कहा कि क्या मैं अभी तक विद्यार्थी हूँ जो वटु कहकर तुमने मेरा अपमान किया—'मामेवं वटुरित्याक्षिपसि।' इससे यह निश्चय हुआ कि ब्रह्मचर्याश्रम (विद्यार्थी जीवन) आश्रम की दृष्टि से न्यून कोटि का है।

---

१. मानस ४।१।४

२. वही ४।१।६

३. वही ५।६।५

४. किष्कि०, पृ० ३

अस्तु, सुग्रीव ने वटरूप धरकर आने को कहा, तब 'बिप्ररूप धरि कपि तहँ गएऊ ।' इसी से श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयों ने विप्र-वेश देखकर भी स्वयं आश्रम में श्रेष्ठ होने से वटु-छात्र को प्रणाम न किया और स्वयं क्षत्रिय होने से विप्र विद्यार्थी के प्रणाम करने पर आशीर्वाद भी न दिया । अत: विप्र वेशधारी हनुमान जी का प्रणाम करना सर्वथा उचित ही हुआ, इसमें अनौचित्य का आभास तक नहीं है ।'[1] शास्त्रों में ब्रह्मचारी को क्षत्रिय क्या शूद्रों तक को प्रणाम करने का आदेश है—

> वित्तं बन्धुर्वय: कर्म विद्या भवति पंचमी ।
> एतानि मान्य स्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥
> पंचानां त्रिषुवर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
> यत्रस्यु: सोऽम मानहि: शूद्रोऽपि दर्शमांगत: ॥[2]

धन, बन्धुत्व, वय, कर्म और विद्या—ये पाँचों वस्तुएँ किसी को मान्य बनाती हैं । वाल्मीकि और अध्यात्म दोनों रामायणों में हनुमान जी ने श्रीराम-लक्ष्मण को प्रणाम किया है—

> विनीत वदुपागम्य राघवौ प्राणिपत्य च ।[3]
> विनयावनतो भूत्वा रामं नत्वेदमब्रवीत् ।[4]

अतएव उपर्युक्त अर्धाली का अर्थ होगा —'बटु अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मचारी का रूप धारण करके कपि हनुमान् जी वहाँ गये और प्रमाण करके इस प्रकार पूछने लगे ।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है ।

'जिय संसय कछु फिरती बारा'

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा । जिय संसय कछु फिरती बारा ।[5]

अंगद को लंका से लौटने में सन्देह क्यों था ? इसकी अनेक कल्पनाएँ टीकाकारों ने की हैं । रामायण परिचर्याकार के अनुसार—'समुद्र का जल ऊँचा देखि कै ।' रामायण परिचर्या परिशिष्टकार के अनुसार—'एहि पार तो पर्वत ऊँचा हैं । नदिउ आदि में करार के दूसरे भाग में नीच पृथ्वी होत जहाँ कुरीउ आदि डाकब कठिन । कोऊ-कोउ अस कहत राक्षस से जुद्ध नहीं किए और प्रबल

१. मा० पी०, किष्किन्धा०, पृ० १७
२. मनुस्मृति २।१३६-३७
३. वाल्मीकि० ४।३।३
४. अध्यात्म० ४।१।११
५. मानस ४।३०।१

सुनात और रावन वलि मित्र राखि न लेय और लंका के सुन्दरिन में कुमार अंगद जात औ जात सक्ति सन्मुख फिरती विमुख से·जिअ संसय और श्राप भै ते औ प्रमानौ श्राप कै न मिलब लिखत।'[१] पंजाबी जी लिखते हैं—'परन्तु कछुक संदेह फिरती बार मो है जो राक्षसों संग संग्राम मैंने करा नहीं अरु वुह बड़े बली सुनीते हैं मैं उनसे समर करत कूदना सिंधु का होइ सके पा न होइ।'[२] मानस मयंकार जी के मत से—

'दुर्वासा को शाप है, वर्तमान को देख।
वा सहिदानी है नहीं, कही दीनता लेख॥'

अर्थात्, दुर्वासा के शापवश अंगद नहीं लौट सकते थे अथवा सहिदानी नहीं है क्यों कर जानकी जी पहचानेंगी। इससे दीनतावश जाना अस्वीकार किया।'[३]

पं० विजयानंद त्रिपाठी के अनुसार—'भोगावती और अमरावती से भी बाँका दुर्ग है। उसमें प्रवेश कर जानकी जी को देखना और किसी के बिना जाने लौट आना साधारण व्यापार नहीं है। संभव है कि बात खुल जाय और युद्ध छिड़ जाय। युद्ध छिड़ जाने पर क्या होगा, कौन कह सकता है, 'युद्ध-सिद्धिहि चञ्चला।' अतः लौटने में कुछ सन्देह अवश्य है। हनुमान जी साधु हैं, अब भी नहीं बोलते कि कदाचित् किसी को रामदूत-पदप्राप्ति की अभिलाषा हो तो मैं उसमें बाधक क्यों होऊँ? ठीक विचार चल रहा है, यदि सब लोग मुझे इस योग्य समझेंगे तो आज्ञा देंगे ही।'[४]

श्री रामबख्श पाण्डेय जी के अनुसार—'अंगद फिरती बार जो अपने जी में संशय करते हैं, उसका कई प्रकार से अर्थ किया जाता है—(१) लंका रूपवती स्त्रियों से भरी हुई है और मेरी वानर जाति है एवं युवावस्था है, ऐसा न हो कि वहीं मोहित होकर रह जाऊं। (२) रावण और बाली मित्र थे; उस मित्रता के कारण प्रीतिरूपी फाँसी डालकर कहीं रावण मुझे फंसा न ले। (३) कोई कहते हैं कि कोई ब्राह्मण बाली का टिकाया हुआ नदी के किनारे रहता था। अंगद बाल्यावस्था में वानरों के बच्चों को साथ लेकर वहाँ कूदा करते थे जिससे ब्राह्मण पर छींटे पड़ते थे। एक दिन विप्र ने कुपित होकर

१. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० २६
२. मा० भा०, पृ० ४०
३. मानस-मयंक, वार्तिककार इन्द्रदेवनारायण, पृ० ४२७
४. वि० टी०, तृ० भा०, पृ० ६६

शाप दे दिया कि जिस जल को तुम 'डाँकोगे' (लाँघोगे), फिर लौट न सकोगे। उस शाप का स्मरण करके अंगद लौटने का संशय करते हैं।' पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिला। यदि मिले तो अर्थ पुष्ट है, नहीं तो किसी का गढ़ा हुआ किस्सा है। दूसरे, यदि ऐसा शाप होता तो 'संशय' पद का प्रयोग न करते, वरन् उनको निश्चय होता; क्योंकि ये देवांश हैं, इनको विप्र-शाप का निश्चय होता है। यह तो इस अर्थ के विषय में हुआ। रहे प्रथम दो, वे भी लचर हैं, क्योंकि उनमें अंगद की कायरता और रघुनाथ जी में उनकी प्रीति की न्यूनता सूचित होती है। [इन बातों का निषेध रावण-अंगद-संवाद से स्पष्ट हो जाता है। यथा—'सुन सठ भेद होइ मन ताके। श्री रघुबीर हृदय नहिं जाके॥ ६।२१।१०] अतएव अर्थ यह जान पड़ता है कि अंगद कहते हैं कि जाने के समय मैं शक्ति के सम्मुख जाऊँगा। जो शक्ति के सम्मुख जाता है, वह असमर्थ भी हो तो समर्थ हो जाता है और जो शक्ति से पराङ्मुख होता है, वह शक्तिमान् भी हो तो अशक्त हो जाता है—'अशक्ताः शक्तिसम्पन्नाः ये च शक्तिपराङ्मुखाः। असमर्था समर्था स्युः शक्तिसम्मुखगामिनः। [नोट—पर यह बात तो हनुमान जी के लिए भी हो सकती है।]

किसी का मत है कि अंगद और अक्षयकुमार साथ पढ़ते थे। अंगद ने एक दिन उसे बहुत पीटा। गुरु ने सुना, तब शाप दिया कि अक्षयकुमार के एक ही घूँसे से तेरी मृत्यु हो जायेगी। तब से अंगद लंका में नहीं गये। परन्तु पूर्व-कथा की तरह इसका भी प्रमाण हमें अब तक नहीं मिला है।

श्रीधर मिश्र के मतानुसार—मानसमयंक का दोहा यह है—

'दश दश दश सब बढ़ गए नब्बे पर रह बूढ़।
ताते अंगद दश बढ़े फिरबो राखे गूढ़॥'

यहाँ 'गूढ़' शब्द का अभिप्राय यह है कि अंगद जी के सामने रघुनाथ जी ने हनुमान जी को मुद्रिका दी और संदेश दिया—'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥'

अतएव अंगद ने यह विचार कर कि आज्ञा तो हनुमान जी को है और वे कुछ बोले नहीं, यह कहा कि 'फिरती बार' का संशय है। वह 'कुछ संशय' यही है कि कदाचित् श्री रघुनाथ जी कहें कि आज्ञा तो हमने सहिदानी के संयुक्त हनुमान जी को दी थी, तुम किसके कहने से गये और क्या निशानी श्री जानकी जी की प्रतीति के लिए ले गये थे, तब मैं क्या उत्तर दूँगा। यहाँ केवल हनुमान जी के कुछ न बोलने से अंगद ने ऐसा कहा, नहीं तो उन्हें जाने-आने में संशय कदापि नहीं हो सकता था और न था।'

बाबा हरिदास जी ने अपनी 'शीलावृत्त' की टीका में लिखा है—'सब वानर यहाँ हिचकिचाते हैं और सेतुबन्ध होने पर तो न जाने कितने आकाश से गये हैं। यहाँ अंगद के वचन में भाव यही है कि कार्य तो हनुमान् जी को प्रभु ने सौंपा है, मैं कैसे जाकर करूँ? इसी भाव से जाम्बवन्त ने और इन्होंने भी संशय प्रकट किया।'

अन्य अनेक भाव इस प्रकार कहे जाते हैं—जैसे कि—'(१) मन्दोदरी मौसी है, वह रोक न ले। (२) फिर तीबारा=तीन बार मैं जाऊँ-आऊँ। 'जिय संशय कछु'=क्या आपको इसमें सन्देह है? (३) संशय है कि हनुमान जी से प्रभु प्रश्न करेंगे कि तुमको मुद्रिका दी थी, इत्यादि, तुम क्यों न गये? तब वे क्या उत्तर देंगे। इत्यादि।'

वेदान्तभूषण जी का मत है कि 'गुप्तचरों की तरह वेष-परिवर्तन-विद्या राजकुमार अंगद को नहीं मालूम है। कपि सम्राट बाली के पुत्र और सुग्रीव के उत्तराधिकारी होकर वे छिपकर तो जाएँगे नहीं, जाएँगे तो राजकुमार की अकड़ से ही। उस दशा में कार्य होने के पूर्व ही रावण-मेघनादादि वीरों से मुठभेड़ हो जाना बहुत संभव है। युद्ध में विजय सर्वथा अनिश्चित ही रहती है और युद्ध में क्षत-विक्षत होने से सर्वथा बचा रहना जीव के लिए अनिवार्य सा ही है। अतः इन सब संभावित समस्याओं पर विचार करते हुए सकुशल लौट आना संशयास्पद तो है ही। ऐसी दशा में संशय का न होना ही संशय का स्थान है।'[1]

उपर्युक्त सभी भाव काल्पनिक और आरोपित हैं। श्री नंगे परमहंस के अनुसार 'यदि अक्षयकुमार से अंगद को मृत्यु का भय होता तो इसे छिपाने की क्या बात थी? वह साफ कह देते कि ऐसा शाप है। मन्दोदरी के रोकने की बात भी स्पष्ट कह सकते थे, छिपाते क्यों? जो यह कहते हैं कि अंगद ने अपनी शक्ति को छिपाकर नहीं लौटने के बहाने से संदेह प्रकट किया है। संदेह का अर्थ बहाना करना अंगद को अपनी शक्ति छिपाने का अर्थ करना गलत है, क्योंकि वहाँ किसी को अपना बल छिपाने की आज्ञा नहीं है। मुद्रिका के संदेह से न लौटने का बहाना क्यों करते? क्या इन्हीं ने मुद्रिका हनुमान जी को देते हुए देखी थी? यदि अंगद ने ही देखा था तो वे साफ कह सकते थे कि हम आ-जा सकते हैं, पर मुद्रिका सहिदानी तो हनुमान् जी के पास है। हम कैसे जायें? बस इतने में सब बात खतम थी। अतः अंगद के लिए बल का छिपाना और बहाने से संदेह करना दोनों बातें गलत हैं। अंगद ने

१. मा० पी०, किष्किधा०, पृ० २२७-२२८

संदेह अपने परिश्रम के कारण ही यथार्थतः किया है, क्योंकि आकाश में केवल उछाल भरकर चलना नहीं होता है। प्रथम उछलते हैं, फिर हाथ-पैर चलाते हुए आकाश-मार्ग में चलते हैं। हाथ-पैर चलाकर चलने में आगे-पीछे आना-जाना हो सकता है जिससे परिश्रम होगा। इसी से तो सिंधु ने मैनाक से हनुमान जी के श्रम को हरने को कहा था—'तैं मैनाक होहि श्रमहारी।' इसी परिश्रम के कारण आने में संदेह कहा।'[१]

लाला भगवानदीन जी ने अर्थ किया है कि 'अंगद जी कहने लगे—मैं पार जा सकता हूँ पर लौटते समय संसय है।' [शायद लौटते समय सौ योजन न पार कर सकूँ, क्योंकि लौटते समय थका होऊँगा।[२]] ऐसा ही अर्थ पं० विश्वनाथप्रसाद जी ने किया है।'[३]

चार सौ कोस समुद्र कूदने से बड़ा परिश्रम होगा, इसी कारण अंगद को लौटने में संदेह हुआ। अध्यात्मकार ने लिखा है कि—

अंगदोऽप्याह मे गन्तुं शक्यं पारं महादधेः।
पुनर्लंघ सामर्थ्यं न जानाम्यस्ति वा न वा॥[४]

अर्थात्, अंगद ने कहा कि समुद्र पार करने की शक्ति मुझ में है, पर उधर से फिर समुद्र-उल्लंघन का सामर्थ्य है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। आदि कवि वाल्मीकि जी ने भी ऐसा ही कहा है—

अहमेतद् गमिष्यामि योजनानां शतं महत्।
निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्नवेतिन निश्चितम्।[५]

अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'अंगद ने कहा कि मैं पार तो चला जाऊँगा, पर लौटते समय मुझे (अपने सामर्थ्य में) कुछ संदेह है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'पिता बचन मनतेउँ नहि ओहू'

जौ जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहि ओहू।[६]

यहाँ पर कुछ लोग शंका करते हैं कि मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम

---

१. मा० पी०, किष्किधा०, पृ० २२८-२२९ और मानस, पृ० ७९२-९३
२. मानस, किष्किधा०, पृ० ६४
३. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २०७
४. आध्यात्म०, सर्ग ९।१२
५. वाल्मीकि० ६५।१९
६. मानस ६।६१।६

जिन्होंने पिता-वचन प्रतिपालन हेतु अयोध्या का राज्य, युवावस्था का सुख, माता-पिता, परिवार और पुरजन, गुरुजन वृंद को त्याग दिया था, वही यहाँ कहते हैं कि मैं पिता के उन वचनों को न मानता, यह श्रीराम जी के मुख से अशोभनीय है। इस आरोप से बचने के लिए टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार से तोड़-मरोड़ कर अनेक अर्थ किये हैं।

श्री अवधबिहारीदास जी के अनुसार—'यदि मैं जानता कि वन में भाई से विछोह होगा तो पिता के ओहू (उस) वचन को नहीं मानता। ओहू अर्थात् पहले वचन को नहीं मानता, दूसरे ही वचन को मानकर शृङ्गवेरपुर से गंगा-स्नान करके अवध को लौट जाता। राजा के दूसरे वचन कौन हैं—

> वन देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि वेगि दोउ भाई॥
> लखनु राम सिय अनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥

राजा के इसी वचन को सुमंत ने शृङ्गवेरपुर में श्रीराम जी से कहा था। ......राजा का पुनः दूसरा वचन सुमन्त से है कि—

> सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनक सुता सुकुमारि।
> रथ चढ़ाइ दिखराइ बन फिरहु गए दिन चारि॥

अतः पिता जी के इसी दूसरे वचन को श्रीराम जी मानने को कह रहे हैं। ......'ओहू' शब्द दो को सूचित करता है। जैसे ओहू (वह) फल लेते आओ 'वोहू', 'येही' दो का बोधक है, किन्तु 'ओहू' शब्द देर को सूचित करता है और 'येही' शब्द निकट को सूचित करता है। अर्थात् जो पहिला है वह दूर की गिनती है और जो दूसरा है, यह पास में गिनती है।

अतः 'ओहू' अर्थात् पहिले वचन को नहीं मानते, दूसरे को मानते। अब यदि कोई प्रश्न करे कि पिता के वचन को न मानने में दोष होता है। (उत्तर) पिता-वचन के साथ 'ओहू' शब्द लगा है कि ओहू वचन न मानते। इसका भाव यह हुआ कि यही वचन मानते, अर्थात् दूसरे वचन को मानते जब एक ही बात के लिए है। पुनः दूसरा वचन—अर्थात् वन को देखाइ श्रीगंगा का स्नान कराइ के शीघ्र लौटा लाने के लिए है तो यह नीति है कि पिता के अन्तिम वचन को पुत्र माने और श्रीराम जी अन्तिम वचन मानने को कहते हैं। तब श्रीराम जी को पहिला वचन नहीं मानने में दोष कैसे लग सकता है, अर्थात् नहीं लगेगा। अब यदि कहिए कि पुत्र को पिता के अन्तिम वचन मानने का धर्म है तो श्रीराम जी ने पिता के पहिले वचन को क्यों माना है? (उत्तर) श्रीराम जी को पिता का दूसरा वचन मानना धर्म है सो छोड़कर पिता के सत्य वचन की रक्षा की है कि जो राजा ने कैकेयी को वचन दिया था कि जो

माँगो सो हम देंगे तो कैकेयी ने श्रीराम जी को चौदह वर्ष का वन माँगा। राजा के उसी वचन को श्रीराम जी ने सत्य किया है। इसलिए श्रीराम जी ने पहिले वचन को माना है।

······और जो कोई ओहू वचन का अर्थ यह करते हैं कि मेघनाद मगर (घड़ियाल) बनकर अयोध्या आया था, ताकि लक्ष्मण जी की मृत्यु करने के लिए सरजू में पकड़े। उसको लक्ष्मणजी पकड़ लाये। फिर राजा दशरथ जी ने छुड़वा दिया। उसी को श्रीराम जी कहते हैं कि पिता का वचन नहीं मानते, अर्थात् मेघनाद को नहीं छोड़ते। परन्तु यह अर्थ मिथ्या है, क्योंकि यह बिना प्रमाण दंतकथा है। जब ओहू बचन का अर्थ ग्रंथ में स्थित है, तब बिना प्रमाण की दन्तकथाएँ मिथ्या कही जाती हैं। अतः पूर्व अर्थ सत्य है।'[1]

श्री रामचरणदास के अनुसार—'माता-पिता के वचन कर प्रतिपालन सामान्य धर्म है अरु त्याग सामान्य अपराध है अरु बंधु जो लक्ष्मण जी हैं सो श्रीरामचन्द्र के परमानन्य दास हैं तिनकर सदा संयोग विशेष परमधर्म है अरु जिन कर विक्षेप विशेष परम दुःख है याते श्रीरामचन्द्र ने संकल्प कर ग्रहण कीन अरु सामान्य है त्याग कीन्ह है।'[2] हरिहरप्रसाद जी ने ये अर्थ दिये हैं—

'बन में भैया तेरो बिछोह जनत्यो' जो सर्वानुलंघ्य वा माता रोकती रही है मान लेतेउँ वा पिता के ओहू वचन मनत्यों जो 'सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं।' से 'राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय कीन्ह छल त्यागी।' तक कहा था। वा ओहू वचन सो सुमंत द्वारा चक्रवर्ती महाराज की आज्ञा—'रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरेहु गए दिन चारि।' काकु का न मनत्यों।'[3] विनायक राव जी के अनुसार—'पिता के वचन मानता, परन्तु तुम्हारी कही न मानता (भाव यह कि पिता जी ने श्री रामचन्द्र जी को वनवास दिया था, न कि लक्ष्मण को। श्री रामचन्द्र जी तो लक्ष्मण की विनय सुनकर उन्हें अपने साथ लाये थे, सो इसी को कहते हैं, मैं तुम्हारी विनय को न मानता, यदि जानता कि तुम्हारी ऐसी दशा होगी।'[4] कुछ लोगों के अनुसार—'पिता का वचन मानता, पर उसको (सीता के वचन को—'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनियहिं प्रान') न मानता। न वह साथ आती, न यह कष्ट सहना पड़ता। पिता के वचन को मान लेता

१. मानस, पृ० ६२७-६२६
२. रामा०, पृ० १०५४
३. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० ४६
४. रामा० वि० टी०, पृ० १२३

कि 'रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरहु गए दिन चारि।' 'लषन राम सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी।' पर पिता के पहले वचन को न मानता जो कैकेयी द्वारा कहे गये थे।'[१] यहाँ पर उपर्युक्त सभी अर्थ आरोपित हैं। 'ओहू' शब्द से तात्पर्य दशरथ जी के उन शब्दों से है जो उन्होंने सुमंत्र जी से कहे थे—

सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनक सुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गये दिन चारि॥[२]

अर्थात्, यदि यह ज्ञात होता कि भाई का वियोग होगा तो १४ वर्ष की कौन कहे, मैं चार दिन वाली यह आज्ञा भी न मानता। प्रायः अधिकांश टीकाकारों ने यही अर्थ स्वीकार किया है।

पिता के आज्ञा-उल्लंघन-अनौचित्य के विषय में श्री रामदास गौड़ जी कहते हैं कि—'मर्यादा पुरुषोत्तम के लिए 'पिता वचन' पूर्ण महत्त्व का कर्तव्य है, कदापि उल्लंघन नहीं हो सकता है। उसकी कीमत चक्रवर्ती राज्य से, जवानी की अवस्था में गृहस्थी के सुखोपभोग से, माता-पिता, परिवार और भरत-सरीखे आदर्श भाई के वियोग से कहीं अधिक है। 'ओहू' वह भी मैं नहीं मानता। एक 'ओहू' शब्द कहकर पिता-वचन के आत्यन्तिक महत्त्व का बोध कराया है। परंतु बंधु-वियोग का शोक! यह तो इतना कठिन, इतना असह्य है कि मैं इस समय प्रतीत कर रहा हूँ कि वन के एकमात्र संगी बंधु का विछोह जानता तो ऐसे महत्त्वपूर्ण पिता के वचन भी न मानता। यहाँ बंधु-प्रेम की पराकाष्ठा दिखाने में, शोकावेश की पूर्णता प्रकट करने में पुरुषोत्तमता का पूर्ण आदर्श दिखाया गया है। इससे ध्वनि द्वारा मर्यादा-भाव की पुष्टि होती है। शोक में, प्रलाप में मर्यादा-पुरुषोत्तम कैसा आचरण करते हैं, वही यहाँ विलक्षण रीति से कवि ने प्रकट किया है।'[३]

व्योहार श्री राजेन्द्र सिंह के अनुसार—'विद्वानों की राय है कि देवता मनुष्य का आदर्श नहीं हो सकता। मनुष्यों का अनुकरणीय होने के लिए देवता और ईश्वर को भी अपना देवत्व एक ओर रखकर मनुष्य-सदृश बर्ताव करना पड़ता है। इसी के अनुसार तुलसीदास जी के श्रीरामचन्द्र ईश्वर होते हुए भी मनुष्योचित कार्य करते हैं। उनका देवत्व उनके मनुष्यत्व को दबा नहीं देता। यही चित्रण-चातुरी है। इसके विपरीत अध्यात्म रामायण के राम के

१. मा० पी०, लंका०, पादटिप्पणी, पृ० ३०६
२. मानस २।८१।०
३. मा० पी०, लंका०, पृ० ३०६

चरित्रों में इतना अधिक देवत्व भर दिया है कि वह उनके मनुष्य-चरित्र को कभी-कभी दबा देता है। उनके ईश्वरत्व को छोड़कर उसमें स्वभाव के दूसरे भागों पर बहुत कम दृष्टि रखी गयी है। परन्तु तुलसी के राम आदर्श तपस्वी, आदर्श नरपति, आदर्श भ्राता, आदर्श पति आदि सब कुछ हैं।'

यदि राम में अपने छोटे भाई के लिए, कि जो उनके प्रेम में सब तृणवत् तोड़ उनके कष्टों में सहायक और साथी हुआ था, वैसा ही अन्योन्य प्रेम न देख पड़ता, तो वे हमारे लिए 'आदर्श भ्राता' कैसे हो सकते ? उनका यह प्रलाप ही उनका अतिशय प्रेम प्रकट कर रहा है। यदि देवत्व के कारण शब्दों के खींच-खाँच कर अर्थ कर भी लें तो वह तुलसीदास के इस चरित्र-चित्रण के प्रतिकूल ही होगा।'[1]

कवि ने इस अर्धाली के पूर्व कहा है—'बोले बचन मनुज अनुसारी', 'उठहु न सुनि मम बच बिकलाई'। अन्त में कहा है—'नरगति भगत-कृपाल देखाई।', 'प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर।' इन शब्दों से विदित होता है कि श्रीराम जी ने मानवीय प्रकृति के अनुसार व्याकुलता और प्रलापावस्था में यह बात कही है। 'प्रलाप' शब्द का अर्थ है—'निरर्थक बात, अण्ड-बण्ड या अनाप-शनाप बात'।[2] 'असंबद्ध बात, विलाप, रोना-धोना।'[3] ज्वर आदि के वेग में लोग कभी-कभी प्रलाप करते हैं। व्याकुलता-भरे वचन के लिए कवि ने कहा है—

रहत न आरत कें चित चेतू।[4]
आरत कहहिं बिचारि न काऊ।
अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन दुखारी।
इनको बिलगु न मानिए बोलहिं न बिचारी॥[5]

अतः यहाँ पर विषय की वास्तविकता पर नहीं, वरन् श्रीराम जी की नरलीला और करुण रस पर ध्यान देना चाहिए। श्रीराम ने ये वचन नरत्व और प्रलाप की दशा में कहा है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'यदि मुझे यह ज्ञात होता कि वन में भाई का वियोग होगा तो पिता का वनवास-विषयक वचन मानता ही नहीं।'

---

१. मा० पी०, पृ० ३०७
२. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६५६
३. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ६७२
४. मानस २।२६८।४ और २।२५७।१
५. विनय० ३४

'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ संगत प्रतीत होता है। यहाँ श्रीराम जी पर दोषारोपण बिल्कुल असंगत और निरर्थक है।

'मिलै न जगत सहोदर भ्राता'

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलै न जगत सहोदर भ्राता॥[1]

प्रस्तुत अर्धाली के 'सहोदर' शब्द पर लोगों को आपत्ति है कि लक्ष्मण जी श्रीराम के 'सहोदर भाई' तो थे नहीं। फिर राम जी ने क्यों कहा कि जगत् में सहोदर भ्राता नहीं मिलते। इसी आपत्ति से बचने के लिए लोगों ने तोड़-मरोड़ करके अनेक असंगत अर्थ किये हैं।

रामायण परिचर्याकार के अनुसार—'कौशल्या के गर्भ में राम लछिमन दूनों जने रहे जनम समे जुदा भए शेष जी कबहूँ भगवान को छोड़ते नाहीं।'[2] संतसिंह पंजाबी के अनुसार—'भ्रात मात्र में सहोदरता लैनी। किंवा प्रीत अधिकता कर सहोदरता कही। किंच शास्त्रज्ञ हैं पुत्र प्रथम पिता के वीर्द्र मो आय कै पुत्रः बीर्जे द्वारा माता के सोदर में प्रविसता है सो सहोदरता पिता के बारे में लैनी। टिप्पणी में—एक अर्थ यह कि पिता के पक्ष में दोनों भाई सहोदर हैं। दूसरा अर्थ यह कि ऐसे भाई जगत् में नहीं होते कि दोनों भाई का एक पेट हो अर्थात् दोनों का एक मन हो। तीसरा अर्थ यह कि हमारे साथ जैसा तुमने पृथक्उदर हो के प्रीति की है, ऐसा जगत् में सहोदर भाई नहीं मिलता।'[3]

मयंककार कहते हैं—

'पिता उदर वा कुंड वा, उदरन एकज एक।
अर्द्ध अर्द्ध निज जनक कृत, जानज तजे स्वटेक॥२००॥

अर्थात्, 'सहोदर कहने का यह कारण है कि पिता का उदर एक है अथवा एक कुंड से निकले हुए हव्य से जन्म हुआ, अतएव सहोदर कहा। अथवा जैसी प्रीति श्रीराम लक्ष्मण में है, ऐसी प्रीति सहोदर भाइयों में नहीं होती, अतएव सहोदर कहा। अथवा जिस हव्य के पिंड से श्रीराम जी पैदा हुए, उसी का भाग कर दशरथ जी ने सुमित्रा जी को दिया जिससे लक्ष्मण जी पैदा हुए। अतएव इन्हीं कारणों से सहोदरता की टेक त्यागकर सहोदर कहा।'[4]

---

१. मानस ६।६१।७-८
२. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० ४७
३. मा० भा०, पृ० ७६
४. मा० मं०, वार्तिककार इन्द्रदेवनारायण, पृ० ५४४

श्री रामदास गौड़ श्रीराम जी के इस कथन को 'नरत्व और प्रलाप दशा में कहा हुआ' मानते हुए भी कतिपय समाधान इस प्रकार करते हैं— 'अब ज्यों का त्यों शब्दार्थ लेकर इस प्रकार भी समाधान हो सकता है कि पहले तो अग्निचरु मिला जिससे सब भाइयों की उत्पत्ति है, अतः इस नाते परस्पर सहोदर हैं। दूसरे शेषोपरिषद् के प्रमाण से यथार्थ में सहोदर हैं क्योंकि लक्ष्मण जी उसी प्रकार प्रथम कौशल्या जी के गर्भ में थे। पीछे जन्मकाल में सुमित्रा के गर्भ आये। जिस प्रकार कृष्णावतार में शेषावतार बलराम जी पहले देवकी जी के उदर में थे, पीछे आकर्षण द्वारा रोहिणी जी के गर्भ में आये। तीसरे यह भी कह सकते हैं कि रघुनाथ जी ने यह कहा कि 'हे तात्! तुम यही विचार कर कि जैसे हमको तुम प्रिय भ्राता मिले हो, वैसे इस संसार में सहोदर भी नहीं मिलते। ऐसा भी कहा जा सकता है कि रघुनाथ जी की माताओं में अभेद बुद्धि है, अर्थात् उनमें अपने-परायेपन का विचार नहीं है। इसी भाव को लेकर रघुनाथ जी ने 'सहोदर' शब्द का प्रयोग किया।'[1]

श्री अवधबिहारीदास जी के मत से—'श्रीराम जी पिता के सम्बन्ध से लषनलाल जी को सहोदर भाई कह रहे हैं, क्योंकि दोनों भाई के पिता एक हैं और पिता-माता दोनों के उदर से जन्म होता है, क्योंकि रज-वीर्य दोनों का स्थान उदर है। जिन भाइयों के माता-पिता एक हैं, वे सगे भाई कहलाते हैं। सगे भाई को सहोदर भाई-भाई कहते हैं। यह श्रीराम जी ने पिता के सम्बन्ध से लक्ष्मण जी को सहोदर भाई कहा है और पिता के ही सम्बन्ध करके सहोदर भाई का पुनः मिलना भी असंभव कहते हैं। नहीं तो यदि केवल माता से भाई मिलता होता तो माता तो मौजूद ही है। अतः पिता के सम्बन्ध करके पुनः भाई नहीं मिलना कहा है।' सहोदर भाई के विषय में हविष्य की शंका भी वृथा है क्योंकि श्रीराम जी का वचन माता-पिता के सम्बन्ध को लेता है, न कि हविष्य को। अतः हविष्य का भाव कहना वृथा है। यदि हविष्य ही का हठ हो, तब भी एक ही हविष्य से चारों भाइयों का जन्म है जिससे कि चारों चारों भाई सहोदर कहे जा सकते हैं।'[2] इससे तो यह सिद्ध होता है कि अगर दशरथ जीवित होते और पुत्र हो सकता तो लक्ष्मण की मृत्यु पर राम इतना दुःखी न होते। यह अर्थ सर्वथा हास्यस्पद है। ज्वाला प्रसाद जी के मतानुसार—'पिता के पक्ष में दोनों भाई सहोदर हैं, कारण एक पेट हो, अर्थात् दोनों का छल-कपटरहित एक मन है। जैसे तुमने हमारे

---

१. रामचरितमानस की भूमिका, पृ० ९९-१००

२. मानस, पृ० ९२९

साथ पृथक् उदर होकर भी स्नेह किया, ऐसे जगत् में सहोदर भी नहीं मिलते।'[1]

श्यामसुन्दरदास जी ने इसका अर्थ किया है कि—'यहाँ सहोदर शब्द की व्युत्पत्ति करने से (सह उदरं यस्य) निष्कपट भाव सिद्ध होता है।'[2] बैजनाथ जी के अनुसार—'सुमित्रा जी ने पायस भाग कौशल्या जी के हाथ से पाया, वह मुख्य भाग कौशल्या का ही ठहरा। इस भाव से सहोदर कहा।'[3]

रामायणी रामबालकदास जी कहते हैं कि—'साहसी गुणसम्पन्नो निद्रा-विगतकल्मषः। ज्येष्ठानुशासने लग्नः सहोदराभिधीयते ॥' ये सब लक्ष्मण जी में हैं, अतः सहोदर कहा।'[4]

किन्तु यहाँ उपर्युक्त सभी आरोपित अर्थ हैं। इस अर्धाली से मिलता हुआ श्लोक वाल्मीकीय रामायण में मिलता है। वहाँ भी 'सहोदर' शब्द का प्रयोग हुआ है—

'देशे-देशे कलत्राणि देशे-देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥'[5]

गोस्वामी जी ने यत्र-तत्र लक्ष्मण जी को रामानुज कहा है—

रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहि नाघेउ असि मनुसाई ॥[6]
अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा ॥[7]

'रामानुज' का अर्थ ही लक्ष्मण है। यह शब्द लक्ष्मण के लिए रूढ़ है। केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में लक्ष्मण जी को 'सोदर' कई स्थानों पर कहा है—

हौं सुमिरो गुण केतिक तेरे। सोदर पुत्र सहायक मेरे ॥[8]
सोदर सूर को देखत ही मुख। रावण के सिगरे पुरवै सुख ॥[9]

'सहोदर' शब्द का अर्थ है—'एक ही माता के उदर से उत्पन्न संतान।'[10]

---

१. संजीवनी टीका, पृ० ६३०
२. मानस, पृ० ८८५
३. मा० पी०, लंका०, पादटिप्पणी, पृ० ३०८
४. वही, पृ० ३०८
५. वाल्मीकि० १०१।१४
६. मानस ६।३६।२
७. वही, १।२०७।१०
८. सत्रहवाँ प्रकाश, पृ० ३११
९. वही, पृ० ३१२
१०. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६६७

इस विषय में वेदान्तभूषण जी का तर्क अत्यन्त संगत प्रतीत होता है—'सहोदर भ्राता का प्रश्न उठाकर जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाये जाते हैं। श्रीराम जी यह नहीं कहते कि 'तुम मेरे सहोदर भ्राता हो', या 'हे सहोदर भ्राता' प्रत्युत वे कहते हैं—'सो अपलोक सोक सुत तोरा।' इसमें स्पष्ट रूप से वे 'सुत' सम्बोधन कर रहे हैं। तो क्या श्री लक्ष्मण जी श्रीराम जी के पुत्र थे ? वस्तुतः उस पूरे प्रसंग पर विचार करने से यही निश्चित होता है कि यह सब विलाप-प्रलाप नर-गति है।

'मर्यादा-पुरुषोत्तम का वचन है—'मृषा न कहउँ मोर यह बाना', तब वे असत्य कैसे कहेंगे ? ऐसा तर्क लोग करते हैं, पर वे यह नहीं विचारते कि मर्यादा-पुरुषोत्तमता है क्या चीज ? सृष्ट्यारंभ-काल से जगत् के लिए लोक-वेद के अनुसार बँधे नियम का नाम मर्यादा है। उन सामयिक नियमों के ठीक-ठीक पालन करने का नाम मर्यादा-पुरुषोत्तमता है। अनेक नियमों में एक यह भी प्रख्यात नियम है कि 'विषादे विस्मये कोपे हासे दैन्यमेव च। गोब्राह्मण रक्षायां वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे। स्त्रीषु नर्कविवाहेषु नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥'
(धर्मविवेक माला)

विषाद की दशा में मनुष्य मूर्छित तो कम होते हैं, परन्तु विक्षिप्तप्राय हो जाते हैं और उस दशा में जब कि आधा ही होश-हवास (चेतनता) रहता है—'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्।' (वे० द० ३।२।१०) उस शोकाभिभूत मुग्धा (परीक्षिप्ता) अवस्था में, अर्ध-चेतनावस्था में, मुँह से निकला हुआ मिथ्या दोष वह नहीं माना जाता। अतः वह प्रमाणीभूत नहीं। इसलिए यहाँ विषाद-जन्य मुग्धावस्था में, श्रीराम ने 'सहोदर-सुत, एक कुमार, सौंपेसि, तेहि, उठहु, सुनहु' आदि बोल कर मानुषी मर्यादा का पालन करते हुए मर्यादा-पुरुषोत्तमता ही को चरितार्थ किया है।[1]

विनायक राव जी कहते हैं कि—'कैसा भी समझदार प्राणी क्यों न हो, बिछोह या भारी दुःख के समय उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता और वह ऐसी बातचीत करने लगता है कि जो साधारण मनुष्य भी न करे। श्रीरामचन्द्र नर-नाट्य कर रहे थे, सो यथार्थ में उनके ऐसे वचन प्राणियों की विकलता की दशा को दर्शाने वाले हैं……अंत में लिखा है—'प्रभु प्रलाप सुनि कान, भये विकल वानर निकर' से स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मण के विषय में जो शोकसंयुक्त वचन कहे गये थे, वे सब प्रलाप ही थे। अमरकोश में—'प्रलापोऽनर्थकं वचः', अर्थात् अनर्गल बकना यही 'प्रलाप' है।'[2] अतएव स्पष्ट है कि श्रीराम जी ने

१. मा० पी०, लंका०, पृ० ३०८
२. वि० टी०, पृ० १२३-२४

'सहोदर' नरलीला, व्याकुलता और प्रलाप की स्थिति में कहा है। उक्त अर्धालियों का अर्थ होगा -- 'पुत्र, धन, स्त्री, घर, परिवार संसार में बारंबार प्राप्त होते और नष्ट हो जाते हैं। पर हे तात् ! जगत् में सहोदर भ्राता (बारंबार) नहीं मिलते, ऐसा हृदय में विचार कर चैतन्य हो अचेतावस्था को त्याग दो, अर्थात् ऐसे उठ जाओ जैसे तुम सोये हुए थे। 'प्रकरण' अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत लगता है।

'निज जननी के एक कुमारा'

निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ॥[1]

यहाँ पर भी कुछ लोगों ने यह आरोप लगाया है कि लक्ष्मण जी अपनी माता के अकेले नहीं, अपितु दो पुत्र थे। फिर श्रीराम जी लक्ष्मण जी के प्रति यह क्यों कहते हैं कि 'तुम अपनी माता के एक ही पुत्र हो।' इसी आरोप से बचने के लिए टीकाकारों ने खींच-तान कर अर्थ किया है।

श्री रामचरणदास इसका अर्थ करते हैं कि—'हे तात ! निज कही हमारी माता जो श्री कौशल्या जी हैं तिनके हम एक कुमार हैं अरु तासु कही हमारे तुम प्राण के आधार हौ।'[2]

रायायण परिचर्याकार के अनुसार—'एक कुमारा जेठ पुत्र।' रामायण परिचर्या परिशिष्टकार के मत से—'एक मुख्य में वा दुइ ते वा एक वा निज जननी के हम एक कुमार। रामायण परिचर्या-परिशिष्ट प्रकाशकार के अनुसार 'एक पहिला दुइ दुसरा तासु निज जननी मोको तुम प्रान अधार।'[3]

संत सिंह पंजाबी के अनुसार—'निज जननी पद दोनों ओर लगावना प्रथम सुमित्रा पख्य अपनी वा तूँ एक कहिए श्रेष्ठ पुत्र था सो श्रेष्ठता बड़े कर अरु गुणों कर भी प्रमान बिस्वे। एकास्तुकेवले श्रेष्ठे। तिस सुमित्रा के प्राणहुँ का तूँ आधार था। कौशल्या के पख्य मों इस भाँति जिस माता का एक सुत होए तिसको अत्यंत प्रिय होता है। जो मैं माता का एक आत्मज हों, परन्तु तिसु माता को भी गुनहुँ कर तूँ प्राणहुँ से प्यारा था।'[4]

मानसमयंककार कहते हैं—

'यगन श्रेष्ठ एक जानिए मगन एक उद्योब।
दोउ दिशि प्राण अधार जल, रक्षण गहि दृढ़ होत ॥२०२॥

१. मानस ६।६१।१४
२. रामा०, पृ० १०५५
३. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० ४७
४. मा० भा०, पृ० ७०

अर्थात्, मूल में एक लिखा है, उसको श्रेष्ठ जानो, अर्थात् श्री रामचन्द्र जी कहते हैं कि मगन (सुमित्रा) के तुम (एक) श्रेष्ठ अर्थात् बड़े पुत्र हो। यद्यपि एक पुत्र और है परंतु तुम उसके प्राणाधार हो। पुनः मगन (कौशल्या) के हम एक ही पुत्र हैं तिस के प्राण के भी तुम आधार हो एवं इस प्रकार (दोउ दिशि) दोनों के प्राण-आधार तुम ही हो और तुम्हारे रक्षा-निमित्त तुमको मुझे सौंप दिया, अतः तुम्हारी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।'[1]

विनायक राव जी इसका अर्थ करते हैं कि—'प्यारे! अपनी माता का जो मैं अकेला पुत्र हूँ, उसके प्राणों के आधार तुम थे।'[2] श्री अवधबिहारीदास जी के मत से—'हे भाई! हमारी माता (कौशल्या जी) जिसको तुम एक कुमार प्राण के आधार हो।'[3] श्री रामदास गौड़ जी[4] और विजयानंद त्रिपाठी[5] ने 'एक' का अर्थ 'प्रधान या मुख्य' किया है।

मानसपीयूषकार 'एक' का 'प्रधान', 'अद्वितीय' अर्थ करते हुए कहते हैं कि—'सुमिता जी के दो पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न हैं। पर यहाँ प्रभु कहते हैं कि 'निज जननी के एक कुमारा'। यहाँ 'एक' का अर्थ 'प्रधान' है। माता सुमित्रा जी अपने को इन्हीं के जन्म से पुत्रवती और भाग्यवान मानती हैं— 'भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ।' अ० ७४ ॥ पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगति जासु सुत होई।' उन्होंने लक्ष्मण जी से यहाँ तक कहा है कि मैं तुम्हें अपना पुत्र तब जानूँगी जब तुम राम-सेवा में सरस निकलोगे। यथा गीतावल्याम्— सिय रघुबर सेवा सुचि होइहौ तब जानिहौं सही सुत मेरो।'

लक्ष्मण जी को मानो वे अपना एक मात्र पुत्र मानती थीं तभी तो 'सौमित्र' और 'सुमित्रानंदवर्द्धनः', ये दोनों शब्द केवल लक्ष्मण जी के लिए जहाँ-तहाँ प्रयुक्त हुए हैं। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, मानस आदि कई ग्रंथों में जहाँ-जहाँ वे शब्द आये हैं, वहाँ उनसे 'लक्ष्मण' का ही अर्थ लिया जाता है। यथा—'कथं वक्ष्याम्यहं त्वम्बां सुमित्रां पुत्रवत्सलाम्। उपलम्भं न रक्ष्यामि सोढुं दत्तं सुमित्रया ॥ (वाल्मीकि १०१।१५-१६), 'परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्। यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥' (वाल्मीकि ४८।७) ॥

---

१. मा० मं०, वार्तिककार इन्द्रदेवनारायण, पृ० ५४५
२. वि० टी०, पृ० १२५
३. मानस, पृ० ६३०
४. रामचरितमानस की भूमिका, पृ० ६६-१००
५. वि० टी०, तृ० भा०, पृ० २६३-६४

उपर्युक्त कारणों से 'एक कुमारा' कहा गया है। 'एक' शब्द के कई अर्थ हैं। उनमें से जो अर्थ यहाँ घटित हो, वही लेना चाहिए। यथा—'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते'—इतिदिनकरी।

यदि 'एक' का अर्थ 'एकलौता' संख्यावाचक 'एक' लें, तो इसको भी प्रलाप ही कहेंगे। पर 'एक' का अर्थ 'प्रधान', 'अद्वितीय' मानस में ही बहुत ठौर आया है। इसमें यह अर्थ भी यहाँ लिया जा सकता है और उसमें शंका की भी निवृत्ति हो जाती है। प्राचीन सभी टीकाकारों ने इसी अर्थ को प्रधानता दी है।'[1]

पं० नारायणप्रसाद मिश्र का यह कथन कि 'सुमित्रा जी का प्रेम लक्ष्मण पर जितना था, उतना शत्रुघ्न पर नहीं। इसी कारण श्रीराम जी ने लक्ष्मण जी के प्रति 'निज जननी के एक कुमारा' कहा।'[2] किंतु इस कथन से शत्रुघ्न जी की अवहेलना होती है, अतः यह बिल्कुल असंगत है।

श्री रामदास गौड़ जी ने चार कल्पों की कथाओं का अवलम्ब लेकर 'लक्ष्मण' जी को सुमित्रा जी का 'एकलौता' पुत्र प्रमाणित किया है। आनंद रामायणादि ग्रंथों से तो यह बात उपयुक्त है परन्तु तुलसी-साहित्य से यह बात प्रमाणित नहीं है। उदाहरणार्थ—

लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई ॥[3]

भेंटेउ बहुरि लखन लघु भाई।[4]

सुमित्रा जी जेठे पुत्र के घायल होने पर अपने दूसरे पुत्र को जाने की आज्ञा देती हैं—

'तात! जाहु कपि सँग' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।[5]

रामाज्ञा-प्रश्न से भी सुमित्रा जी के दो पुत्रों की सूचना मिलती है—

सुमिरि सुमित्रा नाम जग, जेतिय लेहिं सुनेम।
सुवन लखन रिपुदवनु से, पावहिं पतिपद प्रेम ॥[6]

---

१. मा० पी०, लंका०, पृ० ३१२
२. मा० पी०, पृ० ३१२
३. मानस २।१६२।३
४. वही २।१६४।२
५. गीता० ६।१३
६. रामाज्ञा० ७।३।४ और दोहा० २१३

यहाँ पर 'एक' का अर्थ 'एकलौता' ही है। अन्य अर्थ आरोपित हैं। श्रीराम जी ने 'निज जननी के एक कुमारा' भी खेदयुक्त प्रलाप-अवस्था में कहा है। रामेश्वर भट्ट जी ने ठीक ही कहा है—'एक ही पुत्र कहने का मुहाविरा लोक में प्रसिद्ध है। जिस प्रकार किसी के दो-चार पुत्र हों और उनमें से यदि सबसे अयोग्य पुत्र भी मरणोन्मुख हो जाय तो उसके शोकाकुल प्रेमी उसी की प्रशंसा करते हैं और यही कहते हैं : सब में यही एक तो था—गुण में, बल में, विद्या में, इसी प्रकार लक्ष्मण जी में मातृ-भक्ति तथा माता की प्रीति-पात्रता का अपूर्व गुण सूचित किया है।' अतएव उक्त अर्धाली का यहाँ वाच्यार्थ ही संगत है—'हे तात् ! तुम अपनी माता के एक ही पुत्र और उसके प्राणाधार हो।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'एक अर्धाली जिसके लगभग १७ लाख अर्थ किये गये हैं'

सब कर मत खगनायक कहा। करिअ रामपद पंकज नेहा ॥[1]

'तुलसी सूक्ति-सुधाकर' नामक भाष्य में श्री बाबूराम शुक्ल ने प्रस्तुत अर्धाली की पौने सत्तरह लाख से भी अधिक अर्थों की सृष्टि की है। कहते हैं कि इस भाष्य को लगभग ढाई वर्षों में तैयार किया गया है। सम्पूर्ण भाष्य को १६ कलाओं (प्रकरणों) में वर्गीकृत किया गया है। प्रत्येक कला में कई मरीचियाँ (उपप्रकरण) हैं। टीका के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में आठ-आठ कलाएँ हैं। पूर्वार्ध में विशेषतः 'सबकर मत खगनायक एहा' का अर्थ किया गया है और उत्तरार्ध में 'करिअ रामपद पंकज नेहा' का। उत्तरार्ध में पूरी अर्धाली के आधार पर भी मनोनुकूल अनेक अर्थों की सृष्टि की गयी है। टीका के पूर्वार्ध में २००० अर्थ हैं। उत्तरार्ध में कुल अर्थों की संख्या १६, ७३, १४६ है। उत्तरार्ध की मात्र नवीं कला में ही विभिन्न शब्दों के विविध अर्थों के द्वारा शुक्ल जी ने १,६५०० अर्थों का अंबार लगा दिया है। सम्पूर्ण टीका में ५२५ अर्थ विस्तृत हैं, शेष १६, ७४, ६२१ अर्थ संक्षेप में हैं।

यह टीका बहुशास्त्र-तत्त्वगर्भित, आध्यामिक तत्त्व की विवेचिका एक ऐसी टीका है जिसमें कल्पना की ही प्रधानता है। शुक्ल जी ने वैदिक, औपनिषदिक, दार्शनिक, पौराणिक एवं धर्मशास्त्रीय तत्त्वों की उद्भावना उक्त अर्धाली के भिन्न-भिन्न अर्थों में की है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार के नाम, निवास, मानस के रचनाकाल और अपना नाम, सहयोगियों के नाम, ग्रन्थ-रचना के

---

१. मानस ७।१२२।१३

सप्तमी कला—इसमें व्याख्येय अर्धाली के प्रथम चरण के अर्थों में सूर्य का मंगलाचरण, पुरुषार्थ, प्रारब्ध, प्रशंसा, ज्योतिष से प्रारब्ध ज्ञान, ईश्वर-कृपा से प्रारब्ध कर्मों का नाश, प्रारब्ध एवं पुरुषार्थ दोनों पक्षों की शक्ति का वर्णन, प्रारब्ध के नाश हेतु व्यासमुनि-कृत सूत्रों का प्रमाण एवं नास्तिक मत-खंडन आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

अष्टमी कला—इसमें उक्त अर्धाली के प्रथम चरण के अर्थों के द्वारा मंगलाचरण में षडानन'की प्रार्थना, गुणत्रय का वर्णन, अवस्था के कर्म, चतुः-आश्रम धर्म, 'र, म' की सूर्य-चन्द्रवत् स्थिति, भक्त के पितरों का सुख, राम में में अनन्यता, सर्वदर्शनों की एकमेव गति राम, सर्वदेव राम, अनन्य भक्ति, सूर्य-बिम्ब के सदृश घट-घट में राम की व्याप्ति, प्रश्नोत्तर से सत्संग, एक प्रश्न के आठ उत्तर, विभिन्न वर्णों में प्रश्नोत्तर, उसके अनेक प्रश्नों का उत्तर, स्त्रीधर्म-निरूपण, विधवाधर्म-निरूपण एवं सेवक के धर्म का प्रतिपादन किया गया है।

नवम कला—इसमें उक्त अर्धाली के दूसरे चरण में १,६५,००० अर्थों की सृष्टि की गयी है। दूसरे चरण के 'करिय' पद के पाँच अर्थ, 'करिय' एवं 'राम' के विभिन्न अर्थ, 'पद' शब्द के पाँच अर्थ, 'पंकज नेहा' के छह अर्थ, इन्हीं अक्षरों के उत्तम एवं सुगम ११ अर्थ किये गये हैं।

दशम कला—इसके अन्तर्गत अन्वय से भक्ति-वर्णन, 'हनुमत्' शब्द का उद्धार, भक्ति-स्वरूप, भक्ति के प्रकार, नवधा भक्ति के लक्षण, व्यतिरेक से भक्ति, भक्ति के अधिकारी, भक्तों की दशा, भक्ति का फल, अभक्तों की दुर्दशा, ब्रह्मभेद-निरूपण, निराकार निरूपण, साकार निरूपण, साकार-निराकार ब्रह्म के दो विरोधी रूपों की स्थिति का रहस्य, आनंदरूपाधिकारी सत्-चित् के लक्षण, वेदांतानुसार ब्रह्म-भेद, प्रथम विराट् का निरूपण, द्वितीय विराट्, तृतीय विराट्, चतुर्थ विराट् एवं हिरण्यगर्भ-निरूपण, ईश्वर-निरूपण, परमात्म-विभूति-निरूपण, अवतार के प्रकार, संक्षेप में दश अवतारों का वर्णन, दश अवतारों के नाम, बुद्ध की अवतारी स्थिति का रहस्य आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

एकादश कला—इसमें उक्त अर्धाली के २५ सौ अर्थों के प्रतिपादन के साथ सीताराम का मंगलाचरण है।

द्वादश कला—इसमें उक्त अर्धाली के वर्णों की सहायता से भक्तियुक्त नीति एवं साधारण नीतियों का प्रतिपादन किया गया है।

त्रयोदश कला—इसमें धन की उत्तम गति (दान) को भक्ति का प्रधान धर्म बताया गया है और कोटि की महत्ता का वर्णन है।

चतुर्दश कला—इसके अन्तर्गत वेद के सातों अंगों— छंद, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त एवं ज्योतिष का निरूपण उक्त अर्धाली के विविध अर्थों के द्वारा किया गया है। उपनिषद् के तत्त्वों का भी प्रतिपादन किया गया है।

पंचदश कला—इसमें उपवेदों का वर्णन प्रधान रूप में है। व्याख्येय अर्धाली के विविध अर्थों द्वारा तीन मंगलाचरण देव एवं नव ग्रहों के लिए किये गये हैं एवं वैद्यक, धनुर्विद्या, वास्तुकला के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है।

षोडश कला—इसके अन्तर्गत उपर्युक्त अर्धाली के विभिन्न अर्थों की सहायता से लक्ष्मण जी का मंगलाचरण, तुलसीदास के नाम, राजापुर, व्याख्येय अर्धाली का जन्म-संवत्, भाष्यकार का नाम, कुल, भाष्यकार के गुरु का नाम, भाष्य-रचना का संवत्, दो सहयोगियों, अन्तिम मंगल एवं ग्रन्थ के आशीर्वाद आदि विषयों का उल्लेख किया गया है।

टीका में प्रयुक्त अर्थव्यंजना की प्रणालियाँ—तुलसी-सूक्ति-सुधाकर के भाष्यकार ने अपने लक्षाधिक अर्थों की सृष्टि हेतु निम्न तीन पद्धतियों को अपनाया है[१]—

(१) **अर्धाली के विशिष्ट पदों का अर्थ**—टीकाकार ने अर्धाली के प्रथम चरण के 'सब कर मत' इन तीनों पदों के अर्थ द्वारा उसने उपनिषदों के प्रामाणिक महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

मूल—सब कर मत

अर्थ—'मत (देहाभिमान को छोड़कर) सब (उस परमात्मा के सम (अपने को) कर।'

भाव—'मैं हूँ' ऐसा देह में अहंकार छोड़ 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों को समझ—

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप शिखा सोइ परम प्रचंडा।।

भक्त (मुझ से) (शुद्ध संस्कृत शब्द) स—वह या ईश्वर व समान। कोष्ठकों में लिखे सब अर्थ सप्रमाण 'सुधाकर सोपान कोश' में मिलेंगे।

मत्वात् मत्वं विहायेत्यर्थः ल्यल्लोपे पंचमी।
भाव प्रधानोनिदेशः।।

प्रश्न—किस प्रकार से? उत्तर—दृष्टांत उन्हीं अक्षरों में है।

उपर्युक्त अर्थ में टीकाकार ने केवल अर्धाली के प्रथम चरण 'सब, कर एवं मत' के द्वारा मनोनुकूल अर्थसृष्टि के हेतु उनका स्थान-परिवर्तन करके उनके

१. तुलसी-सूक्ति-सुधाकर भाष्य, प्र० सं०, पृ० ६१

अर्थ अपनी मान्यताओं के आधार पर ही किये हैं। 'मत' शब्द का अर्थ पंचमी विभक्ति संस्कृत पद के रूप में लेकर 'मुझसे' अर्थ किया है। 'स' को संस्कृत की प्रथम विभक्ति 'सः' मानकर (वह) परमात्मा अर्थ किया है। 'ब' का अर्थ समान किया है। (दे० सुधाकर सोपान कोश, पृ० ४८)। यहाँ स्पष्ट है कि टीकाकार ने न केवल खींचतान करके अर्थ किया है, वरन् उन शब्दों को तोड़कर 'वर्ण-वर्ण' का अलग-अलग अर्थ करके असंगत और कृत्रिम अर्थ किये हैं।

(२) **अर्धाली के सम्पूर्ण पदों की व्याख्या-पद्धति**—अर्धाली के सम्पूर्ण पदों की सहायता से किये गये अर्थ टीका के उत्तरार्ध की दसवीं कला से सोलहवीं कला तक अधिक मात्रा में मिलेंगे। उदाहरणार्थ—

मूल—सब कर मत खग नायक एहा। करिय राम पद पंकज नेहा॥

अर्थ—'(४२) सब (समस्त) क (काया में) रमत (रमते हुए) खग (देवों के) नायक एहा (स्वामी यह राम है)।

भाव—विषय करण सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवध पति सोई॥

(कोष्ठकों में लिखे सब अर्थ सप्रमाण कोश में—शंकाओं के उत्तर प्रस्तावना में हैं।[1])

उक्त अर्थ से स्पष्ट है कि टीकाकार ने सभी पदों की सहायता से राम के सर्वव्यापकत्व रूप को प्रतिपादित करने के हेतु अर्धाली के नवीन पदों का निर्माण करते हुए एवं अक्षरों को तोड़कर चामत्कारिक पद्धति का अवलम्ब लिया है। साथ ही उदाहरण भी मानस से राम के सर्वव्यापकत्व को व्यक्त करने वाली अर्धाली को दिया है।

(३) **सांकेतिक प्रणाली**—इसके अन्तर्गत 'मानस' के विभिन्न पदों के कई शाब्दिक अर्थ बनाकर परस्पर उन शाब्दिक अर्थों की सहायता से पूर्ववर्ती सभी अर्थों के साथ संबद्ध करते हुए अनेक नये अर्थों की सृष्टि की गयी है।

टीका की ९वीं कला में १,६५,००० अर्थों की निष्पत्ति सांकेतिक पद्धति के अनुसार ही हुई है। उसी कला की प्रथम मरीचि में उक्त अर्धाली के मात्र 'करिय' पद से दस हज़ार अर्थों का सृजन किया गया है।

ग्रंथ के पूर्वार्ध के २ सहस्र अर्थों में 'करिय' शब्द का वाच्यार्थ 'करिये' (कीजिए) माना गया है। 'सुधाकर सोपान कोश' में इसके अन्य अर्थ—(१)

---

१. तुलसी-सूक्ति-सुधाकर भाष्य, प्र० सं०, पृ० १७७

करने वाला, (२) पतवार, (३) करि (हाथी) के पास (ग्राह से रक्षा करने के लिए) जाना तथा 'र' और 'ल' की सवर्णता से करि कलि। य यह। तो ४ कलिकाल में यह। ये अर्थ भी करने से २ सहस्र के १० सहस्र अर्थ बनेंगे।[1]

यहाँ पर टीकाकार ने 'करिय' शब्द के ४ अर्थ किये हैं और चारों अर्थों की टीका की आठ कलाओं में इस अर्धाली के लिए २ हज़ार अर्थों के साथ 'करिय' शब्द। इन चार अर्थों के संयोग से ८००० नये अर्थों की संभावना अभिव्यक्त की है। इस प्रकार टीका के पूर्वार्ध के २००० एवं ८००० ये नये अर्थ मिलकर १० सहस्र अर्थ हो गये। इस कला की द्वितीय मरीचि में 'करिय' एवं 'राम' पदों के विभिन्न अर्थ किये गये हैं और उन सभी का संयोग इन १०० अर्थों के साथ करके ४०० अर्थों का निर्माण किया है। पुनः आगे की अर्धाली के शेष पदों के विभिन्न अर्थ करते हुए इसी प्रकार सहस्रों से लाखों की संभावना व्यक्त की है। इसी प्रकार संभावित अर्थों के द्वारा ही टीकाकार ने उक्त एक अर्धाली के १६, ७५, १४६ अर्थों की सृष्टि की है। उक्त अर्धाली के सभी अर्थ केवल २०८ पृष्ठों की लघु आकार वाली पुस्तक में हैं जिसमें ७६ पृष्ठ प्रस्तावना के ही हैं। इस प्रकार टीकाकार ने सांकेतिक प्रणाली से ही अधिकांश अर्थ किये हैं।

टीकाकार का कथन है कि तुलसीदास ने संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। अतएव मैंने भी इस अर्धाली के पदों में संस्कृत शब्दों की ही अत्यधिक विद्यमानता मानकर उसके अनेक अर्थ किये हैं। अनेक अर्थ करने के लिए टीकाकार ने ज्योतिष के अनुसार वस्तुओं के संख्यावाची अर्थों एवं अक्षरों से संख्याबोध की पद्धति का सहारा लिया है। टीकाकार का कथन है कि भाषा के कवि श, ष, स, ज, न सदृश अक्षरों में परस्पर कोई अन्तर नहीं मानते हैं। अतएव मैंने भी उक्त अर्धाली की व्याख्या करते समय यथावश्यक इन समान अक्षरों का प्रयोग अर्धाली के शब्द-विशेष में करके उनसे अभीष्ट अर्थ निकाले हैं। कहीं-कहीं पर टीकाकार ने उक्त व्याख्येय अर्धाली के पदों के अर्थ उन्हें अरबी-फ़ारसी शब्द मानकर किये हैं। इस प्रकार के अर्थ के उदाहरण सबका, करम एवं जन शब्दों के अर्थ के रूप में देखे जा सकते हैं। टीकाकार का कहना है कि चूँकि ग्रंथकार ने अपने 'मानस' में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया है, इसलिए मैंने भी उक्त पद्धति से अर्धाली के अर्थ किये हैं। भाषा में विभक्तियों एवं विराम चिह्नों का प्रयोग नहीं होता है, अतएव टीकाकार ने उन्हें मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़कर उनसे

१. तुलसी-सूक्ति-सुधाकर भाष्य, प्र० सं०, पृ० १५६

मनोनुकूल अर्थ निकाले हैं। टीकाकार ने यत्र-तत्र वैदिक कोश निघंटु आदि के अवलम्ब से भी उक्त अर्धाली के पदों के अर्थ किये हैं। यद्यपि भाषाकाव्य में वैदिक कोशों का व्यवहार अनुचित ही कहा जायगा, तब भी टीकाकार ने अनेकार्थ पद्धति का अवलम्ब लेकर अनेक अर्थ किये हैं।

उक्त अर्धाली के अर्थ करने में टीकाकार ने अर्धाली के २५ अक्षरों का मनोनुकूल संयोजन करके अनेक अर्थों की सृष्टि की है। अर्थ करने में टीकाकार ने क्लिष्ट कल्पना करके, शब्द एवं वर्णों का विपर्यय करके और उनको तोड़-मरोड़ करके लक्षाधिक अर्थों का प्रतिपादन किया है। मनोनुकूल अर्थ निकालने के लिए उक्त अर्धाली के २५ अक्षरों को मनमाने ढंग से संयोजित करके नवीन पदों का सृजन किया है। उन्हीं नवीन पदों का 'तुलसी-सूक्ति-सुधाकर' नाम का एक कोश भी उसने उक्त टीका में दिया है। इसमें उसने प्रथमतः अर्धाली के प्रत्येक अक्षर का अर्थ एकाक्षर कोश की सहायता से किया है। पुनः क्रमशः उसने अर्धाली के दो-दो, तीन-तीन, चार-चार, छह-छह एवं सात-सात अक्षरों के संयोग से विभिन्न पदों की रचना करके उनका अनेक अभीष्ट अर्थ दिया है। उक्त कोश 'प्रस्तावना' के अन्तर्गत है।[1]

उक्त अर्धाली का जो अर्थ बाबूराम शुक्ल जी ने किया है, वह व्यास-शैलीपरक या पंडिताऊ, पूर्णरूपेण अनुपयोगी, अग्राह्य, चमत्कारपूर्ण और आरोपित है। यही कारण है कि शुक्ल जी के वर्ण-विच्छेद-चातुरीयुक्त अर्थों की संख्या को सुनकर लोग आश्चर्यित तो अवश्य होते हैं, किन्तु उन अर्थों को सुनकर निराश भी कम नहीं होते। ऐसे अर्थों से अनेकार्थ पद्धति के अनुरागी मानस-पाठकों का चित्तानुरंजन भले ही हो जाय, किन्तु सुविज्ञ साहित्यज्ञ एवं मानस-मर्मज्ञ ऐसे असमीचीन अर्थों को कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। लेखक ने रामचरितमानस के लगभग सभी पक्षों को अपनी विचित्र अर्थ-प्रक्रिया में समाहित कर लिया है और इसकी इतनी इति कर दी गयी है कि लगता है कि तुलसी को केवल यही चौपाई लिखनी चाहिए थी। उन्होंने शेष ग्रंथ की रचना व्यर्थ की। आश्चर्य उन प्रशंसकों पर होता है जिन्होंने ऐसे अनर्गल और विवेकहीन अर्थजाल की सराहना करने में कोई संकोच नहीं किया तथा इस प्रकार अर्थ और अनर्थ का भेद मिटा दिया।

उक्त अर्धाली की महत्ता निम्नलिखित अर्थ में ही है—'हे पक्षिराज ! उन सबका मत यही है कि श्रीराम-पदकमल में प्रेम करना चाहिए।'

१. द्रष्टव्य, डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे, रामचरितमानस का टीका-साहित्य, पृ० २४१-५०

'सत पंच'

सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे।
दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्री रघुबर हरे ॥[1]

'सत पंच' के अर्थ में लोगों ने अनेकानेक विचित्र कल्पनाएँ की हैं।

कतिपय टीकाकारों के अनुसार गोस्वामी जी ने 'सत पंच' से मानस की समस्त चौपाइयों की संख्या निर्दिष्ट कर दी है। उनके अनुसार 'सत' का '१००' और 'पंच' का '५' अर्थ है। 'अंकानां वामतो गतिः' नियम के अनुसार इसका अर्थ है—५१००। अर्थात्, रामचरितमानस में आदि से अन्त तक कुल ५१०० चौपाइयाँ हैं। श्रीरामचरणदास जी ने 'सत पंच' का अर्थ '५१०० छन्द' और 'अच्छे पंच' दो अर्थ किये हैं।[2] मानसमयंककार के अनुसार—

'एकावन सत सिद्ध है, चौपाई तहँ चारु।
छन्द सोरठा दोहरा, दस ऋत दस हज्जारु ॥

अर्थात्, इस रामचरितमानस में एकावन सौ चौपाई का होना सिद्ध है और छन्द, सोरठा, दोहरा सब मिलकर दस कम दस हज़ार अर्थात् ९९९० (नौ हज़ार नौ सौ नब्बे) श्लोक हैं।[3] रामनरेश त्रिपाठी जी[4] और रामश्याम जी[5] ने भी ५१०० चौपाई अर्थ किया है। श्री रामदास गौड़ जी कहते हैं कि 'हमने हाल के छपे सभा वाले संस्करण से गिनती करायी तो उपर्युक्त संस्करण के पाठान्तरों के मिलने से और कुछ ही घटाने-बढ़ाने से ५१०३ संख्या की उपलब्धि हुई। हमें विश्वास है कि हमारी गिनने की पद्धति ठीक है। 'सत पंच' का अर्थ अवश्य ही '५१००' है। तीन की अधिक संख्या सहज ही कहीं भूल हो सकती है। पूरी पोथी भी गोस्वामी जी की ही लिखी उपलब्ध होती तो इस शंका का निवारण हो जाता। हमारी निश्चित धारणा है कि कवि ने यहाँ चौपाइयों की संख्या ही बतायी है।[6]

विनायक राव ने 'सत पंच' का अर्थ '५००' माना है।[7] पंजाबी जी ने भी '५००' अर्थ किया है। उनके अनुसार—'मनोहर का भाव भगवद्यशमिश्रित

१. मानस ७।१३।छंद १५-१६
२. रामा०, पृ० ३६९
३. मा० मं०, वार्तिककार श्री इन्द्रदेवनारायण, पृ० ७२४
४. मानस, पृ० १२४०
५. रामा०, उत्तर०, पृ० १११
६. श्रीरामचरितमानस की भूमिका, पृ० १२०-२१
७. रामा० वि० टी०; पृ० ३२८

तो परम सुंदर मैंने बनायी है। कलि-वर्णन, रावण-दिग्विजय, गंगा, नारद का आगमन, विराध-युद्ध, कपि-संख्या इत्यादि कथाएँ क्षेपक मानकर इस ग्रंथ में (से) उनको अलग कर दिया है। इसी तरह और भी क्षेपक होंगे। इस प्रकार पंजाबी जी कहते हैं कि गोस्वामी जी ने भगवत के यश से मिश्रित पाँच सौ चौपाई बनाई है। अथवा, सतपंच=द्वादश इत्यादि।[1] शुकदेवलाल जी के मत से ५०० परम मनोहर चौपाइयों को अर्थात् १७५ राम-जन्म से लेकर सीता-स्वयंवर तक बालकांड की और ३२५ अयोध्या कांड की समस्त जो विस्तार से वर्णन है।[2]

श्री विजयानंद त्रिपाठी जी[3] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक[4] ने 'सत पंच' का अर्थ '१०५' किया है। उनके अनुसार—'१०५ चौपाइयाँ 'जे असि भगति जानि परिहरहीं' (११५।१) से प्रारंभ होकर 'राम भजे गति केहि नहि पाई' (१३०-७) तक है। उनके मत से फलश्रुति के प्रसंग की चौपाइयाँ भक्ति-ज्ञान के विवेचन में समग्रत: १०५ हुईं, इसलिए इसका यही अर्थ करना चाहिए।' कुछ लोगों ने इसका अर्थ '७५' मान करके और मानस से मनोनुकूल इतनी ही चौपाइयाँ निकाल कर एकत्र कर दीं।

कतिपय टीकाकारों ने 'सत पंच' का अर्थ संख्या के संकेतित करने की उल्टी पद्धति के आधार पर '५७' अर्थ किया है। इस प्रकार मानस से अभीष्ट ५७ चौपाइयाँ खोज निकालीं।

किसी ने ७ और ५ का गुणन करके इसका अर्थ ३५ किया है और उत्तर कांड में भुशुण्डि द्वारा कही हुई ३५ चौपाइयों से इसका अर्थ करते हैं। ये अर्धालियाँ 'कहइ लाग रघुपति गुनगाहा' से 'सुनि सब रामकथा खगनाहा' तक हैं।

बाबा हरिदास जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—(१) सतपञ्च= सात पाँच, यह लोकोक्ति है, बोलचाल है। सात कहकर पाँच कहने का भाव कि अविद्या के सप्तावरण हैं सो सात चौपाइयों से सातों आवरण टूट जायेंगे, फिर पंच चौपाई से पञ्च विकार रघुनाथ जी हरेंगे। पुनः,

(२) ७+५=१२। १२ ही राशि पर सारा जहान और सारे जीव हैं,

---

१. मा० भा०, उत्तर०, पृ० १५३
२. रामा०, पृ० ८६
३. वि० टी०, तृ० भा०, पृ० २५०
४. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० १०२६

अत: १२ ही से सबको मंगलकारी होंगे। १२ मास का वर्ष होता है, एक-एक मास से पातक हटने को एक-ही-एक भी पर्याप्त है। इत्यादि।[१]

स्वामी प्रज्ञानंद जी अनुसार—'यहाँ 'सत पंच' का अर्थ १२ चौपाइयाँ (द्विपदियाँ) हैं। बालकांड दोहा १९९ की १२ चौपाइयाँ 'काम कोटि छबि श्याम सरीरा' से लेकर 'सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा' तक हैं।[२]

महादेवदत्त जी[३], महावीरप्रसाद जी मालवीय[४] और अवधबिहारीदास[५] 'सत पंच' का अर्थ 'अच्छे पंच' किया है।

इसी प्रकार 'सत पंच' के इतने अर्थ किये गये हैं—

'५१००, ५००, १०५, ७५, ५७, ३५, १२ और अच्छे पंच'। 'सत पंच' का अर्थ '५१००' उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मानस में '५१००' चौपाइयाँ नहीं मिलतीं। रामचरितमानस के विद्वान् संपादक पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का कथन है कि 'मानस की किसी भी शाखा में ५१०० चौपाइयाँ न होने से यह कल्पना अभिप्रेत नहीं जान पड़ती।'[६] इसका '३५' अर्थ भी तर्कपूर्ण नहीं प्रतीत होता। इस विषय में स्वर्गीय गौड़ जी ने उचित ही कहा है—'भुशुण्डि जी ने जो संक्षिप्त कथा कही है, वह पैंतीस अर्धालियों में है। कहने वाले यह समझते हैं कि गोस्वामी जी का इशारा इसी संक्षिप्त कथा की ओर है। परंतु इस विषय में दोष यह है कि यह अंश इस छंद से बहुत दूर पड़ गया है। यदि उसका माहात्म्य कहना था, तो वहीं कह देते। यहाँ उसका कोई प्रसंग नहीं है। इस लिए '३५' अर्थ करना ठीक नहीं।[७] फिर ५००, १०५, ७५, ५७ और १२ चौपाइयाँ मनोहर हैं, इससे तो यही ध्वनित होता है कि शेष चौपाइयाँ मनोहर नहीं हैं। किन्तु गोस्वामी जी ने तो 'राम-वन-गमन' को भी सुंदर कहा है—'कहेउ राम बन गवनु सुहावा।'[८] अत: यह कहना कि अमुक चौपाइयाँ ही मनोहर हैं, असंगत है।

---

१. मा० पी०, उत्तर०, पृ० ७२७-२८

२. मा० पी०, पृ० ७३४

३. वही, पृ० ७२७

४. वही, पृ० ७२८

५. मानस, पृ० ११६७-६८

६. गोसाइँ तुलसीदास, पृ० २२९-३०

७. मा० पी०, उत्तर०, पृ० १३०

८. मानस २।१४१।४

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस संबंध में पष्ठानुसंधान की प्रक्रिया से एक अद्भुत् समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि 'सत पंच' चौपाई के अनेक अर्थ संभव हैं जिनमें से ३ संख्यावाची अर्थ रामचरितमानस के रचनाक्रम के विकास में प्रथम, द्वितीय, तृतीय पांडुलिपियों की चौपाइयों की संख्या के द्योतक हैं और कवि ने इसी लिए तीनों पांडुलिपियों में 'सत पंच' वाली पंक्ति को ज्यों-का-त्यों रहने दिया।[1] इस धारणा की असंगति इस बात से स्वयं प्रकट हो जाती है कि तीनों पांडुलिपियों की छंद-संख्या क्रमशः 'सत पंच' के विभिन्न अर्थों से जुड़ती चली गयी, मानो कवि ने इसे श्लेषार्थ में प्रयुक्त किया हो या उसके विभिन्न अर्थों के अनुरूप ही परिवर्तन किया है। ऐसा रचनाक्रम में किसी प्रकार स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। अतः इसे भी आरोपित अर्थ-परिकल्पना कहना होगा।

'सत पंच' का अर्थ 'सच्चे या अच्छे पंच' भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि 'चौपाई' शब्द तो स्त्रीलिंग है और 'पंच' पुल्लिग शब्द है। इसलिए चौपाइयों को 'अच्छे पंच' कहना अनुचित है। यहाँ स्वर्गीय गौड़ जी का कथन तर्कपूर्ण प्रतीत होता है—'यह भाव बड़ा अच्छा है परन्तु खेद है कि पंच का रूपक चौपाइयों के साथ सुसंगत नहीं बैठता। एक तो यहाँ पंचायत का कोई प्रसंग नहीं है। दूसरे चौपाई शब्द स्त्रीलिंग है और पंच शब्द पुंलिग है। चौपाई का उल्लेख बाल कांड में कवि ने इस प्रकार किया है—

पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगति मंजुमनि सीप सुहाई॥

गोस्वामी जी सरीखे उद्भट विद्वान् और चतुर कलाकार कवि चौपाई को 'पुरइनि' की उपमा देकर अंत में स्त्रीलिंग उपमेय के लिए पुंलिग उपमान रख नहीं सकते; और सो भी इतने बड़े महाकाव्य की रचना करके जिसमें कि ऐसी भूल कहीं नहीं हुई है, यहाँ आकर करें और 'पतत प्रकर्ष' के दोषी हों—यह बात कोई टीकाकार स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए 'सच्चे पंच' वाला अर्थ कदापि ग्राह्य नहीं है।'[2]

गोस्वामी जी का यहाँ 'सत पंच' कथन माहात्म्यवत् प्रतीत होता है।

---

१. द्रष्टव्य, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६, अंक ४, डॉ० माताप्रसाद गुप्त का लेख तथा उनका तुलसीदास नामक शोध-ग्रन्थ।

२. मा० पी०, उत्तर०, पृ० ७३० और श्रीरामचरितमानस की भूमिका, पृ० १२०-२१

सामान्यतया यदि 'सत' का अर्थ 'सौ' लिया जाय, तो 'सत पंच' का लाक्षणिक अर्थ होगा—थोड़ी-बहुत, क्योंकि 'सत' बहुत्व का बोधक है तो 'पंच' अल्पत्व का। सात-पाँच एक प्रसिद्ध मुहावरा भी है, जैसा कि लोग कहते हैं कि—

'सात पाँच की लाकरी एक जने का बोझ।'

भक्तिकाव्य में माहात्म्यपरक ऐसे कथनों की पूरी परम्परा मिलती है, वाल्मीकि रामायण, गीता भागवत और अध्यात्म रामायण इसके प्रमाण हैं। भागवतकार ने कहा है कि—इसका एक श्लोक, आधा श्लोक या चौथाई ही श्लोक पाठ कर लेने से परम गति की प्राप्ति हो सकती है—

श्लोकार्धं श्लोक पादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्।
पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम्॥[1]

'गीता माहात्म्य' में तो 'सप्त पंच' अर्थात् 'सत पंच' पद ही स्पष्ट लिखा है—

गीतायाः श्लोक दशकं सप्त पंच चतुष्टयम्।
द्वित्रिएक हृदये वा श्लोकानां यः पठेन्नरः।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतायुतम्॥

'वाल्मीकि माहात्म्य' में लिखा है कि इसका एक-एक अक्षर अनेक पातकों का हरण करने वाला है—

चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।[2]

अध्यात्मकार लिखते हैं कि जो पुरुष इसका एक पद (चौथाई श्लोक) भी पढ़ता है, वह अपने हज़ारों जन्मों के पापों से मुक्त हो जाता है। नित्यप्रति अनेक पाप करने वाला पुरुष यदि भक्तिपूर्वक इसका एक श्लोक भी पढ़े, तो सम्पूर्ण पापराशि से छूटकर श्रीराम के सालोक्य पद को प्राप्त हो जाता है जो दूसरों के लिए अलभ्य है—

यः पादमप्यत्र पठेत्सपापाद्विमुच्यते जन्म सहस्र जातात्॥
दिने दिने पाप चयं प्रकुर्वन्पठेन्नरः श्लोकमपीह भक्त्या।
विमुक्त सर्वाघ चयः प्रयाति रामेति सालोक्यमनन्य लभ्यम्॥[3]

१. भागवत माहात्म्य ३।३३
२. दे० वाल्मीकि माहात्म्य
३. अध्यात्म रामायण, उत्तरकांड, सर्ग ६, श्लोक ६८-६९

यहाँ एक प्रश्न अवश्य उठता है कि 'सत पंच' का यदि ऐसा ही अर्थ कवि को अभीष्ट था तो वह उसके स्थान पर 'दस पाँच' शब्द का बहुत सहजता से प्रयोग कर सकता था। यथा—'दस पाँच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे'। न तो इससे छंद में कोई विकार आता, न भाषा में विसंगति होती। 'दस पाँच' का प्रयोग इस तरह के अर्थ में मानस में अन्यत्र कर भी चुके हैं। यथा—'मिलि दस पाँच राम पहिं जाहीं ॥'[1]

अतएव 'सत पंच' का प्रयोग नितान्त सामान्य न होकर कुछ विशिष्ट पारिभाषिक तथा अर्थगर्भित भी लगता है—ऐसा सोचना ,निराधार नहीं कहा जा सकता। संभव है, वह मूलाधार अभी ज्ञात ही न हो जिससे प्रेरित होकर तुलसी ने 'सत पंच' शब्द का प्रयोग किया है।

गोस्वामी जी ने दूसरी पंक्ति में ऐसे ही माहात्म्यपरक बात कही है। यथा—'दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे।' अतएव उक्त दोनों पंक्तियों का अर्थ होगा—

'(मुझे विश्वास है कि) जो मनुष्य मनोहर समझकर थोड़ी-सी (सत पंच) चौपाइयाँ भी हृदय में धारण करेंगे, उनके दारुण पंच अविद्याजनित विकारों को श्री रघुनाथ जी दूर कर देंगे।'

विशेष अर्थ में 'सत पंच' को संदर्भगर्भित और गूढ़ार्थपरक मानना भी पूर्णतः निराधार नहीं कहा जा सकता, यद्यपि इसके असंगत आरोपित अर्थों का पक्ष लेना सर्वथा संभव नहीं है।

श्री स्वामी रामबल्लभशरण जी[2], रामायण परिचर्याकार, रामायण परिचर्या परिशिष्टकार, रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाशकार[3] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र[4] जी ने उक्त माहात्म्यपरक अर्थ ही स्वीकार किया है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'जयमाल'

जयमाल जानकी जलज कर लई है।[5]

---

१. मानस २।२४।१

२. मा० पी०, उत्तर०, पृ० ७२८

३. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १३५

४. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २२६-३०

५. गीता० १।६४

हरिहरप्रसाद जी[1] और बैजनाथ जी[2] ने रघुवंश के ६।२५ के आधार पर लिखा है कि जयमाल महुआ के फूल और दूब से निर्मित हुई थी। ठाकुर बिहारीलाल ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।[3] 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक ने कवितावली की निम्न पंक्ति के 'जयमाल' का यही अर्थ किया है[4]—'लीन्हे जयमाल कर-कंज सोहैं जानकी के।' किन्तु यहाँ जयमाल का अर्थ—'महुआ और दूब की बनी माला' करना आरोपित अर्थ है। उक्त व्याख्येय पंक्ति की निम्न पंक्ति के 'मरालपाँति' से यह सूचित होता है कि सीता जी ने श्वेत कमलों की माला पहनाई थी—

'मानस तें निकसि बिसाल सु तमाल पर
मानहुँ मरालपाँति बैठी बनि गई है।[5]

क्योंकि हंस श्वेत होते हैं। श्रीमद्भागवत, स्कंध ८, अध्याय ८ के अनुसार जब श्री लक्ष्मी जी क्षीरसमुद्र से निकली थीं, उस समय उनके हाथों में श्वेत कमलों की माला थी। 'जानकी मंगल' से स्पष्ट होता है कि जयमाला कमल के पुष्पों की थी—

लसत ललित कर कमलमाल पहिरावत।
कामफंद जनु चंदहि बनज फँदावत॥[6]

मानस की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट तो नहीं, किन्तु दीपदेहली न्याय से सरोज 'कर' और 'जयमाल' दोनों का विशेषण है—

कर सरोज जयमाल सुहाई।[7]

इसी तरह इस पंक्ति में भी 'सरोज' 'सोह पानि' और 'जयमाल' दोनों के साथ है—

पानि सरोज सोह जयमाला।[8]

केशवदास जी ने भी लिखा है कि सीता जी ने कमलों की माला पहनाई—

सीताजू रघुनाथ को, अमल कमल की माल।
पहिराई जनु सबन की, हृदयावलि भूपाल॥[9]

---

१. गीता०, बाल०, पृ० १०५
२. ,, ,, पृ० १८७-८८
३. गीता० रामा०, पृ० १११-१२
४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० १६४
५. गीता० १।६४
६. जा० मं० १२२
७. मानस १।२६४।२
८. वही, १।२४८।६
९. श्रीरामचन्द्रिका, पाँचवाँ प्रकाश, ४६

महुआ न तो सुगंधि के लिए प्रसिद्ध है और जिस शरद् ऋतु के कार्तिक मास में सीता जी ने जयमाला पहनाई थी, वह समय महुए के फूलने का भी नहीं है। अतः यहाँ पर 'जयमाला' को महुए की माला' कहना तर्कसंगत नहीं है। 'औचित्य' नामक अर्थनिश्चय के साधन से निश्चित होता है कि 'जयमाला' कमल पुष्पों से ही बनी थी। अतएव उक्त व्याख्यातव्य पंक्ति का अर्थ होगा—'श्री जानकी जी ने अपने कर-कमलों में जयमाला (कमल की माला) ली है।' प्रायः अन्य सभी टीकाकारों ने ऐसा ही अर्थ किया है।

६

कूटोन्मुखी शब्द एवं कूट प्रयोगों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

'कूट' (√कूट्+अच्) शब्द का अर्थ है 'अटल, ढेर, निहाई या यथार्थ वस्तु का ढका होना, पहाड़ की चोटी, सींग, छल, धोखा, फरेब, मिथ्या, असत्य, झूठ, गूढ़ भेद, रहस्य आदि। शब्दार्थ की दृष्टि से 'कूट' शब्द वे हैं जिनके अर्थ बड़े पेंचदार तथा गूढ़ होते हैं, अर्थात् जिनका अर्थबोध सहज में न हो। 'मानक हिन्दी कोश' के अनुसार 'साहित्य में ऐसा पद या रचना, जिसमें श्लिष्ट अथवा संबंधसूचक सांकेतिक शब्दों का प्राधान्य हो और इसीलिए जिसका ठीक अर्थ जल्दी सब लोगों की समझ में न आता हो। जैसे—सूर के कूट।'[1] काव्य के सम्बन्ध में 'कूट' शब्द का प्रयोग गूढ़ काव्य के लिए होता है। ऐसी विशिष्ट शब्द-योजना या शब्द जिसमें अर्थ कठिन उक्तियों में छिपा रहता है।

कूटोन्मुखी शब्द वे हैं जो पूर्णरूपेण 'कूट' तो नहीं हैं, किन्तु कूटत्व की ओर झुके हुए हैं। कोशों के ऐसे अप्रचलित शब्द शव की भाँति पड़े रहते हैं। कवि द्वारा उन्हीं शब्दों को मेधा तथा प्रतिभा का अमृत छिड़ककर प्राणवान बना दिया जाता है।

'कूट' शब्दों के प्रयोगों के कारण ही सम्पूर्ण महाभारत का लेखन-कार्य सम्पन्न हुआ था। ऐसा प्रसिद्ध है कि व्यास जी को जब महाभारत का कोई सुयोग्य लेखक नहीं प्राप्त हुआ, तो उन्होंने इस कार्यहेतु गणेश जी से निवेदन किया। उन्होंने इसको इस आधार पर स्वीकार किया कि मैं सतत लिखता जाऊँगा। जिस समय आप मेरी लेखन-गति के अनुसार नहीं बोल पायेंगे, मैं लेखन-कार्य समाप्त कर दूँगा। व्यास जी ने उक्त शर्त को स्वीकार करते हुए स्वयं एक शर्त प्रस्तुत की कि जो कुछ आप लिखें, अर्थ समझकर लिखें। गणेश जी ने स्वीकार कर लिया। उन्होंने महाभारत का लेखन-कार्य आरंभ किया और जहाँ व्यास जी को विचार करने की आवश्यकता पड़ती थी, वहाँ वे कूट शब्दों का प्रयोग करके गणेश जी को सोचने के लिए विवश कर देते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण महाभारत गणेश जी को लिपिबद्ध करना पड़ा।

---

१. दे० प्रथम खण्ड, पृ० ५६८

'सरल कबित' लिखने वाले गोस्वामी जी के साहित्य में भी अद्भुत प्रवाह है, किन्तु उन्होंने यत्र-तत्र कूटोन्मुखी एवं कूट शब्दों का प्रयोग करके पाठ की सूक्ष्म दृष्टि को आमंत्रण दिया है। संभवतः गोस्वामी जी को 'अमरकोश' कंठस्थ था। फलस्वरूप उन्होंने उसके अप्रचलित शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। कूट-विषयक शब्दों की व्याख्या में 'अमरकोश' के उद्धरणों को उदारणस्वरूप यथास्थान प्रस्तुत कर दिया गया है। डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन के अनुसार—"भावातिरेक के क्षणों में कवि की हृदय-भूमि में जन्म लेने वाली कविता की सृष्टि करते-करते जब कवि का मानस-लोक थक-सा जाता है, तब कुछ क्षणों के लिए कवि की मनीषा को अपना पाण्डित्य या चमत्कार दिखाने की इच्छा बलवती हो जाती है। सूक्तियों का जन्म भी तभी होता है जब कवि अपने हृदय के भावलोक से बाहर आकर मस्तिष्क से चमत्कार-प्रदर्शन का अभिलाषी बनता है। कूटोन्मुखी शब्द पाठकों से भी पर्याप्त बुद्धि-व्यायाम करा लेते हैं। कभी-कभी तो पाठक कई दिनों तक निरंतर बुद्धि-व्यायाम करने पर भी 'कूट' शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं समझ पाता। 'कूट' शब्द का वास्तविक अर्थ पाठक की समझ में जल्दी से इसलिए भी नहीं आता है कि कवि उसका प्रयोग सामान्य या बहुप्रचलित अर्थ में नहीं किया करता, अपितु विशेष अथवा अप्रचलित अर्थ में किया करता है।"[1]

गोस्वामी जी के साहित्य में जहाँ सरलता है, वहीं उदात्तता और जहाँ जटिलता है, वहीं गरिमा। यद्यपि उनके साहित्य में सरलता का ही प्राधान्य है, तथापि उन्होंने मानस, कवितावली, बाहुक, विनयपत्रिका, दोहावली, बरवै और रामाज्ञा प्रश्न आदि ग्रंथों में कूटोन्मुखी शब्दों एवं कूटों का भी प्रयोग किया है। दोहावली' के कतिपय दोहों में ज्योतिष-विषयक कूट-प्रयोग हैं। शकुन-संबंधी कूट-प्रयोग 'रामाज्ञा प्रश्न' में मिलते हैं। समीती, करन, बनज, सोना, कदंबा, सकल, समन, हार और समाधि आदि शब्द दुरूह हैं, अतः कूटोन्मुखी हैं। इन शब्दों के अर्थ टीकाकारों ने बहुत ही भ्रामक किये हैं। उदाहरणार्थ— सोना' शब्द का अर्थ—'सोया हुआ'; 'कदंबा' का 'कदाचित्'; 'सकल' का 'सभी' और 'समाधि' का 'मृत व्यक्ति को जमीन में गाड़ना' अर्थ किया गया है, जबकि इनके वास्तविक प्रसंगार्थ भिन्न हैं।

'दस-चारि, नौ-तीनि, इकीस, सुतिगुन, करगुन, रवि, हर, दिसि, रस, नयन, धातु' आदि 'कूट' प्रयोग हैं। इनके भी अर्थों में टीकाकारों ने खूब खींचतान और क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं।

---

१. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० ४

जो शब्द बाद में अप्रचलित हो जाने के कारण अथवा संदर्भ अज्ञात हो जाने से दूरूह लगने लगते हैं, उन्हें न तो कूटोन्मुखी कहा जा सकता है, न कूट। वस्तुतः कूटता के लिए कवि के द्वारा उनके उसी रूप में प्रयोग की सजगता अनिवार्य है। जिन कवियों ने कूट लिखे हैं अथवा कूट शैली का यत्र-तत्र प्रयोग किया है, उन्होंने जान-बूझकर ऐसा किया है। अनभीष्ट दुरूहता को कूटता नहीं कहा जा सकता। किन्तु कूट की भाँति दूरूह होने के कारण ऐसे शब्दों की भी व्याख्याएँ प्रस्तुत अध्याय में ही कर दी गयी हैं। उदाहरणार्थ—कुठारी शब्द।

कूटोन्मुखी शब्दों एवं कूट-प्रयोगों की अर्थ-समस्याओं का निदान पृथक् न करके उनका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है।

'समीती'

भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती ॥[1]

कठिन शब्द होने के कारण बैजनाथ जी ने 'समीती' के स्थान पर 'सुरीती' पाठ करके 'सुन्दर रीति है' ऐसा अर्थ किया है।[2] हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ 'समता की इति—अवधि' किया है।[3] किन्तु यह अर्थ असंगत है। 'समीती' शब्द संस्कृत समिति (सम+इण्+क्तिन्) ही है। छंदानुरोध के कारण 'समिति' को 'समीती' कर दिया गया है। 'समिति' शब्द का बहुप्रचलित अर्थ सम्प्रति सभा, समाज[4], संस्था, सोसाइटी है। आप्टे ने 'समिति' शब्द का पहला अर्थ—मिलना, मिलाप, साहचर्य दिया है।[5] अतः स्पष्ट है कि हिन्दी में 'समिति' शब्द का 'मेल-मिलाप' अर्थ अवश्य अप्रचलित है, किंतु संस्कृत में इसका यह अर्थ बहुप्रचलित था। अमरकोश से भी यही स्पष्ट होता है—

'समरे सङ्गे सभायां समितिः'[6]

'मेल या मिलाप' अर्थ में 'समिति' शब्द का प्रयोग एक तरह से कूटोन्मुखी है। इस प्रकार उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'भाई-भाई (दोनों भाइयों भानुप्रताप और अरिमर्दन) में अत्यन्त मित्रता थी और सभी दोष-छलरहित

१. मानस १।१५३।७
२. रामा०, बाल०, पृ० ४३१
३. दे० रा० परि० परिशिष्ट प्रकाश, प्रस्तुत अर्धाली का अर्थ।
४. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसाकार, पृ० ६५७
५. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०७६
६. अमरकोश ३।३।७०

प्रेम था।' प्राय: सभी टीकाकारों ने इसका यही अर्थ किया है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से भी यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'करन'

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥[१]

'करण' अथवा 'करन' का प्रसिद्ध अर्थ 'करना' क्रिया, करने वाला या साधन है। उदाहरणार्थ—

भुवन-पर्यन्त पद-तीनि-करणं।[२]
कृपासिंधु मति धीर अखिल विश्व कारन करन।[३]
होम करन लागे मुनि झारी।[४]

डॉ० अम्बाप्रसाद जी कहते हैं कि मानस में 'करन' शब्द का प्रयोग ३५ बार हुआ है।[५] गोस्वामी जी ने इस शब्द का प्रयोग अधिकतर 'करना' क्रिया के रूप में किया है। उक्त अर्धाली में 'करन' शब्द का प्रयोग विशिष्ट और अप्रचलित अर्थ में है। वामन शिवराम आप्टे ने 'करणम्' का एक अर्थ 'इन्द्रिय' दिया है।[६] कालिदास ने राजा अज की प्रियतमा का वर्णन करते हुए 'इन्द्रिय' के अर्थ में 'करण' शब्द का प्रयोग किया है—

वपुषा-करणोज्झि तेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।[७]

करन—[(सं० करण) √कृ (करना) + ल्युट्—अन्] का प्रयोग गोस्वामी जी ने भी यहाँ 'इन्द्रिय' अर्थ में किया है। इन्द्रियाँ १४ हैं—५ कर्मेन्द्रिय—(१) वाक्, (२) पाणि, (३) पाद, (४) पायु (गुदा), (५) उपस्थ, ५ ज्ञानेन्द्रिय—(१) श्रोत (श्रवण), (२) त्वक् (त्वचा), (३) चक्षु, (४) जिह्वा, (५) घ्राण। ४ अन्त:करण—(१) मन, (२) बुद्धि, (३) चित्त, (४) अहंकार।

अतएव उक्त चौपाई का अर्थ होगा—'विषय (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द), इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के देवता और जीव ये सब एक-दूसरे से चेतन

१. मानस १।११७।५-६
२. विनय० ५२
३. मानस १।२०८
४. वही १।२१०।२
५. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० ४२-४४
६. दे० संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २४६—'करणं साधकतमं क्षेम गात्रेन्द्रियेष्वपि' —अमर० ३।३।५४
७. रघुवंश ८।३८, ४०

होते हैं। अर्थात्, विषयों की प्रकाशक इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के प्रकाशक तत्-तत् देवता और उन देवताओं का प्रकाशक जीवात्मा है। शरीर के जीवरहित होने पर देवता इन्द्रियों को सचेत नहीं कर सकते। जीव भी बिना श्रीराम के अस्तित्व के कुछ नहीं कर सकते। 'इसीलिए जो सबका परम प्रकाशक है, वही अनादि (ब्रह्म) अयोध्यापति श्रीराम जी हैं।'

विषय और इन्द्रियों का संबंध प्रसिद्ध है। अतः 'संयोग' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यहाँ 'करन' का अर्थ 'इन्द्रिय' ही होगा। प्रायः सभी टीकाकारों ने इसका अर्थ 'इन्द्रिय' ही किया है। किन्तु इस शब्द का 'इन्द्रिय' अर्थ इतना अप्रचलित है कि बिना कोश की सहायता से इसका अर्थबोध नहीं किया जा सकता। अतः 'करन' शब्द कूटोन्मुखी है।

'बनज'

जय रघुवंश बनज बन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥[१]

बनज—सं० वनज (वन+ज) का शाब्दिक अर्थ है—वन में उत्पन्न। 'वन' शब्द का बहुप्रचलित अर्थ 'जंगल' है। आप्टे ने 'वन' का एक अर्थ 'पानी' और 'वनजम्' का 'नील कमल' दिया है।[२] अमरकोश में 'जल' के २७ पर्यायवाची में एक पर्याय 'वन' भी दिया है—'जीवनं भुवनं वनम्।'[३] गोस्वामी जी ने भी 'जल' अर्थ में 'वन' शब्द का प्रयोग किया है।

बाँध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।[४]
पाहन तें बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है।[५]

डॉ० अम्बाप्रसाद कहते हैं कि 'बनज' शब्द का 'कमल' अर्थ में प्रयोग मानस में ५ बार हुआ है।[६] 'कमल' अर्थ में 'बनज' का कुछ प्रयोग इस प्रकार है—

बालचरित चहु बंधु के बनज बिपुल बहुरंग।[७]
सुरसर सुभग बनज बन चारी।[८]

---

१. मानस १।२८५।१
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८६५
३. अमरकोश १।१०।३
४. मानस ६।५
५. कविता० २।७
६. रामचरिसमानस का वाग्वैभव, पृ० १७८-७९
७. मानस १।४०
८. वही २।६०।५

उक्त अर्द्धाली के 'बनज' शब्द का अर्थ है—'जल में उत्पन्न', अर्थात् कमल; अतएव उपर्युक्त अर्द्धाली का अर्थ होगा—

'हे रघुवंश-रूपी कमल-वन के सूर्य ! हे राक्षसकुल-रूपी सघन वन को जलाने के लिए अग्निरूप ! आपकी जय हो।'

गोस्वामी जी ने 'जल में उत्पन्न', अर्थात् कमल के अर्थ में 'बनज' का ही प्रयोग नहीं किया है, अपितु 'जल-प्रदाता' बादल के अर्थ में 'बनद' का भी प्रयोग किया है—

बनज लोचन बनज-नाभ बनदाभ-वपु बनचर-ध्वज कोटि लावन्यरासी।[1]

यहाँ सभी टीकाकारों ने 'बनज' का अर्थ 'कमल' ही किया है। 'अन्य शब्द का सान्निध्य' अर्थनिश्चय के साधन से 'बन' शब्द के सामीप्य के कारण 'बनज' का अर्थ 'कमल' ही होगा। 'वन' शब्द का प्रचलित अर्थ—जंगल, अरण्य या कानन है। यहाँ 'बनज' का 'कमल' अर्थ में प्रयोग कूट ही कहा जायगा।

'सोना'

निदउँहूँ बदन बदन सोह सुठि लोना। मनहु साँझ सरसीरुह सोना॥[2]

'सोना' शब्द का अचलित अर्थ 'स्वर्ण, कनक और नींद लेना, शयन करना, आँख लगना' है।[3] इसी भ्रम में कुछ लोगों ने इसका अर्थ 'सुनहला कमल' किया है। संतसिंह पंजाबी जी के अनुसार—'मानों रात्रि में कमल सोया हुआ है।'[4] यहाँ 'सोना' का अर्थ 'सो जाना' नहीं हो सकता, क्योंकि 'अवधी' में सोने के लिए 'सोउब' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तुलसी-साहित्य में 'सोना' क्रिया का प्रयोग इस रूप में कहीं नहीं मिलता। संस्कृत 'शोण' (शोण् (गत्यादि)+अच्) से विकसित 'सोन' शब्द है। छन्दानुरोध के कारण 'सोन' का 'सोना' कर दिया गया है। 'हिन्दी शब्दसागर' और 'मानक हिन्दी कोश' में 'शोण' का अर्थ 'लाल, अरुण' दिया हुआ है।[5] यहाँ पर भी 'सोना' का अर्थ 'लाल' है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'नींद में भी अत्यन्त सलोना मुख (ऐसा) सुशोभित हो रहा है, मानो

---

१. विनय० ५४

२. मानस १।३५८।१

३. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० १०१०

४. मा० पी०, बाल०, खं० ३, पृ० ८६६

५. दे० पृ० ४७६५, मा० भा०, पृ० १६४

सायंकाल का लाल कमल है।' इसी अर्थ में 'सोना' शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी गोस्वामी जी ने किया है—सुभग सोन सरसीरुह लोचन।[१] 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ 'सोना' का अर्थ 'लाल' है। 'लाल' अर्थ में 'सोना' शब्द के प्रयुक्त होने के कारण इसे कूटोन्मुखी शब्द कहा जा सकता है। अधिकांश टीकाकारों ने इसका अर्थ 'अरुण कमल' ही किया है।

'कदंबा'

एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा।।[२]

संतसिंह पंजाबी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'कदंब कह्यो समूह करणे। किंबा भाषा मों कदंबा पद कदाचित का वाचक भी बनता है। जाते नृप को सीता के फिरने में भी संदेह था ताते कहा है। हे सचिव! तैंने उपाय करणा, जौं कदाचित् सीता फिरि आवै तौ मेरे भी प्राणों को आश्रय होता है।'[३] इसी प्रकार शुकदेवलाल जी ने भी 'कदंबा' का अर्थ 'कदाचित्' किया है।[४] 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक का अर्थ तो पूर्णतया भ्रामक है—'इस प्रकार जैसे भी हो (कम से कम सीता को) लौटा लाने का उपाय अवश्य करना।'[५] यहाँ पर उपर्युक्त सभी अर्थ भ्रामक हैं। 'कदंब' शब्द का बहुप्रचलित अर्थ—एक प्रसिद्ध वृक्ष, कदम है।[६] आप्टे ने अपने कोश में 'कदम्बः' और 'कदम्बकः' दो शब्द दिये हैं। 'कदम्बः' का अर्थ एक प्रकार का वृक्ष और 'कदम्बकम्' का अर्थ-'समुदाय' दिया है।[७] अमरकोश में भी 'समूह' के २२ पर्यायवाची शब्दों में समूह का एक पर्याय 'कदम्बक' भी दिया है—

स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्।।[८]

'अभिज्ञान शाकुंतल' में मृगों के झुण्डों के सम्बन्ध में 'कदम्बक' शब्द का प्रयोग किया गया है—

१. मानस १।२१९।६ और कविता० २।२४
२. मानस १।८२।६
३. मा० भा०, पृ० १०१
४. रामा०, पृ० ४४
५. ग्रं० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४३१
६. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० १६१
७. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २४३
८. अमरकोश २।५।४०

छायाबद्ध कदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्तु ।[१]

गोस्वामी जी ने भी यहाँ कदंबा [सं० कदम्बक: (कद्+अम्बच+क्] का प्रयोग 'समुदाय, समूह' अर्थ में किया है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'(दशरथ जी कहते हैं) इस प्रकार अनेक उपाय (उपायों के समूह) करना। यदि वे (सीता जी) लौट आयें तो मेरे प्राणों को अवलम्ब हो जायगा।'

डॉ० अम्बाप्रसाद जी लिखते हैं कि 'यहाँ पर भी स्मरण रखना चाहिए कि तुलसी 'कदंब' और 'कदम्बा' में अर्थभेद करते हैं। उनके मत से 'कदंब' तो वृक्ष-विशेष है और 'कदंबा' का अर्थ झुंड है।'[२] किंतु डॉ० अम्बाप्रसाद का यह मत तर्कसंगत नहीं है। गोस्वामी जी ने 'कदंब' शब्द का प्रयोग 'वृक्ष-विशेष' और 'समूह' दोनों अर्थों में किया है।

'वृक्ष-विशेष' अर्थ में—

सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला ॥[३]
कदलि कदंब सुचंपक पाटल पनस रसाल ॥[४]

'समूह' अर्थ में—

भागे जंजाल बिपुल दुख-कदंब दारे ॥[५]
खेती बनिजन, भीख भलि, अफल उपाय कदंब।
कुसमय जानब बाम बिधि राम नाम अवलंब ॥[६]

उक्त व्याख्येय अर्धाली में छन्दानुरोध के कारण कदंब को 'कदंबा' कर दिया गया है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से 'कदंब' का अर्थ यहाँ 'समूह या समुदाय' ही तर्कसंगत प्रतीत होता है। अधिकांश टीकाकारों ने भी इसका अर्थ 'बहुत से उपाय, अनेक उपाय' किया है। यहाँ पर 'समूह' अर्थ में प्रयुक्त 'कदम्ब' शब्द कूटोन्मुखी है।

'करारा'

असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ॥[७]

'करारा' का पहला प्रचलित अर्थ है—'नदी का वह ऊँचा किनारा जो जल के काटने से बनता है।' गोस्वामी जी ने इस अर्थ में इसका प्रयोग किया है—

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम् २।६
२. रामचरितमानस का वाग्वैभव, पृ० ३९-४०
३. मानस १।३४४।७
४. गीता० २.४७।४
५. वही १।३६
६. रामाज्ञा० ७।५।३ और 'कूदत कबंध के कदंब बंब सी करत'—कविता० ६।४८
७. मानस २।१५७।४

लखन दीख पय उतर करारा-।[1]
सो प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े।[2]

दूसरा प्रचलित अर्थ—'भयंकर', 'कड़ा' है। इसी भ्रम के कारण संत-सिंह पंजाबी जी ने इसका अर्थ किया है—'करार कही भयानक जीव बोलते हैं।'[3] आप्टे ने करटः [किरति मंदम्—कृ+अटन्] का तीसरा अर्थ 'कौवा' और करटकः [करट+कन्] का पहला अर्थ 'कौवा' लिखा है।[4] 'करटकः' से 'करारा' का विकास इस प्रकार हो सकता है—करटक>प्रा० करडअ> कररअ> करारा>करारा। गोस्वामी ने 'करटा' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है—कटु कुठाय करटा रटहिं फेकरहिं फेरु कुभाँति।[5] सुखेत में 'काक' की उपस्थिति को शुभ शकुन कहा गया है—दाहिन काग सुखेत सुहावा।[6] अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'(भरत जी के) अयोध्या में प्रवेश करते समय अपशकुन हो रहे हैं। कौवे अपवित्र स्थानों में बुरी तरह (काँव-काँव) रट रहे हैं।' स्थान या देश का उल्लेख होने से 'देश' अर्थनिश्चय के साधन से 'करारा' का अर्थ 'कौवा' ही होगा, क्योंकि अपवित्र स्थानों में उसका रहना प्रसिद्ध है। यहाँ 'करारा' का अर्थ 'काक' सरलता से बोधगम्य नहीं होता। अतः इस अर्थ में 'करारा' का प्रयोग 'कूटोन्मुखी' ही कहा जायगा।

'समन'

मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥[7]

'समन' (संस्कृत शमन) का सामान्यतया अर्थ है—'शान्त या नाश करने वाला'। उदाहरणार्थ—मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥[8] जय राम रमा रमनं समनं भवताप भयाकुल पाहि जनं।[9] अमरकोश में 'यम' के पर्यायवाची शब्दों में एक पर्याय 'शमन' भी दिया है—

---

१. मानस २।१३२।२
२. कविता० २।५
३. मा० भा०, पृ० १८२
४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २४६
५. रामाज्ञा० ३।१।५
६. मानस १।३०३।३
७. मानस ३।२।६
८. मानस ४।१६।७
९. मानस ७।१४।छन्द १

धर्मराजः पितृपतिः समवर्ती परेतराट् ।
कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराऽयमः ।।[१]

'मानक हिन्दी कोश' में भी शमन=पुं० [सं० शम (शांत होना)+ल्यूट+अन] का तृतीय अर्थ 'यम' दिया है ।[२] उक्त अर्धाली में भी 'समन' शब्द का यही अर्थ है । अतएव पूरी अर्धाली का अर्थ होगा—'(काकभुशुंडि जी गरुड़ जी से कहते हैं कि—) हे विष्णुयान गरुड़ जी ! सुनिए—(जो रघुवीर से विमुख हैं) उनके लिए माता मृत्यु, पिता यमराज और अमृत विष के समान हो जाते हैं ।' यमराज अर्थ में 'समन' शब्द का प्रयोग एक स्थान पर और हुआ है—

प्रभु अगाध सतकोटि पताला । समन कोटि सत सरिस कराला ।।[३]

'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से इसका यही अर्थ संगत प्रतीत होता है । यहाँ पर 'समन' शब्द की 'यमराज' अर्थ में पकड़ बड़ी कठिनाई से आती है । अतः 'समन' कूटोन्मुखी शब्द है ।

'सकल-सकल'

राम सैल बन देखन जाहीं । जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं ।।[४]

दूसरा 'सकल' अटपट लगने के कारण विनायक राव जी[५], ज्वालाप्रसाद जी[६] और पंजाबी जी[७] ने 'कतहुँ' पाठ कर दिया है—'जहँ सुख सकल कतहुँ दुख नाहीं ।।'

'सकल' [कलया कलेन सह वा] का बहुप्रचलित अर्थ है—१. भागों सहित; २. सब, समस्त, पूरा, पूर्ण ।[८] हरिहरप्रसाद जी[९], विजयानंद त्रिपाठी[१०], श्रीकांतशरण जी[११], पोद्दार जी[१२], पीयूषकार[१३] आदि ने इसी आधार पर

१. अमरकोश १।१।५८
२. दे० पां० खं०, पृ० १४५
३. मानस ७।९२।१
४. मानस २।२४८।५
५. रामा० वि० टी०, पृ० ३७२
६. सं० टी०, पृ० ६१७
७. मा० भा०, पृ० २९३
८. दे० संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, पृ० १०५४
९. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १४१
१०. वि० टी०, द्वि० भा०, पृ० ३६१
११. मानस सि० ति०, पृ० १३६३
१२. मानस, पृ० ५३२
१३. मा० पी०, अयो०, पृ० ८८४

'सकल' का अर्थ किया है कि—'जहाँ सभी सुख हैं और सभी (सम्पूर्ण, सब के सब) दुःख नहीं हैं।'

आप्टे ने 'शकल' [शक्+कलक्] शब्द का अर्थ 'भाग, अंश, हिस्सा, टुकडा, खंड' दिया है।[1] 'मुद्राराक्षस' में इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है—'उपशकलमेतद्भेदकं गोमयानां'।[2] 'मानक हिन्दी कोश' में भी इसका यही अर्थ 'खंड, टुकड़ा' दिया है। प्रसाद ने इसी अर्थ में एक स्थान पर इसका प्रयोग किया है—'पंचभूत का भैरव मिश्रण शम्पाओं के शकल निपात।'[3] गोस्वामी जी ने भी यहाँ दूसरे 'सकल' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'(सभी अयोध्यावासी) श्री रामचन्द्र जी के पर्वत (चित्रकूट-कामदगिरि आदि) और वन को देखने जाते हैं जहाँ सभी सुख हैं और दुःख का अंश भी नहीं है, अर्थात् कुछ भी दुःख नहीं है।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ यह अर्थ तर्कसंगत भी प्रतीत होता है।

रामनरेश त्रिपाठी जी ने 'सकल' शब्द को संस्कृत का 'शकल' शब्द स्वीकर करके यही अर्थ किया है।[4] ग्राउस महोदय ने भी 'विपत्ति कुछ नहीं थी' ऐसा अर्थ किया है।[5] अवधविहारीदास जी[6]; शुकदेवलाल जी[7] और श्यामसुन्दरदास जी[8] को चाहे संस्कृत शब्द 'शकल' का ध्यान न रहा हो, किन्तु अर्थ 'कोई (भी) दुःख नहीं है' उचित ही किया है। यहाँ पर दूसरे 'सकल' शब्द का अर्थ सरलता से पकड़ में नहीं आता। अतः इसे कूटार्थी शब्द कहा जा सकता है।

'कुठारी'

दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन सहित संग निज नारी॥

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६६६

२. मुद्राराक्षस ३।१५

३. मानक हिन्दी कोश, पृ० १३७

४. मानस, पृ० ६४६

५. 'ह्वेयर आल वाज गुड एंड नॉट (nought) इविल"—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० २६३

६. मानस, पृ० ६१५

७. रामा०, पृ० १३०

८. मानस, पृ० ५७२

सादर जनक सुता करि आगे । एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ।।[1]

'कुठार' शब्द का बहुप्रचलित अर्थ—'कुल्हाड़ी और परशु, फरसा' है। गोस्वामी जी ने इन्हीं अर्थों में 'कुठार' शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

'कुल्हाड़ी' अर्थ में—

जनि दिनकर कुल होसि कुठारी ।[2] जननी जौबन बिटप कुठारू ।।[3]

'परशु, फरसा' अर्थ में—

धनु सर कर कुठारु कल काँधे ।।[4] पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू ।।
ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ।। रामकथा कलि बिटप कुठारी ।।[5]

मानस-मयंककार को छोड़कर मानस के प्रायः सभी टीकाकारों—हरिहर-प्रसाद जी[6], रामचरणदास जी[7], विनायक राव जी[8], विजयानन्द त्रिपाठी[9], श्रीकान्तशरण[10], रामनरेश त्रिपाठी, पोद्दार जी, श्यामसुन्दरदास[11], ग्राउस महोदय[12] और श्री अवधबिहारीदास[13] आदि ने 'कुल्हाड़ी' अर्थ किया है।

रामचरितमानस के अर्थ के विशेषज्ञ पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी 'कुठारी' शब्द के तात्त्विक अर्थ की खोजबीन करते हुए लिखते हैं कि—'यहाँ

१. मानस ६।२०।७
२. मानस २।३४।६
३. वही २।१८६।८
४. वही १।२६८।८
५. वही १।२७३।२ और ८ एवं १।११४।२
६. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १६
७. रामा०, पृ० १०१५
८. वि० टी०, पृ० ४७
९. वि० टी०, तृ० भा०, पृ० २१८
१०. मा० सि० ति०, पृ० २०८५
११. दे० मानस, क्रमशः पृ० ६३८, पृ० ७५७ और ८३६
१२. "पुट एस्ट्रा विटवीन योर टीथ एण्ड एन एक्स टु योर थ्रोट।"—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० ४३२
१३. मानस, पृ० ८८४

अंगद रावण से राम के शरणागत होने की बात कह रहे हैं। जो किसी की शरण में होने का निवेदन करता है, वह शरण्य के सामने अपने को दीन पशु के रूप में उपस्थित करता है। दाँतों में तृन या घास पकड़ने से इसी की सूचना मिलती है। कहीं-कहीं केवल एक ही संकेत पर्याप्त होता है, पर दाँतों से तिनका पकड़ने की अपेक्षा सबसे अधिक प्रचलित संकेत गले में पगड़ी, दुपट्टा या कपड़ा लपेट लेना रहा है। अपभ्रंश में केवल गले में पगड़ी लपेटने की बात निम्नलिखित छन्द में कही गयी है—

> नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः
> शत्रुं पाडि लुटालि तोडि हनिसौ एवं भणंत्युद भटाः।
> झूठे गर्वं भरा मछालि (?) सहसा रे कन्त मेरे कहे
> कण्ठे पाग निवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम् ॥

यहाँ गले में या गले के चारों ओर कपड़ा लपेटने की बात कवि कहना चाहता है, क्योंकि वही सबसे मुख्य संकेत परम्परा में चला आ रहा है। पर 'कंठ कुठारी' का अर्थ मानस की परम्परा में सभी टीकाकारों ने 'कंठ में कुठार लटका लो' किया है। 'गहहु' का अन्वय एक ओर 'तृनु' से और दूसरी ओर 'कुठारी' से किया गया है—'दाँत से तृण पकड़ो और गले में कुठारी लटकाओ'। 'गहहु' शब्द का अर्थ 'पकड़ो' तो हो सकता है, पर 'लटकाओ' खींचतान है। जान पड़ता है कि रामचरितमानस की परम्परा में बहुत आरम्भ से ऐसा ही समझ लिया गया। जो किसी की शरण में जाता है, वह अपनी रक्षा ही के लिए जाता है। मैं शरण में हूँ, चाहे मारो या छोड़ो का विकल्प वहाँ नहीं रहता, अर्थात् शरणागत अपनी ओर से विकल्प नहीं देता। इसलिए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि कहीं भी शरणागत होने वाले ने न तो गले में कुठारी लटकाई और न किसी ने किसी को शरणागत होने के लिए ऐसी नेक सलाह दी। पर तुलसीदास की इस चौपाई के 'कंठ कुठारी' का अर्थ 'गले में कुठारी लटकाना' मानस की परम्परा में बहुत पहले से हो गया। इसका फल यह हुआ कि केवल टीकाकार ही नहीं, अन्य लोग भी शरणागत के लिए गले में कुल्हाड़ी बाँधने की बात कहने लगे। जैसे 'भक्तिरसबोधिनी' के निम्नलिखित कवित्त में—

> कहि राजा रानी सों जो बात यह साँच भई,
> आँच लागी हिए अब कहौं कहा कीजिए।
> चले ही बनत चले सीस तृन बोझ भारी
> गरे सों कुल्हारी बाँध तिया संग भीजिए ॥

निगसे बजार ह्वै कै डारि दई लोक लाज
किये मैं अकाज छिन छिन तन छीजिए।
दूर ते कबीर देखि ह्वै गये अधीर महा,
आए उठि आगे कह्यो डारि मत दीजिए ॥

वास्तविकता यह है कि 'कंठकुठार' शब्द अवधी भाषा का विशेष शब्द है। इसके अर्थ तो कई हैं, पर सभी अर्थों का सम्बन्ध गले के चारों ओर किसी वस्तु से वृत्त बना लेने या होने से अवश्य है। पशुओं के गले में काठ का जो तौक लगाया जाता है, उसे भी कंठकुठार कहते हैं। ऐंठे हुए वस्त्र से गला बाँधने को, जैसा पुराने समय में बटपार किया करते थे, कंठकुठार कहते थे। गले में सटा हुआ फँसरी की तरह वस्त्र कंठकुठार कहलाता है। महामना मालवीय जी जिस प्रकार अपना दुपट्टा गले के चारों ओर लपेटे रहते थे, उसे कंठकुठार कहते हैं। इसलिए कंठकुठारी विशेषण है और उसका अर्थ है कंठ-कुठारी होकर। पूरे चरण का अर्थ होगा—'कंठकुठारी होकर, गले के चारों ओर वस्त्र लपेटकर दाँतों से तृण पकड़ लो।' इसके द्वारा यह सूचित करो कि मैं आपकी शरण में हूँ। शरणागत होने में पशुत्व रूप में दैन्य व्यक्त करना दाँत में तृण धारण करने से पूरा-पूरा व्यक्त नहीं हो पाता। इसलिए गले के चारों ओर कपड़ा लपेट लेने से पशु के गले में पड़े हुए गिराँव की भी योजना अधिक स्पष्टता के लिए वांछित होती है।

अर्थ करने वालों का काम गले में कुल्हाड़ी बाँधने से भी हो जाता है। पशु बेचारा तो दाँतों से तिनका भले ही पकड़ ले, पर गले में कुल्हाड़ी नहीं बाँध सकता। हाँ, मनुष्य पशुत्व का प्रदर्शन करे, तो अवश्य कर सकता है। पशु के गले में गिराँव तो पड़ा ही रहता है और वह पगहे से खूँटे में बँधा रहता है। 'कंठकुठारी' का जो अर्थ मानस की परम्परा में होता आया, उससे कोई बाधा नहीं हुई। किसी को कभी कोई आपत्ति तक नहीं हुई; केवल पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जब 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक निबन्ध लिख रहे थे, तब उन्होंने उपर्युक्त चौपाई को दुपट्टा लपेटने के अर्थ में उद्धृत किया है। मानस की टीकाओं को उन्होंने देखा होता तो वे या तो उसका खंडन करते या उनकी बात मानकर इसका उदाहरण ही न देते। 'कंठकुठार' शब्द इस अर्थ में कैसे बना, उसकी व्युत्पत्ति क्या है, यह सब विचारणीय अवश्य है। पर इसके लिए यहाँ अवकाश नहीं है। यहाँ तो इतना ही बतलाना प्रयोजन है कि 'कंठकुठार' शब्द भारतीय परम्परा के बहुत पुराने व्यवहार को सूचित कर रहा है, अर्थात् यह शब्द जितना सरल समझा गया है, उतना है नहीं। इसके द्वारा सारी परंपरा का द्योतन होता है।

जन-व्यवहार में आने वाले बहुत से शब्द विशेष अर्थ लिये हुए होते हैं। जो जनभाषा से परिचित होता है, वह उनका ठीक अर्थ जानता है और उसी अर्थ में उनका व्यवहार करता है। तुलसीदास संस्कृत भाषा से जितने परिचित थे, उतने ही जनभाषा से भी; इसलिए उन्होंने जनभाषा के शब्दों का ठीक व्यवहार किया है। हम उनका अर्थ न जानें, तभी कठिनाई होती है।'[1]

मैं डॉ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मंतव्यों से पूर्णरूपेण सहमत हूँ। मिश्र जी के उक्त उद्धरण में रेखांकित पंक्तियाँ अधोलिखित मानस-मयंककार के अर्थ से ज्यों-की-त्यों मिलती हैं—

छेदे कंठ कुठार है, ऐंठे वस्त्र मरोर।
काको कंठ कुठार है, तिन्ह में वस्त्र सुठोर ॥११६॥

मयंककार कहते हैं कि कंठकुठार गला छेदने वाले कुठार को कहते हैं, पुनः ऐंठे हुए वस्त्र से गला बाँधने को कंठकुठार कहते हैं और काठ के तौक (जो गाय, बैल के गले में डाला जाता है) को कंठकुठार कहते हैं। पुनः वस्त्र को गले में फँसरी सरीखे बाँधने को भी कंठकुठार कहते हैं। (एवं प्रकार तुम कंठकुठार धारण करो।)[2] मिश्र जी ने जो कहा कि 'कंठकुठार के कई अर्थ हैं', मयंककार ने उक्त कई अर्थ दिये भी हैं। किन्तु आश्चर्य है कि उन्होंने मयंककार का कहीं भी किंचित् उल्लेख नहीं किया। कवितावली में मंदोदरी रावण से राम के समक्ष शरणागत होने के लिए केवल 'दाँतों तले तिनका दबाकर' चलने के लिए कहती है—

कंत ! तृन दंत गहि सरन श्रीराम कहि,
अजहुँ यहि भाँति लै सौंपु सीता ॥[3]

जायसी ने केवल 'पगड़ी बाँधकर' विनय करने की बात कही है—

विनती कीन्ह घालि गियँ पागा। ऐ जग सूर सीउँ मोहि लागा ॥[4]

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में लोग 'दाँतों तले केवल तिनका दबाकर' और 'केवल गले में पगड़ी ही बाँधकर' शरणागत होने के

---

१. सरस्वती विशेषांक, सं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, डॉ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का लेख, पृ० १२६-२७

२. मा० मं० वा० इन्द्रदेवनारायण, पृ० ५१५-१६

३. कविता० ६।१७

४. पद्मावत, पृ० ४६६

लिए जाते थे। कभी-कभी 'दाँतों तले तिनका दबाकर और गले में पगड़ी भी बाँधकर' दोनों स्थितियों में शरणागत होने के हेतु जाते थे, जैसा कि उपर्युक्त व्याख्येय अर्धाली में गोस्वामी जी ने प्रयोग किया है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—

'(अंगद जी रावण से कहते हैं कि) दाँतों से तृण पकड़ लो और गले के चारों ओर वस्त्र लपेटकर कुटुम्बियों सहित अपनी स्त्रियों के साथ श्री जानकी जी को आदरपूर्वक आगे कर इस प्रकार सब भय त्याग कर चलो।'

'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। 'कुठारी' शब्द का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग बिल्कुल अप्रचलित होने के साथ ही बड़ी कठिनाई से बोधगम्य होता है। अतः इसे कूट प्रयोग के सदृश कह सकते हैं।

'किन'

ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।[1]

'किन' शब्द 'किस' के बहुवचन 'किसने' के अर्थ में प्रसिद्ध है। क्रिया-विशेषण रूप में इसका अर्थ 'क्यों न, क्यों नहीं' है। इसी आधार पर मानस-पीयूषकार कहते हैं कि 'मेरी समझ में इसके अर्थ में किसी प्रकार के खींचतान की आवश्यकता नहीं है। 'किन' का साधारण अर्थ 'किसने' सभी जानते हैं। इस प्रकार यहाँ सरलता से यह अर्थ हो जाता है कि काँटे किसने प्राप्त किये? अर्थात्, आपके अतिरिक्त देव, मुनि इत्यादि के लिए वन-वन फिर कर काँटे सहना इत्यादि क्लेश किसी ने नहीं उठाये। दूसरे 'किण' संस्कृत शब्द है, उसके अनुसार भी अर्थ ठीक बैठता है और भा० ९।११।१९ के अनुकूल है। वहाँ शुकदेव जी कहते हैं कि प्रभु ने अपने उन कल्याणकारी चरणों को भक्तों के हृदय में स्थापित किया जिनमें दण्डकारण्य के काँटे, कंकड़ आदि गड़े थे— 'स्मरतां हृदि विन्यस्य विध्यं दण्डककण्टकैः। स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः॥'—विद्ध में वही भाव है। इस प्रकार अंजनीनन्दनशरण जी ने अर्थ किया है—'आपको छोड़ और किसने कण्टक वन में फिर कर काँटे प्राप्त किये? अर्थात् आपके सिवा किसी चक्रवर्ती ने ऐसे कष्ट नहीं झेले। एवं जिन चरणों में वन में फिरते समय घाव हो गये थे।'[2] स्पष्ट है कि 'किन' शब्द के 'किसने' और 'घाव' दो अर्थ पीयूषकार ने किये हैं। इस प्रकार यह अर्थ

---

१. मानस ७।१३। छंद १५

२. मा० पी०, उत्तर०, पृ० १०१-१०२

निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। श्रीकान्तशरण जी ने हूबहू पीयूषकार के प्रथम अर्थ को स्वीकार किया है।[1]

श्री रामचरणदास जी 'कंटक किन लहे' के दो प्रकार से अर्थ करते हैं—(क) वे पद वन में फिरते समय 'कंटकी' अर्थात् तामसी जीव, कुश, कंटक, सर्प, बिच्छू, वनचर, कोल, भील, इत्यादि अनेक जीवों को प्राप्त हो गये। (ख) जो ब्रह्मादि को दुर्लभ हैं, वे पद भक्तों के हितार्थ वन में फिरते हुए कंटकों से क्लेश को प्राप्त हुए—यह आपकी कृपालुता है।[2] इस प्रकार 'कंटक किन' एक तो एक शब्द माना गया और उसका अर्थ हुआ 'कंटकियों', 'कंटकी जीवों' ने; दूसरे किन का अर्थ 'क्लेश' हुआ। महावीरप्रसाद मालवीय जी का अर्थ रामचरणदास जी के प्रथम अर्थ से मिलता है। मालवीय जी के अनुसार—'जिन चरणों को कंटकियों अर्थात् काँटों में रहने वाले कोल-भीलों ने पाया।'[3] ज्वालाप्रसाद जी ने इसका अर्थ किया है कि—'जिन चरणों में वन में फिरते समय काँटे गड़ गये हैं।'[4] ग्राउस महोदय ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ किया है—'जिन चरणों में वन में भ्रमण करते समय कठोरता से कंटक चुभ गये थे।'[5] शुकदेवलाल[6] और रामेश्वर भट्ट[7] ने इसका अर्थ किया है कि—'और वन में फिरते-फिरते जिन्होंने काँटों और कंकड़ों तक को क्या नहीं अपना लिया, अर्थात् उनका भी उद्धार कर दिया; ऐसे आपके दोनों चरण-कमलों का हम नित्य भजन करते हैं।' विनायक राव के अनुसार—'जिन्हें बन-बन फिरते समय किसी नीच प्राणी ने भी पा लिया है (जैसे शबरी, किरात, भील, कोल, वानर आदि)।'[8]

मानस-मयंककार लिखते हैं कि—

लहे न कंटक कनकना कंटक मो चलि पाव।
कठिन भूमि इत्यादि को, उत्तर इहाँ देखाव ॥१३३॥

---

१. मानस सि० ति०, तृ० खं०, पृ० २४३६
२. रामा०, पृ० ११८३
३. मानस, पृ० १२१०
४. रामा०, पृ० ११२६
५. "सोरली पिअर्स्ड बाई द थार्न्स ड्युरिंग दाई वान्डरिंग्स इन द फोरस्ट"
—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० ५०४
६. रामा०; पृ० १३
७. रामा०, पृ० १०६३
८. वि० टी०, पृ० ४३

अर्थात्, कोमल चरण से कंटक में चलने पर भी कणमात्र कंटक का फण नहीं लगा, यह 'कठिन भूमि कोमल पद गामी' का उत्तर है। यह श्री रामचन्द्र की ऐश्वर्यता है जिसको हनुमान जी ने जानकर ऐश्वर्य्यता जाना था, उसी ऐश्वर्य्यता को वेद कहता है।[१] ऐसा ही अर्थ विजयानंद त्रिपाठी जी ने किया है—'ध्वज, वज्र, अंकुश और कमल से युक्त किन चरणों में वन में फिरते हुए काँटे चुभे हैं? अर्थात् कोई नहीं।'[२] वंदन पाठक, पं० रामकुमार[३] और अवधविहारीदास[४] ने 'किन' का अर्थ 'घाव' किया है। श्यामसुन्दरदास जी ने भी 'भ्रामक' अर्थ किया है—'काँटों की नोक रह गई है (या चलते-चलते घट्टे पड़े गये हैं)।'[५]

रामश्याम जी ने 'किन' का अर्थ न लगा सकने के कारण 'जिन' पाठ कर दिया है।[६]

उपर्युक्त अर्थों को देखने से पता चलता है कि किसी ने भी 'किन' का निर्भ्रान्त अर्थ नहीं किया है। कतिपय टीकाकारों ने तो 'किन' शब्द को छोड़ दिया है, उसका अर्थ ही नहीं किया।

वास्तविकता यह है कि किन सं० किणः [कण्+अच् पृषोदरादित्वात् इत्वम्] शब्द है जिसका अर्थ है—घट्ठा।[७] 'अभिज्ञान शाकुंतल' में इसी अर्थ में इसका प्रयोग है—

ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति।[८]

'हिन्दी शब्दसागर' और 'तुलसी शब्दसागर' में 'चुभने या रगड़ लगने का चिह्न' अर्थ दिया है।[९] 'बृहत् हिन्दी कोश' में भी 'घट्ठा' अर्थ दिया है।[१०] रामनरेश त्रिपाठी जी 'किन' शब्द का अर्थ 'घट्ठा' करते हुए लिखते हैं कि 'आलमंदार-स्तोत्र' में भी 'किण' का अर्थ 'घट्ठा' किया गया है—

---

१. मा० मं०, वा० इन्द्रदेवनारायण, पृ० ६२६
२. मानस वि० टी०, तृ० भा०, पृ० ३१-३२
३. मा० पी०, उत्तर०, पृ० १०२
४. मानस, पृ० १०३१
५. मानस, पृ० ६८६
६. रामा०, उत्तर०, पृ० १४
७. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २७५
८. अभिज्ञान शाकुंतलम् १।१३
९. दे० क्रमशः पृ० ५६१ और पृ० ८७
१०. दे० पृ० २७७

> शरासनज्याकिणकर्कशैः शुभैः
> चतुर्भिराजानु विलम्बिभिर्भुजैः ।
> प्रियावतंसोत्पलकर्ण भूषणैः
> श्लथालकाबन्धविमर्द शंसिभिः ॥[१]

पोद्दार जी[२] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक[३] ने भी 'किन' का अर्थ 'घट्ठा' किया है। अतएव उक्त अर्धाली का अर्थ होगा—'जिन चरणों में ध्वज, कुलिश, अंकुश और कमल के चिह्न हैं और जिन चरणों में वन में भ्रमण करते समय कंटकों के चुभने से घट्ठे पड़ गये हैं, उन मुक्तिदाता दोनों चरण-कमलों को, हे राम! हे रमापति! हम सर्वदा भजते रहते हैं।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत है। 'किन' शब्द का अर्थ 'घट्ठा' दुर्बोध होने के कारण कूटार्थी कहा जा सकता है।

'दस-चारि, नौ-तीनि, इकीस-सबैं'

> सरजू बर तीरहि तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबैं।
> धनुही कर तीर निषंग कसे कटि पीत दुकूल नवीन फबै ॥
> तुलसी तेहि अवसर लावनिता दस-चारि, नौ-तीनि, इकीस सबैं।
> मति-भारति पंगु भई जो निहारि, बिचारि फिरी उपमा न पबैं ॥[४]

गोस्वामी जी की उपर्युक्त संख्याओं की शब्दक्रीड़ा में कवितावली के प्रायः सभी टीकाकारों ने अपनी सारी बुद्धि लगा दी है, किन्तु किसी का भी अर्थ निर्दोष नहीं कहा जा सकता। हरिहरप्रसाद जी ने इसका अर्थ तीन तरह से किया है—

(१) तेहि अवसर की सोभा दसों जामल, चारों उपवेद, नवों व्याकरन, औ वेदत्रयी एतने में विचारे ॥ औ एकैसो ब्रह्मांड में निहारे जब उपमा न पाई तब सरस्वती की मति पंगु भई वा। (२) दसों दिगपाल और चतुर्व्यूह, नवों देव गन और ब्रह्मादि त्रिदेव सबैते एकीस देषि विचारमति भारती पंगु भई कोऊ अस कहत। (३) चौदहों भुवन, नवों षंड, तीनों लोक औ एकीसो ब्रह्मांड

---

१. मानस, पृ० १०

२. मानस, पृ० ८८३

३. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ६२६

४. कविता० १।७

निहारि विचारि ॥[1] बैजनाथ[2], देवनारायण द्विवेदी[3], चन्द्रशेखर शास्त्री[4], नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक[5] और अखिल भारती विक्रम परिषद् से प्रकाशित 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक[6] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

दस—माधुर्य के दस गुण—रूप, लावण्य, सौंदर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, यौवन, सुगंध, सुवेश, भाग्य, स्वच्छता, उज्वलता।

चार—प्रताप के चार गुण—ऐश्वर्य, वीर्य,, तेज, बल।

नौ—ऐश्वर्य के नौ गुण—अदभ्रता, नियतात्मता, वशीकरण, वाग्मित्व, सर्वज्ञता, संहनन, स्थिरता, वदान्यता।

तीन—सहज या प्रकृति के तीन गुण—सौम्यता, रमण, व्यापकता।

इक्कीस—यश के इक्कीस गुण—सुशीलता, वात्सल्य, सुलभता, गंभीरता, क्षमा, दया, करुणा, आर्द्रव, उदारता, आर्जव, शरण्यत्व, सौहार्द्र, चातुर्य, प्रीतिपालकत्व, कृतज्ञता, ज्ञान, नीति, लोकप्रियता, कुलीनता, अनुराग, निर्वहणता (लोक-विजयी होना)।

इन्द्रदेवनारायण इसका अर्थ करते हैं कि—'श्री शारदा की मति उस समय की सुन्दरता की उपमा चौदहों भुवन, नवों खंड, तीनों लोक और इक्कीस ब्रह्मांडों में जब विचापूर्वक खोजने पर भी नहीं पा सकी, तब कुंठित हो गयी।' पाद-टिप्पणी में यह अर्थ दिया है—'उस समय शोभा की उपमा पाने के लिए शारदा दसों यामल-तंत्र, चारों उपवेद, नवों व्याकरण, वेदत्रयी और इक्कीस ब्रह्मांडों में सर्वत्र फिरी, परन्तु उन सबको देख और विचार कर भी उसकी बुद्धि कुंठित हो गयी। अर्थात्, उसे उस शोभा के योग्य कोई भी उपमा नहीं मिली।' यह अर्थ हरिहरप्रसाद जी का प्रथम अर्थ है।[7] ग्रंथवाची अर्थों की सरणि में स्थानवाची अर्थ देना दोषपूर्ण है। श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ किया है—'श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सरस्वती की बुद्धि ने उस समय की

१. कविता०, पृ० ५
२. कविता०, पृ०१७-१८
३. कविता०, पृ० ६
४. ,, पृ० १२-१३
५. कविता०, पृ० १३२
६. द्वि० खं०, पृ० १६२
७. कविता०, पृ० ५

सुन्दरता की उपमा चौदहों भुवनों, नवों खण्डों और तीनों लोकों में विचार-पूर्वक देखा, तो सबसे बढ़कर ही पाया । सब देखने पर भी जब उपमा नहीं पा सकी, तब वह लौट पड़ी और फिर पंगु (ढूँढ़ने की गति से रहित) हो गई ।'[1]

चम्पाराम मिश्र जी ने इसका अर्थ किया है—'दस = दिशा; चारि = चार युग; नौ = नौ खंड; तीन = तीनों काल; इक्कीस = ७ लोक, १४ भुवन ।' हरिहरप्रसाद जी के द्वितीय अर्थ से प्रभावित होकर लाला भगवानदीन[2] और डॉ० माताप्रसाद गुप्त[3] ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'तुलसीदास कहते हैं कि उस समय की जमात की सुन्दरता देखकर सरस्वती उपमा खोजने लगी और दशों दिग्पालों, चारों चतुर्व्यूहियों (कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध), नवों अवतारों (मच्छ, कच्छादि; रामावतार को छोड़कर) और तीनों ईशों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की जमातों से राम की जमात की शोभा सबसे इक्कीस (बढ़कर) पाई ।' हरिहरप्रसाद जी का अर्थ अनेकार्थ-प्रधान है । कौन-सा अर्थ उनको मान्य था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता । आधुनिक समस्त टीकाकार उनसे प्रभावित लगते हैं । बैजनाथ जी और सभा के सम्पादकों का अर्थ भी तर्कसंगत नहीं लगता । माधुर्य के गुणों को छोड़कर प्रताप, ऐश्वर्य, प्रकृति और यश के गुणों में कोई लावण्य का आभास नहीं होता । यह अर्थ पाण्डित्यपूर्ण है । चौदह भुवनों के अन्तर्गत ही तीन लोक और नौ खंड आ गये । अतः नौ और तीन का अर्थ 'नौ खंड और तीन लोक' करने से पुनरुक्ति दोष आ जाता है । भुवन, लोक और खंडों के क्रम से देखने में बिलकुल असंगत नहीं कहा जा सकता, तथापि यह अर्थ पूर्णरूपेण ग्राह्य भी नहीं है । यामल-तंत्र, चारों उपवेद, नवों व्याकरण, वेदत्रयी में लावण्य छिपा नहीं है । अतः इन्द्रदेवनारायण के इस अर्थ को भी स्वीकार करने में संकोच होता है । यदि सभी संख्याओं का अर्थ ग्रंथवाची हो जाय, तो इसे ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु इक्कीस का ग्रंथवाची अर्थ नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार श्रीकांतशरण जी का अर्थ असंगत प्रतीत होता है ।

चौदह भुवनों में नवों खंड और दसों दिशाएँ आ गयीं । तीनों काल में चार युग भी आ गये । अतः चम्पाराम मिश्र जी का यह अर्थ भी ग्रहणीय नहीं है ।

---

१. कविता सि० ति०, पृ० ११

२. कवितावली, पृ० ५

३. कविता०, पृ० ६६

लाला भगवानदीन जी और डॉ० माताप्रसाद गुप्त जी का अर्थ, जिसका समर्थन डॉ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने भी किया है[1], भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि लाला भगवानदीन जी स्वयं कहते हैं कि—'हमने जो अर्थ किया है, उसमें कालदोष है अवश्य, पर साहित्यिक दृष्टि से हमें वही जँचता है।'[2]

'नौ' का अर्थ 'नौ अवतार' भी संगत नहीं प्रतीत होता है। मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह आदि अवतारों को स्वरूप की दृष्टि से सुन्दर कहना उचित नहीं है। ये अवतार कार्य-विशेष के लिए हुए थे। 'स्वरूप' की दृष्टि से सुंदर मात्र ये अवतार हैं— राम और कृष्ण। डॉ० मिश्र और डॉ० गुप्त का अर्थ भी असंगत प्रतीत होता है। मेरे विचार से उक्त अर्थों के अतिरिक्त 'दस-चारि', 'नौ-तीनि' और 'इक्कीस' का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—

दस-चारि का अर्थ है—चौदह भुवन। उपमा चौदह भुवनों में खोजने का उल्लेख स्वयं कवि ने किया है—

देखहु खोजि भुवन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ अस नारी ॥[3]

नौ और तीनि का अर्थ है—बारह। सरस्वती, ब्रह्मा, पार्वती, महादेव, शेष, गणेश, लोमश, काकभुशुंडि, नारद, लक्ष्मी, विष्णु और हनुमान ये बारह देवी, देवता और मुनियों ने एक स्वर से यह घोषणा कर दी है कि राम के समान पुरुष नहीं है। नारद जी तो १४ भुवनों में देख आये हैं कि 'राम के समान कोई नहीं है।' आश्चर्य है कि इसका उल्लेख उक्त व्याख्येय छन्द के आगे की नवीं घनाक्षरी में हुआ है। यथा—

बानी बिधि गौरी हर सेसहू गनेस कही,
कही भरी लोमस भुसुंडि बहुबारिखो।
चारिदस भुवन निहारि नर नारि सब,
नारद को परदा न नारद सो पारिखो ॥
तिन कहि जग में जगमगति जोरी एक,
दूजो की कहैया औ सुनैया चषचारिखो।
रमा रमारमन, सुजान हनुमान कही,
'सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो ॥'[4]

इसमें 'चारिदस भुवन' शब्द भी आया है।

---

१. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २५०-५२
२. कविता०, पृ० ६६
३. मानस २।११६।४
४. कविता० १।१६

'इक्कीस' का अर्थ 'बढ़कर या श्रेष्ठतर'[१] है। अन्तिम पंक्ति का अर्थ होगा —'सरस्वती जिसकी बुद्धि भी (उन लोगों के साथ) कुंठित हो गयी थी, उपमान को देखकर और यह विचार कर लौट आयी कि राम की उपमा कहीं नहीं प्राप्त हुई। अन्य सब लोग तो अपने-अपने स्थान पर चले गये। सरस्वती लौट आयी, क्योंकि सरस्वती जी वागधिष्ठातृ देवी, श्रुतियों, शास्त्रों की स्रष्टी और विद्वानों की श्रेष्ठ जननी हैं। विद्वान् लोग ब्रह्मा, विष्णु, शंकर और गणेश आदि से उपमा न पूछकर इन्हीं सरस्वती देवी से पूछते हैं। उपमाओं को ढूंढ़कर बताने का मुख्य कार्य इन्हीं का है—

देखि मनोहर चारिउ जोरीं। सारद उपमा सकल ढँढोरीं॥
देत न बनहिं निपट लघु लागीं। एकटक रहीं रूप अनुरागीं॥[२]

राम निरुपम हैं भी—

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहे।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहे॥[३]

विद्वानों की भक्ति पर रीझकर सरस्वती जी दौड़कर आती हैं—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥[४]

यहाँ पर 'जो निहारि बिचारि फिरी' से स्पष्ट होता है कि सरस्वती जी उस समाज को छोड़कर लौट आयी थीं।

'पबै' शब्द संस्कृत प्रापण, प्राकृत पावण से विकसित है जिसका अर्थ है— प्राप्त हुई।[५] पूरे छन्द का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

राम, उनके सखा और सब भाई सरयू के तट पर घूमते फिर रहे हैं। उनके हाथ में छोटे-छोटे धनुष-वाण हैं, कमर में तरकस कसे हैं और शरीर पर नवीन पीताम्बर सुशोभित हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि उस समय के लावण्य की उपमा सरस्वती, ब्रह्मा, पार्वती, महादेव, शेष, गणेश, लोमश, काकभुशुंडि, नारद, लक्ष्मी, विष्णु और हनुमान—ये बारह देवी, देवता और मुनि सभी ने चौदह भुवनों में देखी, किन्तु राम श्रेष्ठतर अर्थात् इक्कीस मिले। सरस्वती जिनकी बुद्धि भी कुंठित हो गयी थी, उपमान को देखकर

१. दे० मानक हिन्दी कोश, प्र० खं०, पृ० ३०४
२. मानस १।३४९।७
३. वही ७।९२।छन्द ९-१०
४. वही १।११।४
५. दे० तुलसी शब्दसागर, पृ० २८२

और यह विचार करके लौट आयीं कि राम की उपमा कहीं नहीं प्राप्त हुई।"

'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यह अर्थ तर्कसंगत भी लगता है, कालदोष भी नहीं है एवं विशेष खींचतान की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

इसके अर्थज्ञान में हमारी बुद्धि शीघ्र प्रवेश नहीं कर पाती, अतः यह कूट प्रयोग है।

'हार'

कानन उजार्यो तौ उजार्यो न बिगारेउ कछु,
बानर बिचारो बाँधि आन्यो हठिहार सों ॥[१]

'हार' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है—पराजय। इसी आधार पर चम्पाराम मिश्र ने इसका अर्थ किया है कि 'हठ जिससे हार गया (मेघनाद)'।[२] किन्तु यहाँ यह अर्थ संगत नहीं है। हिन्दी 'हल' से विकसित 'हार' का अर्थ है—खेत, चारागाह। 'हार' देशज शब्द का अर्थ है—वन, जंगल।[३] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'(मंदोदरी कहती है कि) जंगल को उजाड़ा तो उजाड़ा, उसने कुछ बिगाड़ा नहीं था (क्योंकि वृक्षों की शाखाओं को तोड़ना तो बंदर का स्वभाव है), किंतु इस बेचारे बंदर को वन से हठपूर्वक बाँधकर ले आए।'

लाला भगवानदीन जी, श्रीकांतशरण जी और देवनारायण द्विवेदी जी ने 'वन' ही अर्थ किया है।[४] चन्द्रशेखर शास्त्री जी ने 'वाटिका' अर्थ किया है।[५] 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से 'वन' ही अर्थ निश्चित होता है, क्योंकि बंदर 'कानन' को उजाड़ करके वहीं था और वहीं से मेघनाद बाँधकर लाया था। यहाँ 'हार' शब्द का 'जंगल' अर्थ सरलता से नहीं ज्ञात होता, अतः इसे कूटोन्मुखी शब्द कहा जा सकता है।

'चारिहु को छहु को नव को दस आठ को'

चारिहु को छहु को नव को दस आठ को पाठ कुकाठ ज्यों फारै ॥[६]

यहाँ 'चारिहु' का तात्पर्य चारों वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद

---

१. कविता० ५।११
२. कविता०, पृ० ३६
३. मानक हिन्दी कोश, पं० खं०, पृ० ५४३
४. दे० क्रमशः कविता०, पृ० ४६, सि० ति०, पृ० १०७ और पृ० ५७
५. कविता०, पृ० १६
६. वही ७।१०४

से है। 'छहु' का अर्थ—छह शास्त्र—सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) है। 'नव' का अर्थ है—नौ व्याकरण—इन्द्र, चन्द्रमा, काशकृत्स्न, शाकटायन, आपिशलि, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र और सरस्वती। ये नौ इन्हीं आचार्यों के चलाये हुए हैं और इसी नाम से प्रसिद्ध हैं।[1]

'दस-आठ' का अर्थ है—अठारह पुराण—मत्स्य पुराण, मार्कण्डेय पुराण, भविष्य पुराण, भागवत पुराण, शिव पुराण, विष्णु पुराण, वाराह पुराण, वामन पुराण, ब्रह्म पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मांड पुराण, अग्नि पुराण, नारद पुराण-पद्म पुराण, लिंग पुराण, गरुड़ पुराण, कूर्म पुराण और स्कन्द पुराण।[2]

१८ पुराण और ६ शास्त्र का उल्लेख रामायण की आरती में भी हुआ है—

गावत वेद पुराण अष्टदस। छओ शास्त्र सब ग्रंथन को रस॥

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'चारों वेद, छहों शास्त्र, नवों व्याकरण का पढ़ना ऐसा ही निष्फल है, जैसे कुकाष्ठ को चीरना निष्फल होता है, क्योंकि कुकाष्ठ कभी सीधा नहीं होता (उपयोगी नहीं होता)।' यह पूर्णरूपेण कूट प्रयोग है।

'अवन'

सीय-सोच-समन, दुरित-दोष दमन, सरन
आए अवन, लखन प्रिय प्रान सो॥८८॥

'अवन' पुल्लिग संस्कृत शब्द है जो '√अव (रक्षण आद)+ल्युट-अन' प्रत्यय लगाकर बना है जिसका अर्थ है—'रक्षा, बचाव।'[3] अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'(जो हनुमान जी) श्री सीता जी के शोक का नाश करने वाले, पापों और दोषों को समाप्त करने वाले, शरणागत की रक्षा करने वाले और लक्ष्मण जी को प्राणों के समान प्रिय हैं।' 'अवन' शब्द का अर्थज्ञान बिना कोश की सहायता से नहीं हो पाता। अतः इसे कूटोन्मुखी शब्द कहा जा सकता है।

---

१. कविता०, टीकाकार इन्द्रदेवनारायण, पादटिप्पणी, पृ० १७०
२. मा० पी० बाल०, खं० १, पृ० ३७; बाहुक० ८
३. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६६

'समाधि'

व्याधि भूत-जनित उपाधि काहू खल की,
समाधि कीजै तुलसी की जानि जन फुरकै ।[1]

'समाधि' शब्द का बहुप्रचलित अर्थ है—(१) ईश्वर के ध्यान में मग्न होना, मन को ध्यानस्थ करने की स्थिति अथवा विधि, योग । (२) मृत व्यक्ति को जमीन में गाड़ना ।

प्रथम अर्थ में कवि ने 'समाधि' का प्रयोग अन्यत्र किया है—

संकर सहज सरूप सँभारा । लागि समाधि अखंड अपारा ।।[2]
बीतें संबत सहज सतासी । तजी समाधि संभु अबिनासी ।।[3]

उक्त पंक्ति के 'समाधि' का अर्थ 'तुलसी शब्दसागर' के सम्पादक ने 'मृत व्यक्ति को जमीन में गाड़ना' किया है । किंतु यह अर्थ यहाँ बिल्कुल भ्रमपूर्ण और असंगत है ।

हरिहरप्रसाद[4], श्रीकांतशरण[5], महावीरप्रसाद मालवीय[6] देवनारायण द्विवेदी[7], श्री अंजनीनंदनशरण[8] ने इसका अर्थ 'समाधान, मन का संदेह दूर करने वाली बात, शांत' किया है । 'हिन्दी शब्दसागर' में 'समाधि' शब्द का आठवाँ अर्थ 'विवाद का अंत करना, झगड़ा मिटाना' दिया है ।[9] 'मानक हिन्दी कोश' में इसका प्रयोग स्थानिक मान करके 'समाधान' अर्थ किया गया है और उदाहरणस्वरूप यही पंक्ति प्रस्तुत की गयी है । 'प्रकरण' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है । अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'रोग भूत-प्रेत द्वारा उत्पन्न किया हुआ है या यह उत्पात किसी दुष्ट ने किया है ? अपना वास्तविक दास जानकर तुलसीदास का समाधान कीजिये ।' 'समाधि' शब्द का प्रयोग यहाँ 'समाधान' अर्थ में कूटोन्मुखी कहा कहा जायेगा ।

---

१. बाहुक ४३
२. मानस १।५८।८
३. वही १।६०।२
४. बाहुक, पृ० २८६
५. ,, सि० ति०, पृ० १८२
६. ,, ,, पृ० ३८
७. ,, ,, पृ० ३६
८. पीयूषवर्षिणी टीका, पृ० १७०
९. दे० पृ० ३४५७

'द्विजबंधु'

बृत्र बलि बाण प्रहलाद मय व्याध गज गृद्ध द्विजबंधु निजधर्म
साधुपद-सलिल-निर्धूत-कल्मष सकल, स्वपच यवनादि कैवल्य त्यागी ।।[१]

'द्विजबंधु' का शाब्दिक अर्थ है—'ब्राह्मण भाई' । संस्कृत में 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' के आगे 'बंधु' शब्द जोड़कर उनकी 'अधमता' का बोध कराया जाता था । हिन्दी में ऐसी बात बहुत प्रचलित नहीं है । किंतु संस्कृत में यह बहुप्रचलित था । हिन्दी में 'मिश्रबंधु' को बड़ी पूज्य दृष्टि से देखा जाता है ।

'वाचस्पत्यम् कोश' में 'ब्राह्मणान् बन्धून' का अर्थ—'व्यपदिशति न स्वयं ब्राह्मणवृत्तः' दिया है ।[२] आप्टे ने अपने 'कोश' में 'ब्रह्मबंधु' का अर्थ दिया है—'ब्राह्मण के लिए तिरस्कारसूचक शब्द, अयोग्य ब्राह्मण, जो केवल जाति से ब्राह्मण हो, नाम मात्र का ब्राह्मण ।'[३] 'क्षत्रबंधु' का अर्थ दिया है—'क्षत्रिय मात्र, अपक्षत्रिय, घृणित या निकम्मा क्षत्रिय ।'[४]

गोस्वामी जी ने 'अधम क्षत्रिय' के अर्थ में 'छत्रबंधु' का प्रयोग किया है—

छत्रबंधु तैं बिप्र बोलाई । घालै लिए सहित समुदाई ।।[५]

यह 'छत्रबंधु' प्रतापभानु के लिए आया है । कुछ लोगों ने इसका अर्थ 'राजा' किया है । किन्तु यह अर्थ बिल्कुल असंगत है ।

अतएव 'द्विजबंधु' शब्द का अर्थ यहाँ 'द्विजाधम' या 'नीच ब्राह्मण' है । यह 'द्विजबंधु' अजामिल के लिए आया है । उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—

'वृत्रासुर, बलि, बाणासुर, प्रहलाद, मय दानव, व्याध, गजेन्द्र, गृध्रराज जटायु, अपने धर्म को त्याग देने वाला अधम ब्राह्मण अजामिल, श्वपच और यवन आदि सबके सब समस्त पापों को साधुचरणामृत से बिल्कुल धोकर कैवल्य के अधिकारी हुए ।'

अजामिल के लिए 'विप्रबंधु' का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है—

बेद-बिदित जग-बिदित अजामिल विप्रबंधु अघधाम ।[६]

---

१. विनय० ५७
२. दे० पृ० ४५६८
३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७२३
४. वही, पृ० ३१५
५. मानस १।१७४।१
६. विनय० १४४

भागवत में 'द्विजबंधु' का प्रयोग उक्त अर्थ में हुआ है—

'स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।'[१]

'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। 'अधम ब्राह्मण' के अर्थ में 'द्विजबंधु' शब्द को कूटोन्मुखी कहा जायगा।

'चारि'

चारि चहत मानस अगम चनक चारि को लाहु ।
चारि परिहरे चारि को दानि चारि चख चाहु ॥[२]

यहाँ संख्यावाची शब्द 'चारि' का प्रयोग पाँच बार हुआ है। इनके अर्थों में परस्पर मतभेद है।

श्रीनारायण सिंह लिखते हैं कि 'मनुष्य चार फल चाहता है। परन्तु उसका मिलना अगम है, क्योंकि वह चार चनों (अर्थात् संपत्ति-संचय) के लाभ में लगा रहता है। इसके अतिरिक्त उसे यह आवश्यक होता है कि वह काम, क्रोध, मद, लोभ इन चार विषयों को परिहरे अर्थात् त्यागे। तन, मन, धन, धाम इन चारों का दान कर दे। (चारि को दानि) अर्थात् उनमें आसक्त न रहे तथा वह इतना सावधान रहे कि उसकी दृष्टि (चारि चख चाहु) चारों ओर चौकन्ना रहे।'[३]

पं० कालीप्रसाद ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'(चारि) चारों वेद और (अगम) शास्त्र (मानस चहह) मन से चाहते हैं; क्या (चारि को लाहु), धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का लोभ, कैसे (चनक) अर्थात् बड़ी शान से, किन्तु यादि (चारि परिहरे) चारों वेद व धर्मादि नहीं प्राप्त हैं, तो (चारि को दानि) पूर्वोक्त चारों को देने वाले श्रीराम जी को (चारि चख, भीतर और बाहर की मिलकर चारों आँखों से (चाहु) चाहो। तात्पर्य यह कि वेद और शास्त्र बड़ी शान से चारों वर्ग चाहते हैं, संभव है कि उनसे मिल जाते हों, किन्तु यदि तुम उन चारों को नहीं जानते तो उन सबों के देने वाले की शरणागत होवो जिसमें पदार्थ-चतुष्टय एक ही साथ मिल जाय।'

दूसरा अर्थ इस प्रकार है—

'(चारि चहत) चारों वेद, वर्ण व आश्रम (चनक) बड़े जोर से चाहते हैं

१. भागवत १।४।२५
२. दोहा० १५१
३. क्रान्तिकारी तुलसी, पृ० ६०

क्या (मानस अगम) जो मन से भी अप्राप्य है। सो क्या (चारि को लाहु) धर्मार्थ काम मोक्षों की प्राप्ति। गोस्वामी जी कहते हैं कि यह परिश्रम बेकार है, अतः (चारि परिहरे) इन चारों को छोड़कर (चारि को दानि) चारों पदार्थों के देने वाले तथा (चारि चख) चारों तरफ जाने वाली है आँख जिनकी ऐसे कमलनयन को (चाहु) चाहो। अथवा हे चारि चख, चारों ओर जाने वाली नेत्रो ! मन से भी अप्राप्य है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति उसे चारों वेद व वर्ण व आश्रम चाहते हैं किंतु बिना चारि के देने वाले श्रीराम जी के यह परिश्रम व्यर्थ है। अतः तुम इधर-उधर भटकते न फिरके श्रीराम को चाहो।'[1]

हिन्दी प्रेस के सम्पादक लिखते हैं कि—'तुलसीदास कहते हैं कि संसार में चार प्रकार (अण्डज, पिण्डज, स्वदेज और उद्भिज) प्राणी होते हैं और ये चारों अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को पाने की इच्छा करते हैं, किन्तु ये चारों पदार्थ मन एवं वाणी से अलग हैं। अर्थात् यदि कोई वाणी से इनके नाम कहे या इनका मन में मनन करे तो ये प्राप्त नहीं होते। अतः यदि कोई इन चार पदार्थों को प्राप्त करना चाहे तो चतुर जन को उचित है कि काम, क्रोध, लोभ और मोह को त्याग दे और चतुर्वर्गदाता भगवान् श्रीराम की कृपाकोर को प्राप्त करने की चाहना करे। ऐसा करने में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—ये चारों पदार्थ सहज में प्राप्त हो जाते हैं।'[2] 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक ने भी तीसरे 'चारि' का अर्थ 'काम, क्रोध, लोभ और मोह' किया है।[3]

यहाँ पर प्रथम 'चारि' का अर्थ 'चारों वेद' अप्रासंगिक है और 'अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज आदि प्राणी' अर्थ भी संगत नहीं है। यह आरोपित लगता है। द्वितीय 'चारि' का अर्थ 'अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष' भी असंगत है। 'लाहु' का अर्थ 'लोभ' नहीं होता। 'लाहु' संस्कृत लाभ से विकसित है जिसका अर्थ 'लाभ-प्राप्ति' है। यहाँ 'अगम' का अर्थ 'शास्त्र' नहीं, अपितु 'अलभ्य, दुर्लभ' है। गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी ऐसा ही प्रयोग किया है—

बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।[4]

---

१. दोहावली की कौमुदी टीका, पृ० ७६-८०
२. दोहा०, पृ० ६०
३. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० १३०
४. कविता० ७।७३

'चनक' का अर्थ 'बड़े जोर से चाहना' और 'बड़ी शान से' तो बिल्कुल असंगत है।

तृतीय 'चारि' का अर्थ 'चारों वेद व धर्मादि नहीं प्राप्त होते' भी असमीचीन है। 'काम, क्रोध, मद, लोभ' या 'काम, क्रोध, लोभ, मोह' अर्थ भी संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ये संख्या में छह (षट्) हैं और 'षट्विकार' के नाम से प्रसिद्ध हैं—

षड़ बिकार जित अनघ अकामा ।।[1]

छह विकार इस प्रकार हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मद। अतः तृतीय 'चारि' का अर्थ 'काम, क्रोध, लोभ, मोह' असंगत है। चतुर्थ 'चारि' का अर्थ—तन, मन, धन और धाम खींचतान का है। गोस्वामी जी ने राम जी को चारों फल देने के लिए 'सुगम' कहा है—मोको अगम सुगम तुम्ह को प्रभु ! तउ फल चारिन चहिहौं।[2]

पंचम 'चारि चख चाहु' का अर्थ 'चारों ओर चौकन्ना रहना और चारों तरफ जाने वाली आँख' भी असंगत है। गोस्वामी जी दो भीतर और दो बाहर चार आँखों को मानते हैं—

तुलसी जाके होयगी अंदर बाहिर दीठि।
सो कि कृपालुहिं देइगो केवट पालहिं पीठि ।।[3]

यहाँ 'चाहु' का अर्थ 'चाहो' नहीं 'देखो' है। 'देखने' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर किया है—सखी सीय मुख पुनि पुनि चाही।[4] वस्तुतः उक्त दोहे के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ 'चारि' का अर्थ 'अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष' है। द्वितीय और पंचम 'चारि' का अर्थ 'चार' संख्या है। अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—'मनुष्य मन से भी अलभ्य अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की कामना (सर्वदा) करता है। परन्तु होता है परम दरिद्र। अतएव इन चारों की कामना त्यागकर, उन चारों फलों के प्रदाता (श्रीराम जी) को चारों नेत्रों—दो बाहरी (चर्मचक्षु) और दो अन्दर के (ज्ञान-वैराग्य) से देखो।'

'चार चने का लाभ' मुहावरा है जो दारिद्र्य की चरम सीमा का

१. मानस ३।४५।७
२. विनय० २३१
३. दोहा० ४६
४. मानस १।३४६।५

बोधक है। प्रकरण 'नामक' अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। श्रीकांतशरण[1], पोद्दार[2] और वंदन पाठक ने[3] ऐसा ही अर्थ किया है। यहाँ 'चारि' शब्द का प्रयोग पूर्णरूपेण 'कूट' है।

'घर'

घर कीन्हे घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच ही राम-प्रेमपुर छाइ॥[4]

'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक ने इसका अर्थ किया है—'यदि घर में रहते हैं तो ध्यान-रूपी घर नष्ट होता है और यदि ध्यान-रूपी घर में रहते हैं तो यह संसार का घर जाता रहता है, इसलिए तुलसी ने तो वन में ही राम के प्रेम-नगर में घर बना लिया है।'[5] स्पष्ट है कि इस अर्थ में द्वितीय घर का अर्थ 'ध्यान-रूपी घर' किया गया है और 'घर बन बीच' का अर्थ छोड़ करके असंगत अर्थ किया गया है। अतः यह अर्थ अग्राह्य है।

उक्त दोहे में पाँच बार 'घर' का प्रयोग किया गया है। प्रथम, चतुर्थ और पंचम 'घर' का सम्बन्ध लौकिक 'घर' से है और द्वितीय घर का संबंध पारलौकिक घर से है। तृतीय घर का अर्थ गृहस्थी है। अतएव उक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार होगा—'तुलसीदास जी कहते हैं कि लौकिक घर में (आसक्तिपूर्वक) रहने से वास्तविक घर (पारलौकिक घर) नष्ट हो जाता है और गृहस्थी छोड़ कर वन में संन्यास ग्रहण कर रहने से लौकिक घर नष्ट हो जाता है। अतएव तू लौकिक घर और वन के मध्य में ही (अर्थात् लौकिक घर में ही अनासक्ति-भाव से रहकर) श्रीराम 'प्रेमनगर बसा।' तात्पर्य यह है कि भगवत्प्रेम में गृहस्थाश्रम बाधक नहीं है, अपितु गृहासक्ति बाधक है। लगभग ऐसा ही भाव इसके पूर्व भी कहा गया है—

सीस उघारन किन कहेउ बरजि रहे प्रिय लोग।
घर ही सती कहावती जरती नाह-बियोग॥[6]

अन्यत्र भी घर में अनासक्ति-भाव से रहने की प्रशंसा की गयी है—

---

१. दोहा० सि० ति० पृ० २१४
२. ,, पृ० ४७
३. ,, पृ० ५३
४. दोहा० १४२
५. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० १४४
६. दोहा० २५४

लखनु राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरतु सराहन जोगू॥[१]

'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। पोद्दार[२], श्रीकांतशरण[३] और पं० कालीप्रसाद[४] ने ऐसा ही अर्थ किया है। यहाँ पर 'पारलौकिक गृह' अर्थ में 'घर' का प्रयोग कूटोन्मुखी कहा जायगा।

'स्रुतिगुन, करगुन, पु-जुग, सखाउ'

स्रुति-गुन करगुन, पु-जुग मृग हय, रेवती सखाउ।
देहि लेहि धन धरनि धरु, गएहु न जाइहि काउ॥[५]

गुण—सत्त्व, रज और तम तीन होते हैं। अतः गुण से यहाँ 'तीन' संख्या का बोध होता है।

'स्रुतिगुन' का तात्पर्य है—श्रवण से तीन नक्षत्र—श्रवण, धनिष्ठा और शतभिक्।

'करगुन' का अर्थ है—हस्त से तीन नक्षत्र—हस्त, चित्रा और स्वाती।

'पु-जुग' का अर्थ है—दोनों 'पु', अर्थात् 'पु' से आरंभ होने वाले पुष्य और पुनर्वसु।

'सखाउ' का अर्थ है—अनुराधा।[६]

अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—'श्रवण, धनिष्ठा, शतभिक्, हस्त, चित्रा, स्वाति, पुष्य पुनर्वसु, मृगशिरा, अश्विनी, रेवती और अनुराधा—इन बारह नक्षत्रों में धन, भूमि और धरोहर का लेन-देन करो, तो जाता हुआ धन भी कहीं नहीं जायगा।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। दोहावली के प्रायः सभी टीकाकारों ने ऐसा ही अर्थ किया है। 'स्रुति-गुन, करगुन, पु-जुग, सखाउ' कूट प्रयोग है।

---

१. मानस २।३२५।२-३
२. दोहा० ८९
३. ,, सि० ति०, पृ० ३३९
४. ,, कौमुदी टीका, पृ० १२६
५. दोहा० ४५६
६. स्वात्यादित्य मृदुद्विदैव गुरुभे कर्णमयाश्चे चरे। पादटिप्पणी, तुलसी-ग्रंथावली, ना० प्र० स०, काशी, पृ० ११८

'ऊगुन, पूगुन, वि, अज, कृ, म, आ, भा, अ, मू'

ऊगुन पूगुन वि अज कृ म, आ भ अ मू गुनु साथ।
हरो धरो गाड़ो दियो धन फिर चढ़ै न हाथ।।[1]

'ऊगुन' का अर्थ है—'उ' से प्रारंग होने वाले तीन नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपद।

'पूगुन' का तात्पर्य है—'पू' से प्रारंभ होने वाले तीन नक्षत्र पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़, पूर्वाभाद्रपद।

'वि' से विशाखा, 'अज' से 'रोहिणी', 'कृ' से 'कृत्तिका', 'म' से 'मघा', 'आ' से 'आर्द्रा', 'भ' से 'भरणी', 'अ' से 'अश्लेषा' और 'मू' से 'मूल' का तात्पर्य है।[2]

अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—'उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपद, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़, पूर्वाभाद्रपद, विशाखा, रोहिणी, कृत्तिका, मघा, आर्द्रा, भरणी, अश्लेषा और मूल को भी पूर्वोक्त दोहे के साथ समझ लो—इन चौदह नक्षत्रों में यदि धन चोरी हो जाय, धरोहर रक्खा जाय अथवा पृथ्वी में गाड़ा हुआ तथा उधार दिया हुआ धन पुनः हस्तगत नहीं होता। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। दोहावली के लगभग सभी टीकाकारों ने ऐसा ही अर्थ किया है। इसे भी कूट प्रयोग कहा जा सकता है।

'रबि, हर, दिसि, गुन, रस, नयन, मुनि'

रबि हर दिसि गुन रस नयन, मुनि प्रथमादिक बार।
तिथि सब-काज-नसावनी, होइ, कुजोग बिचार।।[3]

रवि – भिन्न पुराणों के अनुसार इनके नामों में कुछ भिन्नता है। धाता, मित्र, वरुण, अर्यमा, रुद्र, भग, सूर्य, विवस्वान, पूषा, सविता आदि १२ सूर्य कहे जाते हैं।

हर—मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतुध्वज, उग्ररेता, भव, काल,

---

१. दोहा० ४५७

२. तीक्ष्ण मीश्र ध्रुवोग्रैर्थंत् द्रव्यंदत्तं निवेशित।
प्रयुक्तंच, विनष्ठंच, विष्ट्यांपाते च नाप्यते।।
—तुलसी-ग्रंथावली, ना० प्र० स०, काशी, पादटिप्पणी, पृ० ११८

३. दोहा० ४५८

वामदेव, धृत, व्रत। दूसरे मत के अनुसार—अज, एकपाद, अहिर्बुध्न, त्वष्टा, रुद्रा, हर, शंभु, त्र्यम्बच, अपराजित, ईशान, त्रिभुवन—ये एकादश रुद्र हैं।[१]

दिसि—दिशायें दश हैं—'पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। प्रत्येक दो दिशाओं के बीच में एक कोण भी होता है। इनके नाम क्रम से अग्नि, नैॠत या निॠति, वायु और ईश के नाम पर रखे गये हैं। इनके सिवा एक दिशा ऊर्ध्व या सिर के ऊपर की ओर और दूसरी अधः या पैर के नीचे की ओर भी मानी जाती है।'[२]

गुन—गुण तीन होते हैं—सत्त्व, रज और तम।

रस—रस छह होते हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय।[३]

नयन—नेत्र सबके दो ही होते हैं।

मुनि—मुनि सात कहे जाते हैं—कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, यमदग्नि और वशिष्ठ।[४]

'रबि, हर, दिनि, गुन, रस, नयन और मुनि' से क्रमशः द्वादशी, एकादशी, दशमी, तृतीया, षष्ठी, द्वितीया और सप्तमी तिथियों की ओर संकेत है। अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—'द्वादशी, एकादशी, दशमी, तृतीया, षष्ठी, द्वितीया और सप्तमी—ये तिथियाँ यदि क्रमशः रवि, सोम, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र और शनिवार को पड़ें तो ये सब कार्य नष्ट कर देती हैं और यह कुयोग समझा जाता है।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। 'रवि, हर, दिसि, गुन, रस, नयन और मुनि' पूर्णतः कूट प्रयोग है।

'ससि, सदगुन, मुनि, फल, बसु, हर, भानु'

> ससि सर नव दुइ छ दस गुन, मुनि फल बसु हर भानु।
> मेषादिक क्रम तें गनहिं घात चन्द्रजिय जानु॥[५]

'ससि'—चन्द्रमा एक है।

'सर'—वाण पाँच कहे जाते हैं—'कामदेव के पाँच वाणों के नाम द्रवण,

---

१ पद्मिनी मेनन, पुराण-संदर्भ कोश, पृ० २३५

२. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ४७२

३. वही, पृ० ८३८

४. तुलसी-शब्दसागर, पृ० ४४४

५. दोहा ४५६

शोषण, तापन, मोहन, उन्मादन हैं तथा पाँच पुष्पवाणों के नाम कमल, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलोत्पल हैं।'[१]

'मुनि'—सात हैं जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

'फल'—चार हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष।[२]

'बसु'—आठ हैं—'धर, ध्रुव, आप, अनिल, अनल, सोम, प्रत्यूष और प्रभास।'[३]

'हर'—ग्यारह हैं—इनका उल्लेख पीछे हो चुका है।

'भानु'—'बारह' कहे जाते हैं। इनका भी उल्लेख इसके पहले हो चुका है।

'ससि, सर, गुन, मुनि, फल, बसु, हर और भानु' से क्रमशः १, ५, ३, ७, ४, ८, ११ और १२ संख्याओं की ओर संकेत किया गया है।

अतएव उक्त दोहे का अर्थ होगा—'मेष के प्रथम, वृष के पाँचवें, मिथुन के नवें, कर्क के दूसरे, सिंह के छठे, कन्या के दसवें, तुला के तीसरे, वृश्चिक के सातवें, धन के चौथे, मकर के आठवें, कुंभ के ग्यारहवें और मीन राशि के बारहवें चन्द्रमा पड़ जायँ तो उसे मन में घातक समझो।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत लगता है। 'ससि, सर, गुन, मुनि, फल, बसु, हर और भानु' कूट प्रयोग हैं।

'बेद, अकास'

बेद-नाम कहि अँगुरिनि खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लषन के पास॥[४]

'वेद' 'श्रुति' के रूप में विख्यात हैं, किन्तु यहाँ 'वेद' का अर्थ 'श्रुति'—कान है। इसी प्रकार 'आकाश' का बहुप्रचलित अर्थ 'गगन'—नभ है, किन्तु यहाँ 'नाक' के अर्थ में आया है। अतएव उक्त 'बरवै' का अर्थ होगा—'(लक्ष्मण को सुनाकर) वेद और आकाश के पर्यायवाची शब्द (श्रुति और नाक) उच्चारण कर और तर्जनी अँगुली से काटने का संकेत करके (राम ने) शूर्पणखा को लक्ष्मण के पास भेजा (कि इसके नाक-कान काट लो)।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। 'वेद और आकाश' से 'कान और नाक' की ओर संकेत कूटोन्मुखी कहा जायगा।

---

१. तुलसी-शब्दसागर, पृ० २७५

२. वही, पृ० ३१८

३ पद्मिनी मेनन, पुराण-संदर्भ कोश।

४. बरवै० ३।२८

'मुनि, दिन, धातु'

मुनि गनि, दिन गनि, धातु गनि, दोहा देखि बिचारि।
देस, करम, करता, बचन, सगुन समय अनुहारि ॥[१]

'मुनि' ७ हैं। 'दिन' भी सात हैं—रवि, सोम, मंगल, बुध, शुक्र और शनिवार। 'धातु' भी सात कहे जाते हैं—'रस (पित्त), रक्त, मांस, मेद (वसा) अस्थि, मज्जा, शुक्र।'[२]

मुनि, दिन और धातु से 'सात' संख्या की ओर संकेत है।

इस प्रकार उक्त दोहे का अर्थ होगा—'सभी शकुनों पर देश (स्थान), कर्म, कर्ता (प्रश्न करने वाला), वचन तथा समय के अनुसार सात, सात और सात की गणना (सर्ग, सप्तक, दोहे) के अनुसार दोहे के फल का विचार करो।' 'युक्तिसंगतता' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत है। 'मुनि, दिन और धातु' कूट प्रयोग हैं।

'ससि, नयन, गुन'

सगुन सत्य ससि नयन गुन, अवधि अधिक नयवान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु, प्रीति प्रतीति प्रमान ॥[३]

यहाँ 'शशि, नयन और गुण' से क्रमशः एक, दो और तीन संख्याओं की ओर संकेत है। उक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार होगा—'एक, दो और तीन—नीतिमान् के लिए सच्चे शकुन की यह अधिक-से-अधिक सीमा है। (एक दिन तीन से अधिक प्रश्न न करे।) जिसका जैसा प्रेम और विश्वास है, उसी के अनुसार शकुन शुभ तथा सुफल होगा। (प्रश्न-फल मध्यम है।)'

'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'राम में जिसकी जैसी प्रीति और विश्वास होगा, उसके अनुसार शकुन से निरंतर शशि (एक), नयन (दो), गुन (तीन) गुना अधिक ही अधिक सत्य और अच्छा

---

१. रामाज्ञा० ७।७।२

२. तुलसी-ग्रंथावली, द्वि-खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पाद-टिप्पणी, पृ० ११०

३. रामाज्ञा० ७।७।३

फल मिलता चला जायगा।'[1] किंतु यह अर्थ तर्कसंगत नहीं है। यहाँ पूर्वोक्त अर्थ ही तर्कसंगत प्रतीत होता है। 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से पूर्वोक्त अर्थ ही प्रासंगिक लगता है। 'ससि, नयन और गुन' कूट प्रयोग हैं। गीताप्रेस की टीका में पूर्वोक्त जैसा ही अर्थ किया गया है।[2]

---

१. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० १०६

२. रामाज्ञा०, पृ० १०१

१०

अन्वय-भेद एवं गूढ़ार्थ से उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

अर्थानुसंगति को ध्यान में रखते हुए किसी पद्य या कविता की वाक्य-रचना को गद्य की वाक्य-रचना के अनुसार बैठाने या ठीक करने की क्रिया को ''अन्वय' कहते हैं। पूर्वापर प्रसंग पर ध्यान न देने के कारण तुलसी-साहित्य के टीकाकारों ने कहीं-कहीं असंगत अन्वय करके अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। उदाहरणार्थ—सीताजी के सौंदर्य की सराहना राम-लक्ष्मण दोनों से करायी गयी है। भरत और शत्रुघ्न की कुशलता कैकेयी के द्वारा पूछने पर कुबड़ी के हृदय में पीड़ा होना भी संगत नहीं प्रतीत होता। वशिष्ठ और राम द्वारा भरत की प्रार्थना का समर्थन करने को कहकर, पुन: लोकमत, साधु मत, राजनीति और वेद के अनुसार करना, ऐसे अर्थ से उक्त दोनों ही बातें मिथ्या प्रतीत होती हैं। इसी तरह काल और ग्रह जब बुरे होते हैं, तभी अनिष्टकारक होते हैं। अत: दुष्ट काल और दुष्ट ग्रह का अर्थ करने से पुनरावृत्ति दोष हो जाता है। उद्धव के पक्ष की बातों को गोपियों के पक्ष में घटना आदि अर्थ-समस्याएँ अन्वय-भेद के कारण उत्पन्न हुई हैं। इसके उदाहरण अग्रिम पृष्ठों पर देखे जा सकते हैं। गूढ़ार्थ से मेरा तात्पर्य यहाँ अभिप्राययुक्त, गंभीर, दुर्बोध, गुप्त, अर्थगर्भित, गूढ़ विषय या आन्तरिक अर्थ (इन्टरनल मीनिंग) से है। काव्य में सामान्य अर्थ के अतिरिक्त गूढ़ार्थ भी होता है। गोस्वामी जी ने भी गूढ़ता को स्वीकार किया है—

> कह मुनि बिहसि गूढ़ मृदु बानी। (मानस १।६७।१)
> नारद बचन सगर्भ सहेतू। (मानस १।७२।३)
> गूढ़ गिरा सुनि सिय सँकुचानी। (मानस १।२३४।७)

'तुलसी-साहित्य जितना सुगम है, उतना ही अगम। 'सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे।' यह भरत के शब्दों की विशेषता तो है ही, साथ ही यह तुलसी-साहित्य की भी विशेषता है।'[१] टीकाकारों ने उन

---

१. सरस्वती विशेषांक, अगस्त १९७४

गूढ़ स्थलों की व्याख्या न करके सामान्य पाठक को बड़ी उलझन में डाल दिया है। शब्दार्थ के साथ-साथ गूढ़ार्थ का भी अभिव्यक्तिकरण टीकाकारों का कर्तव्य है। गूढ़ार्थ की अस्पष्टता के कारण गूढ़ार्थ-सम्बन्धी अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। उदाहरणार्थ—'समुझाई' शब्द में ही राम ने अंगद को 'युवराज' पद देने को कह दिया था। 'सगुण' की अज्ञेयता को सभी टीकाकार व्यक्त नहीं कर पाये हैं। टीकाकारों ने अर्थ किया है कि ब्राह्मण अगस्त्य के भय से समुद्र खारा हो गया था। प्रयाग में शरीर त्यागने के रहस्य को भी अस्पष्ट रखा गया है। 'महाराज' शब्द में अनेक भाव भरे हुए हैं, किंतु टीकाकारों का ध्यान इस पर नहीं गया। पूर्ववर्ती कवियों की परवाह न करते हुए चित्रकूट की कथा हनुमान जी ने सीता जी से क्यों कही ? ऐसे ही वक्रोक्ति-गर्भित्व और वचन-भंगिमा पर ध्यान न देने के कारण 'सीता-त्याग' वाले पद की दो पंक्तियों का अनर्गल अर्थ किया गया है। 'शशिकला' को लक्षित करने का कवि का क्या उद्देश्य था, आदि ऐसी ही गूढ़ार्थ-विषयक समस्याएँ हैं जिन पर टीकाकारों का ध्यानाकृष्ट नहीं हुआ था। प्रस्तुत अध्याय में अन्वय-भेद एवं गूढ़ार्थ विषयक कतिपय ऐसी ही प्रमुख अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास पृथक्-पृथक् किया गया है।

अन्वय-भेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

'२३७वें दोहे की प्रथम अर्धाली'

हृदय सराहत सीयं लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई ॥[१]

रामेश्वर भट्ट[२], वीरकवि[३], ग्राउस महोदय[४], रामनरेश त्रिपाठी[५], हनुमान-प्रसाद पोद्दार[६] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक[७] ने इसका अर्थ किया है कि—'हृदय में सीता जी के सौंदर्य की सराहना करते हुए दोनों भाई गुरु जी के समीप गये।' सम्पूर्ण पुष्प-वाटिका प्रकरण में राम जी ने सीता जी के सौंदर्य की सराहना की है—

---

१. मानस १।२३७।१

२. मानस, पृ० २४६

३. ,, पृ० २७६

४. "द टू ब्रदर्स रिटर्न्ड टु दिअर गुरू, इनवर्डली प्रेजिंग सीताज लवलीनेस"—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० ११७

५. मानस, पृ० २६३

६. ,, पृ० २२६

७. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २३८

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा ॥[१]
सिय सोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।[२]
करत बतकही अनुज सन मन सियरूप लोभान।[३]
परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्ही ॥[४]

किन्तु लक्ष्मण जी ने कहीं भी सीता जी के सौंदर्य की सराहना नहीं की। पीयूषकार के अनुसार 'लक्ष्मण जी को अदब का इतना ख्याल है कि फुलवारी की लीला में आदि से अन्त तक वे बोले ही नहीं। श्री किशोरी जी के चरणों को छोड़कर उन्होंने जीवन-पर्यन्त सिर उठाकर उनकी ओर तो देखा ही नहीं। यहाँ की तो बात ही न्यारी है। यहाँ (पुष्पवाटिका-प्रसंग में) तो प्रभु की बातें सुनते भर हैं। उनकी दृष्टि तो प्रभु के बराबर भी नहीं पड़ सकती। लक्ष्मण जी सरीखे मुँहलगे छोटे भाई के शील का गोस्वामी जी ने अपूर्व चमत्कारिक दृश्य दिखाया है।'[५] अत: पूर्वोक्त अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता।

विजयानंद त्रिपाठी जी ने तो अर्थ पूर्ववत् ही किया है, किन्तु उन्होंने व्याख्या में स्पष्ट किया है—'परम प्रेममय···' से प्रसंग छोड़ा था, अब वहीं से आरंभ करते हैं। मानसिक चित्र में सीता जी का लावण्य देख-देखकर प्रशंसा करते हैं। अत: यह वाक्यांश केवल राम जी के प्रति है। भगवती सखियों के साथ मंदिर चलीं और प्रभु भाई के साथ गुरु जी के पास गये। यहाँ दोनों भाई के साथ जिस भाँति 'गवने' क्रिया का अन्वय है, उसी भाँति 'सराहत' के साथ नहीं है। सराहना केवल राम जी कर रहे हैं। यथा—छत्रिणो गच्छन्ति। छाता किसी एक के ही हाथ में है, पर कहा जाता है कि छाता वाले जाते हैं। इसी भाँति सराहना केवल राम जी कर रहे हैं, पर 'गवने' क्रिया के कर्ता होने से 'सराहत' पूर्वकाल की क्रिया का सम्बन्ध दोनों भाई के साथ कर दिया गया है।[६] पूर्वापर प्रसंग को ध्यान में रखते हुए उक्त अर्धाली का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए—'दोउ भाई गुर समीप गवने। (रामु)

---

१. मानस १।२३०।५
२. वही १।२३०
३. वही १।२३१
४. वही १।२३५।३
५. मा० पी० बाल०, खं० ३, पृ० २६६
६. मानस, वि० टी०, प्र० भा० ४० १

सीय लोनाई हृदय सराहत।' अतएव इसका अर्थ इस प्रकार होगा—'दोनों भाई (राम-लक्ष्मण) गुरु (विश्वामित्र जी) के सन्निकट चले। श्रीराम जी हृदय में सीता जी के सौंदर्य की प्रशंसा करते जा रहे हैं।' सराहना करने में सराहना सुनने का भाव भी निहित है। मौन समर्थन भी सराहनासूचक है। अतः कोई असंगति नहीं है। यह माना जा सकता है कि सराहना केवल राम करते हैं।

रामदास गौड़ का यह मन्तव्य भी समीचीन है—'अन्वय करने में 'गुरु समीप गवने दोउ भाई' को पहले पढ़कर फिर 'हृदय सराहत सीय लोनाई', रामु कहा सब कौशिक पाहीं, पढ़ना चाहिए। 'राम' शब्द के साथ 'हृदय सराहत' का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।'[1] श्रीकांतशरण जी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।[2]

'अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

रामचरणदास[3], बैजनाथ[4], श्यामसुन्दरदास[5], ज्वालाप्रसाद[6] और विनायक राव[7] ने इसका अर्थ किया है—'(रामचन्द्र जी) अपने मन में सीता जी की शोभा की बड़ाई करते हुए लक्ष्मणसहित विश्वामित्र के पास गये।' किन्तु यहाँ उपर्युक्त अन्वय और अर्थ अधिक सटीक लगता है।

'तेरहवाँ दोहा'

सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु।
लंखनु भरतु रिपुदवनु सुनि भा कुबरी उर सालु॥[8]

मानस-पीयूषकार[9] और हनुमानप्रसाद पोद्दार[10] ने इसका अर्थ

---

१. मा० पी० बाल०, खं० ३, पृ०
२. मानस सि० ति०, प्र० खं०, पृ० ६६१
३. रामा०, पृ० ३६४
४. रामा० बाल०, पृ० ५८५
५. मानस, पृ० २२८
६. मानस सं० टी०, पृ० २६६
७. मानस वि० टी०, पृ० १०६
८. मानस २।१३
९. मा० पी० अयो०, पृ० ८३
१०. मानस, पृ० ३४६

किया है कि—'रानी ने डरकर कहा—अरी कहती क्यों नहीं ? श्री रामचन्द्र, राजा, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशल से तो हैं ? यह सुनकर कुबड़ी मंथरा के हृदय में बड़ी ही पीड़ा हुई।' 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक ने भी ऐसा ही अर्थ किया है—'यह सुनकर तो कुबड़ी (मंथरा दासी) और भी झुंझला उठी (कि सबसे पहले राम का ही कुशल क्यों पूछे डाल रही है ? अपने सगे बेटे भरत का कुशल क्यों नहीं पूछती ?)'[१] यहाँ 'उर साल' का अर्थ झुँझलाना विशेष खटकता है। प्रायः अधिकांश टीकाकारों ने पोद्दार जी जैसा ही अर्थ किया है। किंतु यहाँ पर अन्यों का नहीं, तो कम-से कम भरत का कुशल-समाचार पूछने पर 'कुबड़ी के उर में पीड़ा' नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वह तो उन्हीं की हितैषिणी बनकर आयी है—

पूतु बिदेस न सोचु तुम्हारें। जानति हहु बस नाहु हमारें॥[२]

अतएव उपर्युक्त अर्थ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। मंथरा ने उक्त दोहे के पूर्व जब राम का तिलक सुना था, तब उसका हृदय जल उठा था—

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलक सुनि भा उर दाहू॥[३]

दोहे के उपरान्त वह कैकेयी से कहती है—

रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू। जिन्हहि जनेसु देइ जुवराजू॥[४]

निम्न पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि वह राम से स्वभावतः ईर्ष्या करती थी—

प्रिय सिय रामु कहा तुम्ह रानी। रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते॥
भानु कमल कुल पोषनिहारा। बिनु जर जारि करै सोइ छारा॥[५]
रामहि तिलकु कालि जौं भयेऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयेऊ॥[६]
कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती॥
सुतहि राजु रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥[७]

१. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २८३
२. मानस २।१४।५
३. वही २।१३।२
४. वही २।१४।२
५. वही २।१७।५-७
६. वही २।१८।६
७. वही २।२२।४-६

अतएव उक्त दोहे का अन्वय इस प्रकार होना चाहिए—

'रानि सभय कह—कहसि किन ? रामु महिपालु लखनु भरतु रिपुदमनु कुसलु ? (रामु कुसलु सुनि) कुबरी उर सालु भा ।'

अर्थ होगा—'रानी ने भययुक्त होकर कहा—अरी ! कहती क्यों नहीं ? रामजी, राजा दशरथ, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशल से तो हैं ? राम के कुशल (पूछने को) को सुनकर कुबड़ी के हृदय में पीडा हुई ।' राम का कुशल पूछा और राम का कुशल भरत से भी पूर्व पूछा । भरत का कुशल विशेष रूप से नहीं पूछा । इन बातों से कुबड़ी के हृदय में उत्कट पीड़ा हुई । पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है । 'अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय' नामक अर्थनिश्चय के साधन-से भी यही अर्थ निश्चित होता है ।

'२५७वाँ दोहा'

भरत विनय सादर सुनिअँ करिअँ बिचारु बहोरि ।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि ॥[1]

संतसिंह पंजाबी[2], ज्वालाप्रसाद[3], विजयानंद त्रिपाठी[4], विनायक राव[5], ग्राउस महोदय[6], श्यामसुन्दर दास[7], वीरकवि[8], रामनरेश त्रिपाठी[9], श्रीकांतशरण[10], मानस-पीयूषकार[11], रामेश्वर भट्ट[12],

१. मानस २।२५८।०
२. मा० भा०, पृ० ३०५
३. सं० टी०, पृ० ६२४
४. वि० टी०, द्वि० भा०, पृ० ३७५
५. वि० टी०, पृ० ३८५
६. "लिसेन रेसपेक्टफुली भरताज प्रेयर; रिकांसीडर द मैटर, एंड आफ्टर वेइंग वेल द ड्युटीज़ ऑव् ए किंग एण्ड द टेक्सट्स ऑव् स्प्रिक्चर, टेक द एडवाइस गिवेन यू बोथ बाइ फिलास्फर एंड मेन ऑव् द वर्ल्ड ।"
—द रामा० ऑव् तुलसीदास, पृ० २६८
७. मानस, पृ० ५८१
८. मानस, पृ० ७३२
९. मानस, पृ० ६५८
१०. मानस सि० ति०, पृ० १३८२
११. मा० पी० अयो०, पृ० ९२०
१२. मानस, पृ० ६१७

पोद्दार[1] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक[2] आदि अधिकांश टीकाकारों ने इस दोहे का अर्थ इस प्रकार किया है—'पहले भरत की विनती आदर-पूर्वक सुन लीजिए, फिर उस पर विचार कीजिए। तब साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदों का निचोड़ (सार) निकाल कर वैसा ही (उसी के अनुसार कार्य) कीजिए।'

परन्तु इस दोहे के पूर्व वशिष्ठ जी का कथन इस प्रकार है—

भरत सनेह बिचारु न राखा॥

भरत भगति बस भइ मति मोरी॥

मोरें जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥[3]

उक्त दोहे के पश्चात् श्रीराम जी का वाक्य इस प्रकार है—

बोले गुर आयस अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगल मूला॥
भरतु कहहिं सोइ कियें भलाई। अस कहि रामु रहे अरगाई॥
मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु।[4]

अतः यदि उपर्युक्त दोहे का पूर्वोक्त अर्थ स्वीकार किया जाता है तो पूर्वा-पर प्रसंग को ध्यान में रखते हुए विरोध उत्पन्न होता है। यदि विचार करके साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदों के सार (निचोड़) के अनुसार करने की सम्मति दी गयी, तो भरत के वाक्य को आदरपूर्वक सुनना नहीं कहा जा सकता। शंकर जी की साक्षी भी निरर्थक हुई। वशिष्ठ जी का 'भरत रुचि राखी' और राम जी का 'भरतु कहहिं सोइ कियें भलाई' भी असत्य प्रमाणित हुआ। इस प्रकार भरत जी के कथन को कोई विशेष महत्त्व न देना ही सिद्ध होता है। पुण्यश्लोक भरत जी के वाक्यों का सर्वत्र समादर हुआ है—

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधा जनु पागे॥[5]
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥[6]

इस कथन से भी सिद्ध है कि भरत जी का कथन 'सारयुक्त' होता है। दूसरे, भविष्यकालिक क्रिया 'करब' का अर्थ 'कीजिए' नहीं, अपितु

१. मानस, पृ० ५२६
२. प्र० खं०, अ० मा० वि० परि०, काशी, पृ० ५७६
३. मानस २।२५७।६-८
४. मानस ४।२५८।३ और ८; २।२६३।०
५. वही, २।१८३।१
६. वही, २।३२२।८

'कीजिएगा' होता है। अतएव पूर्वापर प्रसंग को ध्यान में रखते हुए उक्त दोहे का अन्वय और अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—'भरत विनय साधुमत, लोक-मत, नृपनय निगम निचोरि सादर सुनिअँ करिअँ, बिचारु बहोरि करब।'

अर्थात्—'भरत जी की प्रार्थना जो साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदों का सार निकाल कर बनी है, अर्थात् सर्वमतों से संयुक्त है, उसे आदर-पूर्वक सुनिए और (तदनुसार) कीजिए, पुनः विचार कीजिएगा।' किंचित् दूरान्वययुक्त होते हुए भी यही अर्थ तर्कसंगत लगता है। 'अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय' और 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ सम्भाव्य है। रामचरणदास[1], हरिहरप्रसाद[2] और जयरामदास[3] ने ऐसा ही अर्थ किया है। इस अर्थ से पूर्वापर प्रसंग का विरोध भी समाप्त हो जाता है।

अवधबिहारीदास जी का यह अर्थ—'पहले भरत जी की विनय आदर से सुनिए, फिर विचार कीजिए। वही साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेद का सार होगा' असंगत है।

जयरामदास जी दीन के शब्दों में भरत जी का वाक्य 'साधुमत, लोक-मत, नृपनय, निगम निचोरि' इस प्रकार है—

जब श्रीराम जी की स्वीकृति मिल गयी—

तब मुनि बोले भरत सन सबु सँकोच तजि तात।
कृपासिंधु प्रियबंधु सन कहहु हृदय कइ बात॥ (मानस २।२५८।०)

गुरुदेव वशिष्ठ जी की आज्ञा पाकर भरत जी ने यह विनय की है—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ। (साधुमत)
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलउँ मैं साथ। (लोकमत)

नतरु जाहिं बन तीनउँ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥ (राजनीति)
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई॥(निगम-निचोड़)
(मानस २।२६७; २६८।१-२)

पहली विनय भरत जी की यह हुई कि आप मुझको अनुजसहित वन में भेजकर सबको सनाथ कीजिए, अर्थात् राजगद्दी पर आसीन हों। यह साधुमत

---

१. रामा०, पृ० ७४०
२. रा० परि० परिशिष्ट प्र०, पृ० १४७
३. कल्याण : गोरखपुर, वर्ष १३, मार्गशीर्ष १९९५, दिस० १९३८, सं० ५, पूर्ण संख्या १४६, पृ० १२४३-१२४५

है और दो प्रमाणों से है—एक तो भरत जी को यही सम्मति साधु वशिष्ठ द्वारा मिली थी—

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहि लखनु सीय रघुराई॥
(मानस २।२५५।३)

दूसरे, राज्य-प्राप्ति के प्रश्न पर विचार करें, तो दशरथ जी महाराज के विचार से (जेठ स्वामि सेवक लघु भाई) श्रीराम उसके हकदार थे और कैकेयी माता की वर-याचना के अनुसार श्री भरत को वह मिलना चाहिए था। इस झगड़े को निपटाने के लिए भरत जी ने साधुमत प्रदर्शित किया कि मैं अपना हक आपको ही दिये देता हूँ। राज्य (लाभ) चाहता ही नहीं, बल्कि वनवास रूप जो हानि है, उसी को मैं लूँगा।

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
(मानस १।२।६)

दूसरी विनय भरत जी यह करते हैं कि दोनों छोटे भाइयों को घर भेज दिया जाय। मैं इन दोनों से बड़ा हूँ, मुझको ही साथ ले चला जाय। यही लोकमत है क्योंकि लोकप्रथा के अनुसार सयाने लोग ही परदेश जाते हैं, लड़के घर में रहते हैं। गीतावली में भी इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है—'फेरिअहि नाथ लखन लरिका हैं।' कौशल्या जी ने भी मिथिलेशि से कहा है—

रखिअहि लखनु भरत गवनहि बन। (मानस २।२८३।२)

तीसरी विनय राजनीतिपूर्ण है—'नतरु जाहि वन तीनौं भाई।' क्योंकि 'सेवक कर पद नयन सो मुख सो साहिब होइ।' अर्थात्, भरत जी कहते हैं कि हम तीनों भाई हाथ, पैर और नेत्र की भाँति सेवक हैं, श्री सरकार मुख के समान स्वामी हैं, इसलिए नीति के अनुसार युगल सरकार सिंहासनासीन होकर आज्ञा देते रहें और हम तीनों भाई सेवकाई में वन जाकर आपकी आज्ञा के पालन द्वारा कृतार्थ हों। अस्तु, भरत जी का यह कथन कि हम तीनों सेवक सेवा करें, यही राजनीति है।

भरत की यह चौथी विनय कि जिस प्रकार करुणासिंधु श्री प्रभु को प्रसन्नता हो, वही करें—निगम-निचोड़ है। क्योंकि वेद-मर्यादा यही है कि भगवान् की जो इच्छा हो, वही जीव का कर्तव्य है। भगवदाज्ञा के पालन में ही जीव का सर्व प्रकार से कल्याण है। 'ईस रजाय सीस सबही के'—यही वैदिक मार्ग है।

इस प्रकार से भरत की विनय में साधुमत, लोकमत, नृपनय, निगम-निचोड़ इन चारों का होना कहा गया है। तुलसी ने इस सम्बन्ध में यह कहा है—

भरत महामहिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबलासी॥

(मानस २।२५६।२)

वशिष्ठ की मति नेभरत जी की विनय को साधुमत-सम्मत तो सिद्ध कर दिया था, शेष तीनों विशेषणों का स्पष्टीकरण नहीं किया था। परन्तु, यह अनुमान कर लिया था कि ये तीनों विशेषण भी भरत की विनय में परिपूर्ण हैं, इसीलिए दोहे में ऐसा कहा गया है। हाँ, वशिष्ठ जी की मति ने एक बात का अनुमान अवश्य नहीं किया था जिसको भरत जी ने अन्तिम निश्चय के रूप में प्रकट किया है—

अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥

(मानस २।२६८।७)

क्योंकि उनका यह निश्चय था कि—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

(मानस २।२६७।३)

वस्तुतः जब अनुमानतः भी नहीं पहुँच सके, तभी उनकी मति के सम्बन्ध में यह वचन कहा गया है कि—

गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥

(मानस २।२५६।३)

इस प्रकार उक्त दोहे का द्वितीय अर्थ ही प्राकरणिक एवं तर्कसंगत है। इस पर चमत्कार-प्रदर्शन और पंडिताऊपन का आरोप अनुचित प्रतीत होता है।[1]

'३८वें छन्द की एक पंक्ति'

देव, भूत, पितर, करम खल, काल ग्रह,
मोहि पर दवरि दमानक सी दई है।[2]

बैजनाथ जी ने 'खल' का अन्वय 'करम और काल' दोनों के साथ करके 'कुटिल कर्म और खल काल, दुष्ट कलिकाल' अर्थ किया है। इसके बाद 'दमानक' शब्द को भी खूब तोड़ा-मरोड़ा है—

---

१. कल्याण, वर्ष १३, पूर्ण संख्या १४६, पृ० १२४३-१२४५

२. बाहुक ३८

'ग्रामदेव भूत भैरवादि पितर पूर्व बंश में भरे हुए कुटिल कर्म जो पूर्व कै राखे हैं खल काल दुष्ट कलिकाल ग्रह सूर्यादि इत्यादि सब मोहि पर दवरि दम आनक सी दई है दम कही दण्ड को यथा साहसं तुदमोदण्ड: इत्यमर: पुनः तुरुही डंकादि बाजा को आनक नाम है यथा भेरी पटह मानकौ इत्यमरः अर्थात् दंड देबे कैसो आनक डंका तुरुही आदि बजाय सब मोयर धाये हैं।'[1]

परमेश्वरी दयाल[2] और देवनारायण द्विवेदी[3] ने 'खल' को 'काल' का विशेषण मानकर 'कुसमय' और 'दुष्ट काल' अर्थ किया है। महावीरप्रसाद 'मालवीय' ने 'खल' को ग्रह का विशेषण मानकर 'दुष्ट ग्रह' अर्थ किया है।[4] श्रीकांतशरण बैजनाथ का अनुकरण करते हुए 'खल' को 'काल' और 'ग्रह' दोनों का विशेषण मानते हैं। उनके अनुसार—'दुष्ट काल' से यहाँ कलिकाल एवं दुर्दिन का और 'दुष्ट ग्रह' से क्रूर ग्रह, जैसे शनि आदि का अर्थ है। 'खल' शब्द का पृथक् 'दुष्ट' अर्थ इससे नहीं लिया गया कि यहाँ बाहु-पीड़ा के दुःख का ही प्रसंग है। इसमें दुष्ट लोग कारण नहीं हो सकते।'[5] 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक ने श्रीकांतशरण का ज्यों का त्यों अनुकरण करके 'दुष्ट काल' और 'दुष्ट ग्रह' ऐसा अर्थ किया है।[6]

'दमानक' पूर्ण शब्द है और उसका अर्थ कोश के अनुसार 'तोपों की बाढ़' है। किन्तु उपर्युक्त पंक्ति का अन्वय इस प्रकार होना चाहिए—'देव, भूत, पितर, करम, खल, काल ग्रह दवरि मोहि पर दमानक सी दई है।' इस अन्वय के अनुसार अर्थ होगा—

'देवता, प्रेत, पितृ, कर्म, दुष्ट काल और ग्रह सभी ने धावा करके मुझ पर तोपों की बाढ़-सी लगा दी है।' 'अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय' नामक अर्थ-निश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है। हनुमानबाहुक में ही कवि ने खलों की चर्चा की है—

बानर-बाज ! बढ़े खल खेचर, लीजत क्यों न लपेटि लवासे ?[7]

---

१. बाहुक, पृ० ४६
२. ,, पृ० ५३
३. ,, पृ० ३३
४. ,, पृ० ३४
५. बाहुक सि० ति०, पृ० १६४-६५
६. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३०६
७. बाहुक १८

ब्याधि भूत-जनित उपाधि काहू खल की,
समाधि कीजै तुलसी की जानि जन फुरकै ॥[१]

हरिहरप्रसाद और अंजनीनंदनशरण ने ऐसा ही अर्थ किया है।[२] कवि-प्रयोग की दृष्टि से भी यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। 'खल' को कर्म, काल और ग्रह का विशेषण मानना उचित नहीं है, क्योंकि कर्म, काल और ग्रह तो जब बुरे होते हैं, तभी अनिष्टकारक होते हैं, यह सर्वविदित है। बुरे ग्रह के लिए सामान्यतया नीच ग्रह अथवा 'पापक ग्रह' शब्द ज्योतिष में आता है, खल ग्रह नहीं। काल के लिए भी 'खल' विशेषण सन्तोषप्रद नहीं है।

'५१वें पद की एक पंक्ति'

नीलनव-वारिधर सुभग-सुभ कांतिकर पीत कौसेय-बरबसनधारी।[३]

टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अन्वय करके इसके अनेक अर्थ किये हैं। बैजनाथ जी के अनुसार—'नव वारिधर नवीन मेघ नीलरंग के, तद्वत सुभग सुदंर शुभ मंगलमय तनु की कांति ज्योति प्रकट करने वाले हो।'[४] लाला भगवानदीन जी के अनुसार—'शरीर की शुभ कांति नवीन काले बादल के समान है।'[५] वीरकवि के अनुसार—'नवीन श्याम मेघ के समान सुंदर मांगलिक शोभा उत्पन्न करने वाले।'[६] वियोगी हरि जी के मत से—'नीले नवीन मेघ के समान उनके शरीर की कांति है।'[७] श्रीकांतशरणजी ने इसका अर्थ किया है—'उनका शरीर नवीन नील रंग वाले सजल मेघ के समान और मांगलिक कान्ति-विस्तार करने वाले हैं।'[८] रामेश्वर भट्ट जी के मतानुसार—'नीले नवीन मेघ के समान सुंदर मांगलिक कांति वाले।'[९] गयाप्रसाद[१०] और पं० सूर्यदीन शुक्ल[११] ने इसका अर्थ किया है कि—'हे राम जी, आप नवीन

१. बाहुक ४३
२. कवित्त०, पृ० २७२ और पीयूषवर्षिणी टीका, पृ० १५५
३. विनय० ५१
४. विनय०, पृ० ८७
५. वि० पी०, खं० २, पृ० २६७
६. वही, पृ० ७६
७. विनय०, पृ० १६५
८. वि० पी०, खं० २, पृ० २६७
९. वही, पृ० ७६
१०. विनय०, पृ० ८२
११. वही, पृ० ५७

नीले मेघ से शोभायमान हैं और उत्तम दीप्ति के प्रकाशक हैं।' देवनारायण द्विवेदी का अर्थ वियोगी हरि के जैसा है।[1]

किन्तु इसका अन्वय इस प्रकार होना चाहिए—'(हे राम जी ! आप) नव नील वारिधर सुभग, सुभ कांतिकर वर कौसेय पीतवसन धारी (हैं)।' इस अन्वय के अनुसार अर्थ होगा—'(हे राम जी) आप नवीन नीले मेघ के समान सुन्दर हैं। मांगलिक प्रकाशमान श्रेष्ठ पीताम्बर धारण किये हैं।' कवि ने अन्यत्र 'नील नीरधर श्याम' कहा है।[2] पीताम्बर को प्रकाशमान भी कहा गया है—

'तड़ित विनिंदक पीतपट उदर रेख बर तीनि।'[3]

'अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्क-संगत प्रतीत होता है। 'नव' शब्द से मेघ की सजलता का द्योतन हो जाता है। अतः अर्थ में 'सजल मेघ' कहने की आवश्यकता नहीं।

'२७वें पद की एक पंक्ति'

सत्य सनेह सील सोभा सुख सब गुन उदधि अपारि।
देख्यो सुन्यो न कबहुँ काहु कहुँ मीन-बियोगी बारि॥[4]

उक्त पंक्ति के प्रथम चरण का अन्वय श्रीकृष्ण के पक्ष में करते हुए रामायनसरन जी लिखते हैं कि—'हम लोग श्याम वियोग करि जीवतु हों कैसो श्याम हैं सत्य ओ सनेह सील सोभा सुष सब गुन के अपार उदधि हैं सो ऐसो आचरज कहीं देषि वे ओ सुनिए भी नहीं आई की आली की मीन वियोगी नाही रहतु हम लोग हू ऐसी की काहू जल सम ओ हम लोग मीन सम बिछुरत मर नहीं गए मीन वियोगी वारि बने हों सो झूठा हम लोगों का प्रेम है।'[5] श्रीकृष्ण के ही पक्ष में अन्वय करते हुए पोद्दार जी अर्थ लिखते हैं कि—'हमारे प्रियतम सत्य, स्नेह, शील, शोभा, सुख आदि सभी गुणों के समुद्र हैं। परन्तु आज तक कभी किसी ने कहीं यह नहीं देखा-सुना कि जल (समुद्र) कभी मछली का वियोगी बना हो (मछली जैसे जल के वियोग में तड़प-तड़प कर मर जाती है, वैसे समुद्र भी मछली के विछोह में कभी दुःखी हुआ हो)।

१. विनय, पृ० ६८
२. मानस १।१४६
३. वही १।१४७
४. श्रीकृष्ण० २७
५. ,, पृ० २७

इसी प्रकार श्यामसुंदर भी समुद्र की भाँति सर्वगुणनिधि होने पर भी हमारे वियोग का अनुभव क्यों करने लगे।'[१]

पं० वामदेव भी ऐसा ही अर्थ करते हुए लिखते हैं कि—'सत्य, स्नेह, शील, शोभा, सुख सब गुणों की खान श्रीकृष्ण अपार समुद्र के समान हैं। फिर भी मछली जिस तरह जल से बिछुड़ने पर तलफती है, वैसे दुःखी जल को न तो किसी ने देखा न सुना ही कभी। भाव यह कि जो बड़े होते हैं, उन्हें अपने प्रेमी की परवाह नहीं होती, छोटे ही को अपना प्रेम निबाहना पड़ता है।'[२] किन्तु इस सहज अर्थ के विपरीत नरोत्तम स्वामी और विद्याधर जी उक्त पंक्ति का अन्वय 'पानी' के साथ करते हुए अर्थ करते हैं—'पानी यद्यपि सब गुणों से युक्त है, पर फिर भी मछली की भाँति विरह-व्याकुल नहीं होता।'[३] शील आदि गुण पानी के नहीं, कृष्ण के गुण ही प्रतीत होते हैं, अतः प्रथम पंक्ति के समस्त गुण को पानी पर आरोपित करना भ्रामक अन्वयपरक अर्थ कहा जायगा। 'अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है।[४] 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक महोदय[५] ने 'मीन वियोगी बारि' का अर्थ अन्वय-व्यतिक्रम से 'बारि वियोगी मीन' ग्रहण किया है। किंतु इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं रह जाती, जबकि दूसरी पंक्ति में उसी पर बल दिया गया है। अतएव इसे अन्वय-दोष कहना अधिक उपयुक्त होगा। इससे स्पष्टतः अर्थ की हानि होती है। ऐसा अर्थ करने के पीछे 'अपारि' शब्द को कदाचित् स्त्रीलिंग मानकर उसे मछली से सम्बद्ध करना रहा है, जबकि वस्तुतः वह उदधि का ही विशेषण है। 'अपार' शब्द के अंत में इकारागम 'बारि' से उसकी तुकांत संगति लाने के निमित्त कवि ने किया है जिसके तुलसी-साहित्य में प्रचुर प्रमाण हैं। इस प्रकार पोद्दार जी का अर्थ ही सही अन्वयार्थ प्रतीत होता है।

'४०वाँ पद'

> ऊधो ! यह ह्याँ न कछू कहिबे ही।
> ज्ञान गिरा कूबरी रवन की सुनि बिचारि गहिबे ही ॥
> पाइ रजाइ नाइ सिर गृह ह्वै गति परमिति लहिबे ही।
> मति-मटुकी मृगजल भरि घृत-हित मनहीं मन महिबे ही ॥[६]

---

१. श्रीकृष्ण०, पृ० ३५
२. ,, पृ० ३४
३. ,, पृ० ७६
४. श्रीकृष्ण० सि० ति०, पृ० ५५
५. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी०, पृ० ५६५-६६
६. श्रीकृष्ण० ४०

रामायनसरन जी इसका अर्थ करते हैं—'ऊधो प्रति वचन गोपिन्ह केहैं ऊधों हम नाहीं कछु न कहब कुबरी रवन के जो ज्ञान विराग करने को सिषावन है सोई सुनि के ओ विचारि के गहिबे ही नाम गहब तुम ऐसो गुरु कहाँ पावेंगे पाइ जाइ आपका आज्ञा पाइओ आप ऐसो गुरु को सिर नाइ ओ गति गृह मों जाइ जोग धरे मो जाइ ओ परमिति लहिबे ही नाम मर्जादा पाइ एते दिन हम लोग के मरजाद की रही है। गँवारिन के गिनती जो अब महात्मन के गनती मो होहिंगे गति परमिति लहिबे ही ओ हम लोगों का मति सोइ मटुकी है तामो मृगजल भरिके घृतसित के वदे मन ही मन महिबे ही नाम से महल करब भाव इहाँ जोग ज्ञानमृग जलबुद्धि मो स्थिर करना सोइ भरब मन सो मनन करना सोई मन रूपी मथानी सो महना आनंद घृत निकासने के वास्तक।'[१] पोद्दार जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'उद्धव जी, हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है। कुब्जारमण की ये ज्ञान की बातें सुनकर एवं विचार करके उन्हें ग्रहण (धारण) करना है। उनकी आज्ञा पाकर, उसे सिर चढ़ाकर घर में रह करके परमगति (ब्रह्म) को प्राप्त करना है। (अब तो हमें) बुद्धिरूपी मटकी में (ब्रह्मज्ञानरूप) मृगतृष्णा का जल भरकर घृत (आनंद) के लिए उनको मन ही मन मथना है (उसमें कहीं आनंद तो है नहीं, केवल मन की कल्पना है)।'[२] पं० वामदेव का अर्थ पोद्दार जी से भिन्न है—'हे ऊधो ! अब कुछ कहना नहीं है, कुबरी रवन कान्ह की ज्ञान-भरी बातें सुन-समझकर वैसा ही करना होगा। आज्ञा पा आज्ञा के अनुसार अपनी मर्यादा का पालन करते हुए घर में रहना है, बुद्धिरूपी हाँड़ी में मृगजल भरकर घी के लिए मन ही मन महना है, अर्थात् झूठी आशा से मन को सान्त्वना अब देना है।'[३] 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक ने तीसरी पंक्ति का अर्थ कुछ भिन्न किया है—'देखो उद्धव ! अब ये बातें कहने से क्या लाभ। अब तो कुबड़ी रमन (कृष्ण) की भेजी हुई ज्ञान की बातें सुन और समझकर मान ही लेनी पड़ेंगी। अब तो घर को सिर नवाकर (घर से नाता तोड़कर) और घरवालों से आज्ञा लेकर (योग साधकर) परम गति प्राप्त करनी है। अतः घी निकालने के लिए बुद्धि की मटकी में मृगजल (कल्पित जल) भरकर उसे बैठकर मथना ही होगा।'[४] रामायनसरन, पोद्दार, पं० वामदेव और 'तुलसी-ग्रंथावली' के

---

१. श्रीकृष्ण०, पृ० ४०-४१

२. वही, पृ० ४८

३. वही, पृ० ४६

४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५७२

सम्पादक का अर्थ यहाँ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। 'मति मटकी' वाले सांगरूपक का ग्रहण भी उद्धव के पक्ष में होना चाहिए, किन्तु इसका अन्वय गोपियों के पक्ष में किया गया है जो नितांत असंगत है। 'परमिति' का अर्थ 'चरम सीमा और मर्यादा' दोनों होता है।[1] यहाँ पर इसका अर्थ 'चरम सीमा या पराकाष्ठा' ही ग्रहण किया जायगा। अतएव उक्त पंक्तियों का अर्थ होगा— 'गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! यह (ज्ञान, योग-साधन की) बातें यहाँ (ब्रज में) कुछ भी नहीं कहना था। कुब्जारमण कान्ह की बातें सुनकर और चिंतन कर वहीं ग्रहण करने की वस्तु थीं। (योग गुरु की) आज्ञा प्राप्त कर उन्हें प्रणाम कर (साधन) गृह (गुफा, कंदरा आदि) में निवास कर योग-गति की पराकाष्ठा (चरम सीमा) प्राप्त करनी थी। पुनः बुद्धि-रूपी मटकी में मृगजल-रूपी ज्ञान-गिरा से पूर्ण करके ज्ञानानंद-रूपी घृत हेतु मन-रूपी मथानी से मनन-रूपी मंथन करना था।' पद की अन्तिम पंक्ति से यह और स्पष्ट हो जाता है। गोपी कहती है कि इन बातों को दबा देना ही अच्छा है। उद्धव को भला-बुरा कहने से क्या लाभ ? अर्थ-सौष्ठव की दृष्टि से यही अर्थ संगत प्रतीत होता है। श्रीकांतशरण ने ऐसा ही अर्थ किया है।[2] केवल 'परमिति' का अर्थ 'मर्यादा' किया है। अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ निश्चित होता है।

गूढ़ार्थ से उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

'अंगद कहुँ जुबराज'

लछिमन तुरत बुलाए पुरजन बिप्र समाज।
राजु दीन्ह सुग्रीव कहुँ अंगद कहुँ जुबराज ॥[3]

श्रीराम जी ने लक्ष्मण जी से मात्र इतना कहा था कि 'राजु देहु सुग्रीवहि जाई', फिर लक्ष्मण जी ने अंगद को युवराज क्यों बना दिया ? इससे तो श्रीराम जी की आज्ञा का उल्लंघन होता है। किन्तु यथार्थतः यह बात नहीं है। लाला भगवानदीन जी के शब्दों में—'जब लक्ष्मण जी चले थे, तब राम जी ने केवल 'राजु देहु सुग्रीवहि जाई' कहा था, पर लक्ष्मण जी ने यहाँ आकर 'राज दीन्ह सुग्रीवँ कहुँ' के साथ 'अंगद कहुँ जुबराज' पद भी दे दिया। इसमें कुछ लोग कह सकते हैं कि लक्ष्मण जी ने यह अपने मन से किया

१. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ५८७
२. श्रीकृष्ण०, सि० ति०, पृ० ८७
३. मानस ४।११

अथवा 'पुरजन और विप्र समाज' के आग्रह से किया। पर यह बात नहीं है, राम जी ने ही आज्ञा दी थी, तुलसीदास जी ने उसे प्रत्यक्ष नहीं किया है, केवल एक शब्द के हेर-फेर में कह डाला है, अर्थात् राम जी ने 'राम कहा अनुजहिं समुझाई'—इसमें 'समुझाई' से अंगद के युवराज-पद की ओर ही लक्ष्य है। राम जी ने लक्ष्मण को यह समझाया था कि नगर की स्थिति अपने काबू में लाकर सुग्रीव के साथ ही अंगद को युवराज पद देना जिससे राज्य का उत्तराधिकारी वही हो, क्योंकि बालि अंगद को मुझे सौंप गया है।'[१]

पं० विश्वनाथप्रसाद जी लिखते हैं कि—'प्रस्तुत प्रसंग में 'समुझाई' शब्द अंगद को युवराज बनाने का संकेत करता है, सावधानीपूर्वक युवराज बनाने का। अंगद को युवराज बनाना आवश्यक था। एक तो बालि का वध औचित्यपूर्ण नहीं था, जनविद्रोह संभावित था; दूसरे अंगद के विप्लव करने की संभावना थी। यदि अंगद रावण से मिल जाता, तो शत्रु-पक्ष प्रबल हो जाता। (अंगद के इस वचन—'सुनु सठ भेद होइ मन ताकें। श्री रघुबीर हृदय नहिं जाकें॥' (मा० ६।२१।१०) से स्पष्ट है कि रावण ने उनको मिलाने का प्रयास किया था।) बालि ने उसे राम को सौंपा था। अतः विशेष ध्यान रखना आवश्यक था। सुग्रीव यदि विरुद्ध जायँ, तो अंगद पक्ष में रहें आदि-आदि अनेक हेतु कल्पित हो सकते हैं।'[२] उक्त दोनों विद्वानों के शब्दों से स्पष्ट है कि श्रीराम जी ने 'समुझाई' शब्द में अंगद के 'यौवराज्य' का आदेश दे दिया था। श्रीराम जी शरणागत का कितना ध्यान रखते थे कि बालि के शरणागत होने पर उसके इन शब्दों पर—

'यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए॥'[३]

विशेष ध्यान रखते हुए इस 'समुझाई' शब्द में सर्वप्रथम अंगद को युवराज बनाने को कहकर पुनः सुग्रीव को राज्य देने को कहा—राम कहा अनुजहिं समुझाई। राजु देहु सुग्रीवहिं जाई॥[४]

श्रीराम जी का यह स्वभाव था कि जिस बात को वे परम गोपनीय रखना चाहते थे, उसको 'समुझाई' शब्द में निहित कर देते थे। उदाहरणार्थ—

---

१. मानस; किष्किंधा०, पृ० २६
२. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २०४-२०५
३. मानस ४।१०। छंद १२-१३
४. वही ४।११।६

हरि जननी बहु बिधि 'समुझाई'। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ॥[1]

इस 'समुझाई' का अभिप्राय है कि तुम यह समझकर कि मैंने 'जगत्-पिता' को पुत्र करके माना है, भयभीत न हो। 'अदिति' और 'शतरूपा' रूप में तुमने ही तप करके 'मुझे पुत्र रूप में प्राप्त करने की' इच्छा व्यक्त की थी। वही मैं पुत्र रूप में अवतरित हुआ हूँ। पुनः समझाया कि वात्सल्य में लीन होकर तुम मुझे भूल रही थीं जो कि उचित नहीं है क्योंकि तुमने 'विवेक' समाप्त न होने की याचना की थी—

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु ॥[2]

फिर शतरूपा-रूप से जो तुमने अभिलाषा व्यक्त की थी—

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई ॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी ॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना ॥[3]
जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥[4]

वही मैं हूँ, इत्यादि भाव 'समुझाई' में भरे पड़े हैं।

वेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥[5]

इस 'समुझाई' में वेद-पुराणादि की अनेकानेक विस्तृत व्याख्याएँ अन्तर्निहित हैं। इसी प्रकार—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥[6]

इस 'समुझाएहु' में श्रीराम जी ने यह आदेश दिया था कि 'सीता को न लाना'। तभी तो हनुमान जी ने सीता जी से कहा कि—

---

१. मानस १।२०२।८
२. वही १।१५० और ८
३. वही १।१४४।३-६
४. वही १।१४६।४-५
५. वही १।२०५।६
६. वही ४।२३।११

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई ॥[१]

कुछ लोग कहते हैं कि 'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु' के 'तुम्ह आएहु' से स्पष्ट है कि तुम ही आना, सीता जी को साथ न लाना।[२] किंतु यह बात उपयुक्त नहीं लगती। 'प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई' से पूर्णतः स्पष्ट है कि श्रीराम जी ने हनुमान जी को स्पष्ट आदेश दिया था कि 'सीता को मत लाना' और यह आदेश 'समुझाएहु' में उसी तरह निष्ठ है, जैसे उपर्युक्त 'समुझाई' में अंगद का युवराज-पद। यहाँ पर 'अंगद को युवराज-पद' देना गूढ़ार्थ कहा जायगा।

'सगुन न जानहि कोइ'

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानहि कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥[३]

अर्थात्, निर्गुण रूप अत्यन्त सुगम है। सगुण रूप को कोई जानता ही नहीं। सुगम और अगम अनेक चरित्रों को सुनकर मुनियों के मन में भ्रम हो जाता है।

निर्गुनिया उपासकों ने सगुण को सुगम और निर्गुण को अगम करके माना है। इसी भ्रम में सगुणोपासक भक्तकवि सूरदास भी फँस गये। सूरदास जी कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म अनिर्वचनीय है। वह परम स्वाद और अमित तोष उत्पन्न करने वाला है, परन्तु उसका स्वाद और तोष गूँगे के गुण की भाँति आस्वाद्य और प्राप्य है। यथा—

मन बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन लीला-पद गावै ॥[४]

किन्तु गोस्वामी जी ने बराबर इस धारणा का खंडन किया है। उनके अनुसार निर्गुण सुलभ और सगुण दुर्लभ है—

चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी ॥
अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी ॥[५]
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी ॥[६]

---

१. मानस ५।१६।३
२. मा० पी०, किष्किधा०, पृ० २००
३. मानस ७।७३
४. सूर-सुषमा पद-१
५. मानस ६।७४।१-२
६. वही १।१२१।३

निर्गुणोपासकों की सगुण की सुलभता की प्रसिद्धि को समाप्त करने के कारण ही गोस्वामी जी को 'सगुण की दुर्लभता' का आख्यान करना पड़ा। 'सगुण की दुर्लभता' को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने स्तुत्य प्रयास किया है।

श्री रामदास गौड़ जी के अनुसार—'सत्त्व, रज, तमादि गुणों से परे, आदि-अन्त-रहित, निराकार, अखंड आदि निर्गुण ब्रह्म के विशेषण सभी नकारात्मक हैं। नाम का अभाव, रूप का अभाव और गुण का अभाव, इन तीन अभावों से निर्गुण रूप कल्पना में नहीं आ सकता। यह जगत् मिथ्या है, माया की कल्पना है केवल ब्रह्म के अधिष्ठान से सत्य-सा लगता है। निर्गुण ब्रह्म का यह ज्ञान मन को और कल्पना-शक्ति को छुट्टी दे देता है। इन्द्रियों में वाक्-इन्द्रिय से और बुद्धि से सहज ग्राह्य दीखता है। जानने में यह बहुत सुलभ है। सगुण ब्रह्म के जानने में बड़ी कठिनाई है कि उसमें समस्त भावों की पूर्णता का अनुमान करना पड़ता है। जो अव्यक्त है, उसकी अव्यक्तता और अगोचरता ही पर संतोष हो जाता है। परन्तु जो व्यक्त है, उसके गुण नकारात्मक नहीं हैं, इसलिए उसके व्यक्त रूप की आदर्श कल्पना करनी पड़ती है। उसे किसी ने देख पाया नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष अनुभव से तो कोई कुछ कह ही नहीं सकता। जिसने देखा है, वह वर्णन नहीं कर सकता; जिसने जाना है, वह पहुँच से बाहर हो गया है—'आँरा कि ख़बर शुद ख़बरश बाज़ आमद', 'सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइँ होइ जाई', 'स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।' पूर्णता को व्यक्त करने के लिए वह शब्द कहाँ है और देखने के लिए वह इन्द्रिय कहाँ जिससे पूर्ण रूप का दर्शन हो सके। वह पूर्ण-विकसित इन्द्रिय कहाँ है जिससे कि उस रूप का श्रवण, स्पर्श, घ्राण, रसन आदि हो सके। इन्द्रियाँ परिच्छिन्न हैं। इन इन्द्रियों से सगुण रूप का अनुभव असंभव है। सगुण रूप की विराट् विभूति के क्षणिक दर्शन मात्र के लिए अपने परम भक्त और सखा अर्जुन को 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' कहते हैं। तुमको दिव्य आँख देता हूँ। तू मेरे ऐश्वर-योग को देख। कमल पर बैठे हुए चतुर्मुख ब्रह्मा अपने सिरजनहार के चिन्तन में हैरान हैं और कमलनाल से सैकड़ों वर्ष उतरकर, खोजकर परेशान होते हैं, तब कहीं भगवत्कृपा से नारायण रूप का दर्शन होता है। निराकार के दर्शन के लिए कौन मूर्ख परेशान होगा? उसकी निराकारता तो सहज सुलभ है। परंतु साकारता ही तो गजब ढा देती है। कैसी है, कहाँ है, किस तरह की है? खोजने वाले को हैरान कर देती है। बारंबार भगवान् कहते हैं कि यह सारा जगत् मुझमें है और मेरा अत्यन्त अल्प अंश है, परंतु यह कैसी अद्भुत बात है कि उन्हीं की गोद में होकर हम

उनके शरीर का कोई भी अंश देख नहीं सकते । उनके इतने पास हैं कि देश और काल का कोई अन्तर नहीं है; साथ ही दूर इतने हैं कि अत्यन्त जवीयस् मन पहुँच नहीं सकता । सगुण रूप ऐसा दुर्लभ और अगम है । यही सगुण रूप जगत् की सृष्टि के लिए अनिवार्य है और सृष्टि भक्त-प्रेमवश होती है । इसीलिए कहा है—

ब्रह्म अनादि अगुन अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।

इस अज्ञेय सगुण रूप को अपने भक्तों को सुलभ बनाने के अर्थ सगुण ब्रह्म के अवतार होते हैं और भगवान् अपनी माया से तरह-तरह के रूप धारण करते हैं । इस तरह दुर्लभ सगुण रूप को सुलभ कर देते हैं । अवतार के इस रहस्य को जो तत्त्वतः नहीं समझते, वे भ्रान्ति में पड़े रहते हैं । भगवान् की माया बड़ी प्रबल है । बड़े-बड़े मननशील योगी और मुनि भी भगवान् की माधुर्य-लीला से मोहित हो जाया करते हैं, फिर साधारण जनों की बात ही क्या है ? यह सगुण रूप की दुर्लभता अपने को प्राकृत नरलीला में भी व्यक्त किये बिना नहीं रहती । इसीलिए कहा कि सगुण रूप को कोई नहीं जानता; उसको जो जानता है, वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता—'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुन ।। ।। गीता ।। ४-९ ।।' 'हे अर्जुन ! मेरे दिव्य अर्थात् अलौकिक जन्म और कर्म को जो पुरुष तत्त्वरूप से जानता है, वह शरीर त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता, किंतु मुझमें मिल जाता है ।—'सो जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइँ होइ जाई ।।' सगुण रूप को तत्त्वरूप से जानना स्वयं तन्मय हो जाना है और यह जितना दुर्लभ है, उतना ही सगुण रूप का ज्ञान दुर्लभ है । भक्तों के लिए सगुण रूप को सुलभ करने के साधन ही अवतार हैं, क्योंकि जैसे सगुण रूप का ज्ञान दुर्लभ है, वैसे ही उसकी उपासना सहज सुलभ है और जैसे निर्गुण रूप सुलभ है, वैसे ही निर्गुण की उपासना बहुत कठिन है । उपासना की दृष्टि से सुगमता और दुर्गमता का वर्णन 'गीता' के अध्याय १२ में हुआ है ।'[1]

श्रीकांतशरण जी लिखते हैं—'निर्गुण में प्रकट व्यापार, माधुर्य-चरित आदि नहीं हैं कि जिनके जानने में कठिता हो । निराकार, निरवधि, नाम-रहित, रूपरहित, आदि-अंतरहित आदि निषेधात्मक विशेषणों में उसका निर्देश होता है । वह सदा एकरस रहता है, सर्वत्र एक अखंड रूप से परिपूर्ण

---

१. मा० पी० उत्तर०, पृ० ३७८-७९

है। उसके विषय में भ्रम होने का डर नहीं रहता। इस तरह उसका जानना अति सुलभ है, किंतु उसका साधन कठिन है। सगुण से सुलभ-अगम नाना चरित होते हैं, जैसे कि धनुर्भंग, परशुराम-पराजय, बालि आदि के वध से उसका जानना सुलभ होता है और स्त्री-विरह में विलाप, नागपाश-बंधन आदि अति माधुर्य के चरित्रों से उसका ऐश्वर्य जानना अति अगम हो जाता है। इन चरित्रों में श्री भरद्वाज जी, श्री सती जी एवं श्री वशिष्ठ जी तक को भ्रम हो जाता है। इस तरह सगुण के जानने में कठिनता है। पर जान लेने पर महाविश्वासपूर्वक शरणागति से उसकी प्राप्ति अति सुगम हो जाती है।'[१] मनुष्य की बुद्धि और वाणी सब प्राकृत एवं परिमित हैं। इनमें अपरिमित ब्रह्म के अगाध चरित आदि कैसे आ सकते हैं ? व्यास जी ने इस पर सूत्र भी लिखा है। यथा—'तर्काप्रतिष्ठानादपि। ब्र० सू० २।१।११।' अर्थात्, उसके विषय में तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है, वह मनुष्यों के तर्क से बाहर है। 'अचिन्त्या खलु ये भावा न तास्तर्केण यो जयेत्'। इत्येवं श्रौतार्थ निर्णये शुष्कतर्काणां पौराणिक निषेधोऽपि दृश्यते। ब्र० सू०, आनंद भाष्य २।१।११।' अर्थात्, अपनी परिमित बुद्धि से अचिन्त्य वस्तु में तर्कयोजना नहीं करनी चाहिए। तथा—'नैषा तर्केण मतिरापनेया। कठ० १।२।९।' अर्थात्, बुद्धि के तर्क से उस तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। वह ब्रह्म-तत्त्व तो शुद्ध सात्त्विक उपासक के समक्ष स्वयं आविर्भूत होता है, यथा—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। कठ० १।२।२२।'[२]

विजयानंद त्रिपाठी जी के अनुसार—'प्रकृति-पार पुरुष का जानना अत्यन्त सुलभ है, क्योंकि उसमें कुछ करना-धरना नहीं है। केवल चुप होकर बैठ जाने से वह जाना जाता है, यथा—'सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनु भूयते। तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात्॥ पञ्चदशी॥' अत: उसे अत्यन्त सुलभ कहा। परन्तु सगुण ब्रह्म को कोई नहीं जानता, वह तो मायी है, बिना माया को जाने वह जाना नहीं जा सकता और माया सत्त्वासत्त्व से अनिर्वचनीया है। उसे कोई कैसे जान सकता है? अतः उन मायी का चरित्र ऐसा है कि समझ में ही नहीं आता, यथा 'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि। चित्त खगेस राम कर समुझि परै कहु काहि।'[३]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण रूप सुलभ है। किन्तु साधना के सिलसिले में आत्मा और ब्रह्म की एकता की धारणा है, उस समय

---

१. मानस, सि० ति०, तृ० खं०, पृ० २६०३

२. मा० पी० लंका०, पृ० ३६९

३. वि० टी०, तृ० भा०, पृ० १२८

वह कठिन और अज्ञेय है। सगुण ब्रह्म को जानना इसलिए कठिन है कि लीला, रूप, गुण आदि से सम्बद्ध होने के कारण उसका ब्रह्मत्व छिप जाता है या अज्ञेय हो जाता है। ऐसे ही समय में सती जी, गरुड़ जी, जयंत, नारद, वशिष्ठ और ब्रह्मादिक को भ्रम हो गया। वात्सल्य में मग्न होने के कारण कौशल्या जी को भी भ्रम हो गया था—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥[1]

निर्गुण रूप में लीला, रूप, गुण आदि का सम्बन्ध न होने से वह सुलभ है। 'सगुण रूप' की दुर्लभता के विषय में श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा जी ने कहा है—

तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितीवतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः रवे-मिहिका द्युभासः ॥[2]

अर्थात्, हे अनन्त ! आपके सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों का ज्ञान कठिन होने पर भी निर्गुण स्वरूप की महिमा इन्द्रियों का प्रत्याहार करके शुद्धान्तःकरण से जानी जा सकती है। (जानने की प्रक्रिया यह है कि) विशेष आकार के परित्यागपूर्वक आत्माकार अन्तःकरण का साक्षात्कार किया जाय। यह आत्माकारता घट-घटादि रूप के समान ज्ञेय नहीं है, प्रत्युत आवरण का भङ्ग-मात्र है। यह साक्षात्कार 'यह ब्रह्म है', 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' इस प्रकार नहीं, किन्तु स्वयंप्रकाश रूप से ही होता है।' परन्तु भगवन् ! जिन समर्थ पुरुषों ने अनेक जन्मों तक परिश्रम करके पृथ्वी का एक-एक परमाणु, आकाश के हिमकण (ओस की बूंदें) तथा उसमें चमकने वाले नक्षत्र एवं तारों तक को गिन डाला है—उनमें भी भला, ऐसा कौन हो सकता है जो आपके सगुण स्वरूप के अनन्त गुणों को गिन सके ? प्रभो ! आप केवल संसार के कल्याण के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं। सो भगवन् ! आपकी महिमा का ज्ञान तो बड़ा कठिन है, अतः स्पष्ट है कि सगुण रूप अज्ञेय है।

१. मानस १।२०१।७

२. श्रीमद्भागवत १०।१४।६-७

'सगुण' में कोई चरित्र तो अत्यन्त सुगम है और कोई अत्यन्त अगम। जिसमें तर्क किया जा सके, वह सुगम है और जिसमें तर्क न किया जा सके, वह अगम है। दुष्टों के दमन और युद्धादि में ऐश्वर्य रूप में भगवान् की शक्ति का पूर्ण प्रदर्शन रहता है। जैसे कबंध, विराध, खरदूषणादिक का वध सुगम चरित्र है। नरलीला में उसका ब्रह्मत्व अज्ञेय हो जाता है, तब साधारण की तो बात ही क्या, अहर्निश मनन करने वाले मुनियों तक को भ्रम हो जाता है। जैसे—विलाप में वृक्षादि से पूछना, नागपाश-बंधन इत्यादि। यह भगवान् का अगम चरित्र है। उपासना के पक्ष में 'सगुण रूप' सुलभ है, किन्तु इसका ज्ञान दुर्लभ है। इसके विपरीत निर्गुण रूप की उपासना कठिन है, किन्तु इसका ज्ञान दुर्लभ नहीं है। अतएव 'सगुण न जानहि कोइ' गूढ़ार्थवाची वाक्य कहा जायगा। गूढ़ार्थवाची होने के कारण इसके विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता थी।

'हार्‌यो हिय, खारो भयो भूसुर डरनि'

रोक्यो बिंध्य, सोख्यो सिंधु घटज हूँ नाम-बल,
हार्‌यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि॥[1]

पं० सूर्यदीन शुक्ल[2], रामेश्वर भट्ट[3], गयाप्रसाद[4], महावीरप्रसाद मालवीय[5], वियोगी हरि[6], देवनारायण द्विवेदी[7] और हनुमानप्रसाद पोद्दार[8] आदि टीकाकारों ने 'खारो भयो भूसुर-डरनि' का अर्थ अगस्त्य जी से सम्बन्धित माना है। उक्त टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है—'अगस्त्य ऋषि ने भी इसी राम-नाम के बल पर विन्ध्याचल पर्वत को रोक लिया एवं समुद्र को सुखा दिया था। पीछे वह समुद्र उन्हीं ब्राह्मण (अगस्त्य) के भय से हृदय में हार मानकर खारा हो गया।' किन्तु जब अगस्त्य ऋषि समुद्र सोख ही गये, तब जल कहाँ शेष रहा जो खारा हो जाए।

---

१. विनय० २४७
२. ,, पृ० २७०
३. ,, पृ० ३३५
४. ,, पृ० ३४१
५. ,, पृ० ३०६
६. ,, पृ० ५५८
७. ,, पृ० ४०६-७
८. ,, पृ० ३८६

समुद्र को भरने के दो प्रमाण प्राप्त होते हैं। प्रथम स्वयं गोस्वामी जी ने गंगा जी के द्वारा समुद्र को भरने की चर्चा की है—'सगर सुवन-साँसति-समनि, जलनिधि-जल-भरनि।'[१] 'महाभारत वनपर्व के अनुसार अगस्त्य जी ने देवताओं की पुनः प्रार्थना पर कि अब समुद्र को फिर अपने पिये हुए जल से भर दीजिए, यह उत्तर दिया कि 'वह जल तो पच गया, तुम उसके भरने का कोई और उपाय सोचो।' ब्रह्मा जी के पास जाने पर उन्होंने देवताओं को आश्वासन दिया कि भगीरथ महाराज गंगाजी को लायेंगे। वे आकर सगर-पुत्रों का उद्धार करेंगी और समुद्र को भर देंगी। ऐसा ही हुआ भी। यथा—

महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः।
ज्ञातीश्च कारणं कृत्वा महाराजो भगीरथः॥
पूरयिष्यति तोयौघैः समुद्रं निधिमम्भसाम्।[२]

इस वचन की पूर्ति भगीरथ महाराज द्वारा हुई—

समासाद्य समुद्रं च गंगाया सहितो नृपः।
पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम्॥[३]

अर्थात्, राजा भगीरथ ने गंगा जी के साथ समुद्र-तट पर जाकर वरुणालय समुद्र को बड़े वेग से भर दिया। आगे लोमश जी के और भी स्पष्ट शब्द हैं—

पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवी भवतारिता।

समुद्र को भरने के लिए ही गंगा पृथ्वी पर उतारी गई थीं।

द्वितीय, 'आनन्द रामायण' में उल्लेख मिलता है कि सुना है कि क्रोध से कुंभज जी ने इसे पी लिया था और मूत्रद्वार से इसे भर भी दिया। इसी से वह खारा हो गया—'पीतोऽयं जलधिः पूर्वं श्रुतं क्रोधादगस्तिना। मूत्रद्वाराद् बहिस्त्यक्तो यस्मात् क्षारत्वमागतः॥'[४] किन्तु यह कथा यहाँ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती, क्योंकि मूत्र तो स्वभावतः खारा होता है। यदि समुद्र मूत्र से पूर्ण किया गया, तो भूसुर के डर से खारा होने का प्रकरण ही नहीं रह जाता है। 'खारो भयो' से यह प्रतीत होता है कि समुद्र में जल था और 'भूसुर' के डर के कारण खारा हुआ था।

---

१. विनय० २०
२. महा०, वन० १०६।२
३. वही १०६।१७-१८
४. वही, श्लो० २०
५. आनन्द रामायण, विलासकाण्ड, सर्ग ६।२१

समुद्र के खारा होने का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों की महत्ता सिद्ध करने वाली अनेक कथाएँ अर्जुन से कही हैं। यहाँ से प्रारंभ करके, कि ब्राह्मणों ने ही देवता, असुर और महर्षि आदि भूतविशेषों को उनके अधिकार पर स्थापित किया और उनके द्वारा अपराध होने पर उन्हें दण्ड भी दिया। उन्हीं में एक कथा समुद्र को दण्डित करने की मिलती है। वह कथा है—'एक समय भगवान् विष्णु लोकहितार्थ 'बडवामुख' नामक महर्षि होकर सुमेरु पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। एक दिन उन्होंने समुद्र का आवाहन किया, किंतु वह उनके पास नहीं गया। तब उन्होंने कुपित होकर समुद्र का जल स्थिर कर दिया और अपने शरीर के ताप से उसे पसीने के समान खारा करके कहा—'आज से तुम्हारा जल अपेय हो जायगा। तेरा यह जल बडवामुख के द्वारा बारंबार पिया जाने पर मधुर होगा।'[1] इस कथा से स्पष्ट है कि ब्राह्मण महर्षि बडवामुख ने समुद्र के जल को खारा किया है। समुद्र को यह दंड दिया गया, अतः वह भूसुर के डर से खारा ही रहता है। नाम-जप के प्रभाव से ही बडवामुख ब्राह्मण ने उसके जल को खारा किया। अंजनीनंदनशरण जी[2] और श्रीकांतशरण जी[3] ने इस कथा को स्वीकार करके अर्थ किया है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'कुंभज अगस्त्य जी ने भी नाम के ही प्रभाव से विंध्याचल (की बाढ़) को रोक दिया और समुद्र को सोख लिया। वह ब्राह्मण बडवामुख के डर से हृदय से 'हार मानकर खारा हो गया।' यहाँ पर भूसुर के डर से समुद्र के खारा होने को गूढ़ार्थी कहा जायगा।

'त्यागै तैं प्रयाग तनु'

तुलसी प्रतीति बिनु त्यागै तैं प्रयाग तनु,
धन ही के हेतु दान देत कुरुखेत रे ॥[4]

प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ है—'तुलसीदास जी कहते हैं कि बिना विश्वास के ही तू प्रयाग में देह त्याग करता है तथा धन के लिए ही तू कुरुक्षेत्र में दान देता

---

१. नारायणो लोकहितार्थं वडवामुखो नाम पुरा महर्षिर्बभूव तस्य मेरौ तपस्तप्यतः समुद्र आहूतो नागस्तस्तेनामर्षितेनात्मगात्रोष्मणा समुद्रः स्तिमित जलः कृतः स्वेदप्रस्यन्दनसदृशश्चास्य लवणभावो जनितः।'
उक्तश्चाप्यपेयो भविष्यस्येतच्च ते तोयं वडवामुख।
संज्ञितेन पेपीयमानं मधुरं भविष्यति।—महा०, शान्तिपर्व ३४२।६०-६१

२. वि० पी०, खं० ५, पृ० २४७-४८

३. विनय०, सि० ति०, पृ० १४७२

४. कविता० ७।१६२

है।' यहाँ प्रश्न है कि 'काशी' में शरीर त्याग करने से मुक्ति मिलती है, ऐसा प्रसिद्ध है। गोस्वामी जी ने भी लिखा है—

मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञानखानि अघ हानिकर।[१]

अयोध्या में भी शरीर त्याग करने से मुक्ति मिलती है—

चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजें तनु नहिं संसारा।[२]

यही नहीं, सात स्थानों पर शरीर त्याग करने से मुक्ति मिलती है—

अयोध्या, मथुरा, काशी, काञ्ची, अवन्तिका।
पुणी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मुक्तिदीपिका॥[३]

किन्तु इनमें कहीं भी प्रयाग का उल्लेख नहीं है। प्रयाग में अस्ति-विसर्जन की प्रसिद्धि अवश्य है। परन्तु यहाँ पर 'प्रयाग में शरीर' त्याग करने की बात कही गयी है। गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी ऐसा ही उल्लेख किया है—

कासी बिधि बस तनु तजै हठि तन तजै प्रयाग।
तुलसी जो फल सो सुलभ राम नाम अनुराग॥[४]

इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि लोग प्रयाग में शरीर का त्याग करते थे। 'हिन्दी शब्दसागर' में मत्स्यपुराण का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है—'संगम पर जो लोग अग्नि द्वारा देह विसर्जित करते हैं, वे जितने रोग हैं, उतने सहस्र वर्ष स्वर्गलोक में वास करते हैं।'[५] रामप्रताप त्रिपाठी जी लिखते हैं कि—'प्राचीन काल में प्रयाग के नीचे धरती में भाला गाड़ कर लोग अक्षयवट पर चढ़कर कूदते थे और इस प्रकार शरीर त्याग करने का विश्वास करते थे कि दूसरे जन्म में मन की अभिलाषाएँ पूर्ण होंगी। इसी परम्परा की ओर गोस्वामी जी का संकेत है। मत्स्यपुराण में इसका उल्लेख किया गया है।[६] मत्स्यपुराण में प्रयाग में शरीर त्याग करने का माहात्म्य इस प्रकार बताया गया है—'जो मनुष्य प्रयाग में अपने प्राण त्याग करते हैं, वे पुनः उत्पन्न नहीं होते।'[७] मनुष्य किसी व्याधि से पीड़ित हो, दीन हो, अथवा वृद्ध हो, किसी विपत्ति में ग्रस्त हो, यदि इस प्रयाग-क्षेत्र में गंगा तथा यमुना के पुनीत संगम

१. मानस ४। सोरठा-१
२. वही १।३५।४
३. मा० पी०, किष्किधा०, पृ० ६
४. दोहा० १४
५. दे० पृ० ३१६०
६. कविता,० पृ० २५६
७. मत्स्य पुराण, अध्याय १०४, अनु० रामप्रताप त्रिपाठी, पृ० २४४

पर अपने प्राणों को छोड़ता है, तो वह तपाये हुए स्वर्ण की भाँति सुंदर, सूर्य के समान तेजोमय विमानों द्वारा, गंधर्व एवं अप्सरा समूह के मध्य भाग में सुशोभित होकर स्वर्गलोक में क्रीड़ा करता है और अपने यथेष्ठ मनोरथों की प्राप्ति करता है······ऐसा ही महर्षियों ने कहा है।'[१]

इस पवित्र तीर्थ में गंगा-यमुना के संगम पर प्राणों को छोड़ने वाला प्राणी उस श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है जिसे योगी एवं सत्यपरायण मनीषी लोग प्राप्त करते हैं।[२] 'प्रयाग तीर्थ में स्थित अक्षवट के मूल भाग पर जाकर जो अपने प्राणों को छोड़ता है, वह अन्य समस्त लोकों का अतिक्रमण कर रुद्रलोक में निवास करता है जब तक सृष्टि का प्रलय नहीं होता।'[३] 'जो मनुष्य प्रयागतीर्थ में सिर को नीचे तथा पैरों को ऊपर की ओर करके अग्नि की ज्वाला का पान करता है, वह एक लाख वर्ष तक स्वर्गलोक में पूजित होता है।'[४] इसी माहात्म्य के कारण गोस्वामी जी ने प्रयाग में शरीर त्याग करने की चर्चा की है। कुरुक्षेत्र में दानार्थ द्रव्यार्जन कष्टप्रद होने के कारण वहाँ पर दान का विशेष माहात्म्य बताया जाता है। यहाँ 'प्रयाग में शरीर त्याग करना' गूढ़ार्थी है।

'पद एक की एक पंक्ति'

महाराज, भलो काज बिचार्‌यो बेगि बिलंब न कीजै ॥[५]

इसका अर्थ टीकाकारों ने किया है—'वाह राजन्! यह तो आपने बहुत अच्छी बात सोची है। यह काम झटपट कर डालना चाहिए। देर नहीं करनी चाहिए।' किंतु यह तो उक्त पंक्ति का शब्दार्थ हुआ। इसमें अनेक भाव अथवा अर्थच्छवियाँ भरी पड़ी हैं। इसे 'अरथु अमित अति आखर थोरे' कह सकते हैं। उक्त चरण में ३ खंड हैं—(१) महाराज, (२) भलो काज बिचार्‌यो, (३) बेगि बिलंब न कीजै।

'महाराज' पद से राजा दशरथ का शासन-गौरव व्यंजित होता है। इतना ही नहीं, इसमें अग्रलिखित भाव अन्तर्निहित हैं—

१. मत्स्यपुराण, अध्याय १०५, पृ० २४५
२. वही, अध्याय १०६, पृ० २४८
३. वही, अध्याय १०६, पृ० २४७
४. वही, ,, १०६, पृ० २५०
५. गीता० १।१।३

अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ। बेद बिदित तेहि दशरथ नाऊ।।
धर्म धुरंधर गुननिधि ज्ञानी।[१]

सीता जी के ये शब्द भी हैं—

ससुरु चक्कवइ कोसल राऊ। भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ।।
आगें होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई।।[२]

इसके अतिरिक्त ये गुण भी ध्वनित होते हैं—

सुरपति बसइ बाँह बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें।।
सूल कुलिस असि अंगवनिहारे।[३]

'महाराज' शब्द से 'वाल्मीकि रामायण १, ६ और ७' में जो कुछ लिखा है, वह सूचित कर दिया। अर्थात्, राजा वेदज्ञ, तेजस्वी, प्रजा के प्रिय, महान् वीर, जितेन्द्रिय, राजर्षि, महर्षियों के समान तीनों लोकों में प्रसिद्ध, ऐश्वर्य में इन्द्र और कुबेर के समान (अवधराजु सुरराजु सिहाई। दशरथ धनु सुनि धनद लजाई)[४], लोक के रक्षक, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान्, चरित्रवान्, धर्म-धुरंधर, मनु के समान पुरी के रक्षक, पापहीन, अधर्म का नाश करने वाले, उद्भूदाता, ब्रह्मण्य, शत्रुहीन, महान् प्रतापी और पराक्रमी थे। इन्द्र भी उनकी सहायता लिया करता था और उनको अपने साथ सिंहासन पर बिठाया करता था, इत्यादि। ये ऐसे प्रतापी थे कि इनका रथ दशों दिशाओं में बेरोक जाता था, इसलिए इन्हें दशरथ कहते थे। देवासुर-संग्राम में तथा शनैश्चर से युद्ध करने के लिए ये ऊर्ध्व दिशा में रथ-समेत गये ही थे।[५] तात्पर्य यह है कि 'महाराज' शब्द से उक्त सभी भाव ध्वनित होता है। अतएव जब 'महाराज' दशरथ इस प्रकार के थे और उनके शासन-काल में किसी व्यक्ति को किसी प्रकार कष्ट नहीं हुआ, तो—'भलो काज बिचार्‌यो' ऐसा तुरन्त क्यों कहा गया? गीतावली का यह शब्द वशिष्ठ जी का है। किन्तु मानस में दशरथ जी के द्वारा राम के युवराज करने के समाचार को सुनकर मंत्री ने कहा था—

---

१. मानस १।१८८।७-८
२. वही, २।६८।३-४
३. वही, २।२५।२० और ४
४. वही, २।३२३।६
५. मा० पी०, बाल०, खं० ३, पृ० १-२

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी ।।
बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जिअहु जगतपति बरिस करोरी।।
जग मंगल भल काजु बिचारा।[१]

राजा दशरथ को यह संदेह हुआ कि हमारे राज्य का तो सब लोगों ने अनुभव भी किया है और प्रत्यक्ष देखा भी है। तब राम-राज्य का नाम लेते ही, ये लोग क्यों सद्यः तत्पर हो गये। 'वाल्मीकि रामायण' में राजा ने जब अपने इस प्रस्ताव को अपने सभासदों के समक्ष प्रस्तुत किया, तो सभा में सब लोग 'मुदित' हुए, जैसे बरसने वाले मेघों के गर्जन को सुनकर मयूर उस गर्जन-ध्वनि का अनुकरण अपने शब्दों द्वारा करते हैं—

'इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम् ।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ।।'[२]

वाल्मीकीय में ही जब राजा ने अपनी इसी बात को मंत्रियों के समक्ष रखा, तो सब लोग राजा की बात सुनकर प्रसन्न हुए और एकमत होकर सबने कहा कि हम सब चाहते हैं कि राम राजा हों। तब राजा ने ऊपर से रुष्ट होकर कहा कि हमें संदेह होता है कि आप लोगों ने मेरा अभिप्राय होने के कारण अपनी स्वीकृति दी है या आप लोगों का यथार्थ मत भी यही है, क्योंकि आप लोगों ने तुरन्त हामी भर ली, सभी एकसाथ सहमत हो गये। मैं तो धर्मपूर्वक राज्य करता ही था, फिर आप एक युवराज देखने की इच्छा क्यों कर रहे हैं? यह सुनकर वे सब राजा से विनती करने लगे कि श्रीराम जी में लोकोत्तर गुण हैं जिनके कारण हम सबों ने तुरत अपनी स्वीकृति दे दी। आप वे सब गुण सुनें, हम कहते हैं, ये गुण सबको प्रिय और आनन्द देने वाले हैं। यथा—प्रियानानन्दनान्कृत्स्नान्प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्छृणु।[३] इसके आगे सर्ग के अन्त तक श्रीराम जी के गुणों का वर्णन करके अन्त में उन्होंने कहा कि 'लोककल्याण में लगे हुए भगवान् देव देव विष्णु के समान, उदार गुणों वाले श्रीराम का, हम लोगों के कल्याण के लिए शीघ्र आपको राज्याभिषेक करना चाहिए—

तं देवदेवोपममात्मजं ते सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदार जुष्टं मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ।।'[४]

---

१. मानस २।५।५-७
२. वाल्मीकि० २।२।१७
३. वाल्मीकि० २।२।२७
४. वही, २।२।५४

'भलो काज बिचार्‌यो' में उक्त सभी भाव निहित हैं। अब प्रश्न है कि राम का राज्याभिषेक करना है और कार्य भी उत्तम एवं सर्वजन-सम्मत है, तो इतनी शीघ्रता क्यों ? और फिर तुरन्त तैयार करने को कहकर 'बिधि दाहिनो होइ तौ' क्यों कहा गया। इससे स्पष्ट है कि वशिष्ठ जी का राम के युवराज बनने में संदेह था। मंत्री ने भी कहा कि—बेगिअ नाथ न लाइअ बारा ॥[1] मानस में वशिष्ठ जी ने कहा है कि—

> बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।
> सुदिनु सुमंगल तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु ॥

इससे स्पष्ट होता है कि या तो वशिष्ठ जी संदिग्धावस्था में थे या राम की इच्छा के विपरीत वे सोच भी नहीं सकते थे, इसीलिए 'बिधि दाहिनो होइ तौ' कहा। भरत जी ने भी जब कहा कि—

> भानुबंस भये भूप घनेरे। अधिक एक तें एक बड़ेरे ॥
> जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता ॥
> दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना ॥
> सो गोसाँइ बिधिगत जेहिं छेकी। सकइ को टारि टक जो टेकी ॥
> बूझिअ मोहि उपाय अब सो सबु मोर अभागु।
> सुनि सनेहमय बचन गुर उर उमगा अनुरागु ॥[2]

तब वशिष्ठ जी ने कहा कि हे तात ! यह बात सत्य है, किन्तु यह राम-कृपा से ही हुआ—

> तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं ॥[3]

वशिष्ठ जी की मार्मिक शब्दावली को मनोरथ-विमोहित महाराज दशरथ नहीं समझ पाये।

उक्त छोटी-सी पंक्ति में मानस और 'वाल्मीकि रामायण' के वशिष्ठ जी और मंत्रियों की उपर्युक्त आदि अनेक बातें समाविष्ट हैं। अतएव उक्त पद की विवेच्य पंक्ति गूढ़ार्थ-प्रधान कही जा सकती है।

---

१. मानस २।५।७

२. वही, २।२५४।५-८

३. वही, २।२५४।१

'चित्रकूट-कथा'

चित्रकूट कथा कुसल कहि सीस नायो कीस ।[१]

मुनिलाल[२], बैजनाथ[३], ठाकुर बिहारीलाल[४], हरिहरप्रसाद[५] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के सम्पादक[६] ने अर्थ किया है कि चित्रकूट की कथा हनुमान जी ने सीता जी से कही। किन्तु श्रीकांतशरण जी ने चित्रकूट की कथा सीता जी द्वारा वर्णित बतायी है।[७] यह सत्य है कि 'वाल्मीकि रामायण' (५।३८) और मानस में 'सक्रसुत' की कथा सीता जी ने हनुमान जी से कही है—

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु । बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु ॥[८]

किन्तु घटना को प्रभावशाली बनाने के लिए कवि को किसी भी कथा में कल्पना की पूरी छूट है। फिर अभी बात तो हनुमान जी ही कर रहे हैं। सीता जी ने इस पंक्ति के बाद उस समय आशीर्वाद दिया है जबकि उन्हें विश्वास हो गया कि 'यह मेरे स्वामी का प्रिय दास है।' विश्वास उत्पन्न करने के लिए यह हनुमान जी द्वारा ऐसी परम गोपनीय 'चित्रकूट की कथा' कहना, यह अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इस कथा को राम और सीता के अतिरिक्त कोई नहीं जानता था। मानस में भी ऐसा ही एक प्रसंग है—

रामदूत मैं मातु जानकी । सत्य सपथ करुनानिधान की ॥[९]

श्री रूपकला जी कहते थे कि—'स्त्रियों का स्वामी को सम्बोधन करने के लिए कुछ खास नाम रहता है। महारानी जी सरकार को 'करुणानिधान' विशेषण से सम्बोधन किया करती थीं। यह गुप्त बात थी, प्रभु ने हनुमान जी से बता दी थी। अतः उन्होंने इस नाम का यहाँ प्रयोग किया। मुद्रिका देने पर विश्वास न हुआ, पर इस नाम के सुनने पर विश्वास हो गया। गोस्वामी जी ने सीता जी के साथ इस नाम का प्रयोग इसी विचार से जहाँ-तहाँ किया

१. गीता० ५।६
२. गीता०, पृ० २९४
३. ,, पृ० ३६६
४. ,, पृ० २२५
५. ,, सुन्दर०, पृ० २२
६. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ४६७
७. गीता० सि० ति०, पृ० ६७४
८. मानस ५।२७।५
९. मानस ५।१३।९

है। यथा —'अतिसय प्रिय करुनानिधान की। सरल प्रकृति आप जानियत करुनानिधान की ॥' (विनय०)[१]। मानस में भी 'करुनानिधान' कहने पर सीता जी को विश्वास हुआ था—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम वचन यह कृपासिंधु कर दास ॥[२]

यहाँ पर भी चित्रकूट की कथा श्रीराम जी ने हनुमान जी से बतायी होगी। तभी तो कवि ने लिखा है कि—

चित्रकूट कथा कुसल कहि सीस नायो कीस।
सुहृद सेवक नाथ को लखि दई अचल असीस ॥[३]

अर्थात्, फिर हनुमान जी ने (प्रमाण हेतु) जयंत की कथा और कुशल कहकर सीता जी को प्रणाम किया। स्वामी का प्रिय दास समझकर अमिट आशीर्वाद दिया—

आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना ॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू ॥[४]

अर्थ-सौष्ठव की दृष्टि से यही अर्थ तर्कसंगत है। मानस के अनुसार चित्रकूट की कथा इस प्रकार है—

'एक बार सुन्दर फूलों को चुनकर श्री रामचन्द्र जी ने अपने हाथों से आभूषण बनाये। प्रभु ने सादर सीता जी को पहनाये और सुन्दर स्फटिक-शिला पर बैठे। देवराज इन्द्र का पुत्र कौए का वेश धारण कर मूर्ख श्री रघुपति का बल देखना चाहता है। जैसे चींटी समुद्र की थाह लेना चाहे, वैसे ही उस महानीचबुद्धि (जयंत) ने उनके बल की थाह पानी चाही। वह मूढ़, मंद-बुद्धि का कारण कौआ श्री सीता जी के चरणों में चोंच मारकर भागा। खून बह चला, तब रघुनाथ जी ने जाना। धनुष पर सींक का बाण रखकर चलाया। ब्रह्मास्त्र मंत्र से प्रेरित वह ब्रह्मबाण दौड़ा। कौआ भयभीत हो गया और भाग चला। अपना वास्तविक रूप धरकर वह पिता के पास गया। राम-विरोधी होने से उसने उसको न रखा। तब वह निराश हो गया। उसके मन में भय उत्पन्न हो गया, जैसा दुर्वासा ऋषि को चक्र से भय उत्पन्न हुआ था। ब्रह्म-

१. मा० पी०, सुन्दर०, पृ० ११८
२. मानस ५।१३
३. गीता० ५।६
४. मानस ५।१७।२-३

लोक, शिवलोक आदि समस्त लोकों में थका हुआ, भय और शोक से व्याकुल फिरा। किसी ने उसे बैठने तक को न कहा। श्रीराम जी के द्रोही को कौन रख सकता है? नारद जी ने विकल देखकर उसे राम जी के पास भेजा। भय और व्याकुलता सहित उसने शीघ्र जाकर श्रीराम जी के चरण पकड़ लिये और कहा—'हे दयालु! हे रघुराई! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। कृपालु श्रीराम जी ने उसके अत्यन्त आर्त वचन सुनकर उसको एकाक्ष करके छोड़ दिया।' वाल्मीकि जी का मत है कि श्री रघुनाथ जी श्री जानकी जी की गोद में सिर रखकर सो रहे थे और उस कौए ने स्तन में चोंच मारा था।[१] यह एक एकांत समय की बात थी। इसे केवल श्रीराम-जानकी जानते थे। दूसरा कोई एकांत रहस्य को नहीं जानता था। केवल बल की परीक्षा की चाह से जयंत वहाँ गया था। बाण-प्रताप का हाल मंदोदरी आदि भी जानती थीं—

सुरपति सुत जानइ बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा॥[२]

इस एकांत समय की कथा हनुमान जी ने सीता जी से कहकर दो बातों को व्यंजित किया। एक तो यह कि जिस प्रकार तुमसे विरोध करने के कारण जयंत की दुर्दशा हुई थी, उसी प्रकार अब रावण भी बच नहीं सकता। दूसरे इसे कहकर उन्होंने श्रीराम जी के प्रिय दास होने का प्रमाण दिया, क्योंकि यह कथा बहुत गुप्त थी। यहाँ पर चित्रकूट की कथा और उसका भी हनुमान जी द्वारा कहना गूढ़ार्थी ही कहा जायगा।

'२९वें पद की कतिपय पंक्तियाँ'

तापसी कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि।
बहुरि तिहि बिधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि॥[३]

इस पंक्ति पर विचार करने से पूर्व सीता-त्याग की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर विचार कर लेना आवश्यक है। वेदान्तभूषण पं० रामकुमार दास जी ने 'मानस-पीयूष'[४] और 'श्रीरामचरित्र के तीन क्षेपक' नामक एक लघु पुस्तिका[५] में सीता-त्याग की कथा को बिल्कुल कपोल-कल्पित सिद्ध किया है और इसको प्रामाणिक मानने वालों की बहुत ही तीक्ष्ण आलोचना की है।

१. वाल्मीकि० ५।३८।२२-२४

२. मानस ६।३६।१२

३. गीता० ७।२९

४. मा० पी०, उत्तर०, पृ० १६७ और १६९

५. दे० पृ० ४०-६४

उक्त पुस्तिका में ही उन्होंने लिखा है कि—'जिन महानुभावों ने ऐसा किया (तुलसी-साहित्य में प्रक्षिप्त अंश समाविष्ट किया), उन्हीं सज्जनों की संसृष्टि गीतावली, उत्तरकांड के २५वें पद से ३६वें पद तक की है, एतदर्थ उसका कोई मूल्य नहीं। और गीतावली में वर्णित कथाओं का सूत्र गीतावली के अन्तिम पद में कवि ने स्वयं दिया है। उसमें सीताहरण का संकेत भी न होने से २५ से ३६ तक बारह स्वतःक्षेपक सिद्ध हो जाते हैं।'[1] मानस के 'सियनिंदक' वाली अर्धाली के विषय में उनका कथन है कि—'यह भगवान् की कृपा ही है कि इस प्रसंग की केवल एक चौपाई के अतिरिक्त और पंक्तियाँ मानस में नहीं मिलतीं। वह चौपाई है—

सियनिंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए।[2]

मैं महात्मा जी के शब्दों का समादर करता हूँ। किन्तु गीतावली का अन्तिम पद जो सूत्र रूप में है, उसके द्वारा पाठ का निश्चय असंभव है, क्योंकि वह कोई सैद्धान्तिक आधार तो है नहीं। मानस के उत्तरकाण्ड में काकभुशुंडि जी ने गरुड़ को जो पूरी कथा सुनाई है, उसमें भी मानस की सभी कथाओं की सूचना नहीं है। इस तरह से पाठ-निश्चय तो 'बालकांड का नया जन्म' की भाँति होगा। वाल्मीकीय के उत्तरकांड के विषय में तो मेरा विशेष ज्ञान नहीं है और न यहाँ इस विषय पर विस्तृत विचार विस्तार के भय से किया ही जा सकता है। गोस्वामी जी न तो बौद्ध थे और न जैन। किन्तु उन्होंने अपने मानस, रामाज्ञाप्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली और विनयपत्रिका जैसे प्रामाणिक ग्रंथों में सीता-त्याग के विषय में कुछ-न-कुछ कहा अवश्य है। उदाहरणार्थ—

सियनिंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए ॥[3]

इसको 'प्रक्षिप्त' मानने पर इसके पूर्व की अर्धाली का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। यदि राम की ममता अनुकूल अवध के नर-नारियों पर ही थी, तो इसमें क्या वैशिष्ट्य हुआ। अनुकूल लोगों पर ममता तो साधारण जन भी करते हैं। इस अर्धाली से ऊपर की अर्धाली के भाव की पुष्टि होती है, अर्थात् श्रीराम जी की ममता 'सियनिंदक' पर भी कम नहीं थी। इसीलिए तो कवि ने कहा कि—'लोक बिसोक बनाइ बसाए।' विनयपत्रिका में भी है—

---

१. श्रीरामचरित्र के तीन क्षेपक, पृ० ६२

२. वही, पृ० ४६

३. मानस १।१६।३

'तिय-निंदक मतिमंद प्रजा रचि निज नय नगर बसाई ।'[१]

अर्थात्, श्री सीता जी की निंदा करने वाली मंदबुद्धि प्रजा को अपने नीति से अथवा नये नगर में रचकर बसाया (नया नगर रचकर बसाया)। इसी प्रकार मानस के सप्तम सोपान की एक अर्धाली है—

दुइ सुत सुंदर सीता जाए । लवकुस बेद पुरानन्हि गाए ॥[२]

यहाँ विचारणीय है कि लौकिक रीति के अनुसार जब किसी व्यक्ति के पुत्र पैदा होता है, तो लोग उस व्यक्ति का नाम लेकर कहते हैं कि अमुक के पुत्र हुआ। स्त्री के पतिगृह में पुत्र का जन्म देने से पति के नाम से ही लड़के की ख्याति होती है। ऐसे ही यदि किसी स्त्री के नैहर में पुत्र पैदा होता है तो लोग उस स्त्री का नाम लेकर कहते हैं कि अमुक लड़की के लड़का पैदा हुआ। उदाहरणार्थ—जब भरतादिक भाइयों के पुत्र हुआ, तब गोस्वामी जी लिखते हैं कि—

दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे । भए रूप गुन शील घनेरे ॥[३]

सीता जी के पुत्र अयोध्या में नहीं, बल्कि वाल्मीकि के आश्रम में हुए। वाल्मीकि का आश्रम पितृगृह के समान था। स्वयं वाल्मीकि जी ने भी कहा है—

पुत्रि ! न सोचिए आई हौं, जनक गृह जिय जानि ।[४]

वाल्मीकि जी सीता जी को पुत्री के ही समान मानते थे। अतः जब सीता जी के पुत्र हुए तो गोस्वामी जी ने लिखा कि—

'दुइ सुत सुंदर सीता जाए । लवकुस बेद पुरानन्हि गाए ॥'

अतः यहाँ कवि ने गुप्त रूप से सीता-निर्वासन का भी संकेत कर दिया। अतएव 'सीता जाए' यहाँ गूढ़ार्थी है। वेदांतभूषण जी का यह तर्क कि—'कैकय सुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भइँ ओऊ॥' से चारों राजकुमारों का जन्म अवध से अन्यत्र मानना चाहिए।[५] किन्तु मेरे विचार से यहाँ यदि यह कह दिया जाता कि 'राजा दशरथ के चार पुत्र हुए', तो इससे

१. वि० पी० १६५, पृ० २३८

२. मानस ७।२५।६

३. वही, ७।२५।८

४. गीता० ७।३२

५. मा० पी०, उत्तर०, पृ० १६७

यह बात स्पष्ट न होती कि किसके कितने पुत्र और कौन हुए ? अतः माताओं के नाम से पुत्रों का सम्बोधन स्पष्टीकरण के लिए किया गया। विजयानंद त्रिपाठी[1], श्रीकांतशरण[2], विनायक राव[3], श्री रामदास गौड़[4] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र[5] आदि विद्वानों ने भी 'सीता जाए' से सीता-निर्वासन के संकेत को ध्वनित होना बताया है।

स्वामी प्रज्ञानंद जी कहते हैं कि—'सीता-परित्यागादि दुःखद घटनाएँ यहाँ कितने अल्प शब्दों में और कितनी खूबी एवं कोमलता से सूचित की गयीं, यह देखते ही बनता है। महाप्रस्थान तो इससे भी अधिक गूढ़रीत्या सूचित किया गया है। इस प्रकार के भाव-प्रदर्शन का कला-कौशल अन्यत्र मिलना असंभव है। मानसपीयूषकार लिखते हैं कि वेदांतभूषण का मत है कि 'श्री सीतात्यागादि की कथा अप्रामाणिक है। वह वाल्मीकीय तथा पुराणों में महाकवि गुणाढ्य के अर्ध-मौलिक उपन्यास 'बृहत्कथा' की कल्पना के आधार पर लोगों ने बढ़ाई है। जो हो, भगवान् जानें। पर यह कथा पद्मपुराणादि में भी है।'[6] इससे भी 'सीता-निर्वासन' की अस्पष्ट सहमति मिलती है। गोस्वामी जी ने सीता-त्याग का संकेत अन्य ग्रंथों में इस प्रकार किया है—

मानिय सिय अपराध बिनु, प्रभु परिहरि पछतात।
रुचै समाज न राजसुख, मन मलीन कृस गात।।[7]
बैरि बंधु निसिचर अधम, तज्यो न भरे कलंक।
झूठे अघ सिय परिहरी, तुलसी साइँ ससंक।।[8]

× × ×

तीय-सिरोमनि सीय तजी जेहिं पावक की कलुषाई दही है।[9]

गीतावली में उत्तरकांड के २५वें पद से ३६वें पद तक सीता-निर्वासन का विस्तृत वर्णन किया गया है, अतः स्पष्ट है कि गोस्वामी जी सीता-निर्वासन को स्वीकार करते थे।

---

१. वि० टी०, तृ० भा०, पृ० ५३
२. मानस, सि० ति०, तृ० खं०, पृ० २४८२-८३
३. वि० टी०, पृ० ६८-६९
४. रामचरितमानस की भूमिका, पृ० ११३
५. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २३०-३२
६. मा० पी०, उत्तर०, पृ० १६८
७. रामाज्ञा० ६।७।२
८. दोहा० १९६ और दोहा० ४९२-४९३
९. कविता० ७।६, ७।१३८ एवं रामाज्ञा० ६।६।५

गीतावली के उपर्युक्त पद के वक्रोक्ति-गर्भित्व और वचन-भंगिमा पर ध्यान देकर इस प्रकार अर्थ किया गया है। ठाकुर बिहारीलाल के अनुसार—'नृपति की मनहरणहारी तिसको तापसी बनाइ कहाँ पठावते हो। तिसको विधिपूर्वक पतियुत वामांगी आदि नाम फेरि कोई साधु हितकारी करैगा।'[१] लगभग इसी प्रकार का अर्थ करते हुए बैजनाथ जी लिखते हैं कि—'काहे ते नृपति को मनहरणहारी ताको तापसी कहि तापसी बनाइ कहा पठवत हो। तेहिं विधिपूर्बक बामांगी आदि नाम फेरि कोऊ साधु हितकारी करेगो।'[२] श्रीकांतशरण जी के अनुसार—'यह सुनकर महर्षि के द्वारा सेवार्थ नियुक्त एक तपस्विनी ने कहा कि आप राजाओं को प्रार्थना क्यों कहकर भेजती हैं। फिर उसी तपस्विनी की भाँति कोई एक हितकारी साधु भी वहाँ आकर आश्वासन के वचन कहे हैं।'[३] किन्तु उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—'मैं तपस्विनी होकर (तुम्हारे विदा होते समय—लक्ष्मण को लक्ष्य करके) राजाओं के अनुकूल क्या संदेश प्रेषित करूँ (संभव है, मनुहार करने में अकुशल मुझसे पुनः कोई त्रुटि हो जाय)। (जिस प्रकार राक्षस के यहाँ हरण के कारण निवास करने पर मेरे विरुद्ध महाराज को किसी ने समाचार दिया था, उसी प्रकार) मुझे विश्वास है कि कोई हितैषी सज्जन आकर (उनसे) मेरे पक्ष में भी कहेगा।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि यहाँ सीता जी प्रथम तो राजधर्म की कठोरता को लक्षित करना चाहती हैं जिसके कारण सीता को पुनः वनवास मिला। द्वितीय, राजधर्म की न्यायशीलता पर भी व्यंग्य कस रही हैं। टीकाकारों ने इस बात पर ध्यान न देने के कारण ही अनेक असंगत अर्थ किये हैं। मुनिलाल जी[४], पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी[५] और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय[६] ने ऐसा ही अर्थ किया है। यहाँ पर उक्त पंक्ति भी गूढ़ार्थयुक्त है।

'जो सोचहि ससिकलहि'

जो सोचहि ससिकलहि सो सोचहि रौरेहि ?
कहा मोर मन धरि न बरिय बर बौरेहि ॥[७]

१. गीतावली रामा०, पृ० ३३७
२. ,, पृ० ४४६
३. ,, सि० ति०, पृ० ६६८
४. गीता०, पृ० ४३४
५, गोसाईं तुलसीदास, पृ० २५८-५६
६. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ५४४
७. पा० मं० ६१

जिस समय पार्वती जी शिव जी को पति-रूप में प्राप्ति-हेतु तपस्या कर रही थीं, उसी समय ब्रह्मचारी के वेश में शिव जी उनके प्रेम, प्रण, व्रत और नियम की परीक्षा हेतु गये। 'कुमारसंभव' में ब्रह्मचारी का कथन इस प्रकार है—

द्वय गतं संप्रति शोचनीयतां समागम प्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती-कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥[1]

अर्थात्, कपाली शिव के साथ रहने के अभिलाष से दो की दशा शोचनीय हुई, एक तो चन्द्रमा की (उस) कला की (जो उनके मस्तक पर रहती है) और दूसरे तुम्हारी, जो संसार के नेत्रों की चन्द्रिका हो (अत्यन्त रूपवती हो)। तात्पर्य यह है कि कपालों की माला धारण करने वाले औघड़ के साथ इन दोनों रमणीय वस्तुओं का संयोग असमीचीन है। भाव यह है कि पहले एक चन्द्रमा की कला ही थी, अब आप भी उसी श्रेणी में आ गईं। 'कुमारसंभव' के उक्त भाव को ही गोस्वामी जी ने अपनी लेखनी की कलात्मकता से अपेक्षाकृत उत्कृष्टतर रूप में 'पार्वती-मंगल' के उक्त छोटे से चरण में प्रस्तुत कर दिया है। उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है—'जो सर्वदा शशिकला को प्रसन्नचित्त रखने की चिंता करता रहता है, क्या वह आपके पक्ष में भी कुछ विचार करेगा ? अतः मेरे कथन को हृदय में धारण करके उस पागल वर का वरण न करिये।' यहाँ गूढ़ार्थ यह है कि वे शशिकला से बहुत प्रेम करते हैं, अतएव तुम्हारे साथ वैसा प्रेम नहीं कर सकते। इससे यह भी ध्वनित होता है कि तुम्हें शशिकला नाम की एक ज्येष्ठा सवति भी प्राप्त होगी। तुमको उसकी सेवा भी करनी पड़ेगी। स्त्रियाँ सौत से वैसे ही विद्वेष रखती हैं, फिर सेवा करना तो अत्यन्त असंभव है—

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई ॥[2]

तात्पर्य यह है कि उक्त पंक्ति में पार्वती जी की आसक्ति को शङ्कर की ओर से मुक्त करने का भाव लक्षित होता है। लाला भगवानदीन[3], सदगुरुशरण अवस्थी[4], श्रीकांतशरण[5] और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र[6] ने लगभग ऐसा ही अर्थ किया है।

---

१. कुमारसंभव ५।७१
२. मानस २।२१।१
३. तुलसी-पंचरत्न, पा० मं०, पृ० ५
४. तुलसी के चार दल, दूसरी पुस्तक, पृ० ११०
५. पा० मं०, सि० ति०, पृ० ३४
६. गोसाईं तुलसीदास, पृ० २३२-३३

किन्तु उक्त गूढ़ार्थ पर ध्यान न देने के कारण कतिपय विद्वानों ने इसके छह असंगत अर्थ किये हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार—'यदि कोई चन्द्र-कला का सोच करे, तो आपका भी सोच करे।'[1]

'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक महोदय के अनुसार—'जो लोग चन्द्रकला के लिए दुःखी हैं (कि वह कहाँ शिव के सिर पर जा फँसी), वे आपके लिए भी पछतायेंगे (कि एक तो चन्द्रकला महादेव के सिर पर रहकर अपनी प्रतिष्ठा गँवाए बैठी है, दूसरे आप भी उसे वर बनाकर अपना जीवन बिगाड़ बैठीं)।'[2] 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यहाँ पूर्वोक्त अर्थ ही साहित्यिक और तर्कसंगत प्रतीत होता है।

———

१. पा० मं०, पृ० ४५

२. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २७

११

छंदानुरोध के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ और उनका निदान

'शब्दसागर' में 'छंद' की परिभाषा इस प्रकार दी है—'वह वाक्य जिसमें वर्ण या मात्रा की गणना के अनुसार विराम आदि का नियम हो। वर्ण या मात्रा की गणना के अनुसार पद या वाक्य रखने की व्यवस्था।'[1] गद्यात्मक शब्द-व्यवस्था की तरह छंद में शब्द-व्यवस्था नहीं रहती, क्योंकि इसमें गेयता और लयात्मकता की प्रधानता होती है। संगीतात्मक, पद-विन्यास के कारण कहीं-कहीं मात्राओं को घटाना-बढ़ाना पड़ता है जिससे बहुधा अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कवि ने कहीं-कहीं छंद के आग्रहवश लघु को दीर्घ कर दिया है। यथा—अपादान कारक परसर्ग 'चाहि' को 'चाही', संस्कृत शब्द 'कोऽपि' को 'कोपी' और 'सुरति' को 'सूरति'। 'रही' का अर्थ ठीक से न लगाने के कारण छंदोभंग कर दिया गया है—

बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्हि न रहि बिरती ॥[2]

तुकांत के अनुरोध से 'आयु' को 'आय' और 'आउ' कर दिया है। इसी प्रकार नवीन शब्दों का भी निर्माण करना पड़ा है। यथा—अलायक, उपजायक, कटाइक आदि। अनुप्रास के कारण 'सिपर' को सीपर' कर दिया है। यत्र-तत्र नवीन क्रियाओं का भी निर्माण करना पड़ा है—संस्कृत 'पतिता' से पतिताना', 'मुक्त' से 'मुक्ताना' आदि। कहीं-कहीं छंद के आग्रहवश संधि-विच्छेद भी कर दिया है। यथा रीति मारिखी और उत्तर अयन। कुछ समीक्षक इसे दोष-दृष्टि से देखते हैं, किन्तु गोस्वामी जी ने ऐसा छंदानुरोध के कारण ही किया है। प्रस्तुत अध्याय में ऐसे ही छंदानुरोध के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याओं के निदान का प्रयास किया गया है।

'चाही'

अरि बस दैउ जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीवन चाही ॥[3]

---

१. दे० पृ० ३२८

२. मा० पी०, उत्तर०, दोहा १०१।१

३. मानस २।२१।२

राजापुर की प्रति और 'रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश' में 'जीव न' पाठ है।[1] इसी आधार पर कुछ लोगों ने इसका अर्थ—'उसे जीना न चाहिए' किया है, किन्तु यह पाठ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। लेख-प्रमाद के कारण 'जीव' और 'न' पृथक्-पृथक् लिख दिया गया होगा। अतः उक्त अर्थ भी असंगत है।

सं० १७६२ की प्रति, लाला छक्कनलाल की पोथी, कोदोराम जी के गुटका और सं० १७०४ की प्रति में 'जीवन' ही पाठ है।[2]

उक्त व्याख्यातव्य 'चाही' शब्द अपादान कारक परसर्ग 'चाहि' अव्यय शब्द है। छंद के आग्रहवश दीर्घ स्वरांत कर दिया गया है। 'चाहि' शब्द का अर्थ है—'अपेक्षाकृत (अधिक), बनिस्बत'। 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में इसका विकास प्रा० 'चाहिय' (वांछित, अपेक्षित) से स्वीकार किया गया है।[3] मानसपीयूषकार के अनुसार – 'यह सं० 'चैव' से बना हुआ जान पड़ता है। इसका प्रयोग जायसी ने बहुत किया है। बँगला में 'चाहिया' का प्रयोग इसी अर्थ में होता है, अब 'चे' से वही अर्थ लेते हैं।'[4] गोस्वामी जी ने 'चाहि' शब्द का प्रयोग 'अपेक्षाकृत' अर्थ में अन्यत्र भी किया है—

कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।[5]
कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।[6]

छंद की मात्रा-पूर्त्यर्थ को ध्यान में न रखने के फलस्वरूप यहाँ 'इच्छा करना, चाहिए अथवा देखना' अर्थ में भ्रम होना स्वाभाविक है। उक्त अर्धाली का अर्थ इस प्रकार होगा—'विधाता जिसको शत्रु के वश में जिलाता है, उसको जीने की अपेक्षा मरना अच्छा है।' 'प्रकरण' नामक अर्थनिश्चय के साधन से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'कोपी'

सो गोसाँइ नहि दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहौं पन रोपी॥[7]

---

१. मा० पी०, अयो०, पादटिप्पणी, पृ० ११४
२. वही, पृ० ११४
३. दे० पृ० ३११
४. मा० पी०, अयो०, पृ० ११४-१५
५. मानस १।२५८।४
६. मानस ७।१९।१५
७. वही, २।२६८।७

सं० 'कोपिन्' से विकसित विशेषण 'कोपी' शब्द का प्रचलित अर्थ 'कोप करने वाला, क्रोधी' है। गोस्वामी जी ने इस अर्थ में इसका प्रयोग किया है—

चला न अचल रहा रथ रोपी। रन दुर्मद रावनु अति कोपी ॥[१]

किन्तु यहाँ 'क्रोधी' अर्थ में 'कोपी' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। उक्त 'कोपी' शब्द संस्कृत का 'कोऽपि'—'कः' संस्कृत सर्वनाम और 'अपि' संस्कृत अव्यय शब्द है। यहाँ 'कोपी' शब्द का अर्थ है—'कोई भी, कोई'। छंद की मात्रा-पूर्ति के कारण दीर्घ स्वरांत कर दिया गया है। इसको न समझने से 'क्रोधी' अर्थ का भ्रम हो सकता है। 'कोई भी' अर्थ में 'कोपी' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी किया है—

सुनु दसकंठ कहौं पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी ॥[२]

अतएव उक्त व्याख्येय अर्धाली का अर्थ होगा—

'ऐसा स्वामी (आपके अतिरिक्त) दूसरा कोई भी नहीं है। मैं हाथ उठाकर दृढ़ प्रतिज्ञा करके (सत्य) कह रहा हूँ।'

'अजे'

मुनि मानस पंकज भृङ्ग भजे, रघुबीर महा रन धीर अजे।[३]

'भजे' शब्द से तुक मिलाने के कारण संस्कृत विशेषण शब्द 'अजेय' के 'य' को हटाकर 'अजे' कर लिया गया है। 'अजेय' का 'अजै' रूप प्राप्त होता है।

हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।[४]

किन्तु 'अजे' नहीं। अतः 'अजे' शब्द का प्रयोग यहाँ तुकांत के कारण ही हुआ है। 'अजे' शब्द का सामान्य अर्थ—'जिसे कोई जीत न सके' ही है। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'रघुवंशी वीर, रण में महाधीर और अजेय होकर भी आप मुनियों के मन-कमल के भ्रमर होकर उनको भजते हैं, अर्थात् उनके प्रेम के वश होकर उनके हृदय-कमल में निवास करते हैं।'

'उपाया'

अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब परि मोहि बराबरि दाया ॥[५]

---

१. मानस ६।८२।४

२. मानस ५।२३।७

३. मानस ७।१४।१७

४. विनय० ८९

५. मानस ७।८७।७

प्रस्तुत पंक्ति में प्रयुक्त 'उपाया' (उपाय) 'युक्ति, साधन' अर्थवाला शब्द नहीं है। यह हिन्दी 'उपजना' का सकर्मक रूप है। कवि ने लय या गति के कारण 'उपजाया' को ही 'उपाया' कर दिया है। छंदानुरोध को न समझने के कारण संभवतः संवत् १७०४ की काशिराज के यहाँ की प्रति और पं० राम गुलाम द्विवेदी के गुटका में 'मम उपजाया' पाठ स्वीकार किया गया है।[१] किन्तु आधुनिक पाठ-विशेषज्ञों—डॉ० माताप्रसाद गुप्त[२] और डॉ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अतिरिक्त समस्त आधुनिक संस्करणों में भी उक्त 'उपाया' पाठ ही स्वीकार किया गया है। गोस्वामी जी ने अन्यत्र 'उपजाया' पाठ भी माना है—

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥[३]

किन्तु यहाँ 'उपजाया' का लघु रूप 'उपाया' छंद के आग्रहवश ही किया हुआ प्रतीत होता है। अतः यहाँ यही पाठ स्वीकार्य है। इसका अर्थ है—'पैदा किया हुआ।'

'रही'

बहु दाम सँवारहिं धाम जती। बिषया हरि लीन्हि रही बिरती ॥[४]

गीता प्रेस[५] और मानसपीयूषकार[६] ने अर्थ न बैठने के कारण छंदो-विरुद्ध पाठ रखा है। दोनों संस्करणों में 'रही' के स्थान पर 'न रहि' पाठ है। किन्तु इससे छंदोभंग हो जाता है। यह तोटक छंद है जो चार सगणयुक्त १२ वर्ण का होता है। 'न रहि' पाठ स्वीकार करने से छंद के दूसरे चरण में १३ वर्ण होने से छंदोभंग हो जाता है और तीसरा सगण समाप्त हो जाता है। 'रही' का अर्थ ठीक न लगा पाने के कारण ही ऐसा किया गया है। यहाँ 'रही' का अर्थ है 'थी', न कि 'रह गयी'। जो 'विरति थी', उसे 'विषय' ने हर लिया। रही-सही विरति भी समाप्त हो गयी। अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'संन्यासी बहुत धन लगाकर घर (धाम) सजाते हैं। जो विरति थी, उसे विषय ने हर लिया।' पं० विश्वनाथप्रसाद जी ने भी यही अर्थ और पाठ स्वीकार किया है।[७] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी वैज्ञानिक रीति से 'रही'

१. दे० मा० पी०, उत्तर०, पादटिप्पणी, पृ० ४३६
२. दे० डॉ० गुप्त का संस्करण, मानस ७।८७।७
३. मानस १।१५२।४
४. मानस ७।१०१। छंद १
५. दे० गीता प्रेस संस्करण, मानस ७।१०१। छंद
६. दे० मा० पी०, उत्तर०, पृ० ४६६
७. काशिराज संस्करण, आत्म-निवेदन, पृ० २८

पाठ ही निश्चित किया है।[1] पं० रामगुलाम द्विवेदी ने भी अपने गुटका में यही पाठ माना है।[2] छंद की दृष्टि से भी यही पाठ विषयानुसंगत है।

'अलायक'

सुर स्वारथी, अनीस अलायक, निठुर, दया चित नाहीं।[3]

'लायक' विशेषण अरबी शब्द है जिसका अर्थ है—सुयोग्य। 'अ' संस्कृत उपसर्ग लगाकर 'अलायक' शब्द छंदानुरोध, अनुप्रास और प्रवाह के कारण बनाया गया है। यदि 'नालायक' फारसी और अरबी शब्द का प्रयोग किया जाता, तो छंदोभंग हो जाता। 'अलायक' शब्द का अर्थ है—'नालायक, निकम्मा'। उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'देवता स्वार्थी, असमर्थ, नालायक और कठोरहृदय हैं। उनके हृदय में दया नहीं है।'

'कस'

द्वंद रहित, गत-मान, ज्ञानरत, विषय-बिरत खटाइ नाना कस।[4]

'कस' के अनेक अर्थ किये गये हैं। पं० महावीरप्रसाद जी के अनुसार—"नाना व्यक्तियों में टिकाऊ हो जाय। अर्थात् शान्त, निरपेक्ष, ज्ञानी, वैराग्यवान्, तपस्वी, योगी तथा सिद्ध मानने योग्य हो जायगा।' वे लिखते हैं कि 'खटाइ' शब्द देशभाषा का है। इसके पर्यायी शब्द 'खटकने वाला, टिकने वाला, खटाऊ, टिकाऊ, पायदार' इत्यादि हैं। 'कस' शब्द फारसी भाषा का है, इसके पर्यायी शब्द 'व्यक्ति, मनुष्य, साथी और मित्र' आदि हैं।[5] यह बिल्कुल आरोपित अर्थ है। पं० सूर्यदीन शुक्ल के मतानुसार—'विषयों में विरक्त खटाइयों में से अनेक कस-सा मिल जावे तो।' जैसे खट्टी चीज में एक ही जगह अनेक रसों का कस (सार-भाग) (खट्टा, मीठा, नमकीन, कड़ुवा, तीता, कसैला) मिल जाने से अधिक रोचक हो जाते हैं।[6] 'कस' का 'सार' अर्थ भी संगत नहीं प्रतीत होता। लाला भगवानदीन, वियोगी हरि और श्रीकांतशरण जी ने इसका अर्थ किया है—'विविध प्रकार की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाय, कसौटी पर खरी उतरे।'[7] हरिहरप्रसाद जी और बाबू

१. दे० मानस ७।१०१। छंद
२. मा० पी०, उत्तर०, पादटिप्पणी, पृ० ४६६
३. विनय० १४५
४. विनय० २०४
५. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० ५४७
६. वही, पादटिप्पणी, पृ० ५४८
७. वही, प्रस्तुत 'कस' का अर्थ 'तुलसी-शब्दसागर' और 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में भी यही दिया है। —दे० क्रमशः पृ० ७८ और पृ० १८३

शिवप्रकाश के अनुसार—'जैसे खटाई और नाना कस'—यहाँ पर अकर्मक क्रिया 'खटाना' से बना हुआ 'खटाइ' शब्द नहीं है और न संस्कृत 'कष' से विकसित 'कस' का अर्थ 'परीक्षा, कसौटी' है। उक्त 'कस' शब्द संस्कृत 'कषाय' से बना है जिसका अर्थ है—कसाव, कसैलापन। 'अस', 'जस' तुकांत के अनुरोध से 'कस' कर दिया गया है। 'खटाइ' का अर्थ 'खट्टी स्वाद वाली वस्तु इमली, कच्चा आम' आदि है। 'खटाई'[1] पाठ से भी इसी अर्थ का समर्थन प्राप्त होता है।

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'छंदों से रहित, अभिमानरहित, ज्ञान-प्रवृत्त और विषयों से अनेक प्रकार की खट्टी वस्तुओं के कसैलेपन के समान विरक्त हो जाय। अर्थात् जैसे अनेक प्रकार की खटाइयों में 'कस'—कसाव आ जाने से वे अप्रिय हो जाती हैं, पुनः उनकी ओर ध्यानाकृष्ट नहीं होता, इसी प्रकार विषयों से वैराग्य हो जाय, उन्हें देखने पर भी आसक्ति न हो, उनसे मन पूर्णतया हट जाय।'

अर्थ-सौष्ठव की दृष्टि से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि कसैले वस्तु को देखने मात्र से ही मन मचलाने लगता है, वैसे ही विषयों की ओर से विरति होनी चाहिए। त्यागभाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत उपमान बहुत ही सटीक है। 'विरति' के ही प्रसंग में लगभग ऐसा ही प्रयोग कवि ने अन्यत्र भी किया है—

रामबिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥[2]

बैजनाथ जी, पं० रामकुमार जी, बाबू शिवप्रसाद जी, रामेश्वर भट्ट जी, हरिहरप्रसाद जी और पोद्दार जी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।[3]

'मिसकीनता'

एही दरबार है गरब तें सरब-हानि,
लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता ॥[4]

'मिसकीन' विशेषण अरबी शब्द है जिसका अर्थ है—दीन, गरीब।[5] 'मिसकीन' से संज्ञा शब्द 'मिसकीनी' बनता है, किन्तु इससे छंदोभंग हो जाता

---

१. दे० वि० पी०, पद २०४
२. मानस २।३२३।८
३. वि० पी०, खं० ४, पादटिप्पणी, पृ० ५४८
४. विनय० २६२
५. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ८०३

है, क्योंकि ऊपर की पंक्ति में 'प्रवीनता' शब्द है। अतः आगे की पंक्ति में भी ताकारांत होना चाहिए। इसी कारण गोस्वामी जी ने छंदानुरोध के कारण 'मिसकीन' अरबी शब्द में हिन्दी या संस्कृत का 'ता' प्रत्यय जोड़कर 'मिसकीनता' भाववाचक संज्ञा शब्द बना लिया है जिसका अर्थ है—दीनता।[1] उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'इस दरबार (श्रीराम की राज्य-सभा) में गर्व करने से सब प्रकार से हानि होती है और गरीबी (सर्वसाधनहीनता) एवं दीनता (पुरुषार्थहीनता) से योग-क्षेम का लाभ (प्राप्त) होता है।'

'पतितायो'

श्रवन नयनै मगु मन लगे सब थल पतितायो।[2]

'तुलसी-ग्रंथावली में 'थलपति तायो' पाठ है।[3] लाला भगवानदीन जी ने इसका अर्थ किया है—'राजाओं को जाँच चुका।'[4] वियोगी हरि[5], रामेश्वर भट्ट[6] और पं० सूर्यदीन शुक्ल जी[7] ने भी यही अर्थ किया है।

किन्तु 'पतितायो' शब्द का अर्थ न लगा पाने के कारण ही 'पतितायो' के आदि के 'पति' को 'थल' के साथ जोड़कर 'थलपति तायो' पाठ किया गया है।

गोस्वामी जी छंदानुरोध के कारण नवीन क्रियाओं का निर्माण कर लिया करते थे। यहाँ पर भी उन्होंने 'पतिता' से 'पतिताना' क्रिया बना ली है। 'पतिता' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है—'पतित होने का भाव, जाति या धर्म से च्युत होने का भाव, अपवित्रता, अधमता, नीचता।' उसी से कवि ने 'पतिताना' क्रिया बनाई है; अर्थात् अपवित्रता या अधमता को प्राप्त होना, पतित हो जाना।'[8]

अतएव उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'कान और नेत्रों के मार्ग में मन के लग जाने से मैं सब स्थानों में गिरता ही (पतित ही होता) गया।'

---

१. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ८०३
२. वि० पी० २७६।५
३. दे० विनय० २७६
४. वि० पी०, खं० ५, पृ० १०५१
५. विनय०, पृ० ६२०
६. विनय०, पृ० ३७०
७. वही, पृ० २६४
८. वि० पी०, खं० ५, पृ० १०५१

विनयपीयूषकार[1], बैजनाथ[2], महावीरप्रसाद मालवीय[3] और श्रीकांतशरण[4] ने ऐसा ही अर्थ किया है। पं० देवनारायण द्विवेदी ने 'पतिताना' का अर्थ 'विश्वास किया' किया है जो कि तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।[5] गयाप्रसाद का 'सब स्थानों में पति खोजत फिरे' अर्थ पूर्णरूपेण असंगत है।[6]

"बिस्तरहुगे"

दास तुलसी बेद बिदित बिरुदावली,
बिमल जस नाथ केहि भाँति बिस्तरहुगे ।।[7]

छंदानुरोध के कारण 'भरहुगे, डरहुगे' के तौल में गोस्वामी जी ने 'बिस्तरहुगे' अकर्मक क्रिया बना ली है। संस्कृत 'विस्तरण' से विकसित 'बिस्तरना' क्रिया का अर्थ है—फैलना, इधर-उधर बढ़ना।[8] मानस में भी इस क्रिया का प्रयोग किया गया है—

जगपावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं ।।[9]

अतएव उक्त व्याख्येय पंक्ति का अर्थ होगा—'तुलसीदास जी कहते हैं कि तो हे नाथ! वेदप्रसिद्ध कीर्ति वाले निर्मल यश को आप किस प्रकार फैला सकेंगे?'

इसी भाँति उन्होंने 'बिस्तारना' सकर्मक क्रिया का भी निर्माण छंद के आग्रहवश ही किया है। संस्कृत 'विस्तारण' से विकसित 'बिस्तारना' क्रिया का अर्थ है—विस्तार करना, फैलाना। अन्यत्र भी इसका प्रयोग हुआ है—

मन संभव दारुन दुख दारय। दीनबंधु समता बिस्तारय ।।[10]
सही न जाइ कपिन्ह कै मारी। तब रावन माया बिस्तारी ।।[11]

---

१. वि० पी०, खंड ५, पृ० १०५२
२. विनय०, पृ० ५२०
३. वही, पृ० ३३७
४. वही, सि० ति०, पृ० १५६७
५. विनय०, पृ० ४५१
६. वही, पृ० ४५१
७. वही, २११
८. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ७२८
९. मानस ६।६६।३
१०. वही ७।३५।४
११. वही ६।८९।६

'उतर अयन'

मधु माधव मूरति दोउ सँग मानो दिनमनि गवन कियो उतर अयन ।[१]

तुकांत के अनुरोध से 'उत्तरायण' का विच्छेद 'उतर अयन' कर दिया गया है। सूर्य की मकर रेखा की ओर से कर्क रेखा की ओर की गति को 'उत्तरायण' कहते हैं।[२] उत्तरायण में सूर्य मकर रेखा से चलकर बराबर उत्तर की ओर बढ़ता रहता है। उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है—'वे (श्रीराम) ऐसे जान पड़ते हैं मानो सूर्य के उत्तरायण में गमन करते समय साथ में चैत्र और वैशाख दोनों मासों की मूर्तियाँ विराजमान हैं।' उत्तरायण का 'उतर अयन' रूप अर्थ की दृष्टि से दुरूह है।

'उपजायक'

सोक-कूप पुर परिहि, मरिहि नृप, सुनि सँदेश रघुनाथ-सिधायक।
यह दूषन बिधि तोहि होत अब रामचरन-बियोग-उपजायक ॥[३]

भाषा के दृष्टिकोण से गोस्वामी जी परम स्वतंत्र कवि थे। वे व्याकरण, कोश और बोलचाल की चिन्ता से रहित होकर आवश्यकतानुसार छंदानुरोध के कारण शब्दों का निर्माण कर लेते थे। यहाँ पर भी उन्होंने छंद के आग्रह-वश संस्कृत के नियमों के अनुसार हिन्दी क्रियाओं में 'क' प्रत्यय जोड़कर कर्तृ-वाचक शब्दों का निर्माण कर लिया है। 'उपजाना' सकर्मक क्रिया में कर्तृ-वाचक 'क' प्रत्यय जोड़कर 'उपजायक' शब्द बना लिया है जिसका अर्थ है—'उत्पन्न कराने वाला'। उक्त पंक्तियों का अर्थ होगा—'(कौशल्या जी कहती हैं कि) राम के वन-गमन का समाचार पाते ही सारा नगर शोककूप में डूब जायगा और राजा दशरथ भी प्राण त्याग देंगे। राम-चरणों से वियोग उत्पन्न कराने वाले हे विधाता! यह दोष अब तुम्हारे ऊपर आयेगा।' इसी प्रकार 'सिधारना' क्रिया से सिधारक, संस्कृत 'प्रापण' से 'पायक' (पाने को) और 'आना' क्रिया से 'आयक' शब्दों का निर्माण कर लिया है।[४]

'आय'

धन्य ते जे मीन से अवधि-अंबु आय हैं।
तुलसी प्रभु सों जिन्हहूँ के भले भाय हैं ॥[५]

१. गीता० १।४६
२. दे० तुलसी-शब्दसागर, पृ० ५१
३. गीता० २।३।३
४. वही २।३।४
५. वही २।२८।६

यहाँ पर 'आय' शब्द का अर्थ 'आमदनी, आमद, लाभ, प्राप्ति या धनागम' नहीं है। यह संस्कृत 'आयुस' से विकसित 'आयु' संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है जिसका अर्थ है—वय, उम्र। छंदानुरोध के कारण गोस्वामी जी ने 'आयु' का उकार हटा दिया है।

उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'जिन लोगों की आयु इनके लौटने के अवधि-रूप जल में मीन के सदृश हो रही है, वे धन्य हैं। तुलसीदास जी कहते हैं—जिनका प्रभु में सद्भाव हैं, वे लोग भी धन्यवाद के पात्र हैं।'

इसी प्रकार तुकांत के अनुरोध से 'आयु' को 'आउ' भी कर दिया है। उदाहरणार्थ—'निपट सयाने हौ कृपानिधान कहा कहौं, लिये बेर बदलि अमोल-मनि-आउ मैं।'[1]

प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ है—हे कृपानिधान ! आपसे मैं क्या कहूँ ? आप तो परम चतुर हैं। मैंने अमूल्य मणिरूपी आयु को बेर से बदल लिया।'

'मुकुतावहिंगे'

लोकपाल-सुर-नाग-मनुज सब परे बंदि कब मुकुतावहिंगे।[2]

छंदानुरोध के कारण संस्कृत 'मुक्त' विशेषण शब्द से 'मुक्ताना' क्रिया बना ली है जिसका अर्थ है—'मुक्त करेंगे'। उक्तपंक्ति का अर्थ होगा—'(जानकी जी हनुमान जी से कहती हैं कि) लोकपाल, देवगण, नाग और मनुष्य—ये सब बन्दीगृह में पड़े हुए हैं। इन्हें वे (श्रीराम जी) कब मुक्त करेंगे ?'

'सूरति'

तुलसिदास रघुबीर की सोभा सुमिरि, भई है मगन नहिं तन की सूरति ॥[3]

यह 'सूरति' संज्ञा स्त्रीलिंग फारसी शब्द 'रूप, आकृति या शक्ल' अर्थ वाली नहीं है। यह संस्कृत 'स्मृति' से विकसित संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द है जिसका अर्थ है—स्मरण, सुधि।[4] गोस्वामी जी ने छंदानुरोध के कारण 'सुरति' का 'सूरति' कर दिया है। उक्त पंक्ति का अर्थ है—'तुलसीदास जी कहते हैं कि इस प्रकार रघुनाथ जी की शोभा का स्मरण कर सीता जी प्रेम में मग्न हो रही हैं; उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं है।'

---

१. वि० पी०, पद २६१

२. गीता० ५।१०

३. गीता० ५।४७

'सीपर'

लागति साँगि, विभीषन-ही पर सीपर आपु भये हैं ॥[1]

उक्त 'सीपर' शब्द फारसी संज्ञा पुल्लिग 'सिपर' शब्द है जिसका अर्थ है—'ढाल'।[2] गोस्वामी जी ने छंद के आग्रहवश 'ही पर' (हृदय पर) का अनुप्रास मिलाने के लिए 'सिपर' को 'सीपर' बना लिया है। उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है—'इसीलिए यद्यपि शक्ति तो विभीषण के हृदय पर लगने वाली थी, परन्तु उसकी रक्षा के हेतु तुम उसकी ढाल बन गये।'

'मारखी'

भले भूपि कहत भले भदेस भूपनि सों,
"लोक लाखि बोलिए पुनीत रीति मारखी।"[3]

प्रस्तुत पंक्ति को पढ़ने से यह विदित होता है कि 'मारखी' कोई अलग पद है। 'तुलसी-शब्दसागर' के सम्पादक महोदय भी ईसी भ्रम में पड़ गये। यही कारण है कि 'मारखी' शब्द का अर्थ तो टीकाओं के आधार पर 'परंपरागत' कर लिया है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध मानी है।[4] वस्तुतः 'मारखी' शब्द 'रीति' शब्द से जुड़ा हुआ 'रीतिमारखी'—'रीतिम्+आर्षी' पद है। छंदानुरोध के कारण संधि-विच्छेद करके गोस्वामी जी ने 'रीति मारखी' कर दिया है, क्योंकि आगे उन्हें इसी के तौल का 'कारखी' पद रखना है।

'आर्षी' विशेषण स्त्रीलिंग शब्द का एक अर्थ—'पवित्र, पावन' भी है।[5] अतः 'रीतिम्+आर्षी' शब्द का अर्थ है—'पवित्र ढंग'। यहाँ 'पवित्र ढंग' से बात करने का अर्थ है—श्री जानकी जी को माता और श्री रामचन्द्र जी को पिता के रूप में देखना। उक्त पंक्ति के नीचे की पंक्ति में यही कहा गया है। मानस में भी कवि ने कहा है—

साधु भूप बोले सुनि बानी। राज समाजहि लाज लजानी ॥[6]

आगे साधु भूप कहते हैं—

देखहु रामहि नयन भरि तजि इरिषा मदु कोह ॥[7]

---

१. गीता० ६।५
२. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६८६
३. कविता० १।१४
४. दे० तुलसी-शब्दसागर, पृ० ३८७
५. दे० संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १६०
६. मानस १।२६६।६
७. वही १।२६६।०

जानकी जी की प्राप्ति की चाह ही अपवित्र ढंग की बात है। तभी 'सज्जन राजा नीच राजाओं को समझाकर कहते हैं कि समाज को देखकर पवित्र ढंग (आर्योचित ढंग) से बात कीजिए।'

'चारिखो'

तिन कही जग में जगमगति जोरी एक,
दूजो को कहैया और सुनैया चष चारिखो।[1]

यह 'चारिखो' 'चारिको' या 'चार का' शब्द है, किन्तु छंद के आग्रहवश तुकांत 'चारिखो' शब्द बना लिया है, क्योंकि इसके पूर्व 'पारिखो' और उपरांत 'सारिखो' शब्द है। उक्त पंक्ति का अर्थ है—'नारद जी ने कहा है कि संसार में एक श्रीराम-जानकी जी की (ही) जोड़ी जगमगा रही है। उनसे बढ़कर और कौन 'चार आँखों वाला' बतलाने और सुनने वाला है।'

'सरीकता'

टूट्यौ सो न जुरैगो सरासन महेश जू को,
रावरी पिनाक में 'सरीकता' कहा रही।[2]

छंदानुरोध के कारण अरबी 'शरीक' में हिन्दी का 'ता' प्रत्यय जोड़कर गोस्वामी जी ने 'सरीकता' (शरीकता) भाववाचक संज्ञा शब्द बना लिया है। 'सरीकता' शब्द का प्रवाह द्रष्टव्य है। इसका अर्थ है—साझा, हिस्सा। उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'परन्तु शंकर जी का जो धनुष भंग हो गया है, वह तो अब जुड़ नहीं सकेगा। (फिर) इस धनुष में आपका कोई हिस्सा (साझा) भी नहीं था।'

'दील'

घायल लषनलाल लखि बिलखाने राम,
भई आस सिथिल जगन्निवास दील की।[3]

यह 'दील' संज्ञा पुल्लिग फारसी 'दिल' शब्द है जिसका अर्थ है—मन, चित्त।[4] छंदानुरोध के कारण गोस्वामी जी ने 'ढील की' के तौल पर 'दिल' को भी 'दील की' कर दिया है। उक्त पंक्ति का अर्थ है—'लक्ष्मण जी को घायल देखकर श्रीराम जी बिलखने लगे और जगत् के निवास-स्थान (भगवान्) के दिल की आशाएँ शिथिल हो गयीं।'

---

१. कविता० १।१६
२. कविता० १।१८
३. कविता० ६।५२
४. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ४७०

'कटाइक'

सांकरे के सेइबे, सराहिबे सुमिरबे को,
राम सो न साहिब, न कुमति-कटाइको ।[१]

'कटाइक' शब्द की बनावट पर ध्यान न देने के कारण छंद की चिंता न करते हुए गीता प्रेस के सम्पादक 'कटाइबे को' पाठ स्वीकार किया है[२] जो कि उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ऊपर की पंक्ति में 'घटाइको' पाठ है। गोस्वामी जी ने छंदानुरोध के कारण हिन्दी 'काटना' सकर्मक क्रिया में संस्कृत के नियमानुसार 'क' प्रत्यय जोड़कर कर्तृवाचक शब्द बना लिया है। 'काटना' क्रिया संस्कृत 'कर्तन' से बनी है।[३] 'कटाइक' शब्द का अर्थ है—काटने वाला, समाप्त करने वाला। 'घटाइको' के तौल पर 'कटाइको' का निर्माण किया गया है। उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'संकट में काम आने वाला, सराहनीय, स्मरणीय और दुष्ट बुद्धि को समाप्त करने वाला कोई दूसरा स्वामी नहीं है।'

'दगाई'

करुनाकर की करुना करुना-हित नाम सुहेत जो देत दगाई।
काहे को खीझिय ? रीझिय पै, तुलसीहु सो है बलि सोई सगाई ॥[४]

संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द 'दगा' अरबी शब्द है जिसका अर्थ है—छल-कपट या धोखा। तुक ठीक करने के लिए कवि ने 'दगाई' क्रिया बना ली है जिसका अर्थ है—धोखा देना।

उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है—'करुणानिधान (श्रीराम जी) की जो करुणा है, वह तो करुणा करने के ही लिए है। जो नाम का सुन्दर निमित्त लेकर आपको धोखा देता है, हे राम जी ! आप उससे रुष्ट क्यों होते हैं ? कृपया प्रसन्न हों। तुलसीदास के साथ भी आपका संबंध है, वह आप पर न्यौछावर होता है।'

'आँचे'

भौंह कमान सँधान सुठान जे नारि-बिलोकनि-बान तें बाँचे।
कोप-कृसानु गुमान-अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे ॥[५]

---

१. कविता० ७।२२
२. दे० कवितावली, गीता प्रेस संस्करण, पृ० ११८
३. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० १८६
४. कविता० ७।६३
५. वही ७।११८

गीता प्रेस के संस्करण में 'आव न आँचे' पाठ है ।[१] सभा के संस्करण में 'आँच न आँचे' है । काव्य की दृष्टि से 'आँच न आँचे' पाठ अधिक उपयुक्त लगता है । तुकांत के कारण गोस्वामी जी ने 'आँच' से 'आँचना' क्रिया बना ली है । 'आँच' संज्ञा स्त्रीलिंग शब्द संस्कृत 'अर्चि' से बना है ।[२] 'आँचना' का अर्थ है—गरम होना, तपना । उक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है—'जो लोग भृकुटि-रूपी कमान पर अच्छी प्रकार चढ़ाये हुए कामिनी-कटाक्षरूप वाण से बचे हुए हैं, अभिमान-रूप अवाँ में क्रोधरूपी अग्नि की ज्वाला से जिनके मन घड़े की भाँति न तपे हों ।'

'हलाकी'

ऊधो जु ! क्यों न कहै कुबरी जो बरी नटनागर हेरि हलाकी ।।[३]

छंदानुरोध के कारण अरबी 'हलाक़' से विशेषण 'हलाकी' शब्द बना लिया है जिसका अर्थ है—'मार डालने वाला, घातक' ।[४] उक्त पंक्ति का अर्थ है—'हे उद्धव जी ! कुबड़ी ऐसा क्यों न कहेगी जिसे घातक कृष्ण ने खोजकर वरण किया है ।'

'चुवा'

चारु चुवा चहुँ ओर चलैं, लपटैं झपटैं सो तमीचर तौं की ।।[५]

यहाँ 'टपकने या चूने' के अर्थ में 'चुवा' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । छंद के आग्रहवश गोस्वामी जी ने 'चौवा या चौपाया' को 'चुवा' बना दिया है । 'चौपाया' संज्ञा पुल्लिग संस्कृत 'चतुष्पाद' से बनी है जिसका अर्थ है—'चार पैरों वाला पशु ।'[६] उक्त पंक्ति का अर्थ है—'दावाग्नि के ताप से तपकर सुन्दर पशु चारों ओर को इस प्रकार दौड़े जाते हैं, जैसे लंका में आग की ज्वालाओं की लपट से झुलसे हुए राक्षस लोग इधर-उधर भागे थे ।'

---

१. दे० कविता० ७।११८
२. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ७७
३. कविता० ७।१३४
४. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० १०३४
५. कविता० ७।१४३
६. दे० संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३२७

'अन'

उष्ण काल अरु देह खिन, मगपंथी, तन ऊख ।
चातक बतियाँ ना रुचीं, अन जल सीचे रूख ।।[१]

प्रस्तुत दोहे के चतुर्थ चरण में आया हुआ 'अन' शब्द संस्कृत विशेषण 'अन्य' शब्द है । गति या प्रवाह के कारण गोस्वामी जी ने 'अन्य' को 'अन' कर दिया है । उक्त दोहे का अर्थ है—'ग्रीष्म काल है, चातक का शरीर थका हुआ है, वह मार्ग में उड़ा चला जा रहा है, उसका शरीर गरम हो चला है, किन्तु इतने पर भी उसे अन्य जल (स्वाति-जल के अतिरिक्त) से सींचे हुए वृक्ष (पर विश्राम करने) की बात अच्छी नहीं लगी ।' यहाँ 'अन' का अर्थ 'दूसरा' है । उक्त दोहे के उपरान्त आने वाले दोहे में भी 'अन्य' का 'अन' कर दिया गया है—

अन ज़ल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम ।
तुलसी चातक बहुत हैं, यह प्रबीन को काम ।।[२]

---

१. दोहा० ३११
२. वही ३१२

उपसंहार

शब्द की उपासना ही वाग्देवी की वास्तविक उपासना है। जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की व्यापक निश्चयात्मक प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है। परन्तु अनेक अर्थ भ्रामक होते हैं और कुछ आरोपित भी। वास्तविक एवं प्रामाणिक अर्थ की खोज साहित्य-चिंतन का मुख्य उद्देश्य है।

गोस्वामी जी शब्द ही नहीं, अक्षर-अक्षर और वर्ण-वर्ण के प्रति भी सजग रहे हैं। उनके अनुसार लयान्वित शब्द और अर्थ ही कवियों की शक्ति है। यथा—

कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहिं नटु नाँचा ॥[1]

उनके अनुसार उपमारहित अर्थ, सुन्दर भाव और सुन्दर भाषा ही पराग, मकरंद और सुगंध है।[2]

वे अद्वितीय शब्दसाधक और वाक्यसिद्ध कवि हैं। उनके साहित्य में वैसा अर्थगौरव प्राप्त होता है जिसके लिए भारवि विख्यात हैं। उन्होंने अर्थानुरूप शब्द की योजना की है। उनका काव्य सरस, मर्मस्पर्शी एवं गंभीर है। उनकी भाषा अभिप्राय-गर्भित है तथा उनका शब्द-भण्डार तदनुरूप विशाल है। संस्कृत के तत्सम से लेकर तद्भव और कृत्रिम तक जितने प्रकार के रूप-भेद संभव हैं, उनमें से प्रायः सबका प्रतिनिधित्व तुलसी-साहित्य में मिलता है। उनके शब्दाकलन-स्रोत भी बहुसंख्यक हैं। कुछ विद्वानों ने उन्हें सूचीबद्ध करने की चेष्टा भी की है। शब्द-सौंदर्य की धारणा व्यापक है। वह केवल अनुप्रास और अलंकार तक ही सीमित नहीं, वरन् उसमें शब्दशक्तियों के सामर्थ्य का सीमांत उपयोग दृष्टिगोचर होता है। तुलसी-साहित्य में कुछ दूर तक पात्रानुसारी भाषा लिखने की प्रवृत्ति के साथ-साथ लोकोन्मुखता का भी समावेश मिलता है। प्राचीन शास्त्रीय परंपरा और कविसुलभ स्वातंत्र्य, दोनों एकसाथ लक्षित होते हैं। उदाहरणार्थ—सरब, अँक आदि शब्द स्वल्प प्रयुक्त हैं। हिन्दू, तुरक और मुसलमान जैसी समाज को अवैदिक एवं जातीय आधार पर विभाजित करने वाली शब्दावली तुलसी-साहित्य में नहीं है। इसी प्रकार

---

१. मानस २।२४०।४

२. वही १।३७।६

कवि ने कहीं भी संत-वेश का उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि संत-वेश निश्चित नहीं है। गृहस्थों, वानप्रस्थों, कुवेश यति, वैरागी, वैष्णव और शैव सबमें संत होते हैं, सबके वेश भिन्न-भिन्न हैं। इसीलिए कवि ने उनके केवल लक्षण बताये हैं। अमुक-अमुक लक्षणयुक्त व्यक्ति ही संत हैं। उदाहरणार्थ—'ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर।'[1] विभीषण राक्षस होते हुए भी संत थे—'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।'[2]

गोस्वामी जी जैसे कुशल कवि की कला में शब्दगुण प्रत्येक स्थान पर विचारणीय है। उनके साहित्य में प्रत्येक शब्द का अपना स्थानीय मूल्य है। कुछ विद्वानों का कथन है कि उन्होंने लगभग १२६८२१ शब्दों का प्रयोग किया है। जहाँ कपटहीन, शुद्धचित्त, धर्म, परमार्थ और सदुपदेश विषयक समीचीन वार्ता होती है, वहाँ कवि 'बतकही' शब्द का प्रयोग करता है। उदाहरणार्थ—

हंसहि बक गादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल 'बतकही'॥[3]
निज गृह गए सुआएसु पाई। बरनत प्रभु 'बतकही' सुहाई॥[4]

ऐसे ही जहाँ ज्ञान और भक्ति का प्रबल सम्बन्ध होता है, वहाँ 'संवाद' शब्द का प्रयोग करते हैं।

श्रीराम-चरणानुरागी को ही कवि ने 'बड़भागी' कहा है—

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी॥[5]
सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥[6]

'चतुर' और 'चतुराई' शब्दों का प्रयोग राम-भजन, सत्संग और श्रीराम-भक्ति के सम्बन्ध में ही किया है—

चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥[7]
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई॥[8]

---

१. मानस ७।३८।७
२. मानस ५।४८।८
३. वही १।६।२
४. वही ७।४७।८ और द्रष्टव्य, १।२३१, ७।६६, ४।२१, ६।१६।७, ६।१७।८
५. मानस ३।१०।२१
६. मानस ४।२३।७, अन्य उदाहरण दे०, १।३२४।छंद १६, २।८८।५, २।७४, ७।१।११, विनय० ६५
७. ७।१२०।६
८. मानस ७।८५।५, ३।६।७

ऐश्वर्य दिखाने में राम जी को सच्चिदानंद कहते हैं, क्योंकि उनमें मोहादि विकार नहीं हैं। यथा—

जय सच्चिदानंद जगपावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन ॥[1]

'भगवान' शब्द का प्रयोग प्रायः उन्हीं स्थानों पर किया है जहाँ भक्तों के हित के विषय में कहा गया है—

ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥[2]

श्रीराम के जहाँ अतिशय सौंदर्य या अनेक रूप धारण करने का वर्णन करना होता है, वहाँ कवि 'खरारी' शब्द का प्रयोग करता है[3], क्योंकि शत्रु 'खर' ने उनके सौंदर्य को स्वीकार किया था—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते ॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥[4]

जहाँ विशेष कौशल की रचना का कथन करना होता है, वहाँ कवि विरंचि का बनाना कहता है—

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी ॥[5]

मानस में कवि ने 'रुचिर' विशेषण शब्द का प्रयोग श्रीराम-सम्बन्धी पदार्थों के साथ ही प्रायः प्रयुक्त किया है। यथा—

बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई ॥[6]

ऐसा प्रतीत होता है कि 'रुचिर' शब्द श्रीराम को अत्यन्त प्रिय था। इसीलिए स्थान-स्थान पर कवि ने इसे उनको समर्पित किया है। कदाचित् यह बात शूर्पणखा को ज्ञात हो गयी थी, तभी तो वह 'रुचिर' रूप धारण करके राम के पास गयी थी—

---

१. मानस १।५०।३ और ७, १।११६।५, ७।५२, ७।४७, ७।७२।३, ७।६८, ७।७७
२. मानस १।१३।४-५, १।१४६।८, ७।७२
३. मानस १।१९२ छंद-४, १।२०२।६, ७।३।४ और विनय० ४५
४. मानस ३।१९।४
५. मानस १।२२३।७, ३।२२।९, १।३११।५
६. मानस ७।७६।३, १।३५६।५, १।२१९।५, १।२४३।८, १।३२९।५, ३।२४।१

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई । बोली बचन मधुर मुसुकाई ।।[१]

जब-जब कहीं रुकना पड़ता है, तब-तब गोस्वामी जी वहाँ से चलते समय 'चले' शब्द का प्रयोग करते हैं । यथा—

जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस ।।[२]

जब नवीन प्रसंग का प्रारंभ करना होता है, तब 'तेहि अवसर' शब्द का प्रयोग करते हैं । यथा—

तेहि अवसर आए दोउ भाई । गए रहे देखन फुलवाई ।।[३]

जहाँ किसी विशिष्ट घटना की ओर संकेत करना होता है, वहाँ 'एक बार' शब्द का प्रयोग करते हैं । उदाहरणार्थ—

एक बार भरि मकर नहाए । सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए ।।[४]

जहाँ कथा के किसी प्रसंग को मोड़ना होता है, वहाँ 'संध्या' शब्द का प्रयोग करते हैं । यथा—

'साँझ समय' सानंद नृप गएउ कैकेई गेह ।[५]

प्रत्येक लाभ पर लोभ बढ़ने वाली उक्ति कवि को बहुत प्रिय थी । इसी लिए उसने पुनरावृत्ति की चिंता न करते हुए रावण के संबंध में ही दोनों बार प्रयुक्त किया है । यथा—

काटत बढ़हिं सीस समुदाई । जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ।।[६]

'राजिव नयन' का प्रयोग प्रायः ऐसे ही स्थानों में किया है जहाँ कृपा-दृष्टि का प्रयोजन है । उदाहरणस्वरूप—

राजीव बिलोचन भवभय मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई ।।[७]

मानस में अधिकांश स्थलों पर 'रघुराया' के साथ 'दाया' और 'दाया' के साथ 'रघुराया' का प्रयोग हुआ है । यथा—

बास करहु तहँ रघुकुल राया । कीजे सकल मुनिन्ह पर दाया ।।[८]

---

१. मानस ३।१७।७

२. वही १।२०८।१२, १।२१०।१०, १।२१२।१ और ४

३. वही १।२१५।४, १।२४१।१, १।२२८।२, २।२६६।४

४. वही १।४५।३, १।४८।१, १।६८।७, १।१०६।४, १।२०१।१, ३।१।३

५. वही २।२४ ६।४८।१, ६।३५, ६।५५।४

६. वही ६।१०१।१, १।१८०।२

७. वही १।२११। छंद-८, ५।३२।१, ६।११३। छंद-१०

८. वही ३।१३।१७, ३।९।६, ३।२९।१

ऐसी प्रसिद्धि है कि मानस की प्रत्येक अर्धाली 'रकार', 'मकार' युक्त है। ऐसा करके कवि ने 'राम नाम बिनु गिरा न सोहा', 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा और 'रामनाम जस अंकित जानी' आदि चरितार्थ कर दिया है। किन्तु कुछ अर्धालियाँ ऐसी हैं जिनमें 'रकार', 'मकार' का प्रयोग नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ—

भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को जो बातें अच्छी नहीं लगीं, उन्हें 'रकार', 'मकार' हीन कर दीं।

रामचरितमानस को 'व' वर्ण 'वर्णानामर्थ संघानां···' से प्रारंभ करके उसी अक्षर पर उसकी समाप्ति भी की '···मानवाः।'

तुलसी-साहित्य को दर्शन, चरित्र-चित्रण और कला के आधार पर थोड़ा-बहुत परखा गया है। कुछ ग्रंथों की विशद और अनेक टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। पर उनके समस्त साहित्य की अर्थ-समस्याओं के निदान की ओर विद्वानों की दृष्टि समग्रतः नहीं गयी। अतः प्रस्तुत शोध-प्रबंध में तुलसी-साहित्य के वास्तविक एवं प्रामाणिक अर्थ की खोज का प्रयास हुआ है।

गोस्वामी जी का साहित्य अर्थ-गांभीर्य की दृष्टि से विशाल समुद्र की भाँति व्यापक और अतल है। अतः इसकी थाह अर्थात् कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों के अर्थों को निर्धारित करके उसके मनोगत भावों का पता लगाना, उनकी अर्थच्छाया की सूक्ष्मता को ग्रहण करना एक दुरूह कार्य है। तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याओं के निदान हेतु अभी कितने ही मर्मज्ञ अनुसंधायकों के प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। ऐसी स्थिति में तुलसी-जैसे महाकवि की अर्थ-गत सभी समस्याओं का निदान मैंने कर दिया है, यह कहना दुस्साहस होगा।

'सहिदानु' शब्द फारसी 'शाहिद' से विकसित है। जूरीं[2], कुरीं[3], आदि शब्द भी अप्रचलित हैं। एक छंद में 'नई' शब्द का दो बार प्रयोग कैसा विलक्षण है—

मकरंदु जिन्ह को संभुसिर सुचिता अवधि सुर बर नई।

× × ×

तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिश्व कल कीरति नई ॥[4]

---

१. मानस १।१३७।५, २।१७३।६, २।१६१।३, ५।२।१, ७।३६।७; और भी अर्धालियाँ प्रमाणस्वरूप मिल सकती हैं।

२. मानस २।२४६।२

३. वही ७।१५।८

४. वही १।३२४। छंद १४ और २२

चरणांत में प्रयुक्त प्रथम 'नई' शब्द का अर्थ 'नदी' है तो दूसरे का 'नवीन'। इसके अतिरिक्त बैसा, गोड, खोरि, बियो, डसाई, झारि आदि देशी अल्प-प्रचलित शब्द और कोतल, रैयत, हबूब, फहम, बहरी आदि फारसी-अरबी के अप्रचलित शब्दों पर विचार नहीं किया जा सका। ये भी अर्थ की दृष्टि से कठिन हैं। गोस्वामी जी के ठेठ शब्दों में भाव-संवहन की अपूर्व शक्ति है। ठेठ एवं तत्सम शब्दों के प्रयोग से वे जनसामान्य एवं विद्वज्जनों के कंठहार हो गये हैं। अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा-विषयक उदारता लक्षित होती है। यह प्रवृत्ति सम्प्रति धर्मनिरपेक्ष कहलाने वाले हिन्दी पक्षधरों में भी कम मिलती है। कवि के ठेठ, तद्भव जैसे अप्रचलित शब्दों के माध्यम से उसकी जन्मभूमि की खोज असम्भव नहीं है, वरन् इसकी ओर गम्भीर प्रयत्न अपेक्षित है।

काव्यात्मक गरिमा और तुलसी के शब्द-समायोजन की प्रकृति को देखते हुए विषयानुसंगति और लेखानुसंगति के आधार पर पाठभेद से उत्पन्न अर्थ-समस्याओं का समाधान किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैज्ञानिक पाठानुसंधान के क्रम में अधिकाधिक पाण्डुलिपियों का उपयोग करते हुए भी अन्ततः साहित्यिक अर्थविचार पर बल देना आवश्यक है; अन्यथा तथाकथित प्रामाणिक पाठ भी साहित्यिक दृष्टि से संगत एवं विश्वसनीय सिद्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा मान्य पाठ—'सरिस स्वान मघवा निजु जानू'[1] प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें 'निजु जानू' साहित्यिक दृष्टि से सदोष एवं अग्राह्य है। वास्तविक रूप है—'सरिस स्वान मघवान जुवानू'।[2]

कवि ने पाणिनि के 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र का आधार लेकर उक्ति रची है और डॉ० गुप्त द्वारा मान्य पाठ इस सुप्रसिद्ध तथ्य की उपेक्षा करता है। 'क्योंबरहि जात सुनि बात बिन हेरै'[3] नामक पंक्ति में अकार के लोप का प्रमाण उद्धृत नहीं किया है। परन्तु कवि ने अन्यत्र ओकारांत और एकारांत पदों के बाद अकार का लोप किया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या 'सोपि'।[4]
एकन्ह के डर तेपि डेराहीं।[5]

---

१. मानस २।३०२।८
२. मानस २।३०१।८
३. विनय० २१०
४. मानस ७।७१।११
५. वही ७।४।६

इससे स्पष्ट है कि 'क्योंबरहि जात में' अब (ऽब) का अवशेष है और उसे 'रहि' के साथ मिलाकर 'बरहि' शब्द की स्वतन्त्र कल्पना करना भ्रामक है।

अनेकार्थी शब्दों के कारण उत्पन्न अर्थ-समस्याएँ तुलसी-साहित्य में अधिक नहीं हैं। गोस्वामी जी ने कूट शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं किया है। कूट या कूटोन्मुखी शब्दों के अर्थ निरन्तर पर्याप्त समय तक बुद्धि-व्यायाम करने के पश्चात् ही निश्चित हो पाये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने ऐसे शब्दों का प्रयोग पांडित्य और चमत्कार प्रदर्शन हेतु किया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा प्रदर्शन भी मध्यकालीन काव्य में बहुत स्वाभाविक हो गया था और तुलसी ने जितनी मात्रा में उसका उपयोग किया है, उससे लगता है कि वह उनकी मूल प्रवृत्ति नहीं थी। उससे उनके काव्यज्ञान और शास्त्रीय काव्यलेखन के सामर्थ्य की ही व्यंजना होती है। साथ ही यह भी प्रकट हो जाता है कि वे केशव और सूर की तरह प्रदर्शन को अधिक महत्ता नहीं देते थे।

उच्चारण से भी समस्या खड़ी होती है। 'न यावद् उमानाथ पादारविंदं' में कहीं-कहीं 'यावदुमानाथ' होने से गड़बड़ होता है। ऐसे उच्चारण से वर्ण-न्यूनता आती है। इसी प्रकार 'मारगन'[1] को 'मार्गन' संस्कृत शब्द लिखने से छंदोबाधा उपस्थित होती है। ऐसे ही 'कारमुक'[2] को संस्कृत रूप 'कार्मुक' पढ़ने से भी छंदोभंग होता है। विस्तार-भय से इस प्रकार की समस्याओं पर विचार नहीं किया जा सकता और इसलिए भी कि ये मूलतः अर्थ-समस्या नहीं हैं। अन्त में यह बात कहना अनुचित न होगा कि तुलसी-साहित्य के कतिपय टीकाकारों में पूर्वाग्रह या दुराग्रह की प्रवृत्ति विशेष रूप में प्राप्त होती है जो अवांछनीय है।

कतिपय अप्रचलित शब्दों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों तथा विपर्यस्त अर्थों की समस्याओं में पाठभेद भी मिलते हैं। इनके पाठभेद से भी अर्थ-समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।

यत्र-तत्र टीकाकारों ने अनेकार्थी शब्दों एवं कुछ अप्रचलित शब्दों के अर्थ-विपर्यय भी कर दिये हैं। कतिपय शब्द अप्रचलित होते हुए भी अनेकार्थी हैं। अतः दोनों संदर्भों में संगत माने जा सकते हैं।

'सत पंच चौपाई'[3] आरोपित अर्थ से सम्बद्ध है, किन्तु यह एक मुहावरा भी है।

---

१. मानस ६।६१।१४

२. वही ६।६३।५

३. वही ७।१३०। छंद-१५

टीकाकारों ने मुहावरों एवं लोकोक्तियों, अप्रचलित एवं अनेकार्थी शब्दों तथा विपर्यस्त अर्थों की कतिपय अर्थ-समस्याओं पर अर्थारोपण भी किये हैं।

कुछ कूटोन्मुखी शब्द अप्रचलित भी हैं। कतिपय विपर्यस्त अर्थ अन्वय-भेद के अन्तर्गत भी अन्तर्भूत हैं।

तात्पर्य यह है कि तुलसी-साहित्य की अर्थ-समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। एक समस्या का अन्तर्भाव किसी दूसरी समस्या में हो जाता है और अनेक समस्याओं का किसी एक दिशा में अन्तर्भाव हो जाता है। यद्यपि अधिकांश अर्थ-समस्याओं के निदान में यथेष्ट सफलता की प्रतीति हुई है, तथापि पूरे प्रयत्न के उपरांत भी ऐसा सम्भव है कि कुछ सर्वथा सुनिश्चित न माने जायँ। विद्वानों की दृष्टि में कतिपय स्थल फिर भी संदिग्ध हो सकते हैं, इस संभावना से अनवगत नहीं हूँ।

मेरा विश्वास है कि अर्थ-समस्याओं के निदान में मैंने साहित्य से जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, अधिक अनुशीलन द्वारा उनकी और अधिक सम्पुष्टि होगी तथा वैसे ही अन्य प्रमाण सुलभ होंगे। तुलसी-साहित्य की प्रमुख अर्थ-समस्याओं का निदान करने के उपक्रम के बाद भी गोस्वामी जी की वाणी की अद्भुत अग्राह्यता समाप्त नहीं होती है, क्योंकि वह एक साहित्यिक विशेषता है, दोष नहीं। शब्द-वैचित्र्यमयी, अर्थगौरवशालिनी और विविध वैदग्ध्य-मंडित वाणी का स्वरूप ही ऐसा है—

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे॥
ज्यों मुख मुकुर मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥[1]

यद्यपि कवि ने यह बात भरत-भारती के सम्बन्ध में कही है, तथापि यह उनकी वाणी के लिए उतनी ही सार्थक है।

———

१. मानस २।२९३।२-३

परिशिष्ट 'क'

तुलसी-साहित्य की कतिपय अतिरिक्त अर्थ-समस्याएँ

(१) देखि अति लागत अनंद 'खेत खूंट सो।'[१]

प्रस्तुत पंक्ति के 'खेत खूंट' के अर्थ में मतभेद है। हरिहरप्रसाद जी के अनुसार—'षेत औ षूंट कहें सींवा जो सो देषि अति आनंद लागत।'[२] बैजनाथ जी कहते हैं कि—'खेत को खूंट कहें सींव मेंड़ सी लागत।'[३] श्रीकांत-शरण जी[४], इन्द्रदेवनारायण जी[५] और लाला भगवानदीन जी के मतानुसार 'खेत के टुकड़े की भाँति अत्यन्त हरा-भरा।' डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'खूंट सो'[६] का अर्थ 'टुकड़ा सा'[७] और चम्पाराम मिश्र ने 'खूंट' का अर्थ 'कोना, सीमा' किया है।[८] देवनारायण द्विवेदी जी ने 'खेतबारी' अर्थ किया है।[९] पं० चन्द्र-शेखर शास्त्री जी बोलचाल की भाषा मानते हुए 'खेत-खलियान' अर्थ करते हैं। 'तुलसी-शब्दसागर' में इसका अर्थ 'फसल काट लेने के बाद खेत में लगा हुआ डंठल का निम्न भाग, खूंटी' दिया है।[१०] 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक ने 'जिस क्षेत्र की भूमि बहुत उर्वरा है' अर्थ किया है।[११]

(२) तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी।[१२]

---

१. कविता० ७।१४१
२. कवित्त०, पृ० २००
३. कविता०, पृ० २८१
४. कविता० सि० ति०, पृ० ५१४
५. कविता०, पृ० १६७
६. कविता०, पृ० २०७
७. वही, पृ० १२१
८. वही, पृ० १६४
९. वही, पृ० २३६
१०. दे० पृ० १११
११. प्र० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २८१
१२. मानस० १।१२।४

डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार—पूर्व का पाठ था—

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंध्वक धोरी ॥

'धंध्वक' को १७२१ में 'धंधक' बनाया गया है। पहला अर्थ हीन है, दूसरा सार्थक है, अर्थ होगा 'धंधा करने वाला'[१]।

सामान्य पाठ है—

तिन्ह महं प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी।

'धंधक' के स्थान पर १७०४ में 'धंधक' लिखा गया था, संशोधन 'धंधरच' लिखकर किया गया है।[२]

डॉ० गुप्त ने अपने संस्करण में—'धींग धरमध्वज धंधक धोरी' पाठ निश्चित किया है।

भागवतदास के प्रथम संस्करण (सं० १६४२) का पाठ है—

धिग धरमध्वज धंधक धोरी। (१।१०।८)

बालकांड में श्रावण कुंज की प्रति, अयोध्याकांड में राजापुर की प्रति में "धींग' पाठ है और सं० १७०४ की काशिराज वाली प्रति में 'धीग धरम ध्वज धंधरच' पाठ है। सं० १७२१ वि० की प्रति, सं० १७६२ की प्रति, छक्कन लाल की प्रति, रघुनाथदास की प्रति, बंदन पाठक की प्रति, कोदवराम की प्रति में भागवतदास का पाठ है।[३]

श्री विजयानंद त्रिपाठी जी ने 'धींग धरमध्वज धंधच धोरी' पाठ माना है। वे कहते हैं कि 'ढंगरच' (पाखंडी) शब्द का 'धंधरच' हो गया। 'धंधक' पाठ मानने से 'धर्मध्वज के धन्धा' का धुरी अर्थ करना पड़ेगा।[४]

मानस की टीकाओं में 'धीक, धिक और धींग, धिग' पाठ मिलते हैं।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी लिखते हैं कि कैथी लिपि के कारण मानस की निम्नलिखित अर्धाली के दो पाठ हो गए—

तिन्ह महं प्रथम रेख जग मोरी। धिग धर्म ध्वज धंधक धोरी ॥

प्राचीन पाठ 'धींग धरम ध्वज धंधक धोरी' है। 'धींग' को 'धीग' और 'धिग' दोनों कैसे पढ़ लिया गया, यह कैथी लिपि बता देगी। वहाँ 'धींग' को

१. रामचरितमानस का पाठ, पृ० ३२
२. वही, प्रथम भाग, पृ० ४६
३. दे० शम्भुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० ४८
४. मानस० वि०टी०, पृ० ३४-३५

"धींग' और 'धिग' दोनों पढ़ सकते हैं। जिसने 'धींग' को 'धिग' पढ़ा, उसने मानस के नियम के विरुद्ध 'धर्मध्वज' को भी पढ़ा। मानस में संस्कृत के दो पदों के समस्त होने पर 'संयुक्तार्थ दीर्घम्' का नियम हिन्दी पाठ में नहीं है। 'धंधक' शब्द के 'ढर' को अनावश्यक समझकर 'धंधक' कर दिया गया। इसके अर्थ में आज भी मतभेद है।

यह धंधरक का खिंचा रूप है जिसका दूसरा रूप पूर्वी भाषाओं में 'ढंगरच' चलता है। 'ढंग' या ढोंग' रचने वाला इसका अर्थ होता है। केवल श्री विजयानन्द त्रिपाठी ने अर्थानुसारी पाठ 'धंधरच' रखा है, शेष में 'धंध्रक' का 'र' भी हट गया है। इसका कारण यह है कि बालकांड की सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रति 'कुंज' में परवर्ती संशोधित पाठ 'धंधक' है। उसी में संशोधन के पूर्व का पाठ 'धंध्रक' ही है। 'धंधक' का अर्थ 'झगड़ा, बखेड़ा, द्वन्द्व करने वाला' लगाया गया है।'[1]

उक्त विवादास्पद अर्धाली के द्वितीय चरण के अर्थ में भी टीकाकारों में परस्पर बहुत मत-वैभिन्न्य है।

३. कुबरीं करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥[2]

प्रस्तुत अर्धाली के प्रथम चरण के कई पाठांतर मिलते हैं।

'कबुरी करी कबुली कैकेई' भागवतदास के प्रथम संस्करण का पाठ है। सं० १७६२ की प्रति, छक्कनलाल की प्रति, रघुनाथदास की प्रति, बंदन पाठक की प्रति, सं० १७०४ वि० की काशिराज वाली प्रति, कोदवराम की प्रति, बालकांड में श्रावणकुंज की प्रति, अयोध्याकांड में राजापुर की प्रति में 'करि कबुली' पाठ है।[3]

'करि' और 'कबुली' के अर्थ में भी मतभेद है। रामचरणदास जी 'कुबरी कर कच बलि कैकेयी' पाठ मानते हुए अर्थ करते हैं—'हे पार्वती! कैकेयी बलि भई है तेहि कर कच कही बार सो कुबरी ने अपने हाथ में गह्यो है।'[4] पंजाबी जी ने पाठ माना है—'कुबरी करकस कच कैकेई' और अर्थ किया है—'करकश नाम कसाई का कच नाम अजा का सो कुबरी कसाइण सम अरु

१. मानस, काशिराज संस्करण, आत्मनिवेदन, पृ० २६
२. वही २।२२।१, यही पाठ डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी माना है दे० मानस २।२२।१
३. सं० शम्भुनारायण चौबे, मानस-अनुशीलन, पृ० ८१
४. रामा०, पृ० ५२२

कैकेई तिस के हाथ मों बकरी सम आई है। पाठान्तर 'कुबरी कर कुबलि कैकेई।' कुबरी के हाथ मों कैकेई निर्बल ह्वै गई, जैसे वह चाहे तैसे करे। अथवा कुशली नाम कुमरी पंछी का है तिसकी न्याईं कैकेई को करके।'[१]

गोस्वामी जी के प्रत्यक्ष शिष्य रामू द्विवेद प्रथम चरण को 'अतनु' टीका करते हैं—

एवं सा मंथराधीना तदाज्ञाकारिणी भृशम्।
नाटयित्री करानद्ध सूत्रा पुत्तलिकोपमा॥

'कबुली' मूल रूप में कहीं 'कठुली' (कठपुतली) न हो।[२]

'रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश' में इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—

(१) कुबरी करि के (अर्थात् कुबरी द्वारा) कबुलवायी हुई कैकेयी (कैं मारने के लिए)

(२) कबुली—मानता मानी हुई बलि। कुबरी द्वारा मानता मानी हुई जो बलिरूपी कैकेयी है, उसके लिए।[३]

पं० ज्वालाप्रसाद जी का पाठ है—'कुबरी करि कबुली कैकेयी'—कुबरी से कुबिलाई हुई जो कैकेयी है, कुबरी ने उसके मारने को·· ···।[४]

पं० विजयानन्द त्रिपाठी के अनुसार 'कुबरी ने कैकेयी से कबूल कराके।'[५] पोद्दार जी ने यह पाठ 'कुबरी करि कबूली कैकेयी' स्वीकार करते हुए अर्थ किया है—कुबरी ने कैकेयी को (सब तरह से) कबूल करवा कर (अर्थात् बलिपशु बनाकर)।[६]

गौड़जी 'कबुली' का अर्थ करते हैं—राजी की हुई, पक्षी-भेद।[७] अभिप्राय-दीपकचक्षुकार के अनुसार 'करि' का अर्थ है—कसाई, गोमरी गौ को मारने वाली पापिनी। यथा—'गोमरी करि चाण्डाली श्वानी महि विभक्षिका भास्करेति।' 'कबुली' का अर्थ है—बलिपशु। यथा—

१. मा० भा०, प्र० भा०, अयोध्या०, पृ० २८
२. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गोसाईं तुलसीदास, पृ० ३०२-३०३
३. दे० मा० पी०, अयो०, पृ० ११६
४. सं० टी०, पृ० ४४६
५. वि० टी०, अयो०, पृ० ३६
६. मानस०, पृ० ३५२
७. मा० पी०, अयो०, पृ० ११६

'प्राणत्यागे पशुश्चैव सार्द्ध त्यागे कबूलिका इति नन्दीकोशे ।'
यह अर्थ 'लखइ न रानि निकट दुख कैसे । चरइ हरित तृन बलिपशु जैसे ।।'
के आधार पर है ।[1]

मानसमयंककार के अनुसार—

करी नाम है गोमरी, उक्ते बरुचीकोशु ।
मरी अर्द्ध बलिपशुधरी, कबुलीकोशे सोशु ।। ३५ ।।

वे मूल का अर्थ करते हैं कि 'कुरी' शब्द का अर्थ 'गोमरी' अर्थात् 'कसाइन' है। यह बररुचि कोष में कथित है और 'कबुली' अधमरी बलिपशु को कहते हैं। यह (सो) भास्कर कोष में लिखा है । अतएव इस चौपाई का यह अर्थ हुआ कि कसाइन कुबरी अधमरी बलिपशु-रूपी कैकेयी को मारने के लिए अपने हृदय-रूपी पाषाण पर कपट-रूपी छुरी को पिजाती है ।[2]

शुकदेवलाल का पाठ और अर्थ इस प्रकार है—'कुबरी करी कुबलि कैकेई । कुबरी ने कैकेई को बलिपशु किया ।'[3] विनायकराव के अनुसार—'कुबरी करि कबूलि कैकेयी—मंथरा ने कैकेई से बचन हराकर ।'[4] रामनरेश त्रिपाठी जी ने 'करी' और 'कुबलि' का अर्थ किया है—'कुबलि का पशु बना कर ।'[5] और अवधबिहारीदास जी ने 'करि' का अर्थ 'किया' और 'कुबली' का 'कुत्सित बलि' लिखा है ।[6] प्राचीन प्रतियों का पाठ 'करि कबुली' ही है । कवि ने अन्यत्र 'कबूलत' शब्द का प्रयोग 'स्वीकार करने' के अर्थ में किया है—

हौं न कबूलत बाँधि के मोल करत करेरो ।[7]

(४) गरजि तरजि पाषान बरषि पबि प्रीति परखि जिय जाने ।
अधिक-अधिक अनुराग उमंग उर, पर परमिति पहिचाने ।।[8]

---

१. मा० पी०, अयो०, पृ० ११६
२. वार्तिककार श्री इन्द्रदेवनारायण, मानस-मयंक, पृ० १६०
३. रामा०, पृ० १३
४. वि० टी०, पृ० ४०
५. मानस०, पृ० ४२१
६. वही, पृ० ३६६
७. विनय० १४६
८. वही ६५

प्राचीन पाठ है—

गरज तरज पाषान परुष पबि प्रीति परिख जिऊँ जानें।

......................................पहिचाने।[१]

यहाँ पाठभेद से अर्थ में भेद हो गया है।

(५) नकुल सुदरसन दरसनी, छेमकरी चक चाष।[२]

'चक' के स्थान पर यत्र-तत्र 'चुप', 'चष' पाठ भी मिलता है। बंदन पाठक ने 'चषु' पाठ माना है।[३] भागवतदास की प्रति में 'चुप' पाठ है।[४] इस प्रकार विभिन्न पाठ से अर्थभेद हो गये हैं।

(६) लोचन अभिरामं तनु घनस्यामं निज आयुध भुज चारी।[५]

साम्प्रदायिकता के कारण टीकाकारों ने 'चारी' शब्द के अर्थ में अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। कोई-कोई 'धारी' पाठ की भी कल्पना करते हैं।

(७) कछु दिन भोजन बारि बतासा।[६]

कुछ लोग 'बारि बतासा' का अर्थ 'जल का बबूला' करते हैं।

(८) नतरु प्रभु प्रताप उतरु चढ़ाय चाप

देतो पै देखाइ बल फल पाप मई है।[७]

'पापमई' के अर्थ में मतभेद है।

बैजनाथ जी[८], मुनिलाल जी[९], ठाकुर बिहारीलाल जी[१०] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के सम्पादक महोदय[११] ने इसका अर्थ किया है कि 'इससे प्राप्त होने वाला फल पापमय है (क्योंकि जगज्जननी सीता जी तो मेरी माता के समान

---

१. वि० पी० ६५ और पादटिप्पाणी

२. दोहा० ४६०

३. दोहावली, पृ० १५६

४. दोहा० सि० ति०, पृ० ५४८

५. मानस १।१९२। छंद ३

६. मानस १।७४।५

७. गीता० १।८३।२

८. वही, पृ० १६७

९. वही, पृ० १२६

१०. वही, पृ० ९९

११. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० ३७७

हैं)।' हरिहरप्रसाद जी और श्रीकांतशरण जी के अनुसार—'योग्य बड़े भाई के बिना ब्याह हुए छोटे का ब्याह होना पापमय है।'[१]

(९) का छति लाभु जून धनु तोरे। देखा राम नयन के भोरे॥[२]

यहाँ 'नयन' का अर्थ नेत्र नहीं 'नवीन' है। संभवतः 'नयन' अर्थ की भ्रांति के कारण ही 'नए के भोरे' और 'नये के' पाठ किये गये हैं, यद्यपि प्राचीन पाठ 'नयन' ही है।

(१०) पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर 'खुली'[३]

प्रस्तुत पंक्ति के 'खुली' शब्द का अर्थ 'खुलना' नहीं 'खिलना' है।

(११) कपट मर्कट, बिकट व्याघ्र पाखंड मुख दुखद-मृगव्रात उतपातकर्त्ता।[४]

उक्त पंक्ति के 'मुख' अर्थ में मतभेद है। किसी ने 'मुख' का अर्थ 'मुँह' और किसी ने 'आरंभ' एवं 'आदि' किया है।

(१२) ईस न, गनेस न दिनेस न, धनेस न,
सुरेस सुर गौरि गिरापति नहीं अपने।[५]

हरिहरप्रसाद जी[६], बैजनाथ जी[७], इन्द्रदेवनारायण जी[८], देवनारायण द्विवेदी जी[९] और लाला भगवानदीन जी[१०] ने 'ब्रह्मा' अर्थ किया है।

चम्पाराम मिश्र ने 'शिव'[११] और पं० चन्द्रशेखर ने 'सरस्वती'[१२] अर्थ किया है।

श्रीकान्तशरण जी[१३] और 'तुलसी-ग्रन्थावली' के संपादक[१४] ने 'वृहस्पति' अर्थ किया है।

---

१. दे० क्रमशः गीता०, पृ० ६३ और सि० ति०, पृ० २८२
२. मानस १।२७२।२
३. गीता० १।३०
४. विनय० ५८
५. कविता० ७।७८
६. कवि० रामा०, पृ० १५७
७. वही, पृ० २२६
८. कविता० १५२
९. वही, पृ० १६०
१०. वही, पृ० १६१
११. वही, पृ० १३१
१२. वही, पृ० १२५
१३. वही सि० ति०, पृ० ३६७
१४. द्वि० खं०, अ० भा० वि० परि०, काशी, पृ० २६०

(१३) रामनाम को प्रभाव जानु जूड़ी आगि है ।[१]

'जानु जूड़ी आगि' के अर्थ में टीकाकारों ने खूब खींचतान की है। वैसे यह एक मुहावरात्मक प्रयोग लगता है।

(१४) साँप सभा साबर लबार भए देव दिव्य,

दुसह साँसति कीजै आगे दै या तनकी ।[२]

उक्त पंक्ति के प्रथम चरण के अर्थ में मतभेद है। किसी-किसी ने 'साँप सभा' पद को ही ज्यों का त्यों रख दिया है, उसको व्याख्यायित नहीं किया। 'देव दिव्य' का एक अर्थ 'शपथ' भी किया गया है।

(१५) नाहिन रासरसिक रस चाख्यो, तातैं डेल सो डारो ।।[३]

प्रस्तुत पंक्ति के 'डेल सो डारो' का अर्थ श्रीकांतशरण जी करते हैं—'फिर पत्थर-सा मारते हो या ये वचन ढेलों के समान लग रहे हैं।'[४] पोद्दार जी के अनुसार 'ढेले से फेंक रहे हो।'[५] किन्तु यह एक मुहावरात्मक प्रयोग है जिसका अर्थ है 'रोड़ा अटकाना।'

(१६) तुलसी त्यों-त्यों होइगी गरुई ज्यों-ज्यों कामरि भीजे ।[६]

स्वारस्य और अर्थ-सौष्ठव पर ध्यान न देने के कारण इसके भी कतिपय टीकाकारों ने ऊटपटांग अर्थ किये हैं।

(१७) जनमन मंजु कंज मधुकर से । जीह जसोमति हरि हलधर से ।।[७]

प्रस्तुत अर्धाली के 'मधुकर' शब्द के अर्थ में मतभेद है। कोई इसका अर्थ 'भौंरा' करते हैं, तो कोई खण्ड करके 'मधु' का अर्थ 'जल' और 'कर' का 'किरण' (सूर्य-किरण) करते हैं।

(१८) तेहि अवसर एकु तापसु आवा ।[८]

इस तापस को कुछ लोग गालव नृप का पुत्र, भगवान् शंकर, सनत्कुमार, अग्नि, अगस्त्य मुनि का शिष्य, ब्रह्मा, चित्रकूट, चित्रकूट का वैराग्य, हनुमान

---

१. विनय० ७०
२. वही, ७५
३. श्रीकृष्ण०, ३५
४. वही सि० ति०, पृ० ८२
५. वही, पृ० ४२
६. वही, ४६
७. मानस १।२०।८
८. वही २।११०।७.

जी, रावण-वध का संकल्प, भरत का छाया रूप आदि बताते हैं, तो कुछ लोग स्वयं गोस्वामी जी को मानते हैं। वैसे तापस कवि के लिए अलिखित है, अर्थात् कवि नहीं जानते कि वह कौन है।[१] कुछ लोग तो इसे पूर्णरूपेण प्रक्षिप्त मानते हैं।

(१९) पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे।[२]

अधिकांश टीकाकारों ने 'पात भरी सहरी' का अर्थ 'पत्तल भर (सहरी) मछली' किया है। देवनारायण द्विवेदी जी के अनुसार—'किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं जँचता, क्योंकि 'सहरी' शब्द 'सफरी' का अपभ्रंश नहीं है, इसलिए इसका अर्थ 'मछली' नहीं हो सकता।' उनके अनुसार इसका अर्थ है—'मेरी गृहस्थी कच्ची है।'[३]

बैजनाथ जी और चन्द्रशेखर शास्त्री के अनुसार 'मेरा परिवार बड़ा है।'[४] इसके पश्चात् व्यंग्यार्थ में बैजनाथ जी ने अनेकानेक ऊटपटांग कल्पनाएँ की हैं।

हरिहरप्रसाद जी के अनुसार—'छोटे-छोटे लरिका पात भरी सहरी नाम छोटे मछरी सम हैं।[५]

(२०) अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगममागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे ॥५॥[६]

मूल अव्यक्त, चार त्वचा, षट्स्कन्ध, २५ शाखाएँ, पर्णसुमन घने, फल मधुर-कटु और बेलि अकेलि कूट प्रयोगों के अर्थ में टीकाकारों में मत-वैभिन्न्य है।

(२१) सून्य भीत पर चित्र. रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
बोए मिटे न, मरे भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे ॥[७]

---

१. कवि अलखित गति बेषु बिरागी। वही २।११०।८
२. कविता० २।८
३. वही, पृ० ३०
४. दे० क्रमशः कवित्त रामा०, पृ० ४३ और कविता०, पृ० १५
५. कवित्त रामा०, पृ० २२
६. मानस ७।१३ छंद १७-१९,
७. विनय० १११

शून्य-भीति, चित्र, रंग नहि, बिनु तन लिखा चितेरे, धोये-मिटइ-न-मरइ, एह तन हेरे और भीति दुख पाइअ आदि कूट प्रयोगों के भी अनेक अर्थ टीकाकारों ने किये हैं।

(२२) सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं।।
भयेउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी।।[१]

प्रायः अधिकांश टीकाकारों ने प्रस्तुत पंक्तियों को राम से ही सम्बन्धित माना है। परन्तु मानस-मयंककार और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र[२] आदि कतिपय विद्वान् इसे भरत से सम्बद्ध करते हैं।

(२३) जाई राजघर ब्याहि आई राजघर माहं,
राज-पूत पाएहुँ न सुख लहियतु है।
देह सुधागेह ताहि मृग हू मलीन कियो,
ताहु पर बाहु बिनु राहु गहियतु है।[३]

इसी प्रकार उक्त प्रथम एवं द्वितीय चरण को कुछ लोग कैकेयी के पक्ष में लगाते हैं तो कतिपय टीकाकार कौशल्या से सम्बद्ध मानते हैं। अन्तिम तृतीय एवं चतुर्थ चरण के उपमान उपमेय भी स्पष्ट नहीं हो पाते।

(२४) परम कृपाल जो नृपाल लोक पालन पे,
जब धनु हाई ह्वैहै' मन अनुमानि के।[४]

लाला भगवान दीन जी 'ह्वै है' के स्थान पर 'है है' पाठ मानकर अर्थ करते हैं—'और जो राम जी रचनाओं और लोकपालों पर परम कृपालु हैं, धनुष तोड़ने पर हयहयराज भी जिनसे हार मान गया, उन्हीं रघुनाथ को ईश्वर पहचान कर।'[५] लगभग ऐसा ही अर्थ हरिप्रसाद जी भी करते हैं—'या जब के है है नाम सहस्रबाहु की धनु-नष्टता मन में अनुमानी, तब हारि मानी एतना शेष करना।'[६] इनके अतिरिक्त प्रायः सभी टीकाकारों ने 'धनु हाई ह्वै है' का अर्थ 'धनुष टूटेगा' ही किया है।

---

१. मानस २।४।७-८
२. वार्तिककार इन्द्रदेवनारायण, मानस-मयंक, पृ० १७७-७८
३. गोसाईं तुलसीदास, पृ० १६१-६३
४. कविता० २।४
५. वही ६।२६
६. वही, पृ० ८५

(२५) गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं ।।[१]

अन्वय ठीक न बनने के कारण इसके भी अर्थ में भ्रान्तियाँ मिलती हैं। 'जुवा' का अर्थ कुछ लोग 'द्यूतक्रीड़ा' करते हैं और कुछ लोग 'युवक ब्राह्मण' (मिलकर वेदपाठ करते हैं)।

(२६) जे परदोष लखहिं सहसाँखी। परहित घृत जिन्ह के मन माँखी ।।[२]

उक्त अर्धाली के 'सहसाँखी' शब्द के अर्थ में भी मतभेद है। इसका अर्थ कुछ लोग 'हजार नेत्र' करते हैं और कोई-कोई पुनरुक्ति के भय से 'साक्षी सहित'।

(२७) राम भगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई ।।[३]

उक्त अर्धाली पर कुछ लोग 'पुराण-विरुद्धता' का आरोप लगाते हैं। इससे बचने के लिए कुछ लोग अर्थ करते हैं कि—'श्रीराम जी की भक्तिरूपी गंगा जी वहीं जाकर इस उत्तम-कीर्तिरूपी सरयू नदी में मिल गयीं।'[४] किन्तु यह अर्थ असाधु लगता है। उक्त अर्थ-समस्याओं के अतिरिक्त मानस और विनय-पत्रिका के निम्नलिखित पंक्तियों के भी अनेक अर्थ किये गये हैं—

नानापुराणनिगमागमसंमतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।[५]
(मानस १। मंगलश्लोक ७)

जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिबर बदन।
करउ अनुग्रह सोह बुद्धिरासि सुभ गुन सदन।।
(मानस १। मंगल सोरठा १)

बंदौं गुरपद कंज कृपा सिन्धु नररूप हरि।
महामोह तमपुंज जासु बचन रबिकर निकर।।
(मानस १। मंगलसोरठा ५)

सुकृत संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती ।। मानस १।१।३
सिय निंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए ।। ,, १।१६।३
बिधि हरिहरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो ।। ,, १।१९।२

---

१. कविता० १।१७
२. मानस १।४।४
३. मानस १।४०।१
४. टीकाकार बाबू श्यामलाल, बालकाण्ड का नया जन्म, पृ० ३४

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जियँ जोऊ ।।मानस१।२०।१
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।। ,, १।२१।२
सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति भोरि मति स्वामि सराही ।। ,, १।२९।३
सुरसरिजलकृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना ।।
सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतरु तैसें ।। वही १।७०।१२
सर्बस दान दीन सब काहूँ। जेहिं पावा राखा नहिं ताहूँ ।। वही १।१९४।७
आपनी न बूझि, ना कहे को राड़रोर, रे ! विनय० ७१
फिरि गर्भगत-आवर्त्त संसृति-चक्र जेहि होइ सोइ कियो ।। वही १३६।७
संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिए ।। वही १३६।११
ना तो बड़े समर्थ सों एक ओर किधों हूँ ।। वही १५०
गमन बिदेस न लेस कलेस को सकुचत सकृत प्रनाम सो।
साखी ताको बिदित बिभीषन बैठो है अबिचल धाम सो ।। वही १५७
लोक बिलोकि, पुरान बेद सुनि, समुझि बूझि गुरु ज्ञानी।
प्रीति प्रतीति रामपद-पंकज सकल सुमंगल-खानी ।। वही १९४
पूनो प्रेम भगति-रस हरिरस जानहिं दास ।। वही २०३
दानव दनुज बड़े महामूढ़ मूड़ चढ़े,
जीते लोकनाथ नाथबलनिभरम।
रीझि रीझि दिए बर खीझि खीझि घाले घर,
आपने निवाजें की न काहू को सरम ।। वही २४९
साहिब-सेवक-रीति प्रीति-परतीति नीति,
नेम को निबाहु एक टेकन टरत ।।
सुक सनकादि प्रह्लाद नारदादि कहें,
राम की भगति बड़ी बिरति-निरत ।। वही २५१
अपनो सो स्वारथ स्वामी सो चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेकते नहिं टरिहैं ।।
× × ×
तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनंद उमगि उर भरिहै ।।
—वही २६८

परिशिष्ट 'ख'

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अध्यात्म रामायण —भाषाटीकायुते इदं पुस्तकं मुम्बयीनगर्यां श्रीकृष्णदासात्मजेन खेमराजेन स्वकीये श्रीवेङ्कटेश्वरे स्टीम मुद्रण-यन्त्रालयेऽङ्कयित्वा प्रकाशितम् । संवत् १९७० शके, १८३५ ।

अभिधान-चिन्तामणि—व्याख्याकार—पं० हरगोविन्द शास्त्री, प्रका० चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, प्र० सं०, वि० सं० २०२० ।

अष्टाध्यायी —पाणिनि ।

अमरकोश —अमरसिंह, सं०, प्रका० डॉ० सत्येन्द्र मिश्र, लेक्चरर मलाया युनिवर्सिटी, कुआल, लम्पुर, प्र० सं० १९७२ ।

आनन्द रामायण

उत्तररामचरितम्

ऐतरेय ब्राह्मण

ऋग्वेद —प्रथम एवं तृतीय खंड, सं० श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रका० गायत्री तपोभूमि, मथुरा, प्र० सं १९६० ।

कठोपनिषद् —प्रका० घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

काव्यालंकार —भामह ।

काव्यालंकार सूत्र —वामन ।

कालिदास-ग्रन्थावली —सं० सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, संवत् २००१ ।

काव्यादर्श —महाकवि दण्डीकृत, प्रका० लाला तुलसीदास जैन, मैनेजिंग प्रोप्राइटर, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, संस्कृत-हिन्दी पुस्तक-विक्रेता, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर, द्वितीयावृत्ति, जन्माष्टमी १९९० ।

काव्यप्रकाश —श्रीमम्मटाचार्य विरचितः, व्याख्याकार—डॉ० सतव्रत सिंह, प्रका० चौखम्बा विद्याभवन, १९५५, सं० २०१२ ।

काव्यप्रकाश —अनुवादक स्व० हरगोविन्द मिश्र, एम० ए०, द्वि० सं०, २०००, प्रका० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

काव्यानुशासन —हेमचन्द्र ।

केनोपनिषद् —पं० यमुनाशंकर कृत, पाँचवीं बार, लखनऊ, नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित और प्रकाशित, सन् १९२४ ई०।

छान्दोग्योपनिषद् —टीका० महात्मा नारायण स्वामी जी, प्रका०—म० राजपाल एण्ड संस, संचालक—आर्य पुस्तकालय व सरस्वती आश्रम, अनारकली, लाहौर। पहली बार वसंत-पंचमी, सं० १९९६ वि०।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण

त्रिकाण्डशेष —व्याख्याकार—श्री शीलस्कन्ध, प्रका० क्षेमराज श्रीकृष्णदास, सं० १९७२ शके, १८३७, सन् १९१६।

ध्वन्यालोक —श्रीमदानंदवर्धनाचार्य विरचितः, हिन्दी व्याख्या—आचार्य जगन्नाथ पाठक। प्रका०—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र० सं०, वि० खं०, २०२१।

ध्वन्यालोकलोचन —अभिनवगुप्त।

निरुक्तम् —लक्ष्मणस्वरूप, एम० ए०, प्रका०—ए० सी० वुलनर, एम० ए० सी० आई० ई०, डीन ऑव् युनिवर्सिटी इन्सट्रक्शन, युनिवर्सिटी ऑव द पंजाब।

न्यायमंजरी —जयन्तभट्ट।

परिभाषावृत्ति —सीरदेव।

परिमाणेन्दु शेखर —नागेश भट्ट, बनारस, १९८५।

पाणिनीय सूत्र पाठस्य—संकलक—श्रीधर शास्त्री एवं सिद्धेश्वर शास्त्री, भाण्डारकर मंदिर मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीताः शाके १८५६ ख्रिस्ताब्दे १९३५, प्रका०—भाण्डारकर ओरेन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९३५।

प्रसन्नराघव नाटक

मत्स्य महापुराण —अनु०—रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, सं० २०३३, प्रका० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

मनुस्मृति —टीका, अयोध्याप्रसाद भार्गव, प्रका० भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस, प्र० सं०, सं० १९५५ वि०।

महाभाष्य —पतंजलि (केयट की प्रदीप और नागेश की उद्योत टीकाएँ)

महाभाष्यम् —महर्षि पतंजलि प्रणीतम् कैयट कृत व्याख्या सहितम्। पण्डित कृपाराम शर्मणा स्वकीय तिमिरनाशक यंत्रालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम्। काश्याम् संवत् १६४६, प्रथम बार।

महाभारत —

मीमांसा-दर्शन —आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः। श्रीज्जैमिनि प्रणीते मीमांसा दर्शने प्रथमोभागः, प्रका०—आनंदाश्रम-मुद्रणालये, आयसाक्षेर्मुदयित्वा प्रकाशिताः, शालिवाहन शकाब्दाः १८५०, क्रिस्ताब्दाः १६२६।

मीमांसा-श्लोकवार्तिक—कुमारिलभट्ट (पार्थसारथि मिश्र की टीका)।

यजुर्वेद संहिता —भाषा-भाष्य (प्रथम खंड) भाष्यकार—पं० जयदेव जी शर्मा, द्वितीया वृत्ति, सं० १६६६ विक्रमाब्द, सन् १६४० ई०, प्रका० आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर।

रघुवंश —महाकवि कालिदासकृत, कालिदास समारोह समिति के लिए सूचना तथा प्रकाशन, मध्यप्रदेश द्वारा प्रकाशित।

रामायणं —आदिकवि श्री वाल्मीकि महामुनि प्रणीतं, वासुदेव शर्मणा संस्कृतम्। चतुर्थ संस्करणम्, प्रका०—पाण्डुरंग जावजी, सन् १६३०।

रसगंगाधर —जगन्नाथ पंडित।

वक्रोक्ति जीवितम् —कुंतक कवि विरचितं, व्याख्याकार—श्री राधेश्याम मिश्र, प्रका०—चौखम्भा संस्कृत सिरीज ऑफिस, वाराणसी, प्र० सं० वि० सं० २०२४।

वाक्यपदीय —(व्याकरण-दर्शन) भर्तृहरि, (बनारस, १६०५), हेलाराज पुण्यराज की टीकाएँ।

वाक्यपदीयम् —(ब्रह्मकाण्डम्)—भर्तृहरि, संस्कृत-आंग्ल-हिन्दी-टीकोपेतम्, टीका०—डॉ० सत्यकाम वर्मा, प्रका० मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, प्र० सं०, जुलाई १६७०।

वाङ्मयार्णवः —महामहोपाध्याय पाण्डेय श्रीरामावतार शर्मा विरचितः, प्र० सं०, सं० २०२४, प्रका०— ज्ञानमण्डल लिमिटेड, कबीरचौरा, वाराणसी।

वैशेषिक दर्शनम् —पु० १ नं० ३, प्राप्ति-स्थान—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दी संग्रहालय, प्रयाग।

वैयाकरण सिद्धान्त लघुमंजूषा —महामहोपाध्याय श्री नागेश भट्ट विरचिता, पं० माधव शास्त्री भांडारी, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस बनारस, १६२५।

बृहद्देवता —शौनक।

व्याकरण महाभाष्य—भगवत्पतंजलि-विरचित (प्रथम नवाह्निक), अनुवादक—चारुदेव शास्त्री, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास, बँगला रोड, जवाहरनगर, दिल्ली। दिल्ली, पटना : वाराणसी, सं० २०२५, प्र० सं०।

" " —पतंजलि कृत्त, सं० एफ० केलहार्न, सेकंड एडीशन, वाल्यूम २ (१६०६), वाल्यूम ३ (१६०६), प्रका०—बाम्बे गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुक डिपो।

शब्दशक्ति प्रकाशिका—जगदीश भट्ट।

शतपथ ब्राह्मण

श्रीकुमारसंभव —महाकवि श्री कालिदास विरचितम्, खेमराज श्रीकृष्णदास श्रेष्ठिना मुम्बय्यां स्वकीये 'श्रीवेंकटेश्वर' स्टीम मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्रकाशितम्, सं० १६६६, शके १८३४।

श्रीमद्भगवद्गीता —मुद्रक तथा प्रका०, गीता प्रेस, गोरखपुर, दशम संस्करण।

श्रीमद्भागवत महापुराणम् —(सचित्रं सरल हिन्दी व्याख्या सहितम्) प्रथम एवं द्वितीय खंड, मुद्रक तथा प्रका०—मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, षष्ठ संस्करण।

संस्कृत-हिन्दी कोश —वामन शिवराम आप्टे, प्रका०—बँगला रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७, १६६६।

साहित्यदर्पण —विश्वनाथ कविराज प्रणीतः, प्रका०—सुन्दरलाल जैन, अध्यक्ष पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर, प्रथमवृत्ति, १६३८।

हिन्दी-ग्रन्थ

अयोध्या कांड तथा जानकी एवं पार्वतीमंगल —प्रका० नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, तृ० सं०, सं० २०१६

अर्थविज्ञान —(पटना युनिवर्सिटी की संरक्षा में रामदीन रीडरशिप व्याख्यानमाला के अन्तर्गत) डॉ० बाबूराम सक्सेना

द्वारा दिए गए ८ व्याख्यान, १९४८, प्रका०—रजिस्ट्रार, पटना यूनिवर्सिटी, पटना, सन् १९५१ ई० ।

अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन —डॉ० कपिलदेव द्विवेदी आचार्य, प्रका०—हिन्दुस्तानी एकेडेमी—प्र० सं० १९५१, इलाहाबाद ।

अवधी कोश —श्रीरामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', प्रका०—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर-प्रदेश, इलाहाबाद, प्र० सं० १९५५ ।

कवित्त रामायन सटीक —टीका० हरिहरप्रसाद जी, उसे बनारस लाइट छापाखाने में मुंशी हरिवंशलाल व बाबू अविनाशीलाल वा भोलानाथ की सम्मति में गोपीनाथ पाठक ने छापा, सं० १९२३, १८६६ ।

कवितावली रामायण—गोस्वामी तुलसीदास रचित, टीका० बैजनाथ कुरमी, प्रका०—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, पाँचवीं बार (सन् १९२८ ई०) ।

कवितावली —सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०, २००१, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय बार ।

,, —(बालबोधिनी टीका) टीका० लाला भगवानदीन, प्रका०—रामनारायण लाल, इलाहाबाद, २००५, तृ० सं० ।

,, —अनु० इन्द्रदेवनारायण, मुद्रक तथा प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० १९९४, प्र० सं० ।

कवितावली सिद्धान्त—लेखक और प्रका०—श्रीकांतशरण, श्री तिलक सद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्री अयोध्या, प्रथमावृत्ति, सं० २०१५ ।

,, ,, —टीका० पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, प्रका०—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, प्र० सं० ।

,, ,, —टीका० देवनारायण द्विवेदी, प्रका०—एस० बी० सिंह, काशी पुस्तक-भंडार, चौक, बनारस, श्रावण, १९९९ ।

,, ,, —टीका० चम्पाराम मिश्र, बी० ए०, एम० ए०, एस० बी० (दीवान, छत्रपुर स्टेट), प्रका०—इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग । प्रथमावृत्ति, सं० १९९० वि० ।

कवितावली सिद्धान्त —टीका० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, प्रका०—भारती निकेतन, इलाहाबाद।

काव्यशास्त्र की रूपरेखा —श्यामनंदन शास्त्री, प्रका०—भारती भवन, पटना-४।

काव्यशास्त्र की रूपरेखा —डॉ० रामदत्त भारद्वाज, प्रका०—सूर्यप्रकाश, नई सड़क, दिल्ली-६, प्र० सं०, फरवरी १९६३।

काव्यदर्पण —रचयिता पं० रामदहिन मिश्र, प्रका०—ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना-४, द्वि० सं० १९५१ ई०।

किष्किंधाकांड —टीका० लाला भगवानदीन, प्रका०—रामसहायलाल मालिक, विद्या प्रचा० बुक डिपो, कचहरी रोड, गया सिटी, प्रथम बार, अनंत चतुर्दशी, सं० १९८३।

क्रान्तिकारी तुलसी —श्रीनारायण सिंह, शक १८८०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम बार।

कृष्ण गीतावली —टीका० श्री रामायन सरन जी, सं० १९३१, प्रका०—गणेश प्रेस, तृ० सं०, बनारस।

(श्री) कृष्णगीतावली—टीका० श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रका०—घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१४, प्र० सं०।

" " —सं० नरोत्तम स्वामी, एम ए०, विशारद और विद्याधर शास्त्री, साहित्य-शिरोमणि, प्रका०—गयाप्रसाद एण्ड सन्स बुकसेलर्स, आगरा, प्रथमावृत्ति, सन् १९३१।

" " —तिलककार और प्रकाशक—श्री श्रीकान्तशरण,

सिद्धान्त-तिलक —श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्री अयोध्या, प्रथमावृत्ति, सं० २०१३।

" " —टीका० पं० वामदेव शर्मा, प्रका०—रामनारायण लाल, इलाहाबाद, द्वि० सं० १९४७।

गयासुल्लुगात —गयासुद्दीन, अनु० मुंशी गुलाब सिंह, प्रका०—लाहौर, दिल्ली, १८९५।

गीतावली —सातों काण्ड, प्रकाशिका टीका, टीका० महात्मा हरिहर-प्रसाद, प्रका०—बाबू रणविजय सिंह।

गीतावली —टीका० श्री बैजनाथ, प्रका०—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९३७, छठा संस्करण।

गीतावली रामायण —टीका० श्रीयुत् ठाकुर बिहारीलाल, प्रका०—खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, सं० १९८३, शक १८४८ ।

गीतावली रामायण —टीका० मुनिलाल, मुद्रक एवं प्रकाशक, घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० १९९१, प्र० सं० ।

गीतावली रामायण —सं० पाण्डेय रामावतार शर्मा, प्रका०—सरस्वती भंडार, पटना, प्र० सं० १९८५ ।

गीतावली सिद्धान्त तिलक —लेखक और प्रकाशक—श्री श्रीकांतशरण, श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्री अयोध्या, प्रथमावृत्ति, सं० २०१५ ।

गोसाईं तुलसीदास —श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रका०—चन्द्रप्रकाश, वाणी-वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी-१, प्र० सं०, सं० २०२२ ।

जानकीमंगल —प्रका० घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर द्वि० सं०, सं० २०१४ ।

(श्री) मंगल सिद्धान्त तिलक —प्रका० एवं तिलककार—श्री श्रीकांतशरण, श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्री अयोध्या, प्रथमावृत्ति, सं० २०१४ ।

तुलसी सूक्ति सुधाकर भाष्य—भाष्यकार —श्रीबाबू शर्मा शुक्ल, प्र० सं०, प्राप्तिस्थान—श्रीराम ग्रन्थागार, मणिपर्वत, श्री अयोध्या ।

तुलसीदास —डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रका०—हिन्दी-परिषद्, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग, तृतीय संस्करण, सितम्बर, सन् १९५३ ।

तुलसी-पंचरत्न —लाला भगवानदीन, प्राप्तिस्थान—हिन्दी संग्रहालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

तुलसी काव्य-मीमांसा—ले० श्री उदयभानु सिंह, १९६६, प्रका०—ओमप्रकाश, राधाकृष्ण प्रकाशन, ४/१४ रूपनगर, दिल्ली-७ ।

तुलसीदास की भाषा—लेखक डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, प्रका०—लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०१४ वि० ।

तुलसी-शब्दसागर —संकलनकर्ता—स्व० पं० हरगोविन्द तिवारी, सं० श्री भोलानाथ तिवारी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ० प्र०, इलाहाबाद, प्र० सं० १९५० ।

तुलसीदास और उनकी कविता —दूसरा भाग, लेखक रामनरेश त्रिपाठी, प्रका० हिन्दी-मंदिर, प्रयाग, पहला संस्करण, दिस० १९३७ ।

तुलसी के चार दल —पहली एवं दूसरी पुस्तक, लेखक श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०, प्रका०—इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, प्र० सं०, १९३५।

तुलसी के भक्त्यात्मक गीत —(विशेषतः विनयपत्रिका), लेखक डॉ० वचनदेवकुमार, प्रका०—हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६, ब्रांच, खजांची रोड, पटना-४, प्र० सं०। १९६४।

तुलसीकृत कवितावली का अनुशीलन —डॉ० भानुकुमार जैन, प्रका०—पुस्तक प्रचार, ७१३। १२ ए/१ए, प्रेमगली, गांधी नगर, दिल्ली ३१, प्र० सं०, नवम्बर, १९७२।

तुलसीदास का सौंदर्य-बोध —डॉ० छोटेलाल दीक्षित, प्रका०—नन्दकिशोर एंड संस, पो० बाक्स नं० १७, चौक, वाराणसी, प्र० सं० १९६५।

तुलसीदास : संदर्भ और दृष्टि —सं० डॉ० केशवप्रसाद सिंह और डॉ० वासुदेव सिंह, प्र० सं० १९७४, प्रका०—विजयप्रकाश बेरी, हिन्दी प्रचारक संस्थान—पो० बाक्स १०६, पिशाचमोचक, वाराणसी।

तुलसी-परिशीलन (स्मृति-ग्रन्थ) —सं० बाबूलाल गर्ग शास्त्री, प्रका०—चित्रकूटधाम नगर, पालिका, करवी (बाँदा), उ० प्र०, सन् १९७२, प्रथमावृत्ति।

तुलसी-ग्रन्थावली —दूसरा खंड, सं० रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन और ब्रजरत्नदास, प्रका०—नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

तुलसी-ग्रन्थावली —प्रथम खंड, सं० २०२८ वि०, द्वितीय खंड, सं० २०२९ वि०, प्रधान संपादक—श्री सीताराम चतुर्वेदी, प्रका० अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, ६३।४३ उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृत्ति।

दोहावली —कौमुदी टीका, लेखक पं० कालीप्रसाद शास्त्री, प्रका०—बा० जयनारायण बी० ए०, एल० एल० बी०, वकील, उन्नाव, प्र० सं०, अक्टूबर, सन् १९६४।

,, —टीका० हनुमानप्रसाद पोद्दार, मुद्रक एवं प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्र० सं० सं० १९९६।

दोहावली सिद्धान्त-तिलक — लेखक और प्रकाशक—श्रीकांतशरण, सं० २०१२।

,, —श्री तुलसीकृत दोहावली, पद भावार्थ चन्द्रिका टीका, टीका० श्रीमहाराजमानसी बंदन पाठक, गद्दी पर वर्तमान श्रीयुत छोटेलालजी ने प्रकाशन किया, श्री काशी विश्वनाथपुरी, मुहल्ला बुलानारा, सुधा निवास यंत्रालय, श्री कन्हैया मिश्र के आज्ञानुसार छापा गया, सं० १६५३।

,, —सटिप्पण, प्रका०—हिन्दी, प्रेस, प्रयाग।

पद्मावत —जायसी।

पार्वती-मंगल —डॉ० माताप्रसाद गुप्त, सं० १६६६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीया वृत्ति।

(श्री) मंगल सिद्धान्त-तिलक —प्रकाशक एवं लेखक श्रीकांतशरण, श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्री अयोध्या।

,, ,, —टीका० अच्युतानन्ददत्त, प्रका०—पुस्तक भंडार, लहेरियासराय और पटना।

,, ,, —प्रका०—घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर।

,, ,, —प्रका०—रामनारायणलाल प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद, १६५४।

पाइअ-सद्द-महण्णवो —(प्राकृत शब्द-महार्णवः) कर्ता—स्व० पं० हरगोविन्द-दास त्रिकमचन्द सेठ, सं० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राध्यापक, काशी विश्वविद्यालय, प्रका०—दलसुख मालविया, मंत्री प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी-५।

पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त —लेखक कन्हैयालाल सिंह, प्रका०—महात्मा प्रकाशन मन्दिर, ७०५, महामना मालवीय नगर, इलाहाबाद, प्र० सं० १६६२।

पाठालोचन के सिद्धान्त और प्रक्रिया —लेखक डॉ० मिथिलेशकान्ति, डॉ० विमलेशकान्ति, प्रका०—ओमप्रकाश शर्मा, अध्यक्ष नवीनतम प्रकाशन, रोहतास नगर, शाहदरा, दिल्ली-३२, प्र० सं० १६६७।

पुराण संदर्भ कोश —पद्मिनी मेनन, प्रका०—ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर-१२, दिसम्बर, १६६६, प्र० सं०।

बरवा रामायण —पं० बंदन पाठक, बाबू रामदीन सिंह ने प्रकाश किया, पटना, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, १८६६।

बरवै रामायण — प्रकाशक और तिलककार—श्रीकांतशरण, श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्री अयोध्याजी, प्रथमावृत्ति, सं० २०१४।

बरवै रामायण सटीक—टीका० जनार्दन मिश्र 'परमेश', प्रका०—युगान्तर-साहित्य मन्दिर, भागलपुर सिटी, प्र० सं० अगस्त, १६३७।

बरवै रामायण —अनु० श्री सुदर्शन सिंह, प्रका०—घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१४।

बरवै रामायण —अनु० श्री सुदर्शन सिंह, प्रका०—घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१४।

बालकाण्ड का नया जन्म —लेखक और प्रकाशक—बाबू श्यामलाल, कल्ली जी का राममंदिर, चौक, लखनऊ, १६२७ ई०, रामनवमी, सं० १६८४ वि०, प्रथमावृत्ति।

बिहारी रत्नाकर —प्रणेता जगन्नाथ रत्नाकर, बी० ए०, नवीन संस्करण-२, १६२५, प्रकाशक—ग्रन्थकार, शिवाला, बनारस।

बृहत् हिन्दी कोश —सं० कालिकाप्रसाद राजवल्लभ सहाय, मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, प्रका०—ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस १, प्र० सं०, रथयात्रा संवत् २००६।

भाषा —(ब्लूमफील्ड की 'लैंग्वेज' का अनुवाद) अनु०—डॉ० विश्वनाथप्रसाद, एम० ए०, पी-एच० डी० (लन्दन)—सहायक—डॉ० रमानाथ सहाय; श्री सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित, प्र० सं० १६६८।

भाषा —जी० वान्द्रियेज, हिन्दी अनुवादक—जगवंशकिशोर बलवीर, प्र० सं० १६६६, प्रका०—हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

भाषाविज्ञान कोश —डॉ० भोलानाथ तिवारी, प्र० सं०, माघ, सं० २०२०, प्रका०—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी-१।

भाषातत्त्व और वाक्यपदीय —लेखक डॉ० सत्यकाम वर्मा, पी-एच० डी०, प्रका०—भारतीय प्रकाशन मंदिर, ७/३, अशोकनगर, नई दिल्ली-१८, जनवरी, १६६४।

मानस-मयंक —श्री शिवलाल पाठक रचित (बाल, अयोध्या, किष्किधा, सुंदर, लंका, उत्तर) जिस पर बाबू इन्द्रदेवनारायण ने वार्तिक-तिलक किया, 'खंग विलास' प्रेस, बाँकीपुर, रामप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित, १९२० ।

मानस-अनुशीलन —(श्री शंभुनारायण चौबे) सं० सुधाकर पाण्डेय, प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र० सं०, सं० २०२४ वि० ।

मानस-शंका-समाधान रत्नावली, भाग २ —लेखक पं० रामकुमारदास, प्रका०—तुलसी साहित्य प्रचारक समिति, शृंगवेरपुर, इलाहाबाद ।

मुहावरा-मीमांसा —डॉ० ओमप्रकाश ।

रामचन्द्रिका पूर्वार्ध —टीका० भगवानदीन, प्रका०—रामनारायण बेनीमाधव, प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद-२ ।

रामचरितमानस —काशिराज संस्करण, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रका०—रमेशचन्द्र देव, मंत्री, सर्व भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर दुर्ग, वाराणसी, प्र० सं० सन् १९६२ ।

,, —टीका० ज्ञानपुर-निवासी पं० महावीरप्रसाद मालवीय वैद्य, उपनाम 'वीरकवि', प्रका०—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सं० १९७९ विक्रमाब्द, प्रथम बार ।

,, —सुंदरकांड, टीका० पं० महावीरप्रसाद मालवीय, प्रथम बार, सं० १९७८ विक्रमाब्द ।

,, —अमृतलहरी टीका सहित, टीका०—पं० रामेश्वर भट्ट, प्रका०—इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्र०सं०, सन् १९३६ ई० ।

,, —टीका० रामनरेश त्रिपाठी, प्रका०—हिन्दी मंदिर, प्रयाग, पहला संस्करण, पौष, १९९२, सन् १९३६ ।

रामचरितमानस का पाठ —(प्रथम एवं द्वितीय भाग) लेखक—डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रका०—साहित्य कुटीर, १९२, एलनगंज, प्रयाग, प्र० सं० १९४९ ।

रामचरितमानस : वाग्वैभव —लेखक डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', प्रका०—विज्ञान भारती, नई दिल्ली—३, प्र०सं० १९७३ ।

रामचरितमानस का टीका-साहित्य —डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे, एम० ए०, पी-एच० डी०; प्रका०—संभावना प्रकाशन, गौरीगंज, सुल्तानपुर (उ० प्र०), प्र० सं०, १९७५।

रामलला नहछू सिद्धान्त तिलक —प्रकाशक एवं लेखक—श्री श्रीकांतशरण, श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्री अयोध्या प्र० सं० २०१३।

रामाज्ञा-प्रश्न —प्रका०—घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१४, पहला संस्करण।

रामायण —गोस्वामी तुलसीदास कृत, टीका० श्री रामचरणदास, तृतीय बार, सन् १९२४ ई०, लखनऊ, केसरीदास सेठ, सुपरिंटेंडेंट द्वारा नवलकिशोर यंत्रालय में मुद्रित और प्रकाशित।

" —टीका० विद्यावारिध पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र—संजीवनी टीका, मुद्रक व प्रका०— खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेंक्टेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, संवत् २०२३, सन् १९६६।

रामायण —तुलसीदास, सातों काण्ड, जिसको मैनपुरी, निवासी श्री शुकदेवलाल जी ने संवत् १९२५ विक्रम में जगत्-कल्याण के अर्थ भाषाटीका रचिकर प्रामाणिक श्लोकों से भूषित किया था, चौथी बार, लखनऊ, मुंशी नवलकिशोर के छापेखाने में छापी गई, जुलाई, १८८८ ई०।

" बालकांड, सं० १९७१, सन् १९१५, प्रथम बार, अयोध्याकांड—सं० १९१०, किष्किधाकांड—सं० १९१९, सन् १९१३।
अरण्यकाण्ड—१९१२, सुन्दरकांड—सं० १९७०, सन् १९१३ प्रथम बार लंकाकांड, प्रथम बार, सं० १९७३ सन् १९१६।
विनायकी टीका—टीका० विनायक राव (पूर्व), असिस्टेंट सुपरिटेंडेंट, ट्रेनिंग इंस्टी० (साम्प्रति) पेंशनर, जबलपुर।

रामायण —सटीक—टीका० पं० बाबूराम मिश्र, प्रका०—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, २०३ हरिसन रोड, कलकत्ता, सातवाँ संस्करण।

विनयपत्रिका —टीका० श्री बैजनाथ, लखनऊ, श्री केसरीदास सेठ के प्रबन्ध से नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित और प्रकाशित। तीसरी बार, सन् १६२६, टीका०—डुमराव-निवासी बाबू शिवप्रकाश कृत—रामतत्त्व-बोधिनी नाम तिलक सहित। द्वितीय बार, लखनऊ, श्रीयुत मुंशी नवलकिशोर जी के यंत्रालय में वाजपेयी पण्डित रामरत्न के द्वारा शुद्ध होय छपी, दिसम्बर, सन् १८७७ ई०।

" बाबू शिवप्रकाश सिंह कृत श्री काशी विश्वनाथपुरी में महल्ले सोनारपुरा केदार प्रभाकर छापाखाने में गोपाल चौबे के यहाँ यह विनयपत्रिका टीका सहित सुद्ध करके छपी, सं० १६४१।

" सं० लाला भगवानदीन, प्रका०—बल्लभदास, बनारस।

" सिद्धान्त-तिलक (प्रथम एवं दूसरा भाग)—लेखक एवं प्रका०—श्री श्रीकांतशरण, श्रीसद्गुरु कुटी, गोला-घाट, श्री अयोध्या जी, प्रथमावृत्ति, सं० २०१३।

" पं० रामेश्वर भट्ट कृत सरला टीका सहित, प्रका०—इंडियन प्रेस, प्रयाग, द्वितीय बार, १६१७।

" श्री हरितोषिणी टीका-समलंकृता टीका० वियोगी हरि, प्रका०—साहित्य-सेवा सदन, काशी, तृ० सं०, पूस, १६६२ वि०।

" प्रका०—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१८, उन्नीसवाँ संस्करण।

" टीका० पं० महावीरप्रसाद मालवीय, वैद्य, प्रका०—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सं० १६८० विक्रमाब्द, प्रथम बार।

" पं० सूर्यदीन शुकुल, लखनऊ श्री केसरीदास सेठ द्वारा नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित और प्रकाशित, द्वितीय बार, १६२८।

" टीका०—गयाप्रसाद जी मास्टर, खेमराज श्रीकृष्णदास ने बम्बई निज श्रीवेंकटेश्वर स्टीम मुद्रण यंत्रालय में मुद्रित कर प्रसिद्ध किया, सं० १६६६, शक १८३१।

विनयपत्रिका —विनयपीयूष (खंड १, २, ३, ४, ५) (श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास-विरचित विनयपत्रिका का शिव भाष्य) सं० साहित्य-वाचस्वति महात्मा अंजनीनन्दनशरण जी, प्रकाशक—पीयूष प्रकाशन, श्री करुणानिधान कुंज, ऋणमोचनघाट, अयोध्या—उ० प्र०, १६७२।

,, (देवदीपिका टीका समलंकृता) टीका०—देवनारायण द्विवेदी, प्रका०—भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस, प्र० सं०, फाल्गुन, १६६५।

विनयकोश —महावीरप्रसाद मालवीय, प्रका०—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सं० १६८० विक्रमाब्द, प्रथम बार।

वैराग्य-संदीपनी— टीका० जिला बाराबंकी, मौजे डेहवा, मानपुर के नम्बरदार बाबू बैजनाथ जी, लखनऊ-सुपरिन्टेण्डेण्ट श्री केसरीदास सेठ के प्रबन्ध से नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित, चौथी बार, सन् १६३०।

,, नेह प्रकाशिका पं० बंदन पाठक कृत, बाबू महादेव-प्रसाद ने प्रकाश किया, पटना 'खंगविलास' प्रेस—बाँकीपुर, १८८६।

,, हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रका०—घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, सं० २०१३, तृ० सं०।

शब्द और अर्थ— (संत-साहित्य के सन्दर्भ में) डॉ० राजदेव सिंह, प्रका०—नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बाँस फाटक, वाराणसी, प्र० सं०, जनवरी, १६६८।

शब्दों का अध्ययन— डॉ० भोलानाथ तिवारी, प्रका०—शब्दकार, २२०३, गली डकोतान, तुर्कमान गेट, दिल्ली ६, प्र० स०, जनवरी, १६६६।

शब्दान्तर— निशान्तकेतु, संप्रति प्रकाशन, पटना, १३ की ओर से दिल्ली पुस्तक सदन, पटना-४ द्वारा प्रकाशित, १ मार्च, १६७२ ई०।

श्रीरामचरितमानस —सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रका०—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्र० सं०, १६४६।

,, बाल और अयोध्याकांड-रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश, टीका० हरिहरप्रसाद, पटना, 'खड्गविलास'

प्रेस, बाँकीपुर में साहिबप्रसाद ने छापकर प्रकाशित किया, विक्र० १६५५, प्र० सं० ।

श्रीरामचरितमानस —अरण्य, किष्किन्धा, सुंदर, लंका और उत्तर कांड अर्थात् श्री १०८ युत दैवतीर्थ स्वामीकृत मानस परिचर्या, श्रीमन्महाराज द्विजराज काशीराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह बहादुर, जी० सी० एस० आई० कृत मानस परिचर्य्या परिशिष्ट और परमहंस प्रशंसमान हंस वंशावतंस श्री जानकीरमण, चरण-सरोरुह राजहंस श्री सीतारामीय हरिहरप्रसाद जी कृत मानस परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश, पटना, खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर में साहित्यप्रसाद सिंह ने छापकर प्रकाशित किया; विक्रमाब्द १६५५, १८६६ ई०, प्रथम बार ।

,, मानस भाव प्रकाश (अयोध्या, बालकांड), प्रथम भाग, १६०१ ई०, मानस भाव प्रकाश (आरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका और उत्तर) विक्रमाब्द १६५४, प्रथम बार, टीका०— श्रीसंतसिंह साहिब, प्रका०—पटना, 'खंग विलास' प्रेस ।

श्री तुलसीकृत रामायण—(बालकाण्ड) टीका०—श्री बैजनाथ, प्रका०—केशरीदास सेठ, सुपरिन्टेण्डेण्ट, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १६२७ ई० ।

श्रीरामचरितमानस —टीका० डॉ० श्यामसुन्दरदास, प्रका०—इंडियन प्रेस, प्रयाग, सं० १६६५ विजया टीका, प्रथम भाग—बालकाण्ड, द्वितीय भाग (अयोध्या०, अरण्य०), तृतीय भाग (किष्किंधा, सुंदर, लंका, उत्तर), टीका०—मानस राजहंस, पं० विजयानन्द त्रिपाठी, भदैनी, काशी, प्रका०—मोतीलाल बनारसीदास, पो० बा० ७५, नेपाली खपरा, बनारस, सं० २०११, सन् १६५५ प्रथम आवृत्ति ।

,, सिद्धान्त तिलक सहित, प्रथम खंड—बालकांड, द्वितीय खंड—अयोध्या अरण्य और किष्किंधा, तिलककार—श्री श्रीकान्तशरण, प्रका०—पुस्तक-भण्डार, सहेरिया सराय और पटना ।

श्रीरामचरितमानस —मानस-पीयूष, बालकाण्ड-खंड १, सप्तम संस्करण संवत् २०२५; मा० पी० बाल०—खं० २, पंचम संस्करण, सं० २०२४, मा० पी० बाल०—खं० ३, चतुर्थ संस्करण, सं० २०१८, मा० पी०—चतुर्थ खंड, चौथा संस्करण, सं० २०२३, मा० पी० अरण्य०—खं० ५, चतुर्थ संस्करण, सं० २०१८, किष्कि०—सं० ५, च० सं०, सं० २०१७, मा० पी० सुन्दर०—सं० ६, सं० २०२४, प० सं०; मा० पी० लंका०—खं० ६, च० सं०, सं० २०२४; मा० पी० उत्तर०—खं० ७, चौ० सं०, सं० २०५४। सम्पा०—श्री अंजनीनंदन-शरण, प्रका०—मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर।

,, टी० श्री स्वामी अवधबिहारीदास जी, श्रीरामभवन, ५७, तुलाराम बाग, इलाहाबाद, द्वितीय वृत्ति, सं० २०२४।

,, गूढ़ार्थ चन्द्रिका टीका (मराठी का अनुवाद), प्रथम एवं द्वितीय खंड, लेखक एवं अनुवादक स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती, प्रका०—मानस संघ, सतना, मध्य प्रदेश, प्रथम बार, फाल्गुन २०१६ वि०, मार्च, १६६२ ई०।

श्रीरामचरितमानस की भूमिका —श्री रामदास गौड़, प्रका०—हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता, १२६ कैनिंगटन रोड, कलकत्ता (देहली और काशी), प्र० सं० १६८२।

तुलसी तत्त्व-प्रकाश —जिसको राय बहादुर साहित्याचार्य जगन्नाथ भानु कवि ने बड़े परिश्रम के साथ निज यंत्रालय जगन्नाथ प्रेस, बिलासपुर में प्रकाशित किया, प्रथमावृत्ति, सन् १६३१ ई०।

श्रीरामचरितमानस —टीका० हनुमानप्रसाद पोद्दार, मुद्रक तथा प्रका०—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, तेरहवाँ संस्करण, सं० २०२०।

,, (बड़े अक्षरों में केवल मूलपाठ) मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, अष्टम संस्करण, सं० २०२६।

श्रीरामचरितमानस की काव्य-कला (श्रीमती) रूप हुक्कू और डॉ० हरिहरनाथ हुक्कू, —प्रका०—विनोद पुस्तक मन्दिर, कार्यालय, रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२, प्र० सं० १९७३।

श्रीरामचरितमानस के तीन क्षेपक लेखक पं० श्री रामकुमारदास जी, प्रका०—तुलसी-—साहित्य प्रचारक समिति, शृंगवेरपुर, इलाहाबाद।

श्री मानक मार्तण्ड टीका —रचयिता श्री जानकीशरण (स्नेहलता), कृ० ब० पावगी द्वारा हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस में मुद्रित, प्रथम बार, संवत् १९९८।

मानक हिन्दी कोश —(पहला, द्वितीय, तीसरा, चौथा एवं पाँचवाँ खण्ड) संपा० रामचन्द्र वर्मा, प्रका०—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र० सं०, सं० २०१९ वि०।

मानस-अनुशीलन —(श्री शंभुनारायण चौबे), संपा० सुधाकर पाण्डेय, प्रका०—नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र० सं०, सं० २०२४ वि०।

संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर —संपा० रामचन्द्र वर्मा, प्रका०—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, षष्ठ संस्करण, सं० २०१४ वि०, सन् १९५८ ई०।

साहित्य-सिद्धान्त —श्री रामअवध द्विवेदी, प्र० सं०, पटना राष्ट्रभाषा परिषद [illegible]

सूर-सुषमा —सं० नन्ददुलारे वाजपेयी, एम० ए०, प्रका०—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सातवाँ संस्करण, सं० २०२३ वि०।

हनुमानबाहुक —टीका० बैजनाथ कुर्मी, जिला नवाबगंज, बाराबंकी, मो०—ढेहवामानपुर।

(श्री) ,, सिद्धान्त-तिलक, तिलकार और प्रकाशक, श्री श्रीकांत-शरण, श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्री अयोध्या, प्रथमावृत्ति, १९५०।

,, ,, —अंग्रेजी अनुवाद और हिन्दी टीका सहित, प्रका०—श्री परमेश्वरीदयाल, मुंसिफ, बक्सर (शाहाबाद)।

,, ,, टीका० महावीरप्रसाद मालवीय 'वीरकवि', मुद्रक तथा प्रकाशक—घनश्यामदास, गीता प्रेस, गोरखपुर।

(श्री) हनुमानबाहुक —लखनऊ सुपरिन्टेण्डेण्ट बाबू मनोहरलाल भार्गव, बी० ए० के प्रबन्ध से मुंशी नवलकिशोर, सी० आई० ई० के छापेखाने में छपा, सन् १६१३ ई०, द्वितीय बार।

,, ,, टीका० देवनारायण द्विवेदी, प्रका०—भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस।

,, ,, पीयूष-वर्षिणी टीका, टीका० श्री अंजनीनंदनशरण पीयूष कार्यालय, श्री करुणानिधान कुंज, कणमोचन घाट, श्री अयोध्या।

हरियाणा की लोकोक्तियाँ —शास्त्रीय विश्लेषण—जयनारायण वर्मा, प्रका०—आदर्श साहित्य प्रकाशन, १२६, ६ वेस्ट सीलमपुर, दिल्ली-३१, प्र० सं० अगस्त, १६७२।

हिन्दी साहित्य का इतिहास —रामचन्द्र शुक्ल, प्रका०—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०२५ वि०, सोलहवाँ संस्करण।

हिन्दी भाषा का अर्थतात्त्विक विकास —लेखक—डॉ० शिवनाथ, प्रका० मौलिचन्द्र शर्मा, सचिव, प्रथम शासन निकाय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १६६८, शक १८६०।

पहला खण्ड—१६२६, दू० खं०—१६१६, च० भा०—सं० [illegible] ई०, पं० भा०—सं० २०१५ [illegible] ई०, छठा भाग—सं० २०१६ वि०, १६६६ ई०, सा० भा०—सं० २०२७ वि०, १६७० ई०, आ० भा०—सं० २०२८ वि०, १६७१ ई०, नवाँ भाग—सं० २०२६, १६७२ ई०, दसवाँ खण्ड—१६२८, प्रका०—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० श्यामसुन्दरदास।

हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थ-परिवर्तन —डॉ० केशवराम पाल; प्रका०—प्राची प्रकाशन, २२४ हरिसदन खैर, नगर गेट, मेरठ, प्र० स०, १६६४।

हिन्दी शब्द-रचना —भाई दयाल जैन

हिन्दी में देशज शब्द —डॉ० पूर्ण सिंह हजारा, प्र० सं० १६७२, प्रका०—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली।

हिन्दी मुहावरे —डॉ० प्रतिभा अग्रवाल, प्रका०—श्री शिवेन्द्रनाथ, कांजीलाल, सुपरिन्टेण्डेंट, कलकत्ता, युनिवर्सिटी प्रेस, ४८ हाजरा रोड, कलकत्ता-१६, १६६६ ।

अंग्रेजी-ग्रन्थ

एन आउट लाइन ऑफ़ लिंग्विस्टिक एनालिसिस —बर्नार्ड ब्लाक एंड जार्ज प्रेजर ।

आल एबाउट लैंग्वेज—मारिओपेश ।

द फाउंडेशन्स ऑफ़ साइकालोजी—जे० एस० गूर ।

लैंग्वेज —एल० ब्लूमफील्ड, जार्ज एलन एण्ड अनविन लिमिडेट, लंदन, १६५० ।

लैंग्वेज एण्ड रियलिटी —डब्ल्यू० एम० अर्बान ।

लैंग्वेज —आटोजेसपर्सन, जार्ज एलन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन, १६५० ।

द मीनिंग ऑफ़ मीनिंग —सी० के० आग्डेन एण्ड आई० ए० रिचर्ड्स, रुटलेज़ एण्ड केवन पाल लिमिटेड, लंदन, १६४६ ।

पाकेट थैसारस —डॉ० पी० एम० [illegible]

द प्रिंसिपल्स ऑफ़ द हिस्ट्री ऑफ़ लैंग्वेज —हर्मन पाउल (जर्मन, इंग्लिश ट्रांसलेटर्स) एच० ए० स्ट्रांट, डब्ल्यू० एस० लांग्मैन, बी० एल० ह्वीलर, लंदन, १८८७ ।

द रामायन ऑफ तुलसीदास —ट्रांसलेटेड फ्राम द ओरिजनल हिन्दी, बाई एफ० एस० ग्राउस, बी० सी० एस०, एम० ए०, आक्सन, सी० आई० ई० फेलो ऑफ द कलकटा युनिवर्सिटी, फोर्थ एडीशन, रिवाइज्ड एण्ड करेक्टेड, इलाहाबाद नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध गवर्नमेन्ट प्रेस, १८८७ ई० ।

द स्टोरी ऑफ़ लैंग्वेज—मारिओ पेइ, जे० बी०, लिपिनकाट कम्पनी, फिलाडेलफ़िया एण्ड न्यूयार्क, १६४६ ।

वर्ड्स एण्ड देअर यूज़ —एस० उत्थान, फ्रेड्रिक मूलर लिमिटेड, लंदन, १६५१ ।

पत्र-पत्रिकाएँ

कल्याण —वर्ष १३, मार्गशीर्ष १६६५, दिसम्बर, १६३८ ई०, संख्या ५, पूर्ण संख्या, १४६ ।

कल्याण मानसांक —प्रथम खण्ड, वर्ष १३, अंक १, गोरखपुर, श्रावण, १६६५, अगस्त, १६३८, संख्या १, पूर्ण संख्या १४५, संपा०—हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रका०—घनश्याम दास जालान, कल्याण कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

माधुरी —वर्ष ८, खण्ड २, सं० ५, ज्येष्ठ ३०६, तृ० सं० ।

विश्वभारती पत्रिका—

सरस्वती विशेषांक—संपा० श्रीनारायण चतुर्वेदी, अगस्त, १६७४, वर्ष ७५, संख्या २, खण्ड २, यू० सि० ८६६, इलाहाबाद, अगस्त १६७४, भाद्रपद, २०३१ वि० ।

सम्मेलन पत्रिका —मानस चतुःशती विशेषांक, भाग ६०, संख्या १, २, ३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित ।

हिन्दी अनुशीलन —वर्ष ६, अंक ४ ।